भारतीय साहित्य

(THE HISTORY OF INDIAN LITERATURE)

अल्ब्रेष्ट वेबेर

अनुवादक

डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय

एम० ए०, पी-एच० डी०

किताब महल, इलाहाबाद

१९६८

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक संस्कृत के प्रख्यात जर्मन विद्वान् अल्ब्रेष्ट वेबेर की रचना 'दि हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर' का हिन्दी अनुवाद है। वेबेर की मूल जर्मन पुस्तक के द्वितीय संस्करण का अंग्रेजी अनुवाद जान मन्न, एम० ए० तथा थिओडोर त्सखारिए, पी-एच० डी० ने किया है और यह ग्रन्थ प्रस्तुत पुस्तक का आधार रहा है।

पश्चिम के महान् संस्कृत विद्वानों में प्रोफेसर वेबेर का महत्वपूर्ण स्थान है। 'इण्डिश्श स्टूडिएन' तथा 'इण्डिश्श स्ट्राइफेन' के माध्यम से उन्होंने अपने बहुमूल्य अनुसंधानों का समृद्ध कोश तो हमें प्रदान किया ही है 'शतपथब्राह्मण' आदि ग्रंथों के सुन्दर संस्करण एवं प्रस्तुत पुस्तक जैसे मौलिक प्रबन्धों से संस्कृत और विशेषतः वैदिक साहित्य के अध्ययन में गौरवपूर्ण भूमिका अदा की है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रो० वेबेर की विशेषता है उनकी मौलिकता। सम्पूर्ण वैदिक एवं संस्कृत साहित्य के महत्वपूर्ण तथ्य इस इतिहास में सँजोकर रख दिये गये हैं। प्रमाणों एवं निर्देशों के द्वारा विषय अत्यन्त दृढ़ता से स्थापित किया गया है, और सभी सूचनाएँ एवं अन्वेषणों के परिणाम संगृहीत किये गये हैं। इन सभी बातों से संस्कृत साहित्य एवं वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन की दिशा में इस पुस्तक का महत्व अक्षुण्ण बना हुआ है। इसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ पिछली शताब्दी में हुए भारतीय साहित्य के अनुसंधानों का जीवित इतिहास है। पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्य के क्षेत्र में जो कुछ किया है उसकी भी पर्याप्त सूचना इस पुस्तक में मिल जाती है।

निःसन्देह, वेबेर की इस पुस्तक के बाद से बहुत से अन्वेषण हुए हैं और नयी बातें सामने आयी हैं, किन्तु वेबेर के अनुसंधानों का अपना निजी महत्व है। वे अधिकांशतः अब भी पुष्ट हैं, क्योंकि उनकी रचना ठोस आधार-शिलाओं पर हुई है। इस कारण वर्तमान हिन्दी अनुवाद में कोई विस्तृत भूमिका अलग से नहीं दी गई है। लम्बी भूमिका स्वयं एक पुस्तक का रूप ले सकती थी और वेबेर की रचना के महत्व में कोई न्यूनता न होने से अनावश्यक थी।

मैंने एकाध विषयों के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्रता नहीं बरती है। मूल पुस्तक में टिप्पणियों का प्रकाशन इस प्रकार हुआ है कि प्रथम संस्करण की टिप्पणियाँ तारकादि चिह्नों द्वारा तथा द्वितीय संस्करण में जोड़ी गयी टिप्पणियाँ अनवरत संख्याओं (१ से ३६४) द्वारा निर्दिष्ट की गयी हैं। किन्तु प्रस्तुत अनुवाद में टिप्पणियों की संख्या

पृष्ठानुसार है। इसी प्रकार शीर्षक देकर अध्यायों का भी स्पष्ट विभाजन किया गया है, जो बात मूल में नहीं है।

पुस्तक में कुछ नामों के संक्षिप्त रूपों का व्यवहार किया गया है जो इस प्रकार हैं :

इण्ड० स्टू० या इं० स्टू० — इण्डिश्श स्टूडिएन।
इं० स्ट्रा० — इण्डिश्श स्ट्राइफेन।
इं० स्कि० — इण्डिश्श स्किज्जेन।
इं० अल्ट० — इण्डिश्श अल्टथुम्सकुण्डे।
एलि० आफ सा० इ० पेलि० — एलिमेण्ट्स आफ साउथ इण्डियन पेलिआग्राफी— बर्नेल।
एंशि० सं० लिट्० — हिस्ट्री आफ एंशिएन्ट संस्कृत लिटरेचर — माक्स म्यूल्लेर।
ज रा ए सो — जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी।
त्सा० डा० मो० गे० — त्साइटश्रिफ्ट डेर डायशेन मोर्गेनलाण्डिश्शेन गेस्सेलशाफ्ट।
बिब्लि० इं० — बिब्लिओथका इण्डिका।

मुझे इस बात का खेद है कि प्रस्तुत पुस्तक में कुछ मुद्रण की अशुद्धियाँ रह गयी हैं जिनके लिये मैं अपने को ही उत्तरदायी समझता हूँ। सुधी पाठक कृपया सुधार कर लेंगे। तथ्य-विषयक कुछ अशुद्धियों को अन्त में दिये गये शुद्धिपत्र में निर्दिष्ट किया गया है। इसी प्रकार जर्मन नामों के हिन्दी रूपों में यत्र-तत्र एकरूपता नहीं हो सकी है, जिसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्त में, मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतीय साहित्य एवं सभ्यता के सयाजीराव गायकवाड़ प्रोफेसर तथा भारतीय धर्म एवं दर्शन विभाग के अध्यक्ष डा० देवराज, के प्रति जिन्होंने मुझे मेरी कठिन स्थिति में प्रोत्साहन दिया है, आभार प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। प्रस्तुत कृति उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम है। किताब महल प्राइवेट लिमिटेड प्रकाशन-संस्थान के निदेशक श्री श्रीनिवास अग्रवाल को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। साथ ही अपने कतिपय प्रियजनों का जो मेरे मधुर प्रेरणा-स्रोत हैं, स्नेह और विश्वास के साथ स्मरण करता हूँ।

यह अनुवाद विद्यार्थियों एवं अनुसन्धाता छात्रों के लिए सहायक होगा तथा संस्कृत साहित्य की जानकारी के लिए सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी होगा, ऐसी आशा है।

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव।"

— **उमेशचन्द्र पाण्डेय**

द्वितीय संस्करण का आमुख

मेरी युवावस्था की यह रचना, जो नये संस्करण में प्रस्तुत की जा रही है, अनेक वर्षों से अप्राप्य बनी रही है। इसे बिना किसी परिवर्तन के प्रकाशित करना कठिन होता और अन्य कार्यों के बोझ से मेरे लिए समयाभाव के कारण यह असंभव था कि इसकी पूर्ण रूप से तथा व्यवस्थित ढंग से पुनर्रचना करूँ। इस तरह कार्य पड़ा रहा। अन्त में प्रकाशकों की आवश्यक म ग पूरी करने के लिए मैंने वर्तमान संस्करण तैयार करने का निश्चय किया। इस संस्करण में वस्तुतः मूल लेख अपरिवर्तित रह जाता है किन्तु साथ ही साथ नयी टिप्पणियाँ जोड़कर इस बात का प्रयत्न किया गया है कि इसमें इस समय तक के वास्तविक ज्ञान का समावेश किया जाय। इस प्रकार निर्णय करते समय मेरा यह विश्वास था कि किसी अन्य ढंग से विद्या के इ क्षेत्र में हुई प्रगति को, जो इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के बाद से हुई है, अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह संस्करण साथ ही साथ पिछले चौबीस वर्षों में हुए संस्कृत अध्ययन का एक इतिहास भी प्रस्तुत कर सकता। दूसरा विचार यह था कि केवल ऐसा करने पर ही मैं सर्वश्री ट्रयूबनर एण्ड कम्पनी द्वारा अभिप्रेत अंग्रेजी अनुवाद के लिए आलोचनात्मक दृष्टि से सुरक्षित आधार प्रस्तुत कर सकता था जिसमें इस अवस्था में संभवतः केवल मूल को ही दे देना संभव नहीं था, जैसा कि पेरिस से १८५९ में प्रकाशित हुए फ्रांसीसी अनुवाद में किया गया था। अंग्रेजी अनुवाद के लिए इस रचना का पर्यावलोकन करते समय मेरे अन्दर यह आशा, बल्कि यह विश्वास उभरा कि यद्यपि इसकी पूरी पुनर्रचना का प्रश्न नहीं था तथापि इस प्रकार का एक संस्करण जर्मन में भी प्रकाशित करना लाभकारी होगा। मुझे इस बात से प्रसन्नता हुई कि मेरी युवावस्था की यह रचना समय की कसौटी पर खरी उतरी है। मुझे इसमें ऐसे विषय नहीं मिले जो पूर्णतः गलत रहे हों, यद्यपि बहुत कुछ अब भी वैसे ही अनिश्चित है जैसा पहले था। दूसरी ओर ऐसी बहुत सी बातें अब स्पष्ट और निश्चित हो गई हैं जिनके विषय में मैंने केवल सन्देहपूर्वक अनुमान ही किया था अथवा जो उस समय तक पूर्णतः गूढ़ बनी हुई थीं।

भारतीय साहित्य के विषय-भाण्डार से उसकी आन्तरिक तिथियों एवं उसके इतिहास की स्थापना के लिए—विभिन्न कृतियों की विषय-वस्तु को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करने के लिए नहीं— आलोचनात्मक तथ्यों को प्राप्त करना ही आरम्भ से मेरे इन व्याख्यानों का लक्ष्य था। यह लक्ष्य तथा इस बीच में प्रकाशित रचनाओं का निर्देश वर्तमान परिवर्धन के कार्य में भी मेरा मुख्य उद्दे य रहा है। नये विषय का निर्देश करने के लिए बड़े कोष्ठकों का प्रयोग किया गया है।

पिछले चौबीस वर्षों में मेरे सहकर्मियों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। यहाँ उनके नामों का उल्लेख करने के बजाय मैंने विषय के इस भाग की एक सामान्य झलक सुलभ बनाने के लिए— अनुक्रमणिका में, जो स्वयं काफी परिवर्द्धित हो गई है, एक नया खण्ड देना श्रेयस्कर समझा है। इस खण्ड में यह दर्शाया गया है कि मैंने उनकी रचनाओं से किस स्थल पर लाभ उठाया है या उनका कहाँ उल्लेख किया है। किन्तु एक ऐसी रचना जो इस क्षेत्र के सभी अर्वाचीन अध्ययनों के मूल में है और जिसको प्रत्येक अवसर पर उद्धृत करना शायद संभव नहीं है, विशेष उल्लेख के योग्य है—मेरा अभिप्राय बेटलिंक और रोथ के शब्दकोश से है जो पिछले ग्रीष्म में पूरा हुआ है। इस महान् कार्य का लगभग पच्चीस वर्षों तक संचालन, जिसका श्रेय सेंट पीटर्सबर्ग एकेडमी आफ साइंसेज को है, उस संस्था के लिए तथा दोनों सम्पादकों के लिए चिरस्थायी गौरव का कारण बनेगा।

बर्लीन, नवम्बर १८७५ अ० वे०

प्रथम संस्करण का आमुख

ये व्याख्यान जो अध्ययन के इस क्षेत्र में मेरे सहकर्मियों के छोटे दायरे के तथा सामान्यतः साहित्य के इतिहास के अनुसंधानों में रुचि लेने वालों के विस्तृत दायरे के समक्ष प्रस्तुत किये गये हैं, प्रथम प्रयास के परिणाम हैं और इस कारण स्वभावतः दोषपूर्ण एवं अनेक दृष्टियों से संवर्द्धित करने योग्य हो सकते हैं। जिस विषय-क्षेत्र का ये विवेचन करते हैं वह इतना विस्तृत रहा है और उसके पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने के साधन सामान्यतः इतने दुर्लभ रहे हैं कि एक दीर्घकाल तक इसके आन्तरिक और आपेक्षिक तिथिक्रम के विषय में—जो एकमात्र संभव तिथिक्रम था—अन्वेषण पूर्णतः अवरुद्ध बना रहा। मैं इस प्रकार के परिश्रम में कभी प्रवृत्त न हुआ होता, यदि बर्लीन रायल लाइब्रेरी में सौभाग्यवश सर आर० चैम्बर्स का संस्कृत पांडुलिपियों का संकलन न होता, जिसकी कोई दस वर्ष पूर्व श्रीमान् फ्रेडेरिक विलियम चतुर्थ की उदारता एवं बैरन बुंसेन महोदय के माध्यम से उपलब्धि ने संस्कृत भाषाशास्त्र के लिए एक ऐसे नवीन मार्ग का उद्घाटन किया जिस पर इसने पहले ही पर्याप्त प्रगति कर ली है। पिछले वर्ष रायल लाइब्रेरी के आदेश से मैंने इस संकलन का केटलॉग बनाने का कार्य किया और उसके परिणामस्वरूप इन व्याख्यानों के प्रकाशन के साथ ही साथ एक विस्तृत केटलॉग प्रकाशित होनेवाला है। इन व्याख्यानों को एक प्रकार से उसकी व्याख्या समझा जा सकता है। कठोर दृष्टिकोण से ये दोनों ही रचनाएँ अपूर्ण प्रतीत होंगी, तथापि मैं यही आशा करता हूँ कि ये अध्ययन की दिशा में अच्छी सेवा कर सकेंगी।

विशेष अनुसन्धानों में कोलेब्रूक, विल्सन, लास्सेन, बर्नाउफ, रोथ, राइनाऊ, स्टेंजलेर और होल्टज्मन्न की रचनाओं का मैं ऋणी हूँ। यहाँ मैं केवल सामान्य उल्लेख कर रहा हूँ, क्योंकि मैंने इन विद्वानों के सर्वत्र उचित स्थान पर काफी संदर्भ दे रखें हैं।

जिस रूप में ये व्याख्यान प्रकाशित हो रहे हैं वह अनिवार्यतः वही है जिस रूप में ये दिये गये थे।* कतिपय शैली-विषयक परिष्कार कर दिये गये हैं। विशेषतः मौखिक वक्तृता के विषयान्तर का परिचय देने वाले वाक्य और पुनरुक्तियाँ या तो संक्षिप्त कर दी गई हैं अथवा छोड़ दी गयी हैं। साथ ही प्रासंगिक उल्लेखों में—जो इसमें फुटनोट के रूप में दिये गये हैं—बहुत-सी नयी सामग्री जोड़ दी गयी है।

बर्लीन, जुलाई, १८५२ — अ० वे०

---

१. १८५१-५२ के शरद्कालीन सत्र में।

विषयानुक्रम

प्रथम युग—वैदिक साहित्य

द्वितीय युग—संस्कृत साहित्य

भूमिका

इन व्याख्यानों के आरम्भ में ही मैं अपने को बहुत कुछ असमंजस में पड़ा हुआ पाता हूँ; बल्कि मैं इस उधेड़-बुन में हूँ कि इन्हें कौन-सा नाम दूँ जो सबसे अधिक सटीक हो। मैं यह नहीं कह सकता कि ये व्याख्यान **"भारतीय साहित्य"** का इतिहास प्रस्तुत करेंगे, क्योंकि तब मुझे भारतीय भाषाओं के समूचे भण्डार पर, जिनमें अनार्य उत्पत्तिवाली भाषाएँ भी सम्मिलित हैं, प्रकाश डालना होगा। मैं यह भी नहीं कह सकता कि इनका विषय "इण्डो-आर्यन (भारतीय आर्यों के) साहित्य" का इतिहास है, क्योंकि तब मुझे भारत की उन भाषाओं का भी आकलन करना होगा, जो इण्डो-आर्यन भाषा के विकास के तीसरे युग में आती हैं। अन्ततः, यह कहना भी उपयुक्त न होगा कि इनमें "संस्कृत साहित्य" का एक इतिहास प्रस्तुत किया जायगा; कारण, इण्डो-आर्यन भाषा अपने प्रथमकाल में 'संस्कृत' अर्थात् शिक्षित वर्ग की भाषा नहीं है; किन्तु इस समय भी वह एक जन-प्रचलित बोली है, जबकि इसके दूसरे काल में जनता की भाषा संस्कृत नहीं, अपितु प्राकृत की विभाषाएँ या बोलियाँ थीं, जिनका उद्‌भव संस्कृत के साथ ही प्राचीन इण्डो-आर्यन भाषा से हुआ था। तब इन व्याख्यानों में मुझसे क्या आशा रखें, इस विषय में मैं इस समय यही कहूँगा कि हमारा संबन्ध यहाँ भारतीय आर्यों की भाषा के केवल प्रथम एवं द्वितीय कालों के साहित्य से है। शब्द-लाघव के लिए मैं **"भारतीय साहित्य"** नाम ही रहने देता हूँ।

इन व्याख्यानों में मुझे प्रायः आपके धैर्य की आवश्यकता पड़ेगी। जिस विषय का ये विवेचन करते हैं उसकी तुलना एक ऐसे देश की बिना जोती हुई भूमि से की जा सकती है, जिसके कुछ ही स्थल यत्र-तत्र साफ किये गये हैं, जबकि इसका बहुत बड़ा भाग आँखों के लिए अगोचर और क्षितिज को भी अवरुद्ध करने वाले घने वनों से ढका है। निःसन्देह थोड़ा-थोड़ा करके इसे साफ किया जा रहा है; किन्तु बहुत मन्दगति से। विशेषतः इसका कारण यह है कि अन्वेषण में बाधा पहुँचाने वाले प्राकृतिक अवरोधों के अतिरिक्त अब भी एकपक्षीय विचारों और पूर्वाग्रहों का घना कुहरा इस क्षेत्र पर मँडरा रहा है, और मानों इसे एक पर्दे में छिपाए हुए फैला है।

भारत के साहित्य को हम सामान्यतः ऐसा प्राचीनतम साहित्य मान सकते हैं, जिसका लिखित विवरण हमारे पास है और ऐसा मानना उचित भी है।[1] किन्तु अब तक इस तथ्य

---

[1] **उपर्युक्त कथन उसी सीमा तक सत्य समझना चाहिए जहाँ तक इसका खण्डन मिस्र के अभिलेख और पेपिरस के लेखपत्रों अथवा असीरिया के साहित्य द्वारा नहीं होता है, जो हाल ही में प्रकाश में आए हैं।**

को पुष्ट करने के लिए जिन कारणों को पर्याप्त माना जाता रहा है वे सही कारण नहीं हैं; और सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि इतने दिनों तक लोगों ने इन्हीं से सन्तोष कर लिया था। सबसे पहले इस तथ्य के समर्थन के लिए स्वयं भारतीय परम्परा का प्रमाण दिया गया है और बहुत दिनों तक इसे ही पर्याप्त समझा जाता था। मैं समझता हूँ कि ऐसे प्रमाणों के अनुपयोगी स्वभाव पर शब्दों को खपाने की आवश्यकता नहीं। दूसरे, ज्योतिष-संबन्धी विवरणों को भी प्रस्तुत किया गया है, जिनके अनुसार वेदों का समय १४०० ई० पू० से आरंभ होना चाहिए। किन्तु ये विवरण ऐसी रचनाओं में दिये गये हैं जो स्पष्टतः बहुत बाद के समय की हैं और इस कारण वे सोद्देश्य की गयी गणनाओं[1] के परिणाम हो सकते

[1] इसके अतिरिक्त, ये गणनाएँ बड़ी अस्पष्ट हैं और उस प्रकार का कोई निश्चित समय नहीं बतातीं जैसा कि ऊपर दिया गया है। वे केवल १८२०-८६० ई० पू० के बीच के युग का संकेत करती हैं, देखिए इं० स्टू० १०.२३६; ह्विटनी. ज रा ए सो १.३१७, (१८६४)। यह सच है कि प्राचीन लेखों में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से प्रारम्भ होती है, यह बात इस तिथि से भी बहुत पूर्वकाल की तिथि की ओर संकेत करती है और 'वैदिक कलेण्डर' का यह समय है २७८०-१८२० ई० पू०, क्योंकि प्रायः २३०० ई० पू० में महाविषुव n Tauri (कृत्तिका) के साथ पड़ता था, देखिए इं० स्टू० १०.२३४, २३६, किन्तु इसके अतिरिक्त इस कृति के प्रथम संस्करण (१८५२) में इस सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किया गया था कि कृत्तिका आदि चान्द्र नक्षत्रों का ज्ञान भारतीय अपने साथ लेकर भारत में आये थे, या इस ज्ञान को उन्होंने फोइनेसिअन लोगों का पंजाब से व्यापारिक सम्बन्ध होने पर प्राप्त किया, उसे हाल ही में पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ है और इस प्रकार इन गणनाओं की, जिनके आधार पर यह समय निश्चित किया गया है, जन्मभूमि बेबिलोन को माना गया है। मेरे दो लेखों में दूसरा लेख देखिए, डी वेदिश्शेन नखरिष्टेन फान डेन नक्षत्र (बर्लिन १८६२), पृ० ३६२-४००; मेरा लेख 'इउबेर डेन वेद-कलेण्डेर नामेन्स ज्योतिष' (१८६२) पृ० १५; इं० स्टू० १०.४२९, ९.२४१; ह्विटनी 'ओरिएण्टल एण्ड लिग्विस्टिक स्टडीज' (१८७४) २.४१८ बेबीलोन और उसके समुद्री व्यापार का, जिसमें मयूरों के निर्यात का वर्णन किया गया है, सीधा निर्देश एक भारतीय ग्रन्थ बावेरुजातक में मिलता है, 'मेलांगेज एशियाटिक्स' (इम्पीरियल रसिअन एकेडेमी), में मिनयेफ का लेख ६.५७७ (१८७१) और बर्लिन एकेडेमी का 'मोनाट्स्वेरिष्ट' पृ० ६२२ (१८७१)। चूँकि यह प्रमाण अपेक्षतया बहुत बाद के समय का है, अतः इसे अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। भारत और पश्चिमी देशों के बीच प्राचीन व्यापारिक सम्बन्धों का प्रत्यक्ष प्रमाण सत्रहवीं शताब्दी के गूढ़ अक्षरों वाली रचनाओं में हाल ही में पाया गया है; इस समय आर्य सिन्धु नदी के तट पर बस चुके थे। 'कपि' शब्द के लिए, जो फर्स्ट किंग्स १०.२२ में कोफ़, ग्रीक 'कीपोस' इन मिस्रदेशीय रचनाओं में 'कफ़ू' रूप में आता है, देखिए जान०

हैं। अपरंच, बौद्धों के एक युग का भी प्रमाण दिया जाता है, जिसके अनुसार छठीं शताब्दी में ब्राह्मणीय प्रभुत्व के विरोध में एक सुधारक के उदय होने की बात कही गई है; किन्तु इस विशिष्ट युग की प्रामाणिकता अब भी नितान्त सन्दिग्ध है। अन्ततः जिस काल में व्याकरण के पहले सुलझे हुए आचार्य पाणिनि हुए थे वह समय ई० पू० चौथी शताब्दी बताया जाता है, और इसे आरम्भ विन्दु मानकर इससे उनके पहले के साहित्यिक युग के विकास-काल के विषय में निष्कर्ष निकाले गये हैं। किन्तु पाणिनि के इस समय में होने के पक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे दुर्बल और हेत्वाभासपूर्ण हैं तथा वे किसी भी दशा में हमें कोई ठोस आधार नहीं प्रदान कर सकते।

निम्नलिखित कारणों से ही वस्तुतः हम भारत के साहित्य को ऐसा प्राचीनतम साहित्य मान सकते हैं, जिसके लिखित विवरण बहुत बड़ी संख्या में सुरक्षित हैं।

ऋग्वेद-संहिता के अधिक प्राचीन अंशों में हम भारतीय जातियों को भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर पंजाब में और पंजाब के बाहर काबुल में कुभा या 'कोफीन' (ग्री०) पर बसे हुए पाते हैं। इस जाति का पूर्व की ओर सरस्वती को पार कर हिन्दुस्तान में गंगा नदी तक क्रमिक विस्तार वैदिक रचनाओं के परवर्ती काल के अंशों में प्रायः प्रत्येक अवस्था में देखा जा सकता है। बाद के युग अर्थात् महाकाव्य-काल की रचनाओं में स्वयं हिन्दुस्तान के विजेताओं के आन्तरिक संघर्ष का वर्णन किया गया है, जैसे महाभारत में; अथवा ब्राह्मणधर्म के सुदूर दक्षिण की ओर विस्तार का वर्णन किया गया है, जैसे रामायण में। यदि हम इसके साथ भारत

डूमिश्शेन का 'डी फ्लोट्ट आइनेर एगिप्ट, केनिगिन आउस डम त्सीबत्सेन यार' (लाइपत्सिग १८६४) टेबुल २, पृ० १७, अन्ततः, 'तुरवीम्', जो मयूरों के लिए हेब्रू नाम है (फर्स्ट किंग्स १०।२२, २ क्रोनि० ९.२१) का से अर्थ निकलता है कि सोलोमेन के समय में फोइनिसिया के ऑफिर सौदागर "ont eu affaire soit au pays meme des Abhira soit sur un autre point de la cote del'Inde avec des peuplades dravidiennes जूलिएन विसन, रिव् डि लिंग्विस्टिके, ६।१२० (१८७३)। देखिए बर्नेल, एलि० आफ साउथ इं० पेलि० पृ० ५ (मंगलोर १८७४)।

[१] या जैसा कि गोल्डस्ट्यूकेर का विचार है, बुद्ध से भी पहले।

[२] एक वैदिक ऋषि, जिन्हें कण्व वंश का वत्स बताया गया है, ऋक् ८.६.४६-४८ में घोड़ों, पशुओं और एक साथ चार-चार जोते गये ऊँटों के दान की प्रशंसा करते हैं (राथ ने सेंट पीटर्स ग डिक्शनरी में उष्ट्र का अर्थ भैंस या कूबड़ा बैल बताया है; सामान्यतः इसका अर्थ ऊँट है)—इन पशुओं का दान उन्होंने तिरिंदिर और पर्शु ने यादवों से प्राप्त किया था या यहाँ केवल एक व्यक्ति तिरिंदिर पर्शु का ही उल्लेख है? शांखायन श्रौतसूत्र १६.११.२० में उन्हें तिरिंदिर पारशव्य कहा गया है। इन नामों से तिरिडेटीज और पर्सियन्स् का संकेत

के विषय में एक ग्रीक स्रोत अर्थात् मेगस्थनीज* से प्राप्त पहली स्पष्ट जानकारी का संबन्ध जोड़ें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस लेखक के समय में हिन्दुस्तान में ब्राह्मण संस्कृति के विकास का कार्य पूरा हो चुका था, जबकि पेरिप्लस (देखिए लास्सेन इंण्ड० अल्ट० २.१५०, टिप्पणी; इं० स्टू० २.१९२) के समय में दक्षिण भारत का सुदूरवर्ती क्षेत्र शिव की पत्नी की पूजा का केन्द्र बन चुका था। इस विस्तृत देश को, जिसमें जंगली तथा लड़ाकू जातियाँ निवास किया करती थीं, ब्राह्मण धर्म के प्रभाव में ले आने के पहले वर्षों और शताब्दियों की कितनी बड़ी परम्परा बीत चुकी होगी! कदाचित् यहाँ यह आपत्ति हो सकती है कि सिकन्दर ने सिन्ध नदी के तट पर जिन जातियों और जनों को पाया, वे नितान्त वैदिक अवस्था में हैं, ब्राह्मण संस्कृति के धरातल पर नहीं। वस्तुतः यह सत्य भी है, किन्तु स्वयं भारत के सम्बन्ध में इससे कुछ भी निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत न होगा। कारण, पंजाब की ये जातियाँ कभी भी ब्राह्मणीय व्यवस्था के प्रभाव में न आ सकीं। ये जातियाँ अपनी वैदिक जीवन-दृष्टि पर स्थिर एवं पुरोहितों की वर्णव्यवस्था के प्रभाव से मुक्त बनी रहीं। इसी कारण ये अपने उन बन्धुओं की घृणा का पात्र बन गईं जो आगे फैल चुके थे; और इसी कारण उनमें बौद्धधर्म को भी सहज ही प्रवेश मिल गया।

भारतीय साहित्य के लिखित विवरणों का समय संभवतः वह समय हो सकता है, जब इण्डो-आर्यन (भारतीय आर्य) पेर्सो आर्यन (फारस के आर्य) के साथ निवास करते थे। इस साहित्य के नितान्त प्राचीनता के दावे की पुष्टि बाह्य भौगोलिक प्रमाणों से होती है; फिर भी इस दिशा में उनके वर्ण्य-विषयों में ही पाये जाने वाले आन्तरिक प्रमाण

मिलता है; देखिए इं० स्टू० ४.३७९ टि०. किन्तु तुलना कीजिए गिरर्ड डे रिआल्ले, रिव्यू डि लिंग्विस्ट, ४.२२७, (१८७२) निःसन्देह हमें साइरस के बाद पर्सियन लोगों को नहीं मानना चाहिए; इससे हम बहुत बाद के समय में चले आवेंगे, किन्तु साइरस के समय के पूर्व भी फारसी लोग इसी नाम से पुकारे जाते थे और उनके अपने राजा भी होते थे। अथवा जैसा ओल्शाउजेन ने बेर्लीनेर मोनाटस् वेरिष्ट (१८७४), पृ० ७०८ में सुझाया है, हमें पार्थवों या पार्थिअन लोगों से अर्थ लेना चाहिए, जिनके एचेमीनिडी (Achaemenidae) के समय में होने का उल्लेख पार्शाओं के साथ किया गया है? तिरिडेटेस आदि में 'तिरि' शब्द की जो व्युत्पत्ति प्रचलित है उसे पहलवी तीर-जेब्ड-तिस्त्र्य से बताना उचित नहीं (यह व्युत्पत्ति एम० ब्रीअल ने डे पेर्शिसिस् नोमिनिबस् १८६३, पृ० ९, १० में दी है)।

* उसने सिल्यूकस के राजदूत के रूप में कुछ समय तक चन्द्रगुप्त की सभा में निवास किया था। उसके लेख मुख्यतः ऐरियन के समय में मिलते हैं। ऐरियन का समय ईसा की दूसरी शताब्दी है।

ही कम निर्णायक नहीं हैं। ऋक्-सूक्तों में जनता की अप्रतिहत शक्ति प्रकृति के साथ सम्बन्ध की भावना को सहज नवीनता और सरलता के साथ अभिव्यक्त करती है; प्रकृति की शक्तियों की पूजा श्रेष्ठ प्राणियों के रूप में होती है और विभिन्न क्षेत्रों में उनकी दयापूर्ण सहायता की याचना की जाती है। प्रकृति की यह पूजा सर्वत्र केवल प्रकृति के व्यक्तिगत दृग्विषयों और वह भी उनके अतिमानवीय अस्तित्वों तक ही सीमित है। इनसे प्रारम्भ कर हम भारतीय साहित्य में हिन्दू जनता की प्रगति धार्मिक विकास की उन सभी अवस्थाओं में देखते हैं, जिनसे सामान्य मानव मस्तिष्क होकर गुजरा है। प्रकृति के व्यक्तिगत दृग्विषय, जो प्रथमतः अतिमानवीय होने से मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं, शनैः शनैः विभिन्न क्षेत्रीय वर्गों में विभक्त कर दिये जाते हैं। इस प्रकार हम अनेक दैवी सत्ताओं पर आ पहुँचते हैं, जिनमें से प्रत्येक अपने विशिष्ट क्षेत्र में सर्वोच्च शक्तिमान् है, जिसका प्रभाव समय के साथ-साथ मानव-जीवन की समरूप घटनाओं तक छा जाता है। ये दैवी सत्ताएँ भी मानवीय गुणों एवं अवयवों से युक्त हो जाती हैं। इन प्राकृतिक देवताओं या प्रकृति की शक्तियों के अधिष्ठाताओं की संख्या पहले ही काफी थी; पुनः नैतिक संबन्धों से उद्भूत भावात्मक सत्ताओं को जोड़ देने से यह संख्या और भी बड़ी हो जाती है। इन्हें तथा अन्य देवताओं को दैवी शक्ति, व्यक्तिगत जीवन और विशिष्ट कार्य से युक्त कर दिया जाता है। इन दैवी सत्ताओं के संदर्भ में आगे चलकर जिज्ञासा की प्रवृत्ति एक नई व्यवस्था लाने का प्रयत्न करती है और उनके प्रमुख प्रभाव के अनुसार उनका वर्गीकरण करती है तथा एक दूसरे के समकक्ष ला रखती है। इस वर्गीकरण में जिस मान्यता का अनुसरण किया गया है वह स्वयं देवताओं की कल्पना के समान ही प्रकृति के चिन्तन-जगत् से ली गयी है। हम ऐसे देवताओं को पाते हैं, जो आकाश में, अन्तरिक्ष में और पृथ्वी पर अपने कार्य में लगे हैं और इनमें सूर्य, वायु तथा अग्नि को क्रमशः प्रतिनिधि और स्वामी माना गया है। ये तीनों देवता शनैः-शनैः अन्य देवताओं के ऊपर प्राधान्य प्राप्त कर लेते हैं, जिन्हें उनका अनुयायी या सेवक मान लिया गया है। इन वर्गीकरणों से पुष्ट होकर कल्पना आगे बढ़ती है और इन तीन देवताओं का आपेक्षिक स्थान निर्धारित करने एवं परमात्मा के ऐक्य पर पहुँचने का प्रयत्न करती है। यह कार्य या तो चिन्तन से वस्तुतः एक संप्रभु और नितान्त स्वतन्त्र सत्ता अर्थात् ब्रह्मन् (नपुं०) की कल्पना द्वारा सिद्ध होता है, जिसके आगे ये तीनों देवता अधीनस्थ देवों या सेवकों के रूप में आते हैं, अथवा इनमें से एक या दूसरे देवता की पूजा सर्वोच्च देवता के रूप में होने लगती है। सर्वप्रथम यह सम्मान सूर्य देवता को दिया गया है, फारस के आर्यों ने इस दृष्टिकोण को बनाये रखा और निःसन्देह उन्होंने इसका और आगे विस्तार किया। ब्राह्मणों के अधिक प्राचीन अंशों में भी—जिनसे काल और वर्ण्य विषय की दृष्टि से अवेस्ता संहिता की अपेक्षा अधिक संबन्ध रखता है—हम स्थान-स्थान पर सूर्य देवता को अन्य देवताओं से बहुत ऊपर उठा हुआ पाते हैं ('सविता देवानाम्')। हम इसके पर्याप्त चिह्न पूजा की विधाओं में भी पाते हैं, जिनमें प्रायः अतीत के

अवशेष सुरक्षित हैं।[1] यही नहीं, ब्रह्मन् (पंलिंग) के रूप में उसने सिद्धान्ततः इस पद को बहुत बाद के समय तक धारण किया है; यद्यपि उसका गौरव बहुत कुछ समाप्त हो चुका है। अधिक प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय-गोचर प्रभाव के कारण उसके सहयोगियों वायु और अग्नि ने शनैः-शनैः सर्वोच्च सत्ता का पद पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया, यद्यपि वे परस्पर निरन्तर संघर्षरत बने रहे। यह पूजा विभिन्न अवस्थाओं की लम्बी श्रृंखला से होकर गुजरती है और स्पष्टतः यह वही अवस्था है, जिसे मेगस्थनीज ने भारत में[2] पाया है और जो पेरिप्लस के समय में सुदूर दक्षिण तक फैल चुकी थी, भले ही इसका रूप पर्याप्त भ्रष्ट हो चुका था।

इस प्रकार भारतीय साहित्य का समय अत्यन्त प्राचीन मानना संगत तो है, किन्तु हिन्दू धर्म[1] के इतिहास के साथ संबद्ध बाह्य भौगोलिक आधारों तथा आन्तरिक प्रमाणों की दृष्टि से जब हम निश्चित कालक्रमानुसारी तिथियों का अन्वेषण करते हैं तो स्थिति पर्याप्त असन्तोषजनक सिद्ध होती है। हमें इस तथ्य को मानना होगा कि इस प्रकार का कोई भी अन्वेषण निश्चय ही पूर्णतः निष्फल होगा। साहित्य की केवल उन्हीं शाखाओं के संबन्ध में जो दूसरे देशों में भी ज्ञात हुईं और केवल कुछ अन्तिम शताब्दियों के संबन्ध में ही हम किसी प्रकार की सफलता की आशा रख सकते हैं, जब पाण्डुलिपियों की तिथियाँ या रचनाओं की भूमिकाओं अथवा उपसंहारों में दिये गये विवरण का हम पथ-प्रदर्शन करते हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं रचनाओं के स्वभाव और उनमें आने वाले उद्धरणों के आधार पर केवल आन्तरिक काल-निर्धारण ही संभव है।

भारतीय साहित्य दो महान् युगों में विभक्त है: वैदिक और संस्कृत। इनमें प्रथम या वैदिक युग की ओर मुड़ते हुए मैं इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करने से पहले इसकी परिचयात्मक रूप-रेखा प्रस्तुत करूँगा।

---

[1] तुलना कीजिए : मेरा लेख 'त्स्वाई वेदिश्श टेक्स्ट ईउबेर ओमिना उण्ड पोर्टेण्टा' (१८५९), पृ० ३९२-३९३।

[2] स्ट्राबो पृ० ११७ के अनुसार 'डिओनुसस' (रुद्र, सोम, शिव) की पूजा पर्वतीय क्षेत्रों में होती थी और हाक्लीज (इन्द्र, विष्णु) की पूजा मैदानों में होती थी।

[3] तीसरे स्थान पर इनके साथ हम भाषाविषयक प्रमाणों को भी ले सकते हैं। पियदसि के लेख, जिनका समय लेख में ग्रीक राजाओं के तथा स्वयं सिकन्दर के उल्लेख से निर्धारित किया गया है, प्रचलित जनभाषा में लिखे गये हैं। वैदिक सूक्तों की भाषा के इस भाषा तक पहुँचने में अवश्य ही अनेक शताब्दियाँ बीत चुकी होंगी।

प्रथम युग

वैदिक साहित्य

परिचय : १

वेद चार हैं: **ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद**, जो दो पाठों में हैं तथा **अथर्ववेद**। इनमें से प्रत्येक अलग-अलग तीन भागों में विभक्त है—संहिता, ब्राह्मण और सूत्र।

उनका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है:

ऋग्वेदसंहिता[1] पूर्ण रूप से एक गीतात्मक संग्रह है; और इसके अन्तर्गत गीतों का वह भाण्डार है, जिसे हिन्दू सिन्धु नदी के तट पर स्थित अपनी प्राचीन निवासभूमि से अपने साथ ले आये थे और जिसका प्रयोग वे वहाँ पर "अपनी तथा अपने पशुओं की समृद्धि के लिए, उषा की वन्दना, विद्युत् धारण करने वाले देवता और अन्धकार के बीच संघर्ष के प्रशस्ति-गान और युद्ध में रक्षा करने वाले देवताओं के प्रति धन्यवाद प्रकाशन के लिए"[2] करते थे। इसमें गीतों का वर्गीकरण उन कवियों के कुलों के आधार पर किया गया है, जिनकी ये रचना बताये जाते हैं। इस वर्गीकरण के सिद्धान्त को नितान्त वैज्ञानिक कहा जा सकता है। इस कारण यद्यपि अधिक तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह संभव है कि इस संहिता का संकलन आगे विवेचित की जाने वाली उन दो संहिताओं के समय से परवर्तीकाल का है, जो एक व्यावहारिक अभाव की पूर्ति करने के कारण निश्चित विधि से युक्त देवपूजन की संस्था के अस्तित्व में आते ही आवश्यक हो गई थीं। कारण, **सामवेद-संहिता** और **यजुर्वेद की दोनों संहिताओं** में केवल ऐसी ही ऋचाएँ (मन्त्र) और याज्ञिक (यजुस्) मन्त्र हैं, जिनका पाठ सोमयज्ञ और अन्य यज्ञों में किया जाता था और वे हैं भी उसी क्रम में जिस क्रम में उनका व्यवहारतः उपयोग होता था; कम से कम इतना तो हम निश्चित रूप से जानते हैं कि यजुर्वेद में ऐसी ही स्थिति है। सामवेद की संहिता में केवल ऋचाएँ हैं और यजुर्वेद की संहिता में गद्य में लिखे गये वाक्य भी हैं। ऋचाएँ इने-गिने

---

[1]संहिता (संग्रह) नाम पहली बार तथाकथित आरण्यकों या ब्राह्मणों के परिशिष्ट में या सूत्रों में आता है; किन्तु उसका अर्थ उपर्युक्त है या नहीं यह अभी अनिश्चित है। ब्राह्मणों में जिन नामों द्वारा संहिता को अभिहित किया गया है वे या तो 'ऋचः' 'सामानि' 'यजूंषि' हैं या ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, या बह्वृचः, छन्दोगः, अध्वर्यु, या त्रयी विद्या, स्वाध्याय, अध्ययन हैं या केवल 'वेद' शब्द भी आया है। सूत्रों में ही 'छन्दस्' शब्द का विशेष रूप से संहिता के लिए प्रयोग किया गया है और पाणिनि ने इस अर्थ में इसका और भी विशिष्ट प्रयोग किया है; वे 'ऋषि' निगम' 'मन्त्र (?)' शब्दों का भी इसी प्रकार व्यवहार करते हैं।

[2]देखिए रोथः त्सुर लिटेराटुर उण्ड गेशिश्टे देस् वेद, पृ० ८ (स्टटगार्ट १८४६)।

अपवादों को छोड़कर समग्ररूप में ऋक्संहिता में मिलती हैं, जिससे सामसंहिता ऋक-संहिता के सूक्तों से सोमयज्ञ में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों के उद्धरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साम-संहिता और यजु:संहिता में पायी जाने वाली ऋचाएँ अंशत: बहुत बदले हुए रूप में मिलती हैं और ऋक्-संहिता के पाठ से पर्याप्त भिन्न हैं। इसकी व्याख्या तीन प्रकार से संभव हो सकती है। पहले, ये पाठ ऋग्वेद के पाठों की अपेक्षा अधिक प्राचीन और मौलिक होंगे और उनके याज्ञिक प्रयोग ने उन्हें परिवर्तन से सुरक्षित रखा, जबकि सीधे-सादे गीत का यज्ञ-क्रिया से प्रत्यक्ष संबन्ध न होने के कारण उसकी सुरक्षा उतनी साव-धानी से न हो सकी। या, दूसरे, वे ऋग्वेद के पाठों के बाद के पाठ होंगे और मन्त्र का याज्ञिक प्रयोगानुसारी अर्थ से संगति बैठाने की आवश्यकता से उत्पन्न हुए होंगे। अथवा, अन्ततः, वे ऋग्वेद के पाठों के समान ही प्रामाणिक होंगे और ये असंगतियाँ उन प्रदेशों और कुलों की विविधता के कारण उत्पन्न हुई होंगी, जिनमें इन मन्त्रों का प्रयोग होता था। वह पाठ उस प्रदेश या कुल में सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता था जिसमें उसका उद्भव होता था और उनमें कम प्रामाणिक होता था जिनमें उसका प्रचार बाद में होता था। उपर्युक्त तीनों प्रकार की व्याख्याएँ समान-रूप से सही हैं और प्रत्येक के साथ सभी व्या-ख्याओं को ध्यान में रखना चाहिए। किन्तु यदि हम इन मन्त्रों के संबन्ध को और निकट से देखें तो इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: सामसंहिता में आने वाली ऋचाएँ अधिक पुराने व्याकरण-रूपों के कारण सामान्यत: अधिक प्राचीनता और मौलिकता की छाप लिए हुए हैं; किन्तु इसके विपरीत, यजुर्वेद की दोनों संहिताएँ कालान्तर में परिवर्तित होने का भान कराती हैं। तीसरे प्रकार की व्याख्या के अन्तर्गत आने वाले मन्त्र साम-संहिता और यजु:संहिता में समान संख्या में उपलब्ध होते हैं। इन सबके बावजूद भी इस विषय पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता कि मौखिक संक्रमण द्वारा जन साधारण की बोली में इन गीतों और सूक्तों में जो परिवर्तन हुए उन्हें किसी स्थिति में अधिक महत्वपूर्ण समझना चाहिए; क्योंकि इस युग में लेखन द्वारा इनका रूप सुरक्षित रहा हो, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः हम ब्राह्मणों के काल के लिए भी ऐसी बात नहीं मान सकते, अन्यथा इन रचनाओं से संबद्ध विभिन्न रचनाओं के भेदों का तथा सामान्यत: विभिन्न शाखाओं की बड़ी संख्या का कारण बताना कठिन हो जायगा।

यद्यपि ऋग्वेद के गीतों की या उनमें से अधिकांश की रचना सिन्धु नदी के तटों पर हुई थी, तथापि उनका अन्तिम रूप में संकलन एवं विन्यास भारत में ही संभव हो सका। यह किस समय हुआ, कहना कठिन है। कुछ अंश तो इतने अर्वाचीन हैं कि वर्णव्यवस्था की स्थापना उनके पहले ही हो चुकी थी, और जैसा कि मैं आगे प्रदर्शित करूँगा, स्वयं परम्परा भी शाकल्य तथा पंचाल बाभ्रव्य को ऋक्-संहिता के विन्यास में महत्त्वपूर्ण भाग लेने का श्रेय देकर विदेहों और पंचालों की समृद्धि के युग को इंगित करती है। सामवेद संहिता पूर्णत: ऋग्वेद से उद्धृत होने के कारण अपने उद्भवकाल के विषय में कोई सूत्र

नहीं छोड़ती। केवल इस बात से कि इसमें ऋग्वेद के परवर्ती काल के अंशों से कोई उद्धरण नहीं हैं, हमें संभवतः यह संकेत मिलता है कि उस समय तक ऋग्वेद के इन अंशों की रचना नहीं हुई थी। आज तक इस विषय की गवेषणा नहीं हुई है। जहाँ तक 'यजुर्वेद' की दो संहिताओं का प्रश्न है, हम इनके गद्यांशों में, जो इनकी विशेषता है, इस बात का नितान्त स्पष्ट प्रमाण पाते हैं कि इनका उद्‌भव हिन्दुस्तान के पूर्वीय भागों में[1] कुरुपंचालों के देश में हुआ और वे उस युग की रचनायें हैं जब ब्राह्मणीय तत्त्व प्राधान्य प्राप्त कर चुका था, यद्यपि इसे अनेक कठिन संघर्ष अभी करने थे और जब ब्राह्मणों का पौरोहित्याधिपत्य तथा वर्ण-व्यवस्था किसी भी दशा में पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। यही नहीं, हमें इस बात को मानने का भी बाह्य प्रमाण मिलता है कि **शुक्लयजुर्वेद संहिता** के विद्यमान संग्रह का काल तीसरी शताब्दी ई० पू० से प्रारम्भ होता है। कारण, मेगस्थनीज़ **'माडिआण्डिनोई'** नाम के लोगों का उल्लेख करता है और यह नाम 'माध्यंदिन' में मिलता है, जो शुक्ल यजुस् की प्रमुख शाखा है। इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

अथर्वसंहिता का उद्‌भव उसी समय से प्रारम्भ होता है जब ब्राह्मणधर्म प्रधानता प्राप्त कर चुका था। अन्य दृष्टिकोणों से यह ऋक्‌संहिता से बिल्कुल मिलती-जुलती है और ब्राह्मणीय युग के गीतों का भाण्डार है। इन गीतों या सूक्तों में से अनेक ऋक्-संहिता के सब से अर्वाचीन अंश अर्थात् दशम मण्डल में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में ये सूक्त उसके संकलन के समय सबसे बाद में जोड़े गये थे; अथर्ववेद में ये सूक्त स्वाभाविक रूप में तत्कालीन रचना हैं। निःसन्देह, दोनों संकलनों का मूल तत्त्व परस्पर नितान्त भिन्न है। ऋग्वेद में एक सजीव प्राकृतिक भावना है, प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेम है; जबकि अथर्ववेद में इसके विपरीत उसके भयंकर रूपों और आभिचारिक शक्तियों का चिन्ताकुल आतंक फैला हुआ है। ऋग्वेद में हम जनता को स्वच्छन्द क्रिया और स्वतन्त्रता की अवस्था में पाते हैं, अथर्ववेद में हम उसे पौरोहित्य-प्रभुता और अन्धविश्वासों की बेड़ियों में जकड़ी हुई देखते हैं। किन्तु अथर्वसंहिता में भी बहुत प्राचीन काल के भी अंश हैं जिनका संबंध सामान्य जनता से या समाज के निम्नवर्ग से रहा होगा, जबकि ऋग्वेद के सूक्त उच्चवर्ग के परिवारों की विशिष्ट सम्पत्ति प्रतीत होते हैं।[2] अथर्ववेद के सूक्तों को दीर्घकालीन संघर्ष के बाद ही चौथे वेद के रूप में स्थान मिल सका। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद

---

[1]या सिन्धु के पूर्व हिन्दुस्तान में।

[2]यह अनुमान, जो अथर्वन् के कतिपय अंशों पर आधृत है, संहिता के 'अथर्वाङ्गिरसस्' नाम से भेद प्रदर्शित करता है; इसके अनुसार यह नाम ब्राह्मणों के नितान्त प्राचीन और सम्माननीय परिवारों के लिए प्रयुक्त होता है। किन्तु अन्यत्र मैंने यह अनुमान लगाया है कि इस नाम का प्रयोग वर्ण विषयों को अधिक प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए किया गया है, देखिए इण्ड० स्टू० १.२९५ [त्स्वाई वेदिश्श टेक्स्ट इउवेर ओमिना उण्ड पोर्टेण्टा, पृ०३४६-३४८]।

के ब्राह्मणों के अधिक प्राचीन अंशों में अथर्ववेद के सूक्तों का कोई उल्लेख नहीं है। वस्तुतः उन सूक्तों की उत्पत्ति इन ब्राह्मणों के साथ-साथ ही हुई, अतएव इनके परवर्ती अंशों में ही अथर्ववेदीय सूक्तों की ओर संकेत किया गया है।

अब हम वैदिक साहित्य के दूसरे भाग ब्राह्मणों पर आते हैं। ब्राह्मणों के स्वरूप[1] को सामान्यतः इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है:—उनका लक्ष्य यज्ञीय सूक्तों और मन्त्रों को यज्ञकर्मों के साथ एक ओर उनके प्रत्यक्ष पारस्परिक संबन्ध का और दूसरी ओर उनके प्रतीकात्मक पारस्परिक संबन्ध का निर्देश करते हुए संयुक्त करना है। उनका प्रत्यक्ष पारस्परिक संबन्ध प्रदर्शित करने के लिए ये ब्राह्मण ग्रंथ विशिष्ट यज्ञ-क्रिया का सविस्तार वर्णन करते हैं; उनका प्रतीकात्मक संबन्ध दिखाने के लिए वे या तो प्रत्यक्षतः व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक हैं, अथवा उस संबन्ध को परम्परा या चिन्तन द्वारा स्थापित करते हैं। इस प्रकार उनमें हमें सबसे प्राचीन यज्ञ, भाषाविषयक प्राचीनतम व्याख्याएँ, प्राचीनतम कथाएँ और प्राचीनतम दार्शनिक चिन्तन उपलब्ध होते हैं। यह विशिष्ट स्वरूप इस वर्ग की सभी रचनाओं में सामान्य रूप से पाया जाता है, फिर भी विस्तारों की दृष्टि से अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति और वेदविषय से संबद्ध होने के अनुसार वे एक दूसरे से बहुत अन्तर रखते हैं। जहाँ तक उनके काल का प्रश्न है, वे सभी वैदिक सभ्यता और संस्कृति से ब्राह्मणीय विचारधारा और सामाजिक व्यवस्था की दिशा में होने वाले संक्रमण के काल के हैं। अपितु यों कहा जा सकता है कि वे इस संक्रमण में सहायक हैं और इनमें से कुछ तो इस संक्रमणकाल के आरम्भ के हैं और कुछ अवसान के समय के। ब्राह्मणों की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न ऋषियों की विचारधाराओं से हुई, जो मौखिक परंपरा द्वारा संक्रमित होती थीं और उनके परिवारों में शिष्यों द्वारा सुरक्षित और परिवर्द्धित होती थीं। इन विभिन्न परम्पराओं की संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यों-त्यों उन सबको परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण

---

[1]इस पद का अर्थ है 'वह जो एक प्रार्थना या ब्रह्मन् से सम्बद्ध होता है', स्वयं 'ब्रह्मन्' का अर्थ है 'आगे बढ़ना' इसका शरीरक्रिया विषयक अर्थ है 'उत्पन्न करना, सृष्टि करना और आध्यात्मिक अर्थ है, ऊपर उठानेवाला, उत्कर्ष करनेवाला, शक्ति देने वाला। ब्राह्मण नाम का उपर्युक्त अर्थ में प्रथम उल्लेख शुक्लयजुस् ब्राह्मण में और विशेषतः उसके तेरहवें काण्ड में आया है। जिन स्थलों पर यज्ञ क्रिया का शास्त्रीय विवेचन और अन्य विधियाँ दी गई हैं, वहाँ हम 'तस्योक्तम् ब्राह्मणम्' इसके विषय में ब्राह्मण का उद्धरण दिया जा चुका है, इस उक्ति का प्रयोग पाते हैं। तेरहवें काण्ड के पहले के काण्डों में ऐसे स्थलों पर "तस्योक्तो बन्धुः" 'इसका सम्बन्ध पहले दिखाया जा चुका है' उक्ति आती है। (इं० स्टू० ५.६०, ९.३५१] ब्राह्मण के अतिरिक्त सामसूत्रों में 'प्रवचन' शब्द का प्रयोग भी भाष्य के अनुसार उसी अर्थ में होता है; वे 'अनुब्राह्मण' का भी उल्लेख करते हैं, किन्तु यह पद पाणिनि के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं आया है।

बनाने की आवश्यकता भी बढ़ती गई। इस उद्देश्य से समय बीतने के साथ-साथ विभिन्न प्रदेशों में उपयुक्त योग्यतावाले व्यक्तियों ने ऐसे संकलन किये, जिनमें इस प्रकार की पर्याप्त विषय-सामग्री सन्निहित की गई थी; और प्रत्येक विषय से संबद्ध विभिन्न मतों का उद्गम उनके मौलिक जन्मदाताओं तक ढूंढ निकाला गया था। किन्तु यह अनिश्चित है कि इन संकलनों या संहिताओं को इस समय वस्तुतः लिखित रूप दे दिया गया था या अब भी वे मौखिक संक्रमित होतीं थीं। उपर्युक्त बातों में दूसरी बात अधिक संभव प्रतीत होती है, क्योंकि हम एक ही ग्रन्थ के बहुधा दो ऐसे पाठ पाते हैं, जो विस्तारों की दृष्टि से एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं; फिर भी इस विषय पर निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसी स्थितियों में मूल पाठ में ही कुछ मौलिक भेद संभव हो सकता है; या विषय का नवीन ढंग से विवेचन होना भी संभव है। अपरंच, इन संकलनकर्ताओं का प्रायः एक दूसरे से विरोध और मतवैभिन्य होना भी स्वाभाविक था। इस कारण स्थान-स्थान पर हम उन व्यक्तियों के प्रति उत्कट वैमनस्य का प्रदर्शन पाते हैं, जो लेखक के विचार में नास्तिक या शास्त्रद्रोही हैं। इन रचनाओं में से कुछ रचनाओं ने[1]—अपने नैसर्गिक महत्व या अपने लेखकों के पौरोहित्य प्रवृत्ति में अधिक प्रभावशाली होने के कारण[2]—शेष रचनाओं पर शनैः-शनैः जो प्रबल प्रभाव डाला उसका परिणाम यह हुआ है कि दुर्भाग्यवश केवल ये ही रचनाएँ सुरक्षित रह गईं और विरोधी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली दूसरी रचनाएँ अधिकांशतः लुप्त हो गईं। संभवतः इनके अंश भारत में यत्र-तत्र अब भी उपलब्ध हो सकें; फिर भी सामान्यतः भारतीय साहित्य के अन्य विषयों के समान यहाँ भी हमें यह शोचनीय बात मिलती है कि जो रचनाएँ अन्त में विजयी हुई हैं उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं को प्रायः पूर्णतः तिरोहित कर दिया है और उनका नाम ही मिटा दिया है। जो कुछ भी हो, ब्राह्मणों की अपेक्षतया एक बड़ी संख्या अब भी विद्यमान है; इसका कारण यह है कि उनमें से प्रत्येक किसी विशेष वेद से संयुक्त है और साथ ही साथ जिन परिवारों में विभिन्न वेद परम्परया संक्रमित होते थे उनमें आपस में एक तुच्छ कोटि की

---

[1]पाणिनि ४.३.१०५ में प्राचीन (पुराणप्रोक्त) ब्राह्मणों का सीधा उल्लेख किया गया है; और उनके समय में इनके विरुद्ध अधिक आधुनिक (या जैसा भाष्यकार ने कहा है 'तुल्यकाल') ब्राह्मण रहे होंगे [इस विषय पर देखिए गोल्डस्ट्यूकेर-पाणिनि, पृ० १३२ आदि और उस पर मेरा प्रतिलेख इं० स्टू० ५.६४ आदि]।

[2]उन्हें सुरक्षित रखने की कठिनाई भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है; कारण, उस समय या तो अध्ययन का प्रचलन था ही नहीं या उसका कदाचित् ही व्यवहार होता था। ['भारत में लेखन के युग और प्रयोग सीमा के प्रश्न पर विचार करते समय यह उल्लेखनीय है कि कम से कम उत्तर में कागज के प्रयोग में आने के पहले लिखने की सामग्री का अभाव इसके प्रचलन में बाधक रहा होगा।"—बर्नेल : एलिमेण्ट्स आफ साउथ इण्डियन पेलिओग्राफी, पृ० १०]

ईर्ष्या भी बनी रहती थी। अतएव प्रत्येक वेद के साथ ऐसी रचनाएँ सुरक्षित रखी गईं, जिन्हें सर्वोच्च मान्यता प्राप्त ग्रन्थ समझा जाता था; यद्यपि ब्राह्मणों का व्यावहारिक महत्त्व उत्तरोत्तर समाप्त होता गया और उनका स्थान सूत्रों आदि ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार जिन ब्राह्मणों या संहिताओं के पाठ नष्ट हो गये उनके अन्तर्गत ही **बाष्कल, पैङ्गिन्, भाल्लविन्, शाट्यायनिन्, कालभविन्, लामकायनिन्, शाम्बुवि, खाडायनिन्,** और **शालङ्कायनिन्** शाखा की रचनाएँ आती हैं, जिनके उद्धरण इस वर्ग की रचनाओं में अनेक स्थलों पर मिलते हैं; इसके अतिरिक्त **'गण शौनक'** (पाणिनि ४।३।१०६) में उद्दिष्ट सभी छन्दस् **ग्रंथ** या **संहिताएँ** भी नष्ट हो चुकी हैं, जिनके नामों का उल्लेख अन्यत्र नहीं हुआ है।

विषय की दृष्टि से विभिन्न वेदों के ब्राह्मणों के बीच निम्नलिखित अन्तर पाया जाता है। यज्ञ-क्रिया का विवेचन करते समय ऋग्वेद के ब्राह्मण सामान्यतः केवल उन्हीं कर्मों का वर्णन करते हैं जो होतर या ऋचाओं के गायक को करने होते हैं। होतर का काम यह था कि वह विशिष्ट अवसरों के उपयुक्त मन्त्रों को विविध सूक्तों से चुनता था और उनका 'शस्त्र' रूप में प्रयोग करता था। सामवेद के ब्राह्मण उद्गातर या सामगायक के कर्तव्यों के वर्णन तक ही स्वयं को सीमित रखते हैं। यजुर्वेद के ब्राह्मण केवल अध्वर्यु के कर्मों का विवेचन करते हैं, जो प्रमुख यज्ञसम्पादक होता था। ऋग्वेद के ब्राह्मणों में यज्ञक्रियाओं का क्रम कुल मिलाकर सुरक्षित है, जबकि ऋक्-संहिता में आए हुए सूक्तों के क्रम पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया है। सामवेदीय और यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में इस तथ्य के अनुसार यह अन्तर पाया जाता है कि उनकी संहिताएँ यज्ञ के विशिष्ट क्रम के अनुकूल बना ली गईं थीं। सामवेद के ब्राह्मण शायद ही कहीं स्फुट मन्त्रों की व्याख्या करते हैं; इसके विपरीत शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण को इसकी संहिता पर एक चलती हुई और परम्परानुगामिनी टीका मान सकते हैं। **शुक्लयजुर्वेद संहिता** के क्रम का इसका ब्राह्मण इतनी कठोरता के साथ पालन करता है कि जहाँ ब्राह्मण ने एक या अधिक मन्त्रों को छोड़ दिया है वहाँ हमारा यह निष्कर्ष निकालना कदाचित् संगत होगा कि उस समय वे मन्त्र संहिता में थे ही नहीं। संहिता के उन काण्डों के लिए जो मौलिक संकलन के बाद के काल में उससे संयुक्त हुए थे, इस ब्राह्मण के साथ एक परिशिष्ट भी जोड़ दिया गया है, जिससे इसमें पहले के ६० अध्यायों के स्थान पर १०० अध्याय हो गये हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मण अपनी संहिता से वर्ण्यविषय की दृष्टि से अन्तर नहीं रखता, अपितु केवल काल की दृष्टि से अन्तर रखता है। वस्तुतः यह अपनी संहिता का पूरक परिशिष्ट है। अथर्ववेद का ब्राह्मण आज तक अज्ञात है, हालाँकि इसकी पाण्डुलिपियाँ इंगलैण्ड में पड़ी हुई हैं।[1]

---

[1] **इस बीच इसका प्रकाशन हो चुका है। अथर्व संहिता से इसका कोई सीधा आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है।**

ब्राह्मण साहित्य के लिए प्रचलित नाम है 'श्रुति' या सुनना, अर्थात् वह जो श्रवण, विवेचन और अध्यापन का विषय हो। इस नाम द्वारा उनके वैदुष्यपूर्ण एवं अतएव विशुद्धस्वरूप का पर्याप्त बोध होता है। इसके अनुसार हम स्वयं रचनाओं में इस बात की चेतावनी पाते हैं कि उनका ज्ञान किसी निम्नवर्ग के व्यक्ति को न प्रदान किया जाय। 'श्रुति' नाम का तो उनमें उल्लेख नहीं है, किन्तु केवल सूत्रों में ही यह नाम आता है, यद्यपि यह तत्कालीन 'श्रु' धातु के प्रयोग की दृष्टि से, जो उसमें बहुशः प्रयुक्त है, सुतरां संगत है।

वैदिक साहित्य के तीसरे युग का प्रतिनिधित्व सूत्र[1] करते हैं। सामान्यतः ये सूत्र अनिवार्य रूप से ब्राह्मणों पर आधृत हैं और इन्हें ब्राह्मणों के स्वाभाविक विकास की एक

---

[1]उपर्युक्त अर्थ में 'सूत्र' शब्द सर्वप्रथम मधुकाण्ड में आता है, जो शुक्ल यजुस् ब्राह्मण का सबसे बाद का अंश है; इसके उपरान्त यह शब्द ऋग्वेद के दो गृह्यसूत्रों में और अन्त में पाणिनि में आता है। इसका अर्थ होता है 'सूत' या 'धागा' तुलना लैटिन suere क्या इसे जर्मन शब्द 'बाण्ड' (भाग) का समानार्थक मानना संगत होगा? यदि ऐसा हो तो इस पद का अर्थ होगा पन्नों को एक साथ बाँधना और इससे लेखन की पूर्वस्थिति माननी होगी (जिस प्रकार सर्वप्रथम पाणिनि में आने वाला 'ग्रन्थ' शब्द?) दुर्भाग्यवश, अब तक भारतीय लेखन के विषय में पर्याप्त खोज नहीं हो पाई है। विल्सन के अनुसार प्राचीनतम शिलालेख तृतीय शताब्दी ई० पू० के पहले के नहीं हैं। जैसा कि सुविदित है, निअर्कस ने लेखन का उल्लेख किया है और उनका समय कुल मिलाकर सूत्रों के उद्भव काल से मिलता-जुलता है। किन्तु सूत्रों की रचना का प्रमुख ध्येय उन्हें याद करना था यह तथ्य उनके स्वरूप से तथा अंशतः इस विषय के विवरणों से स्पष्ट है, अतएव अभी जिस व्युत्पत्ति की सम्भावना की गई है उसका निराकरण हो जाता है, और इस शब्द का मौलिक अर्थ 'संकेत मार्ग' या 'संकेत' ठहरता है 'सेण्ट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी' में यही अर्थ guiding line, या clue दिया गया है—भारतों का लेखन सेमेटिक उत्पत्ति का है? देखिए बेनफी-इण्डियन (एर्श एण्ड ग्रूबेरस इनसाइक्लोपीडिया १८४०) पृ० २५४; मेरा 'इण्डिश्श स्किज्जेन' (१८५६) पृ० १२७; बर्नेल-एलि० आफ सा० इं० पेलि० पृ० ३ आदि। सम्भवतः इसका प्रयोग पहले केवल लौकिक अर्थ में होता था और बाद में यह साहित्य के लिए प्रयुक्त होने लगा। देखिए म्यूल्लेर एशि० सं० लिट० पृ० ५०७, इं० स्टू० ५.२०, इं० स्ट्रा० २.३३९। गोल्डस्ट्यूकेर (पाणिनि १८६०, पृ० २६ आदि) का विचार है कि सूत्र और ग्रन्थ शब्दों का सम्बन्ध 'लेखन' के साथ जोड़ना चाहिए। देखिए इं० स्टू० ५.२४ आदि; १३.४७६]। इस सम्बन्ध में पाये जाने वाले दूसरे शब्द 'अक्षर' की व्युत्पत्ति भी किसी अधिक निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचाती। ऋक् (या सामन्) की संहिता में यह शब्द मात्रा के अर्थ में नहीं आया है; उसमें इसका अर्थ है 'अनश्वर'। इस मौलिक अर्थ और

और परिशिष्ट या उनके द्वारा निर्दिष्ट अधिक कठोर नियमितता और औपचारिकता की दिशा में बनाये गये मार्ग पर एक नया कदम मानना चाहिए।[1] एक ओर ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की व्याख्या करने और प्रमाणों द्वारा उसका समर्थन करने के लिए समान रूप में यज्ञ, विधि, परम्परा और चिन्तन के विशिष्ट उदाहरणों तक अपने को सीमित रखते तथा उनका विस्तृत शास्त्रानुकूल विवेचन करते हैं, तो दूसरी ओर सूत्रों का लक्ष्य इन विषयों से किसी भी प्रकार का संबन्ध रखने वाली बात को स्पष्ट करना है। इस प्रकार विषयों का भाण्डार बहुत बड़ा हो गया और इस बात का भय था कि विस्तृत व्याख्याओं में कहीं सम्पूर्ण विषय-शृंखला का लोप न हो जाय; और शनैःशनैः सभी विभिन्न विवरणों का क्रमानुसार विवेचन करना असंभव हो गया। सूक्ष्म विषयों के विस्तृत विवेचन के स्थान पर ठोस और सारगर्भित संक्षिप्त विवरणों को रखने की आवश्यकता पड़ी। इस विस्तृत विषय भाण्डार को संक्षिप्त रूप देने के लिए अत्यन्त सूक्ष्मता की आवश्यकता थी, जिससे स्मृति पर अधिक बोझ न पड़े। इस सूक्ष्मता का अन्ततोगत्वा परिणाम हुआ कि एक नितान्त संक्षिप्त और गूढ़ शैली का विकास हुआ, जिसका प्रयोग सूत्रों के उत्तरोत्तर स्वतन्त्र होने और उसकी उपादेयता प्रकट होने पर बढ़ता गया। अतः जो सूत्र जितना प्राचीन है वह उतना ही अधिक बोधगम्य होगा, और जो सूत्र जितना अधिक दुर्बोध है, वह उतना ही अधिक अर्वाचीन सिद्ध होगा।[2]

किन्तु सूत्र-साहित्य को पूर्णतः ब्राह्मणों पर आधारित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्राह्मण ग्रंथ यज्ञक्रिया को सर्वोपरि स्थान देते हैं। वस्तुतः सूत्रों का केवल एक विशिष्ट भाग—यज्ञ का विवेचन करने वाले **कल्पसूत्र**[3]—को ही श्रौतसूत्रों अर्थात् 'श्रुति पर आधा-

---

मात्रा के अर्थ के बीच, जो सर्वप्रथम यजुस्संहिता में मिलता है, सम्बन्ध की शृंखला शायद लेखन का प्रयोग हो जिससे वे वर्ण अनश्वर बन जाते हैं जो न लिखे जाने पर लुप्त होते हैं (?) या इस अर्थ के मूल में अनश्वर ('लोगस' ग्री०) की विचारणा है? [प्रथम जर्मन संस्करण के शुद्धिपत्र में, प्रोफेसर आउफ्रेष्ट की एक सूचना के आधार पर यह संकेत किया गया था कि 'अक्षर' शब्द का प्रयोग ऋक् में दो बार 'वाणी की नाप' या मात्रा के अर्थ में हुआ है १.१६४-२४ (४७) तथा ९.१३.३ में और इस कारण इन स्थलों में 'अक्षर' का अर्थ वर्ण या मात्रा होगा; सेण्ट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी के अनुसार यह दूसरा अर्थ 'भाषा के निरन्तर सरल तत्व' के विचार से उद्भूत है।

[1] ब्राह्मणों और सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध पर इं० स्टू० ८.७६, ७७; ९.३५३, ३५४ भी देखिए।

[2] कल्पों या कल्पसूत्रों के सम्बन्ध में भी ब्राह्मणों के समान ही पाणिनि ४.३.१०५ ने प्राचीनकाल के तथा समकालीन सूत्रों में भेद किया है।

[3] श्रौतसूत्रों के यज्ञ और याज्ञिक उपकरणों पर म्यूल्लेर का लेख देखिए त्सा० डाय०

रित सूत्रों' का नाम दिया गया है। दूसरे प्रकार के सूत्रों का उद्‌गम अन्यत्र ढूंढ़ना चाहिए।

श्रौत-सूत्रों के साथ ही साथ हम दूसरे प्रकार के कल्पसूत्र भी पाते हैं, जिन्हें **गृह्य-सूत्र** कहा गया है। ये गृहस्थ जीवन की उन क्रियाओं का वर्णन करते हैं, जो जन्म, जन्म के पूर्व, विवाह, मृत्यु और मृत्यु के बाद के अवसरों पर की जाती हैं। इन रचनाओं की उत्पत्ति उनके नाम से ही पर्याप्त रूप में प्रकट हो जाती है; कारण, गृह्यसूत्र के अतिरिक्त उनका नाम **स्मार्तसूत्र** या 'स्मति पर आधारित सूत्र' भी है। स्मृति का अर्थ है वह जो याद किया जाने योग्य हो। इस प्रकार हम स्मृति का श्रुति अर्थात् श्रवण के विषय से स्पष्ट रूप से भेद कर सकते हैं; कारण, स्मृति सीधे स्मरण शक्ति पर छाप डालती है और इसके लिए किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। रीति और नियम सब की सम्पत्ति होते हैं और सभी द्वारा गम्य हैं; किन्तु इसके विपरीत यज्ञ-क्रिया यद्यपि समान प्रकार से मूलतः सामान्य चेतना से उद्‌भूत होती है, तथापि उसके विस्तारों का विकास विशिष्ट व्यक्तियों के चिन्तन और परामर्शों द्वारा होता है और इस कारण यज्ञ-क्रिया कुछ ऐसे अल्पसंख्यक लोगों के अधिकार की वस्तु होती है, जो बाह्य परिस्थितियों की अनकूलता प्राप्त कर यह बात जानते रहते हैं कि किस प्रकार जनता में अपनी संस्थाओं के माहात्म्य और पवित्रता के विषय में यथोचित श्रद्धा एवं आतंक उत्पन्न किया जाय। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि स्मृति रीति, नियम, अथवा विधि में समय के साथ-साथ पर्याप्त परिवर्तन नहीं हुआ। बाहर से आने वाली जाति के हाथों में, आदि-वासियों को पराभूत करने के उपरान्त, इतने विषय विद्यमान थे कि वे दूसरे विषयों में उलझे रह सकते थे। पहले तो उन्हें अपनी समूची शक्ति लगाकर शत्रु से अपनी रक्षा करनी थी। जब यह कार्य पूरा हो गया और उनका प्रतिरोध पूर्ण हो गया तो सहसा जाग्रत होने पर उन्होंने अपने को दूसरे और अधिक शक्तिशाली शत्रु के हाथों में बद्ध और असहाय पाया; अथवा यों कहा जा सकता है कि उनकी निद्रा टूटी ही नहीं; उनकी शारी-रिक शक्तियाँ इतने दीर्घकाल से एवं समग्र रूप से सक्रिय थीं और खप रही थीं कि उनकी बौद्धिक शक्तियों को भी महान् हानि पहुँची और वे शनैः-शनैः पूर्णतया कुण्ठित हो गईं। इन नये शत्रुओं का इतिहास इस प्रकार था : प्राचीन गीतों का ज्ञान, जिनके द्वारा भारतीय अपने प्राचीन निवासस्थलों पर प्रकृति की शक्तियों की पूजा किया करते थे, और इन गीतों से संबद्ध यज्ञों का ज्ञान दोनों ही उत्तरोत्तर उन लोगों के अधिकार में आते गये जिनके पूर्वजों ने संभवतः उनकी रचना की थी और जिनके वंश में यह ज्ञान परम्परागत होता था। इन्हीं परिवारों के अधिकार में वे परंपराएँ भी थीं जो उनकी व्याख्या के लिए आवश्यक थीं।

मो० गे० ९. ३६-८२; ; हाग की 'ऐतरेयब्राह्मण' पर टिप्पणी; और मेरा लेख : 'त्सुर केण्टनिस् डेस् वेदिश्शेन ओपफेर रिटुआल्स' इं० स्टू० १०.१३ देखें।

विदेश में बाहर से आए हुए व्यक्तियों के लिए अपनी मातृभूमि से लायी हुई कोई भी वस्तु पवित्रता से परिवृत्त प्रतीत होने लगती है, और इस प्रकार ऐसा हुआ कि गीतों की रचना करनेवालों के ये परिवार पुरोहितों के परिवार बन गये; तथा जैसे-जैसे इस जाति के लोग अपने प्राचीन निवास-स्थान से दूर होते गये एवं बाह्य संघर्षों के फलस्वरूप उनके मस्तिष्क से अपनी प्राचीन संस्थाएँ निकलती गईं वैसे-वैसे इन पुरोहितों के परिवारों का भी प्रभाव जमता गया। पैतृक रीति-रिवाजों और देवपूजन के इन संरक्षकों ने निरन्तर विकासोन्मुख महत्त्व का पद प्राप्त किया, वे इनके प्रतिनिधि हो गये और अन्त में स्वयं पारलौकिक शक्ति के ही प्रतिनिधि बन बैठे। उन्होंने अपने अनुकूल अवसरों का इतनी चतुराई के साथ उपयोग किया कि वे इस प्रकार की पुरोहित-प्रधान व्यवस्था स्थापित करने में सफल हुए जिसके समान संसार ने कभी देखा ही नहीं। इस पद तक पहुँचना उनके लिए असंभव हुआ होता, यदि हिन्दुस्तान जैसी अस्वास्थ्यकर जलवायु और उस जलवायु से प्रभावित जीवन-प्रणाली न रही होती, जिसने इनसे अनभ्यस्त जाति के ऊपर हानिकारक प्रभाव छोड़ा। छोटे-छोटे राजाओं के परिवारों ने भी, जिन्होंने पहले व्यक्तिगत जातियों पर शासन किया था अब हिन्दुस्तान में आवश्यक रूप से स्थापित किये गये अधिक विस्तृत राज्यों के स्वामी बनकर और भी शक्तिशाली हो गये। इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण का उदय हुआ। अन्ततः सामान्य जनता ने, जो 'विश्' या 'बसनेवाले' कहलायी, मिलकर तीसरे वर्ग का संगठन किया और उन्होंने भी स्वभावतः चौथे वर्ण या शूद्रों के ऊपर अपने विशेषाधिकार सुरक्षित कर लिये।[1] इस अन्तिम वर्ण का संगठन अनेक मिश्रित तत्त्वों से हुआ, जिनमें आंशिक रूप में संभवतः एक ऐसी आर्य जाति थी, जो पहले भारत में आकर बस गई थी; आंशिक रूप में स्वयं मूल निवासी थे और आंशिक रूप में बाहर से आई हुई जातियों के या उनके पश्चिमी बान्धवों के समुदाय के ऐसे लोग थे, जिन्होंने नवीन ब्राह्मणीय व्यवस्था का अनुगमन करना अस्वीकार कर दिया था। राज-परिवार या योद्धा जिन्होंने उस समय तक पुरोहितों का जी-जान से समर्थन किया था जब तक कि लोगों के अधिकारों का अपहरण करने का प्रश्न था, अब इस कार्य के सिद्ध हो जाने पर अपने पहले के मित्रों के विरुद्ध हो गये और उस जुए को फेंकने का प्रयत्न करने लगे, जो उनके कन्धों पर भी समान रूप से रखा हुआ था। उनके ये प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए; उस बृहत्प्रतिमा की स्थापना बड़ी दृढ़ता के साथ हुई थी। ब्राह्मणों के पवित्र और देवाभिशंसित गौरव पर आघात करने वाले विधर्मियों के एकमात्र विवरण परवर्ती रचनाओं के गूढ़ आख्यानों और परस्पर असंबद्ध उल्लेखों में मिलते हैं; और ये भी इन अपवित्र अत्याचारियों को मिलने वाले दण्ड का वर्णन करने में चूकते नहीं हैं।

---

[1] जिन्हें शरीर के रंग के आधार पर अन्य तीन वर्णों से भिन्न माना जाता था। वर्ण पर देखिए इं० स्टू० १०।४.१०।

जिन स्मार्त्तसूत्रों के संबन्ध में उपर्युक्त विषयान्तर पर विचार हुआ है, वे सामान्यतः ब्राह्मण धर्म के समूचे दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं। वास्तविक लेख के रूप में या मौखिक संक्रमित होने वाली रचनाओं के रूप में उनका युग किसी भी स्थिति में उस समय से प्रारंभ होता है जिस समय जितना मनुष्य स्मृतियों के खोने का ध्यान रखते थे उससे कहीं अधिक भाग नष्ट होने के संकट में पड़ा हुआ था। यद्यपि, जैसा कि हमने देखा है, उन परिवारों में भी जो इसकी रक्षा कर रहे थे, ब्राह्मणों के प्रभाव से इसमें पर्याप्त परिवर्तन और परिष्कार हो चुके थे, फिर भी यह प्रभाव विशेष रूप से इसकी राजनीतिक मान्यताओं पर पड़ा; और गृहस्थ जीवन के रिवाज तथा रीतियाँ[1] अपने प्राचीन रूप में अछूती ही रह गईं। इस कारण, इन रचनाओं में नितान्त प्राचीन काल के विचारों एवं मान्यताओं के बृहत् भाण्डार का समावेश है। इनमें ही हम हिन्दू विधि-साहित्य[2] का उद्‌गम पाते हैं, जिनका विषय वस्तुतः आंशिक रूप में ठीक गृह्यसूत्रों के विषय से ही मिलता-जुलता है तथा रचयिताओं के नाम भी अधिकांशतः वे ही हैं जो गृह्यसूत्रों के रचयिताओं के। यह सत्य है कि इन विधिग्रन्थों के वास्तविक वैधानिक अंशों के साथ, जो अर्थविधि, दण्ड-विधि और राजधर्म का विवेचन करते हैं, सम्बन्धसूचक एकाध बातों के अतिरिक्त और कोई संकेत हम इन सूत्रों में नहीं पाते; किन्तु संभवतः इन शाखाओं को उस समय तक विधि का रूप नहीं दिया गया था जब तक कि वास्तविक आसन्न संकट के दबाव ने एक सुरक्षित आधार पर उनकी स्थापना को आवश्यक नहीं बना दिया। उनमें अन्तर्निहित तत्वों के कारण उनके शनैः-शनैः लुप्त हो जाने की आशंका उतनी अधिक नहीं थी जितनी गृहस्थ जीवन के रीति-रिवाजों के संबन्ध में थी। किन्तु बौद्ध धर्म की धीरे-धीरे बढ़ती हुई शक्ति ने ब्राह्मणीय व्यवस्था के ऊपर जो उग्र आक्रमण प्रारम्भ किए उनसे और भी अधिक वास्तविक संकट के बादल उन पर मँडराने लगे। मौलिक रूप में बौद्ध धर्म का उदय भौतिक पदार्थ और आत्मा के संबन्ध तथा एतादृश प्रश्नों के विषय में सैद्धान्तिक शास्त्रविरोध मात्र से हुआ; किन्तु समय बीतने के साथ-साथ यह धर्म और पूजा के व्यावहारिक विषयों से

---

[1] जन्मकाल के कर्मों के लिए 'जातकर्म' पर 'स्पाइजेर' की पुस्तक देखिए (लीडेन १८७२)—विवाह संस्कार के लिए हास (Haas) का लेख 'ऊइबेर डी हाइराटस् गेब्रेउश्श डेर अल्टेन इण्डेर' तथा इं० स्टू० ५.२६७ आदि में मेरा लेख देखिए; मेरा दूसरा लेख 'वेदिश्श होखत्साइटस्प्रिश्श' भी देखिए, वही पृ० १७७ (१८६२), अन्त्येष्टि संस्कार पर त्सा० डा० मो० गे० ८।४८७ (१८५४) में रोथ का लेख एवं उसी के भाग ९ १-३६ (१८५५) में मा म्यूल्लेर का लेख देखें; अन्ततः ओ० डोन्नेर का 'पिण्डपितृयज्ञ' (१८७०) भी देखिए।

[2] गृह्य-सूत्रों के अतिरिक्त हम कुछ ऐसी रचनाएँ भी पाते हैं जिन्हें 'धर्मसूत्र' या 'सामयाचारिक-सूत्र' कहा गया है; इन्हें 'श्रौतसूत्र' का अंग बताया गया है; किन्तु निश्चय ही बाद के समय में इन्हें श्रौतसूत्रों के बीच निविष्ट किया गया है।

संबद्ध हो गया और उसके उपरान्त उसने ब्राह्मण धर्म के अस्तित्व को भी खतरे में डाल दिया, क्योंकि क्षत्रिय वर्ण और सामान्य पीड़ित जन-समूह ने पौरोहित्य प्रभुता के शक्तिशाली जुए को दूर फेंकने के लिए बौद्ध धर्म की सहायता का लाभ उठाया। अतएव मेगस्थनीज़ के इस कथन को कि उसके समय में भारतवासी विधि का व्यवहार 'स्मृति द्वारा ही' 'अथो म्वीग्निस' करते थे, मैं पूर्णतः यथार्थ मानता हूँ। मुझे इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि मेगस्थनीज़ द्वारा प्रयुक्त 'म्नीमित्र' स्मृति का अशुद्ध अनुवाद है, जिसका अर्थ होना चाहिए 'स्मृतिशास्त्र' या 'स्मृति पर लिखित ग्रन्थ'।[1] उपर्युक्त कारण से बौद्धधर्म के ब्राह्मण-विरोधी धर्म के रूप में विकास होने के परिणामस्वरूप शीघ्र ही स्थिति में परिवर्तन आया होगा और कोई विधिग्रन्थ उदाहरण के लिए मनु का विधिग्रंथ (जो मानव गृह्यसूत्र पर आधारित है) रचा गया होगा। किन्तु यह ग्रन्थ वैदिक काल के अवसान के समय का नहीं, अपितु उसके अनुवर्ती काल के आरम्भ का है।

जैसा कि स्मृतियों में हमें गृह्यसूत्रों के लिए ब्राह्मणों के अतिरिक्त, जिनमें इन सूत्रों के साथ संबन्ध प्रकट करने वाली कुछ ही बातें हैं, एक स्वतन्त्र आधार मिलता है, वैसे ही हम उन सूत्रों के लिए भी स्वतन्त्र आधार पाते हैं जिनका वर्ण्यविषय भाषा से सम्बद्ध है। इनके विषय में हम यह आधार यज्ञों के अवसर पर प्रयुक्त होने वाले गीतों और मन्त्रों के उच्चारण में पाते हैं। इस प्रकार यद्यपि ये सूत्र ब्राह्मणों के समान धरातल पर अवस्थित हैं, जिनकी उत्पत्ति भी उसी स्रोत से हुई है, फिर भी इसे भाषा-विषयक संबन्धों पर केवल उन्हीं मतों में व्यवहार्य समझना चाहिए, जो सूत्रों में उल्लिखित होने के कारण उनसे भी बहुत पहले रहे होंगे। इन्हें स्वयं रचनाओं के लिए व्यवहार्य नहीं समझना चाहिए ; क्योंकि ये रचनाएँ इन पूर्ववर्ती अन्वेषणों के निष्कर्षों को एक संकलित और क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करती हैं। यह भी स्पष्ट है कि उस रूप को, जिसमें स्वयं सूक्त की रचना हुई थी, अन्वेषण का विषय बनाने की अपेक्षा सूक्त का यज्ञ के साथ सम्बन्ध स्पष्ट करने का प्रयत्न करना कहीं अधिक स्वाभाविक था। याज्ञिक क्रियाएँ जितनी ही पवित्र होती गईं और धीरे-धीरे पूजा की पद्धति जितनी ही अधिक सुनिश्चित होती गई उतना ही इनसे संबद्ध सूक्तों का महत्त्व भी बढ़ता गया और यथासंभव पवित्रता और सुरक्षा का उनका दावा भी प्रबल होता गया। इसे सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक था कि पहले सूक्तों के पाठ का निर्धारण हो; दूसरे, शुद्ध उच्चारण और पाठ की स्थापना हो; और अन्ततः, उनकी उत्पत्ति की परम्परा सुरक्षित रखी जाय। कालान्तर में उनका शाब्दिक अर्थ भाषा के उस रूप के लिए विदेशी हो गया जिस रूप में वह पहुँच चुकी थी;

---

[1] इस दूसरे मत का सर्वोत्तम प्रतिपादन स्वानबेक (Schwanbeck) ने किया है, मेगस्थनीज़ पृ० ५०, ५१ [किन्तु बर्नेल (Burnell) का Elements of S. Ind. Paloeogr. पृ० ४ भी देखिए]।

आगे चलकर यह स्थिति सामान्य जनता की अपेक्षा उन पुरोहितों की हो गई जिन्हें इसका ज्ञान था; ऐसी दशा में अर्थ की भी सुरक्षा और स्थापना के लिए सावधानी बरतने की आवश्यकता पड़ी। इन सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए विषय का उत्तम ज्ञान रखने वाले विद्वानों को अज्ञात व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करने का बीड़ा उठाना पड़ा और उनके चारों ओर पर्यटनशील विद्वानों के ऐसे समुदाय बन गये जो एक आचार्य से दूसरे आचार्य के पास उसके विशिष्ट ज्ञान की ख्याति सुनकर उनके पास अध्ययन करने के लिए यात्राएँ किया करते थे। ये अनुसन्धानकर्ता स्वभावतः भाषा-संबन्धी प्रश्नों तक ही सीमित नहीं थे, अपितु ब्राह्मणीय अध्यात्मविद्या के समूचे क्षेत्र में खोज किया करते थे; इस क्षेत्र में पूजन, विधि और चिन्तन के प्रश्न समान रूप से आते थे जो वस्तुतः परस्पर सु-संबद्ध थे। कुछ भी हो, हमें यह मानना पड़ेगा कि इस युग के ब्राह्मणों में एक नितान्त उत्साहपूर्ण बौद्धिक जीवन था, जिसमें स्त्रियाँ भी सक्रिय भाग लेती थीं। यह बौद्धिक श्रेष्ठता ही आगे आने वाले युग में भी ब्राह्मणों की शेष जन-समुदाय के ऊपर प्रधानता का कारण बनी रही। क्षत्रिय वर्ण भी विशेषतः बाह्य युद्धों से विश्राम और शान्ति प्राप्त कर लेने पर इन अन्वेषणों से दूर न रह सका। यहाँ हम मध्ययुगों के पाण्डित्य-प्रधान काल का एक यथार्थ चित्र देते हैं: राजा जिनकी सभाएँ बौद्धिक जीवन का केन्द्र थीं; ब्राह्मण, जो उत्साहपूर्ण प्रतिस्पर्धा के साथ मानव मस्तिष्क द्वारा प्रतिपादित नितान्त गढ़ प्रश्नों के समाधान में लगे थे, स्त्रियाँ जो उत्साह और प्रतिभा के साथ चिन्तन के रहस्यों में गोते लगातीं थीं, अपने विचारों के गाम्भीर्य और औदात्त्य से पुरुषों को प्रभावित और विस्मित करती थीं और ऐसी स्थिति में रहकर जो वर्णनों के आधार पर स्वप्नलोक की बात प्रतीत होती है, धार्मिक विषयों से संबद्ध प्रश्नों का समाधान करती थीं। जहाँ तक उनके समाधानों के महत्त्व और सामान्य रूप में इन सभी अन्वेषणों के मूल्य का प्रश्न है, वह बिलकुल दूसरी बात है। किन्तु पाण्डित्यपूर्ण सूक्ष्म विवेचनों में भी कोई अखण्ड योग्यता नहीं है; वह केवल प्रयत्न मात्र है और वह भी ऐसा कि इस प्रकार के किसी भी युग के महत्त्व को निखार देता है।

इस युग में भाषा-विषयक अनुसन्धान में जो विकास हुआ वह पर्याप्त महत्वपूर्ण था। इस काल में ही सूक्तों के पाठ निर्धारित हुए और विविध संहिताओं के संकलन हुए। क्रमशः इस कार्य के लिए विस्तृत सावधानियाँ बरती गईं। उनके अध्ययन (पाठ) और उन्हें सुरक्षित रखने की विधियों के लिए—लेखन द्वारा या स्मरण करके, क्योंकि दोनों संभव थीं[1]—

---

[1]वेद और उसके समान अध्ययन विषयों के लिए जिन पारिभाषिक पदों का प्रयोग किया गया है वे सभी केवल भाषण और गान का निर्देश करते हैं और इस प्रकार केवल मौखिक परम्परा का संकेत करते हैं। वैदिक ग्रन्थों को लेखबद्ध करना अपेक्षतया बहुत बाद के समय तक प्रचलित नहीं था। देखिए इं० स्टू० ५.१८; (१८६१), म्यूल्लेर एंशि०

ऐसे विशिष्ट निर्देश दिये गये हैं कि यह प्रायः असंभव प्रतीत होता है कि उस समय से इन पाठों में प्रक्षिप्त अंशों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार का परिवर्तन कभी हुआ हो। ये निर्देश, शब्दों के उच्चारण और गान से संबद्ध नियम 'प्रातिशाख्य-सूत्रों' में दिये गये हैं, जिनसे हम कुछ ही समय पहले परिचित हुए हैं।[1] इस प्रकार का प्रतिशाख्यसूत्र किसी एक वेद की संहिता से संबद्ध तो होता ही है अपनी सभी शाखाओं का विवेचन भी करता है। यह प्रयुक्त ध्वनियों के रूप, सन्धिनियमों, स्वरों और उसके परिवर्तनों, ध्वनि का सामंजस्य आदि विषयों पर सामान्य नियम प्रस्तुत करता है। अपरंच, ऐसे सभी उदाहरण, जिनमें विशिष्ट ध्वनि संबन्धी या अन्य प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं, विशेष रूप से निर्दिष्ट होते हैं।[2] इस प्रकार हमें ऐसे उत्तम आलोचनात्मक साधन मिलते हैं, जिनके द्वारा हम प्रातिशाख्य की रचना के समय के प्रत्येक संहिता के पाठ तक पहुँच सकते हैं। यदि हम संहिता के किसी भाग में कोई ऐसी ध्वनिविषयक विलक्षणताएँ पाते हैं जो उसके प्राति-शाख्य में अप्राप्य हैं तो हमें यह विश्वास कर लेना चाहिए कि उस प्रातिशाख्य के समय में

सं० लिट० पृ० ५०७ (१८५९) : वेस्टरगार्ड इउवेर डेन एल्टेस्टेन त्साइट्राउम डेर इण्डि-श्शेन गेशिष्ट (१८६०, जर्मन अनुवाद १८६२, पृ० ४२ आदि) और हॉग ने इउबेर डस् वेज़ेन डेस् वेदिश्शेन एक्सेण्टस् (१८७३, पृ० १६) इस मत का समर्थन किया है। हॉग का विचार है कि जिन ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया उन्होंने ही सर्वप्रथम वेद को विवाद के लिए लेखबद्ध किया और उनका अनुसरण दूसरे ब्राह्मणों ने किया। इसके विपरीत, गोल्डस्ट्यूकेर, वेटलिंग्क, ह्विटनी और रोथ (डेर अथर्ववेद इन काश्मीर, पृ० १०) विरोधी मत के हैं; उनका विचार है कि प्रातिशाख्यों के रचयिताओं ने पहले ही ग्रन्थों को लेखबद्ध किया होगा। पहले बेनफी का भी यही मत था, किन्तु बाद में (आइनलाइ-टुंग इन डी ग्रामाटिक डेर वेद्स्प्राख पृ० ३१) उनका यह मत है कि वैदिक ग्रन्थों को बहुत बाद के समय में उनके प्रक्षेपों के बहुत बाद लेखबद्ध किया गया था। बर्नेल, (वही, पृ० १०) का भी यही विचार है कि अन्य बातों के साथ ही प्राचीन काल में लेखन सामग्री की अल्पता "ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों या दीर्घ लेखों की पूर्व स्थिति का प्रायः निषेध कर देती है।"

[1]रोथ द्वारा अपने निबन्धों 'त्सुर लिटेराटुर उण्ड गेशिष्ट डेस् वेद' पृ० ५३ आदि में (जर्न० एशि० सो० बंगाल, जनवरी १८४८, पृ० ६ आदि में अनूदित)।

[2]प्रातिशाख्य का यथार्थ उद्देश्य यह प्रदर्शित करना है कि किस प्रकार पदपाठ से संहिता पाठ बनाया जाय; पदपाठ में प्रत्येक शब्द अपने मौलिक रूप में अलग-अलग होते हैं; उनमें सन्धि नहीं होती अर्थात् पहले या बाद में आने वाले शब्दों से परस्पर कोई विकार नहीं होता। प्रातिशाख्यों में इसके अतिरिक्त जो कुछ भी पाया जाता है वह गौण विषय होता है। देखिए ह्विटनी, जर्नल अमे० ओ० सो० ४।२५९ (१८५३)।

वह भाग संहिता के अन्तर्गत नहीं था। वेद की संहिता के शाखाओं में पाठ के विषय में दिये गये निर्देश[1]—जिसके अनुसार प्रत्येक शब्द की अनेक प्रकार से संबन्ध जोड़कर आवृत्ति की जाती है—जिस सावधानी के साथ इन अध्ययनों का अनुशीलन किया जाता था उसका सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं।

छन्द के ज्ञान के लिये भी सूत्रों में प्रचुर सामग्री दी गई है। स्वयं सूक्तों के गायक स्वभावतः सूत्रों में अनुगत छन्दसंबन्धी नियमों से परिचित रहे होंगे। किन्तु ऋग्वेद के परवर्ती गीतों के यत्र-तत्र हमें कतिपय छन्दों के पारिभाषिक नाम भी मिलते हैं। ब्राह्मणों में इन छन्दों के नामों के साथ अजीबोगरीब युक्तियाँ भिड़ाई गईं हैं, तथा उनके सामंजस्य को रहस्यमय ढंग से संसार के सामंजस्य के साथ संबद्ध किया गया है और वस्तुतः उसे उसका कारण बताया गया है। इन विचारकों के सरल मस्तिष्क उनके लय से इतने आकृष्ट थे कि वे इस प्रकार के प्रतीकों में नहीं पड़े। छन्द का और आगे विकास होने के बाद इसके विषय में भी विशेष छानबीन हुई। इस प्रकार के अनुशीलन छन्दों का सीधे विवेचन करने वाले सूत्रों निदानसूत्रों[2] में और अनुक्रमणियों में सुरक्षित हैं। अनुक्रमणियाँ एक विशेष वर्ग की रचनाएं हैं, जो प्रत्येक संहिता के क्रम का पालन करते हुए प्रत्येक गीत या सूक्त के ऋषि, छन्द और देवता का निर्धारण करती हैं। अतएव उनका समय संभवतः अधिकांश सूत्रों के समय से बाद का हो सकता है। वे ऐसे समय की रचनाएँ हैं जब कि प्रत्येक संहिता अपने अन्तिम रूप में आ गई थी और अध्ययन के अधिक उत्तम नियमन के लिये छोटे बड़े खण्डों में विभक्त हो चुकी थी, जैसा कि हमें उसमें उपलब्ध होता है। सबसे छोटे आकार के खण्डों में से एक खण्ड शिष्य को एक बार पढ़ना होता था। सूक्तों के रचयिताओं और उत्पत्ति की परम्परा उनके साथ इस प्रकार घनिष्ठ रूप में संबद्ध की गई है कि उसे भाषा-विषयक सूत्रों से पृथक् नहीं किया जा सकता, यद्यपि इनसे जिस वर्ग की रचनाओं का उदय हुआ वे नितान्त भिन्न स्वरूप वाली हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐसी परम्पराओं में सबसे प्राचीन परम्परा स्वयं ब्राह्मणों में मिलती है। इन ब्राह्मणों में पूजा की किसी न किसी विधि की उत्पत्ति और उसके प्रवर्तक के संबन्ध में आख्यान भी आये हैं। ऐसे अवसरों पर ब्राह्मण ग्रंथ प्रायः जनता में मौखिक संक्रमण द्वारा प्रचलित गाथाओं का भी उद्धरण देते हैं। स्पष्टतः इन कथाओं में ही हमें अधिक विस्तृत स्वरूप वाले इतिहासों और पुराणों का उद्‌गम ढूँढ़ना चाहिए, जो उनके विषय-क्षेत्र का विस्तार करने वाली रचनाएँ हैं, परन्तु जो प्रत्येक दूसरे दृष्टिकोण से उसी मार्ग पर अग्रसर हुईं थीं, जैसा कि इनमें, यथा महाभारत में, पाये जाने वाले अधिक प्राचीन अंशों से प्रकट

---

[1]वस्तुतः केवल ये (संहिताएँ) ही वेद हैं।

[2]भारतीय छन्दःशास्त्र (इण्डिन प्रोजोडी) पर मेरे लेख का भाग १ देखिए, इं० स्टू० ८.१ आदि (१८६३)।

होता है। इस प्रकार की सबसे प्राचीन रचना, जिसका हमें अब तक ज्ञान है, शौनक की '**बृहद्देवता**' है जो श्लोकों में है। यह ऋग्वेद-संहिता के क्रम का कठोरता के साथ पालन करती है और इसके नाम से ही यह स्पष्ट है कि इस वर्ग की रचनाओं के साथ इसका संबन्ध केवल आकस्मिक है। इसका मुख्य लक्ष्य है ऋग्वेद-संहिता के प्रत्येक मन्त्र के देवता का निर्देश करना। किन्तु इस कार्य को करते हुए यह अपने विचारों का समर्थन अनेक आख्यानों द्वारा करती है, जिससे इसे इस वर्ग में सम्मिलित करना पूर्णतः संगत है। अन्य अनुक्रमणियों के समान ही 'बृहद्देवता' बहुसंख्यक सूत्रों के समय के बाद की रचना है; कारण यह निरुक्ति के रचयिता यास्क की, जिनके विषय में अभी विचार किया जायगा, पूर्व स्थिति का निर्देश करती है। वस्तुतः 'बृहद्देवता' यास्क की रचना पर आधृत है। (देखिए एडाल्ब० कून—इं० स्टू० १. १०१-१२०)।

ऊपर यह कहा गया था कि सूक्तों के शाब्दिक अर्थ के विषय में गवेषणाएँ उसी समय प्रारम्भ हुईं जब यह अर्थ शनैः-शनैः कुछ दुर्बोध हो चला था; और चूंकि ऐसी स्थिति इन अर्थों से अभिज्ञ पुरोहितों के साथ नहीं हो सकती थी अतः शेष जन-समुदाय के लिए ही ये अर्थ गूढ़ हो गये और फलस्वरूप सामान्य जनता की भाषा में पर्याप्त परिवर्तन हुआ होगा। प्रार्थनाओं को बोधगम्य बनाने के लिये पहला कार्य यह किया गया कि पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया गया, जो क्रम-योजना के कारण ही स्पष्ट हो पाते थे और विशेषतः उन पुराने शब्दों की व्याख्या करते थे जिनकी उस समय पृथक् व्याख्याएँ मौखिक होती थीं। इन शब्दों के संग्रह को एक साथ "गुंथे होने के कारण" 'निग्रन्थु' कहा गया, जिससे भ्रष्ट होकर 'निघण्टु'[1] बना और इनकी रचना करने वाले "नैघण्टुक" कहलाये। इस प्रकार की एक रचना अब भी सुरक्षित है।[2] यह पाँच अध्यायों में है, जिनमें प्रथम तीन में पर्यायवाची शब्द हैं; चौथे में विशेषरूप से कठिन वैदिक शब्दों की सूची है और पाँचवें में वेद में आने वाले विविध देवताओं का वर्गीकरण है। इस ग्रन्थ की प्राचीन व्याख्या भी विद्यमान है, जो टीका के रूप में है; इसे '**निरुक्ति**' कहते हैं और इसका रचयिता यास्क को बताया गया है। निरुक्ति में बारह अध्याय हैं जिनके साथ बाद को दो ऐसे अध्याय जोड़ दिये गये हैं, जिनका कोई खास संबन्ध इनके साथ नहीं था। भारतीय विद्वान् इसकी गणना वेदांगों में शिक्षा छन्द और ज्योतिष—जो क्रमशः **शब्दव्युत्पत्ति**, छन्दः शास्त्र, और **नक्षत्रविषयक गणनाओं** पर बहुत परवर्ती समय की रचनाएँ हैं—तथा कल्प और व्याकरण के साथ करते हैं, जो साहित्यिक रचनाओं के दो सामान्य वर्ग हैं। इनमें के प्रथम

---

[1]**देखिए 'निरुक्ति' पर रोथ की भूमिका, पृ० १२।**

[2]**इसी वर्ग में अथर्व-संहिता का निघण्टु भी आता है, इसका उल्लेख हॉग ने (तुलना इं० स्टू० ९.१७५, १७६) किया है और शुक्लयजुस् की निगम-परिशिष्ट भी इसी वर्ग की है।**

चार नाम मूलतः सामान्य[1] वर्ग का बोध कराते थे और केवल बाद के समय में ही उनका प्रयोग चार विशिष्ट रचनाओं के लिये होने लगा जो आज भी इन नामों द्वारा अभिहित होती हैं। यास्क की रचना निरुक्त में ही हम व्याकरण की प्रथम सामान्य मान्यताएँ पाते हैं। उच्चारण-संबन्धी नियमों पर प्रतिशाख्य सूत्रों ने पहले ही बड़ी सूक्ष्मता के साथ और प्रत्येक वेद-संहिता की दृष्टि से विचार किया है। इन नियमों से प्रारम्भ कर व्याकरण की मान्यताओं का विकास निःसन्देह धीरे-धीरे हुआ। पहले उच्चारण-संबन्धी सामान्य विचारों का उदय हुआ और वहाँ से भाषा के क्षेत्र के अवशिष्ट विषयों की ओर विस्तार हुआ। विभक्ति, प्रत्ययों, व्युत्पत्ति और रचना को मान्यता मिली, उन्हें एक दूसरे से पृथक् किया गया और इस प्रक्रिया द्वारा धातु के अर्थ में होने वाले परिवर्तनों पर बहुविध विचार हुए। यास्क ने ऐसे अनेक व्याकरण के आचार्यों का उल्लेख किया है, जो उनके पहले हुए थे; उनमें से कुछ का तो उन्होंने व्यक्तिगत नामों द्वारा और कुछ का नैरुक्त, वैयाकरण आदि सामान्य नामों द्वारा उल्लेख किया है, जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस क्षेत्र में अध्ययन की दिशा में काफ़ी उत्साह व्याप्त था। यदि 'कौषीतकि-ब्राह्मण' के अनुच्छेद के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाय तो उत्तरी भारत में भाषा-संबन्धी अनुसंधान बड़े उत्साह के साथ चल रहा था; अतएव भारत के उत्तरी या उत्तर-पश्चिमी जनपद ने ही पाणिनि जैसे वैयाकरण को जन्म दिया, जिन्हें संस्कृत व्याकरण का जनक माना जाता है। अब यदि स्वयं यास्क को वैदिक काल के अन्तिम समय का माना जाय तो पाणिनि—जिनके और यास्क के बीच समय का लम्बा व्यवच्छेद है—इस युग के ठीक अवसान के समय या अगले युग के आरम्भ के समय हुए होंगे। यास्क में पाये जाने वाले शब्दों के अर्थानुकूल पदों द्वारा सरल अभिधान की दशा से पाणिनि के सांकेतिक नामों के रूप में विकास इन दोनों अवस्थाओं के बीच हुए पर्याप्त अध्ययन की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त स्वयं पाणिनि कुछ ऐसे संकेत चिह्नों की पूर्वस्थिति सूचित करते हैं जो उनके पहले ही सामान्यतः प्रचलित थे; अतएव उन्हें उस प्रणाली का आविष्कारक नहीं अपितु व्यवस्थित रूप से सुगठित करने वाला ही कहा जा सकता है, जो निश्चय ही अपने प्रयोजन के लिए सर्वथा उपयुक्त थी।

अन्ततः, ब्राह्मणों के साथ-साथ और उनके बाद भी दार्शनिक चिन्तन का भी विशेष विकास हुआ। दर्शन और व्याकरण के क्षेत्र में ही तो भारतीय मस्तिष्क ने सूक्ष्म भेद करने में बुद्धि की उर्वरता को चरम सीमा तक पहुँचा दिया, भले ही समय-समय पर उनकी यह प्रणाली दुर्बोध और दाक्षिण्यरहित है।

---

[1]शिक्षा अब भी रचनाओं का एक विशेष वर्ग है। इस नाम की अनेक रचनाएँ हाल ही में उपलब्ध हुई हैं और अन्य रचनाएँ भी निरन्तर प्रकाश में आ रही हैं। तुलना-कीलहोर्न, इं० स्टू० १४.१६०।

ऋक् संहिता के अन्तिम मण्डल में आए हुए दार्शनिक चिन्तन से युक्त अनेक सूक्त विश्व के आदि कारण विषय पर चिन्तन की गम्भीरता और एकाग्रता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इनसे अनिवार्यतः यह अर्थ निकलता है कि इनके पूर्ववर्ती युग में लम्बे अर्से से दार्शनिक अनुसन्धान चलते आ रहे थे। इसका प्रमाण भारतीय ज्ञान की प्राचीन ख्याति से और भारतीय योगाभ्यासियों के विषय में सिकन्दर के साथियों के लेखों इत्यादि से भी मिल जाता है।

यह स्वभाविक था कि आरम्भिक काल में ज्यों ही चिन्तन में कुछ उत्साह आया, विभिन्न मतों और नवीन मान्यताओं की स्थापना हुई, विशेषतः सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में त्यों ही अनेक विचारों का उदय भी हुआ, क्योंकि यह सबके लिए अत्यन्त रहस्यमय और कठिन समस्या होने के साथ-साथ लोकप्रिय भी थी। इस कारण, प्रत्येक ब्राह्मण में, इस विषय पर कम से कम एक या अधिक विवरण पाये जाते हैं; जबकि इस वर्ग की अधिक विस्तृत रचनाओं में सृष्टि की उत्पत्ति के संबन्ध में विभिन्न कल्पनाएँ हमें बहुत बड़ी संख्या में मिलती हैं। इस संदर्भ में स्वभावतः मतवैभिन्य का एक विषय यह था कि भौतिक पदार्थ को आदि कारण माना जाय या आत्मा को। आत्मा-विषयक सिद्धान्त शनैः-शनैः शास्त्र-समर्थित सिद्धान्त बन गया और इस कारण उनका ब्राह्मणों में प्रायः विवेचन है। जड़ पदार्थ को आदिकारण बताने वाले मत के अनुयायियों को शास्त्रद्रोही या नास्तिक कहा जाने लगा। इनके विचारों के विकास के साथ ही साथ ऐसे प्रतिपक्षियों का उदय हुआ जो शास्त्रप्रतिपादित मतों के और भी कट्टर विरोधी थे। इन्होंने यद्यपि पहले अपने को एकमात्र सिद्धान्तों तक ही सीमित रखा किन्तु शीघ्र ही ये व्यावहारिक प्रश्नों पर भी आ गये और अन्ततोगत्वा इन्होंने एक विशेष प्रकार के धर्म की स्थापना भी कर दी, जिसे हम बौद्ध धर्म के नाम से जानते हैं। 'बुद्ध' जगा हुआ या अध्यात्मज्ञानी शब्द मौलिक रूप में सभी धर्मात्माओं के लिये प्रयुक्त होने वाला सम्मानसूचक अभिधान थे, जिनके अन्तर्गत शास्त्रानुयायी भी आते थे। इस बात का प्रमाण यह है कि ब्राह्मणों में 'बुध्' धातु का प्रयोग हुआ है, और स्वयं 'बुद्ध' शब्द बहुत बाद के समय की वेदान्त रचनाओं में आया है। इस शब्द का पारिभाषिक प्रयोग उतना ही गौण है जितना इस प्रकार के दूसरे शब्द 'श्रमण' का, जिसका प्रयोग आगे चलकर बौद्धों तक ही सीमित हो गया। न केवल 'श्रम्' धातु का समानार्थक प्रयोग अपितु आदरसूचक उपाधि के रूप में स्वयं श्रमण शब्द भी ब्राह्मणों के अनेक अनुच्छेदों में देखा जा सकता है। यद्यपि मेगस्थनीज़ ने एक अंश में, जिसे स्ट्रैबो ने उद्धृत किया है, दार्शनिकों के दो वर्गों 'ब्रकमानीज़' और 'शर्मानाइ' में स्पष्ट भेद किया है; फिर भी यदि हम दूसरे का तादात्म्य कम से कम आंशिक रूप में ही बौद्ध भिक्षुओं से स्थापित करें तो तर्कसंगत न होगा; क्योंकि उसने स्पष्टतः 'उलोबिओइ' का—ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ जो ब्राह्मण-जीवन के चार आश्रमों में प्रथम और तृतीय आश्रम हैं—'शर्मानाइ' के अंग के रूप में उल्लेख किया है। दार्शनिकों के उपर्युक्त दो वर्गों में अन्तर

संभवतः यह था कि 'ब्रकमानीज़' जन्मजात दार्शनिक थे और गृहस्थ थे; इसके विपरीत 'शर्मानाइ' वे लोग थे जो विशेष रूप से त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे और जिनमें अन्य वर्णों के लोग भी सम्मिलित थे। 'प्रामनाइ' का उल्लेख स्ट्राबो ने दूसरे अनुच्छेद में किया है (देखिए, लास्सेन, इं० अल्ट० १.८३६)। सिकन्दरकालीन विवरणों के आधार पर स्ट्राबो ने इन्हें विद्वत्तासंपन्न शास्त्रार्थरत तर्कवादी बताया है और उनका 'ब्रकमानीज़' से विपर्यास दिखाया है, जिन्हें उन्होंने मुख्यतः शरीरशास्त्र और ज्योतिष के अध्ययन में संलग्न लोगों के रूप में प्रदर्शित किया है। 'ब्रकमानीज़' को या तो 'शर्मनाइ' से अभिन्न माना जा सकता है अथवा लास्सेन के अनुसार उन्हें 'प्रामाण' माना जा सकता है। इन दोनों कल्पनाओं में प्रथम तो इस बात से पुष्ट होती है कि दोनों के विषय में एक जैसी बातें कही गई हैं और दूसरी कल्पना के अनुसार 'प्रामाण' वे लोग थे जो प्रकाशित वचनों के स्थान पर तर्कसंगत प्रमाणों में विश्वास रखते थे।

चूँकि उस काल की रचनाओं में यह शब्द ज्ञात नहीं है, अतएव इस स्थिति में स्ट्रैबो के कथन को सिकन्दर के समय के लिए सही मानना समीचीन न होगा, परन्तु उसके बाद के समय के लिए उपयुक्त माना जा सकता है। इस युग में दार्शनिक मतों के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इनसे संबद्ध ब्राह्मणों के उन अंशों में जिन्हें उपनिषद् (व्याख्यान प्रवचन) कहा गया है, केवल स्फुट विचार और चिन्तन उपलब्ध होते हैं। यद्यपि इनमें विचारों को क्रमबद्ध करने और उपभेदों में विभक्त करने की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति व्याप्त है, फिर भी अन्वेषणकर्त्ता एक नितान्त सीमित और संकुचित क्षेत्र में विचरण करते हैं। आरण्यकों में पाये जाने वाले उपनिषदों में विषय को सुव्यवस्थित और विस्तृत करने की दिशा में पर्याप्त प्रगति दिखाई पड़ती है। आरण्यक[1] इस प्रकार की रचनाएँ हैं जो ब्राह्मणों के पूरक हैं और जिनकी रचना विशेष रूप से 'उलोविओइ' के लिये हुई है। इससे भी अधिक प्रगति उन उपनिषदों में देखने को मिलती है जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। ये उपनिषद वे हैं जो यद्यपि तीन प्राचीन वेदों में किसी एक के ब्राह्मण या आरण्यक से संबद्ध हैं, तथापि इस समय अथर्वन् पाठ में ही उपलब्ध है; कदाचित् इनका केवल अथर्वन् पाठ में ही सुरक्षित रह सकना संभव था। अन्ततः वे उपनिषद् जो सीधे अथर्ववेद से संयुक्त हैं—विकसित दार्शनिक मतों के पूर्ण प्रतिपादक हैं। वर्ण्यविषय की दृष्टि से वे कुछ सीमा तक किसी सम्प्रदाय विशेष से संबद्ध हैं और इस कारण वे पुराणों के काल तक पहुँच जाते हैं। दार्शनिक मतों के विद्यमान मौलिक ग्रन्थों अर्थात् सूत्रों की रचना का जो काल अब तक माना

---

[1]'आरण्यक' नाम पहले पाणिनि ४.२.१२९ के वार्त्तिक में आया है [इस विषय पर इं० स्टू० ५।४९ देखें] तब मनु ४।१२३ में, याज्ञवल्क्य० १।१४५ में (दोनों में इसका वेद से विपर्यास दिखाया गया है)। ३।११०, ३०९ में, और अथर्वोपनिषदों में आया है (देखिए इं० स्टू० २।१७९)।

जाता रहा है उससे बहुत बाद के समय में वे रचे गये थे; यह तथ्य निम्नलिखित विचारणाओं द्वारा अन्तिम रूप से सिद्ध हो चुका है। प्रथमतः उनके रचयिताओं के नाम या तो आधुनिक ब्राह्मणों और आरण्यक में नहीं दिये गये हैं या यदि दिये भी गये हैं तो भिन्न रूप में और दूसरे सन्दर्भों में इस प्रकार उल्लिखित हैं कि उनकी परवर्ती मान्यता बीजरूप में प्रतिबिम्बित और प्रदर्शित हुई है। दूसरे, उनमें से अधिक प्राचीन रचनाओं में जिन ऋषियों के नामों का उल्लेख किया गया है वे अंशतः नितान्त अर्वाचीन यज्ञीय सूत्रों में आए हुए नामों से अभिन्न हैं। तीसरे, उन सभी में सम्पूर्ण वेद की पूर्वस्थिति का निर्देश स्पष्ट रूप से किया गया है, और उन उपनिषदों का भी सीधा उल्लेख किया गया है जिन्हें हमें सबसे बाद के वास्तविक उपनिषद् स्वीकार करना पड़ता है; यही नहीं, उनमें ऐसे उपनिषदों का भी उल्लेख है, जो अथर्ववेद से संबद्ध हैं। उनकी दुर्बोध सूक्ष्मता और पारिभाषिक शब्दावली वाली शैली से भी—जो यद्यपि इस समय तक सांकेतिक पदों से युक्त नहीं हुई है—इसके पूर्व विशेष अध्ययन की एक लम्बी अवधि का संकेत मिलता है, जिसके कारण ऐसी सूक्ष्मता और पूर्णता संभव हो सकी है। अतएव दार्शनिक तथा व्याकरण-विषयक सूत्रों के समय का आरम्भ द्वितीय युग के आरम्भ काल में मानना चाहिए, जिसमें इन दोनों को सर्वोच्च मान्यता प्रदान की गई है।

वैदिक साहित्य के इस सर्वेक्षण को समाप्त करते हुए मैं शास्त्रों के दो अन्य शाखाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करूँगा, यद्यपि इस युग में इन शाखाओं का कोई साहित्य नहीं था—कम से कम ऐसा तो कोई नहीं था जिसका कोई प्रत्यक्ष अवशेष या लेख उपलब्ध हो—फिर भी उनका अनुशीलन पर्याप्त रूप में होता था—इन दो शाखाओं से मेरा तात्पर्य है नक्षत्र विद्या और ओषधि-शास्त्र। दोनों को पूजा या यज्ञ में आवश्यकता होने से फलने-फूलने का अवसर मिला। यद्यपि पहले नक्षत्रविद्या की जानकारियाँ निःसन्देह अस्पष्ट रूप वाली थीं, फिर भी उनकी आवश्यकता यज्ञों के नियमन के लिए पड़ती थी; प्रथमतः तो उन यज्ञों में जो प्रातः और सायं होम द्वारा किये जाते थे, फिर उनमें जो प्रतिपद और पूर्णिमा को किये जाते थे और अन्त में उन यज्ञों के लिए उनकी आवश्यकता पड़ती थी जो चातुर्मास्यों के आरम्भ में किये जाते थे। पुनः, यज्ञ में बलिपशु के वध और चीर-फाड़ से तथा उसके विभिन्न अंगों की विभिन्न देवताओं के लिये आहुति करने के कारण शरीर की आन्तरिक रचना के विषय में जानकारी होनी भी स्वाभाविक थी। इण्डो-जर्मन मस्तिष्क प्रकृति के प्रभावों से इतने विलक्षण रूप में प्रभावित होता था और अन्य स्थानों की अपेक्षा भारत में प्रकृति दृष्टि को इतना अधिक आकृष्ट करने वाली थी कि मनुष्य का ध्यान बरबस उस ओर खिंच जाता था। इस प्रकार हम 'वाजसनेयि-संहिता' के परवर्ती अंशों में और 'छान्दोग्योपनिषद्' में "नक्षत्रों का अवलोकन करने वालों" और "नक्षत्रविद्या" का स्पष्ट उल्लेख पाते हैं। विशेष रूप से सत्ताइस (अट्ठाइस) चान्द्र नक्षत्रों का ज्ञान तो पहले ही फैल चुका था। उनकी गणना केवल 'तैत्तिरीय संहिता' में की गई है और जिस क्रम में उनकी

गणना की गई है वह क्रम ऐसा है कि अनिवार्यत:[1] १४७२ और ५३६ ई० पू० के बीच व्यवस्थित किया जा चुका होगा। उपर्युल्लिखित अनुच्छेद में स्ट्रैबो ने स्पष्टत: 'एस्ट्रोनोमिया' को 'ब्रकमानीज' का एक व्यवसाय बताया है। इन सभी बातों के होते हुए भी उन्होंने इस युग में अधिक प्रगति नहीं की थी। उनकी जानकारियाँ मुख्य रूप से चन्द्रमा के मार्ग, अयन या संक्रान्ति, कतिपय नक्षत्रों और विशिष्ट रूप से ज्योतिष तक सीमित थीं।

जहाँ तक ओषधिविज्ञान का प्रश्न है, हम विशेषत: अथर्व-संहिता में इस प्रकार के सूक्त पाते हैं, जो रोगों और रोगों को दूर करने वाली औषधियों के प्रति हैं, और जिनसे अधिक सामग्री नहीं संचित की जा सकती। पशु-शरीर-रचना का ज्ञान लोगों को स्पष्टत: था, क्योंकि प्रत्येक पृथक् अवयव को अलग नाम दिया गया था। सिकन्दर के साथियों ने भारतीय चिकित्सकों की, विशेषत: उनके सर्पदंश के उपचार के लिए, मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

---

[1]देखिए इं० स्टू० २।२४० टिप्पणी [यही संख्या २७८०-१८२० ई० पू० है देखिए इं० स्टू० १०।२३४-२३६ (१८६६) और भरणी आदि के लिए जो ज्योतिष के अन्तर्गत आती हैं, हम १८२०-८६० वर्ष पाते हैं, देखिए वही पृ० २३६ आदि; ऊपर की टिप्पणी २ भी देखिए]।

२ : ऋग्वेद

वैदिक साहित्य के उपर्युक्त प्रारम्भिक पर्यवेक्षण से अब हम उसके विस्तृत अध्ययन पर आते हैं। भारतीय वर्गीकरण का कठोरता के साथ पालन करते हुए हम चारों वेदों में प्रत्येक का स्वतन्त्र रूप से विवेचन करेंगे और उनसे संबद्ध रचनाओं का उचित क्रम में पृथक्-पृथक् प्रत्येक वेद के साथ वर्णन करेंगे।

सर्वप्रथम ऋग्वेद आता है। **ऋग्वेद-संहिता** में दो प्रकार का विभाजन पाया जाता है—एक तो विशुद्ध बाह्य विभाजन है, जिसका संबन्ध केवल रचना की परिधि से है, और स्पष्टतः अधिक अर्वाचीन है। दूसरा विभाजन अधिक प्राचीन है और आभ्यन्तर धरातल पर आधारित है। प्रथम विभाजन आठ 'अष्टकों' में है, जिनमें सभी प्रायः समान विस्तार वाले हैं; इनमें से प्रत्येक अष्टक का विभाजन आठ अध्यायों में और प्रत्येक अध्याय का विभाजन ३३ वर्गों में हुआ है (कुल २००६ वर्ग); प्रत्येक वर्ग सामान्यतः पाँच मन्त्रों का है।[1] दूसरा विभाजन १० मण्डलों, ८५ अनुवाकों (अध्याय), १०१७ सूक्तों (प्रार्थनाओं) तथा १०,५८० ऋचाओं (मन्त्रों) में है। इस विभाजन का आधार उन रचयिताओं का वर्ग है जिनसे सूक्तों को संबद्ध किया जाता है। इस प्रकार पहले और दसवें मण्डलों में विभिन्न वंशों के ऋषियों द्वारा रचे गये सूक्त हैं; इसके विपरीत, दूसरे मण्डल (= अष्टक २।७१-११३) में गृत्समद ऋषि के; तीसरे मण्डल (= अष्टक २।११४-११९ = ३।१-५६) में विश्वामित्र ऋषि के; चौथे मण्डल (अष्ट० ३।५७-११४) में वामदेव के; पाँचवे मण्डल (अष्ट० ३।११५-१२२, ४।१-७९) में अत्रि के; छठें मण्डल (अष्ट० ४।८०-१४०; ५।१-१४) में भारद्वाज के; सातवें मण्डल (अष्ट० ५।१५-११८) में वसिष्ठ के; आठवें (अष्ट० ६।८२-१२४, ७।१-७१) में अंगिरस् ऋषि के रचे हुए सूक्त हैं।[2] इन ऋषियों के नामों द्वारा हमें केवल विशिष्ट व्यक्तियों को ही नहीं समझना चाहिए, अपितु उनके वंश का भी अर्थ लेना चाहिए। प्रत्येक पृथक् मण्डल में सूक्तों का क्रम उनमें आहूत

---

[1] विवरणों के लिये देखिए इ० स्टू० ३.२५५; म्यूल्लेर, एंशि० सं० लिट० पृ० २२०।

[2] प्रथम मण्डल में २४ अनवाक और १९१ सूक्त हैं; दूसरे में २४ अनु० ४३ सू०; तीसरे में ५ अनु० ६२ सू०; चौथे में ५ अनु० ५८ सू०; पाँचवें में ६ अनु० ८७ सू०; छठें में ६ अनु० ७५ सू०; सातवें में ६ अनु० १०४ सू०; आठवें में १० अनु० ९२ सू० (११ बालखिल्य सूक्त अतिरिक्त), नवें में ७ अनु० ११४ सू० तथा दसवें में १२ अनु० १९१ सूक्त।

देवताओं के अनुसार रखा गया है।[1] अग्नि के प्रति उक्त सूक्तों को प्रथम स्थान पर रखा गया है, उसके बाद इन्द्र और अन्य देवताओं के सूक्त रखे गये हैं। कम से कम पहले आठ मण्डलों में तो इसी क्रम का निर्वाह किया गया है। नवाँ मण्डल एकमात्र सोमदेवता के प्रति है और साम संहिता से घनिष्ठ संबन्ध रखता है, जिसका एक तिहाई भाग इस मण्डल से लिया गया है। दसवें मण्डल का अथर्व-संहिता के साथ एक-विशेष प्रकार का संबन्ध है। मण्डलों के इस क्रम का सबसे प्राचीन उल्लेख 'ऐतरेय आरण्यक' और आश्वलायन तथा शाङ्खायन के दो गृह्यसूत्रों में आता है। प्रातिशाख्यों तथा यास्क ने किसी दूसरे विभाजन को मान्यता नहीं दी है, और इस कारण 'ऋक्-संहिता' को 'दशतय्यस्' अर्थात् दस वर्गों में विभक्त गीतों का नाम दिया है। 'दशतय्यस्' नाम साम-सूत्रों में भी पाया जाता है। इसके विपरीत कात्यायन की अनुक्रमणी ने अष्टकों और अध्यायों के विभाजन को अपनाया है। प्रार्थना के लिए 'सूक्त' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम शुक्ल यजुस् ब्राह्मण के दूसरे भाग में पाया जाता है; ऋग्वेद-ब्राह्मण इस नाम से अवगत नहीं प्रतीत होते हैं,[2] किन्तु 'ऐतरेय आरण्यक' इत्यादि में हमें यह उपलब्ध होता है। ऋक्-संहिता का विद्यमान पाठ शाकल शाखा का है और जैसा कि प्रतीत होता है यह विशेषतः इस शाखा के उस विभाग से संबन्ध रखता है, जिसे 'शैशिरीयस्' कहा गया है। दूसरे पाठ अर्थात् वाष्कल शाखा के पाठ का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है, किन्तु इन दोनों पाठों में कोई विशेष अन्तर रहा हो ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती। कुछ भी हो, एक प्रमुख अन्तर तो यह है कि इसके आठवें मण्डल में आठ अतिरिक्त सूक्त हैं जिससे सूक्तों की संख्या कुल मिलाकर १०० हो जाती है, और इस कारण इसके छठें अष्टक में १३२ सूक्त हैं।[3] शाकलों का नाम स्पष्टतः शाकल्य

---

[1]'येनाएर लिटेरादुत्साइटुंग' (१८७५ पृ० ८६७) में डेलब्रूइक ने अपनी 'त्सीबेन्त्सीग लीडेर डेस ऋग्वेद' (तुलना टि० ३२) की समीक्षा में यह संकेत दिया है कि २७ काण्डों में अग्नि और इन्द्र के सूक्तों का वर्गीकरण प्रत्येक सूक्तों की मन्त्र संख्या के क्रमिक ह्रास की दृष्टि से किया गया है।

[2]यह भ्रम है। वे इस शब्द से न केवल उपर्युक्त अर्थ में अपितु शास्त्र के छः अंगों में एक अंग के और विशेषतः उसके प्रधान अंग के नाम के रूप में पारिभाषिक अर्थ से भी परिचित हैं। इस प्रकार प्रयुक्त होने पर 'सूक्त' अनेक सूक्तों के समूह का बोध कराता है। तुलना शांखा० ब्रा० १४.१।

[3]सम्प्रति मैं इस कथन की विस्तार से पुष्टि करने में असमर्थ हूँ। मैं केवल शौनक की अनुवाकानुक्रमणी से यही प्रदर्शित कर सकता हूँ कि वाष्कलों के पाठ में शाकलों के पाठ से आठ सूक्त अधिक हैं; किन्तु ये आठ सूक्त आठवें मण्डल के नहीं हैं। जब मैंने ऊपर का अंश लिखा था उस समय मैं वालखिल्यों के विषय में सोच रहा था, जिसकी संख्या ऐत० ब्रा० के भाष्य में सायण ने आठ बताई है (तुलना-रोथ 'त्सुर लिट० उण्ड गशि०

से संबन्ध रखता है। शाकल्य एक ऋषि थे, जिनका उल्लेख प्रायः ब्राह्मणों और सूत्रों में हुआ है। यास्क[1] ने इन्हें ऋक्-संहिता के पदपाठ[2] का रचयिता बताया है।[3] शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण में पाये जाने वाले वर्णनों के अनुसार 'विदग्ध' (चतुर?) उपाधिवाले एक याज्ञ-वल्क्य के साथ-साथ विदेह के राजा जनक की सभा में रहते थे और याज्ञवल्क्य के घोर विरोधी तथा प्रतिद्वन्द्वी थे। उन्हें याज्ञवल्क्य ने पराजित किया और शाप दे दिया, जिसके फलस्वरूप उनका सिर कटकर गिर गया और उनकी अस्थियों को चोर उठा ले गये। शतपथ-ब्राह्मण के दूसरे भाग में उल्लिखित आचार्यों में एक आचार्य का नाम वार्कलि भी है (जो 'वाष्कलि' का देशज रूप है)।[4]

परम्परा में शाकल शुनकों से घनिष्ठ रूप में संबद्ध दिखाई पड़ते हैं और विशेषतः

डेस् वेद' पृ० ३५; हाग ऐत० ब्रा० ६.२४ पृ० ४१६) म्यूल्लेर और आउफ्रेष्ट के संस्करण में यह संख्या ग्यारह है। ये आठ या ग्यारह बालखिल्य वाष्कलों की शाखा के हैं, इस विषय पर मैं कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं प्रस्तुत कर सकता। वाष्कल शाखा के अन्य पाठभेदों पर ऋा इं० स्टू० १.१०८ अडा० कून का लेख देखिए।

[1]या दुर्ग का निरु० ४.४ का भाष्य; देखिए रोथ पृ० ३९, भूमिका, पृ० ६८

[2]यह वेद पाठ की उस विलक्षण विधि का नाम है, जिसमें प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र रूप से आता है, और इसमें सन्धि के वे परिवर्तन नहीं होते हैं जो शब्दों के मिलने पर होते हैं [देखिए ऊपर पृ० १६]

[3]उनका नाम उत्तर-पश्चिम की ओर संकेत करता प्रतीत होता है (?) पाणिनि [४.२.११७] के भाष्यकार ने संभवतः महाभाष्य का अनुकरण करते हुए शाकल को बह्लीकों के संबन्ध में उद्धृत किया है; देखिए बर्नाउफ़ 'इन्ट्रोडक्शन आ ले' हिस्ट० डू बुद्ध' पृ० ६२० आदि। पाणिनि सूत्र ४.३.१२८ के अंश का स्थानिक निर्देश नहीं है [इस विषय पर 'महाभाष्य' के विवरणों के लिए देखिए इं० स्टू० १३.३६६, ३७२, ४०९ ४२८, ४४५] इसके विपरीत, कपिलवस्तु के कोसल देश में हम शाक्यों को भी पाते हैं; इनके और यजुस् के शाकायनिन से क्या अर्थ लगाया जाय हम समझने में असमर्थ हैं (आगे देखिए)। [शाकल शब्द का ऋक् के सन्दर्भ में प्राचीनतम उल्लेख 'यज्ञगाथा' में आता है, जो ऐत० ब्रा० ३.४३ में उद्धृत है (देखिए इं० स्टू० ९, २७७)। 'शैशिरीय' नाम के लिये मैं आश्वलायन श्रौतसूत्र के अन्त में आने वाले 'प्रवर' काण्ड का ही उल्लेख दे सकता हूँ, जिसमें शैशिरीय का नाम अंशतः स्वतन्त्र रूप में और अंशतः शुंगों के साथ अनेक बार आया है।

[4]इस प्रकार का नाम जो 'वृकल' में भी देखने में आता है, 'शाङ्खायन आरण्यक' ८.२ में भी आया है: "अशीतिसहस्रं वार्कलिनो बृहतीरहर अभिसम्पादयन्ति", किन्तु ऐत० आर० ३.८ के समकक्ष अंश में 'वार्कलिनो' के स्थान पर वा (अर्थात् वै) अर्कलिनो' है।

शौनक को अनेक ऐसी रचनाओं का रचयिता माना गया है[1], जिनकी रचना ऋग्वेद के पाठ को सुरक्षित रखने के लिए (ऋग्वेदगुप्तये) की गई थी। उदाहरण के लिए, ऋषियों, छन्दों, देवताओं, अनुवाकों, सूक्तों, मन्त्रों और उनके अंगों के क्रमसंयोजन (विधान) से युक्त एक[2] अनुक्रमणी उपर्युक्त 'बृहद्देवता' ऋग्वेद का 'प्रातिशाख्य', एक स्मार्तसूत्र[3] तथा विशेषत: ऐतरेय से संबन्ध रखने वाले एक कल्पसूत्र की भी उन्होंने रचना की थी; बाद में जब उनके शिष्य आश्वलायन ने एक दूसरे कल्पसूत्र की रचना कर डाली तब उन्होंने उसे नष्ट कर डाला। ऐसी दशा में कदाचित् यह असंभव नहीं है कि ये सभी ग्रन्थ एक ही व्यक्ति शौनक की रचना रहे हों, फिर भी वे संभवत: और कुछ अंशों में निश्चित रूप से केवल उसी शाखा से संबद्ध हैं जो उनके नाम से अभिहित हुआ है। किन्तु इसके साथ ही साथ हम यह भी पाते हैं कि स्वयं संहिता के द्वितीय मण्डल की रचना का श्रेय भी उन्हें ही दिया गया है, और दूसरी ओर उन्हें उस शौनक से अभिन्न बताया गया है, जिसके यज्ञ के भोज में वैशम्पायन के पुत्र सौति ने महाभारत की कथा कही थी। इस कथा को उन्होंने हरिवंश की कथा के साथ वैशम्पायन (द्वितीय) से कही थी। नि:सन्देह इन दोनों कथनों में प्रथम का यही अर्थ लगाना चाहिए कि शुनकों का वंश ऋग्वेद के प्राचीन ऋषि कुलों से भी संबन्ध रखता था और बहुत बाद तक भी ब्राह्मणों के विद्वत्ता के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान ग्रहण कर अक्षुण्ण बना रहा। इसके विपरीत, दूसरे कथन के विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष आपत्ति नहीं की जा सकती और कम से कम यह तो असंभव नहीं है कि आश्वलायन के गुरु और नैमिष वन[4] में यज्ञ करने वाले ऋषि दोनों एक ही हैं। इसके अतिरिक्त शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण में दो भिन्न शौनकों का उल्लेख मिलता है, एक तो इन्द्रोत शौनक हैं, जो महाभारत में प्रथम जनमेजय के रूप में आये हुए राजा के ऋत्विज हैं; दूसरे शौनक स्वैदायन हैं, जिन्हें औदीच्य या उत्तर दिशा में निवास करने वाला बताया गया है।

ऋक् संहिता के क्रम-पाठ के रचयिता के रूप में एक पंचाल बाभ्रव्य[5] का भी नाम आया

---

[1]कात्यायन की 'ऋगनुक्रमणी' के भाष्य की भूमिका में षड्गुरुशिष्य द्वारा।

[2]अपितु दो विधान ग्रन्थ हैं (आगे देखिए) : एक का ध्येय विशिष्ट ऋचाओं का और दूसरी का उद्देश्य विशिष्ट पदों का अन्धविश्वासपूर्ण प्रयोजन में 'सामविधान ब्राह्मण' के समान ही उपयोग करना है।

[3]शौनक गृह्यसूत्र पर स्टेन्जलेर, इं० स्टू० १.२४३ देखिए।

[4]नैमिषवन में इस शौनक द्वारा कराया गया यज्ञ नैमिषियों के उस यज्ञ से भिन्न है जिसका उल्लेख ब्राह्मणों में प्राय: मिलता है।

[5]ऋक् प्राति० ११.३३ में केवल बाभ्रव्य आया है, ऊअट के भाष्य में ही उन्हें पञ्चाल कहा गया है। स्वयं 'ऋक्प्रातिशाख्य' में दो स्थानों पर २।१२, ४४ में प्रमाण रूप में पञ्चालों का उद्धरण दिया गया है और प्राच्यों के साथ उनका उद्धरण है। इस

है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुरुपञ्चाल तथा कोसल-विदेह (जहाँ के शाकल्य थे) देशों को ही ऋग्वेद और यजुर्वेद के पाठों को निर्धारित एवं व्यवस्थित करने का श्रेय प्राप्त है; और दोनों वेदों के संबन्ध में यह कार्य संभवतः उस समय हुआ जब ये जन अपने स्वर्णिम काल में पहुँचे हुए थे।

जैसा कि हमने कई बार कहा है, स्वयं सूक्तों की उत्पत्ति ढूँढ़ने के लिए हमें बहुत पहले के युग में जाना होगा। यह बात उनमें आए हुए देवशास्त्रीय एवं भौगोलिक तथ्यों से स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

इनमें प्रथम या देवशास्त्रीय संबन्ध, जिसका प्रतिनिधित्व ऋग्वेद के अधिक प्राचीन सूक्तों में हुआ है, अंशतः हमें आदिम इण्डो-जर्मन काल में खींच ले जाते हैं। उनमें उस समय प्रचलित ऐसी बालसुलभ और दाक्षिण्यहीन कल्पनाओं के अवशेष हैं जैसी ट्यूटन और ग्रीक लोगों में भी पायी जा सकती है। इसी प्रकार का उदाहरण मत आत्मा के वायु में परिणत होने की कल्पना है, जिस आत्मा को स्वामिभक्त कुत्ते के समान पंखधारी पवन गन्तव्य तक ले जाता है; यह बात 'शरमेय' और 'एर्माइअस'[२] तथा शबल और 'केर्बेरोस'[३] के तादात्म्य से प्रकट होती है। अपरंच, स्वर्गस्थित समुद्र, संसार को परिवृत्त करने वाले वरुण; पिता द्युलोक द्यौष्पितर, जिउस डीपिटेर (Dicpiter) की; माता पृथिवी 'डिमीटिर' की; चमकती हुई परियों के रूप में आकाश की नदियों की; चारागाह में चरने वाली गायों जैसी सूर्य की किरणों; इन युवतियों और गायों को उठा ले जाने वाले लुटेरे के समान श्याम-वर्ण के मेघदेवता की; और विद्युत् एवं वज्र को धारण करने वाले तथा दुष्टों को दण्ड देने वाले, उन पर प्रहार करने वाले शक्तिशाली देवता की कल्पनाएँ भी इसी प्रकार की हैं।[४] इस तुलनात्मक देवकथाशास्त्र की अब तक सामान्य रूपरेखा मात्र ही देखी जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि यह क्रमशः प्राचीन देवकथाशास्त्र के सन्दर्भ में उसी स्थान का अधिकारी होगा और वही स्थान प्राप्त करेगा जो स्थान वस्तुतः तुलनात्मक इण्डो-जर्मन व्याकरण ने शास्त्रीय व्याकरण के सन्दर्भ में प्राप्त कर लिया है। जिस आधार पर वह देवकथाशास्त्र अब तक स्थिर रहा है वह इसके नीचे लड़खड़ा उठता है और इस पर जो

कारण उपर्युक्त निष्कर्ष लागू होते हैं। ऋक् प्रा० २.१२ पृ० ११३ पर रेग्नीर का कथन देखिए। तुलना कीजिए—शा.खा० श्रौ० १२।१३।६ ('पञ्चालपदवृत्तिः') तथा संहितोपनिषद्-ब्राह्मण २ ('सर्वत्र प्राच्य पाञ्चालीषु मुक्तं सर्वत्राऽमुक्तम्)।

[१]हाउप्ट के ड्वाइश त्साइटश्रिफ्ट ६.१२५ आदि में कून का लेख देखिए।

[२]इं० स्टू० २.२९७ आदि [इसके पहले माक्स म्यूल्लेर द्वारा; देखिए 'चिप्स् फ्राम ए जर्मन वर्कशाप २.१८२]

[३]देखिए, कून, वही: और अनेक बार 'त्साइश्रिफ्ट् फ़िडर फेर्ग्लशिण्ड स्प्राफ-फोर्सुंग' में, जिसका संपादन उन्होंने आउफ्रेष्ट के साथ किया है (भाग १, १८५१)

नया प्रकाश पड़ने वाला है उसके लिये हम ऋग्वेद के ऋणी हैं। इस वेद ने ही हमें मानों उस उद्योगशाला की झाँकी दिखलाई, जहाँ से इनका मूलतः उदय हुआ।[1]

दूसरे, ऋग्वेद के सूक्त फारसी और महाकाव्यीय कथाओं के दो चक्रों के उद्भव और क्रमिक विकास के संबन्ध में बहुमूल्य सूचनाएँ देकर अपनी प्राचीनता का प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों में ही प्रकृति के दृश्यों के सरल रूपकों को बाद में इतिहास के वस्त्रों से सजा दिया गया है। ऋग्वेद के गीतों में हम अन्धकार और प्रकाश के स्वर्गीय संघर्ष का काव्यीय रंगों में रंजित वर्णन पाते हैं जिन्हें या तो नितान्त सरल और स्वाभाविक रूप में या प्रतीकात्मक परिवेश में दैवी व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया गया है। दूसरी ओर फारसी वेद अवेस्ता में "यह संघर्ष[2] स्वर्ग से पृथ्वी पर, किंवा प्राकृतिक दृश्यों के प्रदेश से नैतिक जगत में उतरता है। इसका विजेता एक पुत्र है, जो एक पिता को प्राप्त होता है और जो पृथ्वी का रक्षक नियुक्त कर सोमयज्ञ की पवित्र क्रियाओं के पुरस्कार रूप में प्रदान किया गया है। वह जिस दैत्य का वध करता है वह पाप की एक शक्ति की सृष्टि है और संसार की पवित्रता को ध्वस्त करने के लिए अपार दानवीय बल से युक्त है। अन्त में फारसी महाकाव्य इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करता है। युद्ध आर्यों के देश में होता है; सर्प जो जेण्ड में अजि दहक है और वेद में अहि [दासक] है, जोकफ के रूप में ईरान के सिंहासन पर अत्याचारी शासक बनकर बैठता है। युद्धरत फेरेदून—वेद में त्रैतन और जेण्ड में थ्रेइताओनो (Thraetaono)—को पीड़ित जनता के कल्याण के लिए जो वरदान मिलते हैं, वे हैं पैतृक भूमि पर जीवन में स्वतन्त्रता एवं सन्तोष की प्राप्ति।" फारसी आख्यान ने विकास की इन अवस्थाओं को कदाचित् २००० वर्षों में पार किया और प्रकृति के राज्य से महाकाव्य के राज्य में पहुँचकर वहाँ से इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश किया। फेरेदून की विभिन्न दशाओं से मिलती-जुलती दशाओं का क्रम जेमशीद (यम,

---

[1]देखिए त्सा० डाय० मो० गे० ५.११२ [जिस समय मैंने ऊपर का अंश लिखा था उस समय से तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र के भण्डार में पर्याप्त वृद्धि हुई है किन्तु साथ ही साथ अनेक काल्पनिक और भोड़ी धारणाएँ भी चल पड़ी हैं। 'त्साइटश्रिफ्ट' में प्रकाशित अडाल्ब० कून के दो लेखों के अतिरिक्त उन्हीं द्वारा लिखित दो अन्य लेख भी उल्लेखनीय हैं: 'डी हेराबकुंफ्ट् डेस् फिउएर्स उण्ड् डेस् गेट्टेरट्रांक्स्' (१८५९) तथा 'इउबेर एण्टाविक्लुंगस्स्तुफेन् डेर् मिथेनबिल्डुंग्' (१८७४); इसके अतिरिक्त माक्स म्यूल्लेर का 'कम्परेटिव माइथालाजी' 'आक्सफोर्ड एसेज' (१८५६) में तथा पुनः 'चिप्स्' भाग २ में प्रकाशित; एम० बीअल 'हेरकुली एट् काकस्' (१८६३); काक्स 'माइथालाजी आफ द आर्यन नेशन्स' (१८७०, दो भाग); ए० डि गुवेरनेटिस, जोलोजिकल माइथोलोजी (१८७२, दो भाग) तथा मिटोलोगिआ वेदिका (१८७४)]

[2]देखिए रोथ, त्सा० डाय० मो० गे० २.२१६ आदि में

यिम) के विषय में भी देखा जा सकता है; इसी प्रकार की कथाएँ कैकवस (काव्य उशनस् कव उश्) के और संभवतः कै खोस्रू (सुश्रवस्, हुश्रवह्ल) के विषय में भी है। विकास की दृष्टि से भारतीय आख्यान फारसी कथा का समानान्तर है। यहाँ तक कि यजुर्वेद के समय में कथा का स्वाभाविक महत्वपूर्ण रूप से लुप्त हो गया था। उसमें इन्द्र केवल एक कलह-प्रिय और ईर्ष्यालु देवता है, जो अजेय दैत्यों को निम्नकोटि की धूर्तता से पराजित करता है; और भारतीय महाकाव्य में यह कथा या तो उसी रूप में आई है या इन्द्र को मनुष्य रूप में अर्जुन नाम से उपस्थित किया गया है, जो इन्द्र के ही अवतार हैं और उस महाशक्तिशाली दैत्य एवं राजाओं का नाश करते हैं, जो दैत्य के अवतार के रूप में सम्मुख आते हैं। 'महाभारत' और 'रामायण' के प्रमुख पात्र फिरदूसी के राजाओं के समान नष्ट होते हैं और इतिहास के लिये जनता की कथा में केवल वे सामान्य घटनाएँ शेष रह जाती हैं जिनके लिये देवताओं से संबद्ध प्राचीन कथाएँ प्रयुक्त की गई हैं। ये चरित्रनायक पृष्ठ-भूमि में मन्द पड़ जाते हैं और इस प्रतिकृति में उन्हें केवल काव्यीय रचनाओं के रूप में पहचाना जा सकता है।

तीसरे, ऋग्वेद के गीत हमारे सम्मुख अपने समय, स्थान और उत्पत्ति तथा विकास की अवस्थाओं के विवरण खोल कर रख देते हैं। इनमें से अधिक प्राचीन सूक्तों में भार-तीय जनता सिन्धु नदी के किनारों पर बसी हुई प्रतीत होती है। इस समय यह अनेक छोटी जातियों में बँटी हुई है, जो परस्पर शत्रुता रखती है, कृषकों और खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करती है। ये जातियाँ अलग-अलग या छोटे समुदायों में निवास करती हैं; इनका प्रतिनिधित्व इनके राजा करते हैं। ये जातियाँ एक दूसरे से युद्ध करती हुई, पृथक् बनी रहती हैं और देवताओं की उपस्थिति में समान ढंग के यज्ञों का सम्पादन करती हैं। परिवार का प्रत्येक पिता अपने घर में पुरोहित का कार्य करता है, गृह्यकर्मों का सम्पादन करता है, और देवताओं को स्तुति या प्रार्थनाएँ अर्पित करता है। केवल बड़े सार्वजनिक यज्ञों के लिये ही—जो एक प्रकार का जातिगत उत्सव होता है और राजा द्वारा सम्पादित होता है—विशेष ऋत्विजों की नियुक्ति होती है जो आवश्यक कर्मों के पर्याप्त ज्ञान एवं अध्ययन के कारण योग्य समझे जाते हैं और जिनमें एक या दूसरी जाति के यज्ञों द्वारा कम या अधिक समृद्ध होने के आधार पर शनैः-शनैः एक प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता का विकास होता है। यहाँ विशेष महत्त्वपूर्ण है वशिष्ठ और विश्वामित्र के वंशों की आपसी शत्रुता, जो सम्पूर्ण वैदिक युग में चलती रहती है, महाकाव्य में भी प्रमुख कार्य करती है और बहुत अर्वाचीन समय तक अक्षुण्ण बनी रहती है; इस कारण, उदाहरण के लिए वेद का एक भाष्यकार, जो अपने को वशिष्ठ का वंशज बताता है, उन अंशों की व्याख्या नहीं करता, जिनमें वशिष्ट को एक शाप से युक्त बताया गया है। इस असहिष्णुतापूर्ण द्रोह की उत्पत्ति इस छोटी बात से होती है कि इस काल के एक छोटे राजा ने विश्वामित्र के स्थान पर वशिष्ठ को अपने यज्ञ का प्रधान ऋत्विज नियुक्त कर लिया। इस आरम्भिक

काल में इन राजवंशी ऋत्विजों का प्रभाव यज्ञ से आगे नहीं फैलता। इस समय तक वर्णों की उत्पत्ति नहीं हुई है; जनता अब भी एक संगठित समूह के रूप में है और इस समय तक इसका केवल एक नाम है 'विश' या बसनेवाले। राजा जो संभवतः निर्वाचित होता है, विश्पति कहा जाता है, जो अब भी लिथूनियन भाषा में पाई जाने वाली एक उपाधि है। इस समय में स्त्रियों को जो स्वतन्त्र स्थान प्राप्त है वह ध्यान देने योग्य है। हम ऐसे अनेक उत्कृष्ट सूक्त पाते हैं, जिनकी रचना का श्रेय कवयित्रियों तथा रानियों को दिया गया है और इन कवयित्रियों में अत्रि की पुत्री अग्रणी है। जहाँ तक प्रेम का संबन्ध है, इसके कोमल और आदर्श तत्त्व को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है; अपितु इस पर आद्योपान्त अपरिष्कृत स्वाभाविक इन्द्रिय सुखोपभोग की छाप पड़ी है। तथापि, विवाह को पवित्र समझा गया है; पति और पत्नी दोनों घर के शासक (दम्पती) हैं और दोनों मिलकर देवताओं की प्रार्थना करते हैं। धार्मिक भावना इस तथ्य से अभिव्यक्त होती है कि मनुष्य प्राकृतिक तत्त्वों और उन अधिष्ठाता के रूप में कल्पित सत्ताओं के ऊपर आश्रित है, किन्तु साथ ही साथ कहा गया है कि प्रकृति के तत्वों पर शासन करने वाली ये सत्ताएँ भी मानवीय सहयोग की अपेक्षा रखती हैं; इस प्रकार एक सन्तुलन स्थापित होता है। अतएव पाप की धार्मिक कल्पना बिल्कुल विदेशी है[1] और भारतीय के लिए देवताओं के प्रति नम्रता का व्यवहार अब भी नितान्त विदेशी बना हुआ है। वह कहता है: 'मुझे दो और मैं तुम्हारे लिये यह करूँगा'[2]; इस प्रकार वह दैवी सहयोग के लिये अपना अधिकार प्रदर्शित करता है; जो आदान-प्रदान का सौदा है, कोई एहसान नहीं। इस मुक्त जीवन में, इस ओजस्वी आत्म-चेतना में भारतवासी का उससे नितान्त भिन्न और अधिक पौरुष-युक्त एवं उदात्त चित्र सामने आता है, जैसा कि हम बाद के समय से देखते आ रहे हैं। मैंने ऊपर यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार यह अवस्था शनैः-शनैः परिवर्तित हुई; किस प्रकार हिन्दुस्तान पर विस्तार तथा नयी जलवायु के अस्वास्थ्य-कर प्रभाव के कारण नवीन शक्ति भंग हो गई और क्रमशः लुप्त हो गई। किन्तु वह कौन-सी वस्तु थी जिसने इतनी बड़ी संख्या में इन्हें सिन्धु से सरस्वती को पार कर गंगा की ओर बढ़ने के लिये प्रेरित किया; इसका प्रमुख कारण क्या था यह अब भी अनिश्चित ही है। क्या यह नये बसने वालों के दबाव के कारण था? क्या जनसंख्या की वृद्धि के कारण था? या भारत के सुन्दर प्रदेशों को देखने की इच्छा ने उन्हें प्रेरित किया था? या संभ-

---

[1] "बिल्कुल विदेशी" कहना कुछ कठोर होगा। देखिए रोथ का लेख 'डी होल्ष्टेन गेट्टर डेर् अरिश्शेन फेल्केर, त्सा० दा० मो० गे० ६।७२ में (१८५१) इसमें अनेक अव-स्थाओं को भिन्न समझना चाहिए।

[2] वाज० सं० ३.५; या "उसका वध करो, तब मैं तुम्हारे लिए यज्ञ करूँगा" तैत्ति० सं० ६.४.५.६ [२७]

वतः इन सभी सम्मिलित कारणों से ऐसा हुआ। शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण में पाये जाने वाले एक आख्यान के अनुसार, इस विस्तार के कारण बहुत कुछ पुरोहित थे, जो राजाओं को उनकी इच्छा के विरुद्ध भी आगे फैलने के लिए प्रेरित करते थे (इं० स्टू० १.१७८)। सिन्धु के तटवर्ती पैतृक भूमि से संबन्ध पहले तो बहुत घनिष्ठ बना रहा, किन्तु बाद में जब नये ब्राह्मणीय समाज की हिन्दुस्तान में पूर्ण-रूप से स्थापना हो गई तो उसमें कटुता का एक प्रबल तत्त्व प्रविष्ट हुआ; क्योंकि ब्राह्मणों ने अपने पुराने बान्धवों को, जो अपने पूर्वजों के रीति-रिवाजों का यथार्थतः पालन करते थे, नास्तिकों और विधर्मियों के रूप में देखना आरम्भ कर दिया।

किन्तु, जबकि ऋग्वेद के सूक्तों का उदय इस प्राचीन काल से आरम्भ होता है, ऋक्-संहिता का संकलन, जैसा कि हम देख चुके हैं, उसी युग में जाकर हुआ, जब ब्राह्मणीय पुरोहितवाद का पूर्ण विकास हो चुका था और जब कोसल-विदेह एवं कुरु-पंचाल,[1] जिन्हें इस कार्य के सम्पादन में अगुआ माना जाता है, अपने चरमोत्कर्ष पर थे। यह भी निश्चित है कि कुछ सूक्तों की रचना आर्य जाति के हिन्दुस्तान में आगमन के समय या संहिता के संकलन के समय में हुई थी। इस प्रकार के सूक्त विशेषतः अन्तिम मण्डल में पाये जाते हैं, जिसका अपेक्षतया एक बृहत् अंश अथर्वसंहिता में भी मिल जाता है। प्रत्येक सूक्त के विषय में केवल आलोचनात्मक अध्ययन करने वाला व्यक्ति ही उस सूक्त से संबद्ध विषय, कल्पना, भाषा और परम्परा के आधार पर यह निश्चित कर सकता है कि उसे किस युग की रचना मानी जाय। किन्तु अब तक इस कार्य का आधार ही बन पाया है, इसका समाधान अभी प्रारम्भ भी नहीं हो सका है।[2]

---

[1]मण्डल १० का ९८वाँ सूक्त देवापि और शांतनु का संवाद है। इन दोनों को यास्क ने 'कौरव्यौ' कहा है। महाभारत में शांतनु भीष्म और विचित्रवीर्य के पिता का नाम है, जिनकी दो पत्नियों अम्बिका और अम्बालिका से व्यास ने धृतराष्ट्र और पाण्डु को उत्पन्न किया। अतएव ये शांतनु इन दोनों के पितामह या महाभारत के युद्ध के दो पक्षों कौरवों और पाण्डवों के प्रपितामह हैं। इस प्रकार, हमें यह मानना होगा कि इस महाकाव्य में वर्णित युद्ध ऋक्संहिता के अन्तिम संकलन के बहुत पहले हो चुका था। यह प्रश्न संदेहास्पद है कि 'महाभारत' के शांतनु ऋग्वेद में उल्लिखित शांतनु ही हैं या नहीं; या यदि हम उन्हें अभिन्न मान लें तो प्रश्न उठता है कि महाकाव्य के साथ उनका नाम उसका गौरव बढ़ाने के लिये तो नहीं जोड़ दिया गया है। कम से कम देवापि के जो यास्क के अनुसार शांतनु के भाई हैं, पिता का जो नाम ऋग्वेद में बताया गया है वह महाकाव्य के नाम से भिन्न है। देखिये इं० स्टू० १.२०३।

[2]देखिए पेर्ट्श (Pertsch) 'उपलेख' पृ० ५७ (१८५४) तुलना० लिटेरारिशेज सेन्ट्रालब्लट्ट १८७५, पृ० ५२२); इं० स्ट० ९.२९९, १३.२७९, इं० स्ट्रा० १.१९।

जिन देवताओं को उद्दिष्ट कर इन सूत्रों की रचना हुई है वे प्रायः इस प्रकार आते हैं—सर्वप्रथम अग्नि आता है। अग्नि को सम्बोधित किये गये सूक्तों की संख्या सर्वाधिक है; यह तथ्य इन याज्ञिक सूक्तों के स्वरूप और प्रयोजन का द्योतक है। वह मनष्यों की ओर से देवताओं के पास जाने वाला एक दूत है, उनका मध्यस्थ है और दूर तक चमकती हुई लपटों से देवताओं को यज्ञस्थान पर बुलाता है, चाहे वे कितना भी दूर क्यों न हों। इसके अतिरिक्त उसकी प्रार्थना निश्चित रूप से पृथ्वी पर विद्यमान अग्नि के रूप में होती है, प्रकृति के एक तत्त्व के रूप में नहीं। प्रकृति का तत्व होना तो मुख्य रूप से उस देवता का गुण है, जिसके प्रति अग्नि के बाद सर्वाधिक सूक्त अर्पित किये गये हैं; वह देवता है इन्द्र। इन्द्र वज्र का शक्तिशाली देवता है; वज्र से वह काले बादलों को छिन्न-भिन्न करता है, जिससे द्युलोक की किरणें और जल पृथ्वी को सुखी और हरी-भरी बनाने के लिए नीचे आ सकें। बहुत से सूक्त और उनमें भी कुछ अत्यन्त सुन्दर सूक्त दुष्ट दैत्य के इन्द्र का धन न छोड़ने पर दोनों में हुए संघर्ष के वर्णन में और सामान्यतः वज्रगर्जन से युक्त तीव्र वात के वर्णन में रचे गये हैं, जिसने अपनी कौंधती हुई बिजली, कड़कड़ाती गर्जन, और तीव्र झोकों द्वारा जनता के सरल मस्तिष्क पर भयंकर प्रभाव छोड़ा। सूर्योदय का भी स्वागत किया गया है; उषाओं की चमकती हुई सुन्दर युवतियों के रूप में प्रशंसा की गई है; और शक्तिशाली सूर्य के तपते हुए गोले के प्रति महान् श्रद्धा प्रदर्शित की गई है, क्योंकि वह रात्रि के अन्धकार को पराभूत करता हुआ और उसे आकाश की सभी दिशाओं में दूर भगाता हुआ आगे बढ़ता है। प्रकाशयुक्त सूर्यदेवता की अभ्यर्थना ज्योति और उष्णता के लिये की गई है, जिससे बीजों और पशुओं की सुखपूर्वक वृद्धि हो।

तीन प्रमुख देवताओं अग्नि, इन्द्र और सूर्य के अतिरिक्त हम अनेक दूसरे देवताओं का भी वर्णन पाते हैं; इनमें प्रमुख हैं मरुत या वायु जो युद्ध में इन्द्र को निरन्तर साथ देने वाले मित्र हैं; और रुद्र जो उग्र वात पर शासन करने वाला भयंकर देवता है। सम्पूर्ण वैदिक देवमण्डल का विवेचन करना मुझे यहाँ अभीष्ट नहीं है; हमें केवल इस प्राचीन देव-मण्डल का आधार और उसकी रूपरेखा ही सामान्यतः प्रस्तुत करनी है।[१] प्रकृति की शक्तियों के अतिरिक्त हम विकास की अवस्थाओं के रूप में आध्यात्मिक विचारों एवं नैतिक अर्थों के भी प्रतीक पाते हैं, किन्तु प्रकृति की शक्तियों की पूजा की अपेक्षा इनकी पूजा पर-वर्ती काल की है।

मैं ऋक्संहिता की सुरक्षा के लिए बरती गई सावधानियों का अर्थात् उसकी प्रामाणिकता के प्रश्न का पहले ही विवेचन कर चुका हूँ, और इसी प्रकार इसकी व्याख्या में शेष वैदिक साहित्य द्वारा दिये जाने वाले योगदान का भी मैंने उल्लेख किया है। अनुवर्ती साहित्य की

---

[१]वैदिक पुराकथाशास्त्र के लिए म्यूर का 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स,' भाग ५ (१८७०) सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

ये व्याख्याएँ मुख्यतः निघण्टुओं और यास्क के निरुक्त[1] के रूप में सिमट कर आ जाती हैं। 'निघण्टु' पर देवराज यज्वन की टीका उपलब्ध है, जिनका समय लगभग पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी है। भूमिका में उन्होंने निघण्टुओं के अध्ययन का इतिहास विस्तार में दिया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क के समय से केवल एक भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने उनकी आद्योपान्त व्याख्या की है। यास्क के 'निरुक्त' पर एक टीका उपलब्ध है जिसका समय तेरहवीं शताब्दी है; यह टीका है दुर्ग की। अपरंच, निघण्टु और निरुक्त दोनों रचनाओं के दो विभिन्न पाठ हैं। इनमें परस्पर कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है और मुख्य भेद है क्रमयोजना का। किन्तु उनका अस्तित्व ही हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि ये रचनाएँ मूलतः लिखित रूप की अपेक्षा मौखिक रूप में ही संक्रमित होती थीं। ऋक्-संहिता पर एक भाष्य सुरक्षित है, जिसे सही माने में भाष्य कहा जा सकता है; यह भाष्य है सायणाचार्य का,[2] किन्तु इसका समय चौदहवीं शताब्दी है। "यास्क और सायण

---

[1]यह नाम शतपथ ब्रा० के अन्तिम काण्ड के वंशों और आत्रेयी शाखा के 'काण्डानुक्रम' में आया है; इसमें इन्हें पैङ्गि कहा गया है और वैशम्पायन का शिष्य तथा 'तित्तिरि' का गुरु बताया गया है। पाणि० २.४.६३ से यह निष्कर्ष निकलता है कि पाणिनि यास्क नाम से परिचित थे, कारण, इस सूत्र में उन्होंने यास्क गोत्र से 'यास्काः' बहुवचन का नियम दिया है। इस पर आश्वलायनश्रौतसूत्र के 'प्रवर' काण्ड की तुलना कीजिए। 'यास्क गैरिक्षिताः' का उल्लेख काठक में हुआ है, जिसका उद्धरण पाणिनि ने दिया है; देखिए इं० स्टू० ३.४७५ ऋक्-प्राति० और बृहद्देवता में यास्क का सीधा निर्देश किया गया है; देखिए इं० स्टू० ८.९८, २४५, २४६।

[2]वेद की सभी शाखाओं तथा अन्य महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत रचनाओं का भाष्य लिखने का श्रेय सायण और उनके भाई माधव को दिया गया है, इसका यह कारण दिखाई पड़ता है कि भारत में एक ऐसी प्रथा प्रचलित थी कि किसी यशस्वी व्यक्ति के आदेश से लिखे गये ग्रंथों पर लेखक रूप में उसी व्यक्ति का ही नाम रहता था। इसी प्रकार आधुनिक काल में पण्डित लोग उन लोगों के लिये ग्रन्थों की रचना करते हैं जो उन्हें धन देते हैं, और अपने परिश्रम का फल धनदाता को उसकी सम्पत्ति मानकर अर्पित कर देते हैं। माधव और संभवतः सायण भी विजयनगर के राजा बुक्क की सभा में मन्त्री थे और उन्होंने इस पद का लाभ उठाकर वेद के अध्ययन को नया जीवन दिया। उनकी जो रचनाएँ बताई गई हैं उनके वर्ण्यविषय एवं शैली के अन्तर से अनेक लेखकों द्वारा लिखित होने का संकेत मिलता है। [वंशब्राह्मण आमुख पृ० ८ (१८७३) में जैसा ए० सी० बर्नेल ने कहा है, दोनों ही नाम एक ही व्यक्ति के हैं। उनका कहना है कि सायण "माधव या विष्ण से अभिन्न आत्मा का भोगनाथ या नश्वर शरीर है।" आगे बर्नेल का विचार है कि माधव के नाम से जो उनतीस रचनाएँ हैं वे सभी स्वयं माधव की रचनाएँ हैं और उनमें किसी दूसरे

के बीच की अवधि[1] के ऋक-संहिता से संबद्ध निरुक्त साहित्य के स्वल्प अवशेष मिलते हैं या अभी ढूंढ़े जा सके हैं। शंकर और वेदान्तीय शाखा ने अपना ध्यान मुख्यतः उपनिषदों पर केन्द्रित किया। इन सबके बावजूद भी शंकर के शिष्य आनन्दतीर्थ ने कम से कम ऋग्वेद के एक अंश पर भाष्य लिखा जिसकी टीका जयतीर्थ ने की है। इसमें प्रथम अष्टक के दूसरे और तीसरे अध्याय आते हैं, और इसकी प्रति लन्दन के 'इण्डिया हाउस' में रखी हुई है।" स्वयं सायण ने निरुक्ति पर दुर्ग की टीका के अतिरिक्त वेद के भाष्यकारों के रूप में केवल भट्ट भास्कर मिश्र और भरतस्वामी के उद्धरण दिये हैं।[2] भट्ट भास्कर मिश्र ने

ने अधिक सहायता नहीं दी है; और इनकी रचना माधव ने प्रायः १३३१-१३८६ ई० के पचपन वर्षों के भीतर तीस वर्ष की अवधि में पूरा किया था, इन वर्षों में वे विद्यारण्य-स्वामिन् नाम से श्रृङ्गेरि में मठ के महन्त थे। इसके विपरीत, लिटरेरिशेस सेन्ट्राल्ब्लाट (१८७३) पृ० १४२१ में मेरे कथन देखिए। बर्नेल विजयनगर की अपेक्षा विद्यानगर नाम ठीक समझते हैं। कावेल ने कोलब्रुक-मिस० एसे० १.२३५ की टिप्पणी में विद्या० और विजय० दोनों को साथ-साथ दिया है।

[1]देखिए रोथ-त्सुर लिट० प० २२

[2]इनके साथ स्कन्दस्वामिन् (पृ० ३४) तथा कपर्दिन (आगे देखिए) का नाम भी जोड़ना चाहिए; और सायण से पहले की रचनाओं में हमें संभवतः आत्मानन्द, रावण और कौशिक की रचनाएँ माननी होंगी (अथवा कौशिक, भट्टकौशिक भास्कर मिश्र ही है? तुलना बर्नेल-केटलाग आफ वेदिक मैन्यूस्क्रिप्ट्स, पृ० १२); तथा 'गूढार्थरत्नमाला' बर्नेल वंश ब्रा० पृ० २६, म्यूल्लेर ऋक्संहिता के बृहत् संस्करण का आमुख भाग ६, पृ० ३७; रावण के भाष्य के कुछ अंशों का प्रकाशन फ़िट्ज-एडवर्ड हाल ने जर्नल एशि० सो० बेंगाल १८६२ पृ० १२९-१३४ में किया है।

सायण के भाष्य, शब्दों की अनुक्रमणिका तथा प्रतीकों की सूची के साथ म्यूल्लेर का संस्करण छः भागों में पूरा हो चुका है १८४९-१८७५। उन्होंने प्रथम मण्डल के संहिता और पदपाठ का पृथक् संस्करण निकाला है (लाइपत्सिग १८५६-५९) और इसी प्रकार सम्पूर्ण १० मण्डलों का दोनों पाठों में संस्करण प्रकाशित कराया है। (लन्दन १८७३)। मूल का प्रथम पूर्ण संस्करण आउफ्रेष्ट ने इण्डिश्श स्टूडिएन के भाग ६ और ७ में (१८६१-६३) निकाला था। मूल तथा भाष्य का रोइर का संस्करण जो बिब्लिओथेका इण्डिका भाग १-४ (कल० १८४९) में प्रकाशित हुआ है, दूसरे अध्याय के अन्त तक ही है। १८३३ में मूल के एक अंश का सम्पादन स्टीवेंसन ने किया था जो १.१-३५ तक ही है। विलसन के अनुवाद के पाँच भाग निकल चुके हैं, अन्तिम भाग १८६६ में निकला है; कावेल के सम्पादकत्व में यह मण्डल ८.२० तक पहुँचा है। बेनफी ने अपने 'ओरिएण्ट उण्ड ओक्सिडेण्ट' (१८६०-६८) में एक आलोचनात्मक अनुवाद प्रस्तुत किया है। मरुत

तैत्तिरीय यजुः संहिता पर भाष्य लिखा है, ऋक्-संहिता पर नहीं; और इसमें उन्होंने काशकृत्स्न, एकचूर्णि और यास्क को अपना पूर्ववर्ती बताया है। भरतस्वामी के विषय में हमें इससे अधिक जानकारी नहीं प्राप्त है कि उनके नाम का उल्लेख देवराज ने (निघण्टु की टीका में) किया है। देवराज ने आगे भट्ट भास्कर मिश्र, माधवदेव, भवस्वामी, गुहदेव, श्रीनिवास और उवट्ट का भी उल्लेख किया है। उवट्ट ने जिन्हें ऊअट भी कहा गया है, ऋक्-संहिता पर नहीं, किन्तु शुक्ल यजुःसंहिता पर भाष्य लिखा है, और 'ऋक्-प्रातिशाख्य' तथा शुक्ल यजुर्वेद के प्रातिशाख्यों की भी टीका लिखी है।

जहाँ तक योरोपीय अनुसन्धानों का प्रश्न है, ऋक्संहिता और अन्य वेदों का ज्ञान सर्वप्रथम हमें कोलब्रूक के उत्कृष्ट निबन्ध "आन द वेदाज" से प्राप्त हुआ, जो एशि० रिस०

के बारह सूक्तों का अनुवाद तथा विस्तृत व्याख्या मैक्सम्यूलेर के 'ऋग्वेदसंहिता ट्रांसलेटेड एण्ड एक्सप्लेण्ड' (लन्दन १८६९) के प्रथम भाग में निकला है। किन्तु ऋक् के अध्ययन के लिये जिस विद्वान् ने सर्वाधिक कार्य किया है वे हैं रोथ; उन्होंने यास्क के निरुक्त के संस्करण (गेटिंगेन १८४८-५२) में जो टीकाएँ दी हैं तथा सेंट पीटर्सबेर्ग संस्कृत डिक्शनरी (सात भागों में १८५३-७५) प्रकाशित की है जो सराहनीय कार्य है। हम इस स्थल पर निम्नलिखित रचनाओं का भी उल्लेख कर सकते हैं: 'ग्रासमन्न वेर्टरबूख त्सुम ऋग्वेद' (१८७३); डेलब्रिउक—'दस् अल्टिण्डिश्श फेर्बुम्' (१८७४); बेनफी: 'आइन लाइटुंग इन डी ग्रामाटिक डेर वेदिश्शेन स्प्राख' (१८४९) और 'डी क्वाण्टीटेट्स्फेर्शीडेन्हाइटेन इन डेन संहिता उण्ड पर टेक्टेन डेर वेदेन'; बोलेल्सेन: 'डी लीडेर डेस् पराशर त्सा० डा० मो० गे २२ (१८६८) में; 'जीबेन्त्सिक् लीडर डेस् ऋग्वेद, इउबेरजेत्स्ट फान कार्ल गेल्डनेर उण्ड एडोल्फ केगी, मिट् बाइट्रेगेन फान आर० रोथ' (टुबिंगेन १८७५) इसकी समीक्षा अबेल बेरगेन ने 'रिव्यू क्रिटिके' दिस० ११ और १८, १८७५ में किया है; अलफ्रेड लडुविग: डी नखरिष्टेन डेस् ऋग्-उण्ड अथर्ववेद इउबेर जिओग्राफी, गेशिश्ट उण्ड फेरफास्सुंग डेस् अल्टेन इण्डिएन्स (इसमें पृ० १३ पर वैदिक सरस्वती और सिन्धु Indus का जो तादात्म्य दिखाया गया है उसका सर्वप्रथम उल्लेख मैंने किया था; तुलना वाज० सं०, २.८० टि० १८४७) और 'डि फिलोजोफिश्शेन उण्ड रिलीगीओज़ेन अन्शाउंगेन देस वेद (प्राग १८७५); अल्फ्रेड हिलेब्राण्ट, 'इउबेर डी गेट्टिन अदिति' (ब्रेसलाउ १८७६); एच० त्सिम्मेर: पर्जन्य फिओग्यन वात वोदान इन त्साइटश्रिफ्ट फिउर दायशेस अल्टेर्थुम्, निउ सीरीज ७.१६४ आदि। अन्त में हमें म्यूर के 'ओरिजिन संस्कृत टेक्स्ट्स' (५ भाग, द्वितीय सं० लन्दन १८६८) की ओर ध्यान देना है जिसमें ऋग्वेद में आयी हुई भारतीय जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और पहलुओं से संबद्ध सूचनाएँ स्पष्टरूप में और बोधगम्य रूप से प्रस्तुत की गई हैं; तथा अनेक वैदिक अंशों के अनुवाद भी दिये गये हैं।

भाग ८ (कल० १८०५) में प्रकाशित हुआ था। इसके प्रथम पाठ के ज्ञान के लिए हम रोज़ेन (Rosen) के ऋणी हैं। यह ज्ञान हम उनके 'रिग्वेदाइ स्पेसिमेन'' (लन्दन १८३०) से और अंशत: प्रथम अष्टक के लैटिन अनुवाद युक्त संस्करण से प्राप्त हुआ, जो लेखक की अल्पायु में मृत्यु हो जाने के उपरान्त ही प्रकाशित हो पाया था (वही १८३८)। उस समय से ऋक्-संहिता के पाठ के कुछ लघु-अंश यत्र-तत्र हमें मूल या अनुवाद में प्राप्त होते रहे हैं, विशेषत: रोथ (Roth) के 'अबहण्डलुंगेन त्सुर लिटेराटुर उण्ड गेशिष्ट डेस् वेद (स्टटगार्ट १८४६) में, जिसके उद्धरण पहले कई बार दिये जा चुके हैं। सम्पूर्ण संहिता का सायण भाष्य के साथ संस्करण, जिसका सम्पादन डा० मैक्स म्यूल्लेर ने किया है, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यय पर प्रकाशित हो रहा है। प्रथम खण्ड १८४९ में निकला है। साथ ही साथ भाष्य के उद्धरणों सहित मूल पाठ का एक संस्करण भारत में भी प्रकाशित हो रहा है। डॉ० मैक्स म्यूल्लेर से ही हम उनके संस्करण की एक विस्तृत भूमिकाओं की भी आशा रखते हैं, जो विशेषत: सभ्यता के इतिहास में ऋग्वेद के सूक्तों के महत्व का विवेचन करेंगी। लैंगलोइस ने सम्पूर्ण संहिता का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया है (१८४८—१८५१); नि:सन्देह यह अनेक दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी है, यद्यपि इसका व्यवहार करते समय बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। विल्सन ने भी अंग्रेजी अनुवाद आरम्भ किया है जिसका प्रथम अष्टक ही अब तक प्रकाशित हुआ है।

अब हम ऋग्वेद के ब्राह्मणों पर आते हैं।

इनमें दो ब्राह्मण हैं: **ऐतरेय ब्राह्मण** और **शांखायन** (या कौषीतकि) ब्राह्मण। वे दोनों एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध[1] रखते हैं, एक ही मत का विवेचन करते हैं फिर भी एक ही विषय पर विपरीत विचार भी प्रस्तुत करते हैं। उनमें मुख्यत: अन्तर विषय के विभाजन में है। शांखायन-ब्राह्मण अच्छी प्रकार व्यवस्थित रचना है, और एक निश्चित योजना के अनुसार सम्पूर्ण यज्ञविधि का विवेचन करता है, किन्तु 'ऐतरेय ब्राह्मण' के साथ समान रूप में ऐसी स्थिति नहीं प्रतीत होती। 'ऐतरेय ब्राह्मण' एकमात्र सोमयज्ञ का वर्णन करता है। जबकि 'शांखायन ब्राह्मण' में उसे प्रमुख स्थान भर प्राप्त हुआ है। 'शांखायन ब्राह्मण' में हमें ऐसी कोई वस्तु नहीं मिलती जो ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों के अनुरूप हों। इस व्यवधान की पूर्ति केवल 'शांखायन सूत्र' द्वारा होती है, और इस कारण तथा आंतरिक प्रमाणों से यह माना जा सकता है कि ये विवादग्रस्त अध्याय 'ऐतरेय ब्राह्मण' में बाद को जोड़े गये थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के वर्तमान पाठ में ४० अध्याय हैं (जो आठ पञ्चिकों में बँटे हुए हैं); जबकि 'शांखायन ब्राह्मण' में ३० अध्याय हैं, और कदाचित् पाणिनि का सूत्र ५।१।६२ इसी पर लागू होता है, जिसमें यह बताया गया है कि यदि किसी ब्राह्मण में ३० या ४० अध्याय हों तो उसका

---

[1] **इस पर इं० स्टू० २.२८९ (तथा ९.३७७) देखिए।**

नाम किस प्रकार रखा जाय—यह विचार वाह्यतः भी इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि पाणिनि के समय में ये उसी रूप में विद्यमान थे। भौगोलिक या तत्सदृश तत्त्व जिनसे इनकी रचना के काल के संबंध में निष्कर्ष निकाला जा सकता था, शायद ही कहीं मिल पाते हैं। ऐसे अधिकांश भौगोलिक विवरण ऐतिहासिक कथनों के साथ-साथ 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अन्तिम अध्यायों में पाये जाते हैं (देखिए इं० स्टू० १।१९९) जिससे किसी भी स्थिति में यह विशेष रूप से निष्कर्ष निकलता है कि उनमें वर्णित प्रदेश कुरुपांचालों और वश-उशीनरों का प्रदेश है (देखिए ८-१४)। 'शांखायन ब्राह्मण' में नैमिष वन में एक महा-यज्ञ होने का उल्लेख है; किन्तु इसका तादात्म्य उस यज्ञ के साथ नहीं स्थापित किया जा सकता जिस यज्ञ में महाभारत के अनुसार इस महाकाव्य की कथा दूसरी बार कही गई थी। दूसरे अनुच्छेद में सभी देवताओं में एक ऐसे देवता को सर्वोपरि स्थान दिया गया है, जो आगे चलकर पूर्णरूप से शिव नाम से ख्यात होता है। अनेक अन्य उपाधियों के साथ उसे 'ईशान' और 'महादेव' उपाधियाँ दी गई हैं। और इससे यह निष्कर्ष निकालना संगत होगा कि यह देवता इस समय तक विशेष प्रकार की पूजा का पात्र बन चुका था। यदि यह अनुच्छेद क्षेपक न हो तो किसी भी स्थिति में हमारा यह निष्कर्ष उपयुक्त होगा कि काल की दृष्टि से शांखायन ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेद संहिता के अन्तिम अध्यायों की तथा इसके ब्राह्मणों और अथर्वसंहिता के उन अंशों की पंक्ति में आता है, जिनमें यह नाम समान रूप से उपलब्ध होता है। अन्ततः, जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, 'शांखायन ब्राह्मण' के एक तीसरे अनुच्छेद से यह अर्थ निकलता है कि भारत के उत्तरी भागों में भाषा के क्षेत्र में विशेष अनु-शीलन चल रहा था। लोग भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस प्रदेश का आश्रय लेते थे और वहाँ से लौटने पर इस विषय से संबद्ध प्रश्नों पर उन्हें प्रमाण माना जाता था।

दोनों ब्राह्मणों के पूर्व की कुछ छोटी-बड़ी साहित्यिक रचनाओं के अस्तित्व का संकेत मिलता है। 'आख्यानविदः' या परम्परा का ज्ञान रखने वालों का उल्लेख किया गया है और गाथाओं, अभियज्ञ गाथाओं, स्मरणीय श्लोकों का भी प्रायः उल्लेख किया गया है और उनके उद्धरण दिये गये हैं। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद तथा इनका सामूहिक अर्थ देने वाले पद 'त्रयी विद्या' अनेकशः आते हैं। 'शांखायन ब्राह्मण' में पैङ्ग्य और कौषी-तक को विशेष सम्मान दिया गया है; उनके विचारों को पग-पग पर उद्धृत किया गया है और कौषीतक के मतों को अन्तिम रूप से मान्य ठहराया गया है। प्रश्न यह उठता है कि इन वर्णनों से हमें क्या समझना चाहिए: ब्राह्मण वर्ग की रचनाएँ पहले ही से लिखित रूप में विद्यमान थीं या अब भी केवल उनका मौखिक संक्रमण होता था, या वे केवल विशिष्ट सिद्धांतों की वंशानुगत परम्पराएँ थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में कौषीतक और पैङ्ग्य का उल्लेख केवल एक अनुच्छेद में आया है, जो कदाचित् क्षेपक है और इस ग्रन्थ के उत्त-रार्द्ध में मिलता है। जो कुछ भी हो, इससे यह सिद्ध होता है कि शांखायनब्राह्मण ऐत-रेय ब्राह्मण की अपेक्षा परवर्ती काल की रचना है; यह बात पहले ही इसकी सुगठित क्रम-

योजना से संभव प्रतीत होती है; इसका कारण यह है कि शांखायनब्राह्मण पहले से दो विभिन्न नामों से प्रचलित दो प्रकार की विचारधाराओं को एक में ढालकर रचा गया है, जबकि 'ऐतरेय ब्राह्मण' एक अधिक स्वतन्त्र प्रयत्न के रूप में दिखाई पड़ता है। पैङ्ग्य शुक्ल-यजुर्वेद ब्राह्मण में एवं अन्यत्र उल्लिखित ऋषियों में एक ऋषि का नाम है, जिनके वंश में यास्क पैङ्गी[१] और संभवतः छन्दविषयक एक ग्रन्थ के रचयिता पिङ्गल भी उत्पन्न हुए थे। पाणिनि के टीकाकार ने संभवतः महाभाष्य का अनुकरण कर 'पैङ्गी कल्पः' को भी प्राचीन कल्पसूत्र में सम्मिलित किया है, जिससे हम आगे आश्वलायनसूत्र के मान्य ग्रन्थ के रूप में अवगत होंगे। इसके अतिरिक्त आरम्भिक रचनाओं के पैङ्गिनों का प्रायशः उल्लेख आया है। एक 'पैङ्गि ब्राह्मण' सायण के समय में भी विद्यमान रहा होगा, क्योंकि उन्होंने कई बार इसका उल्लेख किया है। जहाँ तक कौषीतक नाम का प्रश्न है स्थिति समान ही है। इस नाम का प्रयोग प्रत्यक्षतः ऐसे अधिकांश अंशों में किया गया है, जहाँ इसका उद्धरण स्वयं 'शांखायन ब्राह्मण' के लिये दिया गया है। इसका कारण यह है कि 'शांखायन ब्राह्मण' में कौषीतक के मतों को सर्वत्र मान्य ठहराया गया है; और इस ब्राह्मण में शांखायन ने उन्हीं सिद्धांतों को नये साँचे में ढाल दिया है जो कौषीतकियों के सिद्धांत थे। अपरंच, इसके भाष्य में, जो इस ग्रन्थ की व्याख्या एकमात्र 'कौषीतकि-ब्राह्मण' नाम से करता है, प्रायः एक 'महाकौषीतकिब्राह्मण' से उद्धरण दिये गये हैं, जिसमें हम इन्हीं विषयों का विवेचन करने वाले एक बृहत्तर ग्रन्थ के अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं— जो संभवतः उसी विषय का एक परवर्ती विवेचन था (?)। यह भाष्य कौषीतकि-ब्राह्मण का सम्बन्ध कौथम शाखा से जोड़ता है। इसके अतिरिक्त यह शाखा केवल साम-वेद से सम्बन्ध रखती है; यद्यपि यह सम्बन्ध अब तक स्पष्ट नहीं हो सका है। कई स्थलों पर 'शाङखायन ब्राह्मण' के स्थान पर 'शाङख्यायन-ब्राह्मण' नाम भी मिलता है, किन्तु पहला नाम अधिक उपयुक्त है। 'शाङख्यायन ब्राह्मण' नाम संभवतः सर्वप्रथम कृष्ण-यजुर्वेद के प्रातिशाख्य सूत्र में आया है।

ऋग्वेद के इन दोनों ब्राह्मणों में कथाओं एवं आख्यानों का जो बहुत बड़ी संख्या में उपयोग हुआ है, उससे वे विशेषतः रोचक बन जाते हैं। इनका उपयोग वस्तुतः अपने ही प्रयोजन के लिए नहीं हुआ है, अपितु कतिपय सूक्तों की उत्पत्ति स्पष्ट करने के लिए ही इन्हें दिया गया है; फिर भी ये कथाएँ इन ब्राह्मणों के महत्त्व को कम नहीं करतीं। इनमें शुनःशेप का आख्यान 'ऐतरेय ब्राह्मण' के उत्तरार्द्ध में मिलता है; इण्डिश्श स्टूडिएन १।४५८-४६४ में रोथ ने इसका अनुवाद किया है, और उसी ग्रन्थ के २।११२-१२३ में इसका विस्तृत विवेचन किया है। उनके अनुसार यह आख्यान एक अधिक प्राचीन छन्दो-

---

[१] **अतएव यास्क द्वारा ब्राह्मणों से दिये गये उद्धरण संभवतः पैङ्ग्य (?) के हैं [महाभाष्य में 'पैङ्ग्यकल्पः' पर इं० स्टू० १३।४५५ देखिए]**

बद्ध पाठ का अनुकरण है। इन आख्यानों में से अधिकांश के विषय में हमें सामान्य रूप में यह मानना होगा कि ब्राह्मणों में प्रवेश पाने के पहले ही उन्होंने परम्परा में स्वतःपूर्ण और स्वतन्त्र रूप प्राप्त कर लिया था। इसका प्रमाण प्रायः हमें इस बात से मिलता है कि आख्यानों की भाषा शेष ग्रन्थों की भाषा से अधिक प्राचीन रूप वाली है। आख्यान इस समय हमारे लिये दो दृष्टिकोणों से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं: एक तो इस कारण कि कम से कम कुछ सीमा तक उनमें प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः ऐतिहासिक तथ्य विद्यमान हैं। ये तथ्य प्रायः सरल और सीधी-सादी शैली में व्यक्त किये गये हैं, किन्तु कुछ स्थलों पर उन्हें प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसकी वस्तुस्थिति का बोध केवल आलोचनात्मक अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। दूसरा कारण यह है कि वे परवर्ती काल के उन आख्यानों को जोड़ने वाली श्रृंखला उपस्थित करते हैं, जिनकी उत्पत्ति अन्यथा प्रायः पूर्णरूपेण रहस्य-मय बनी रहती।

'ऐतरेय ब्राह्मण' पर सायण का भाष्य और 'कौषीतकि-ब्राह्मण' पर माधव के पुत्र विनायक का भाष्य मिलता है।[१]

इनमें से प्रत्येक ब्राह्मण के साथ एक **आरण्यक** भी जुड़ा हुआ है। आरण्यक ऐसे अंश हैं जिनका अध्ययन वनों में वे लोग और उनके शिष्यगण किया करते थे, जिन्हें मेगस्थ-नीज ने 'उलोविओइ' कहा है। यह अरण्य-जीवन स्पष्टतः ब्राह्मणीय चिन्तन के विकास की एक परवर्ती अवस्था है। विचार की गम्भीरता और रहस्यमय योग साधना में तल्ली-नता, जिसमें हिन्दुओं ने सर्वोच्च उन्नति प्राप्त की है, इसी विकास की अवस्था की देन है। इसके स्वरूप की पर्याप्त छाप उन रचनाओं पर स्पष्ट रूप से पड़ी है, जिन्हें सीधे 'आर-ण्यक' नाम दिया गया है। इनका अधिकांश केवल उपनिषद् है, जिनमें एक उदात्त और ओजपूर्ण चिन्तन प्रतिभा हठात् उभर आती है, चाहे उनमें काल्पनिकता की मात्रा कितनी भी क्यों न हो।

'ऐतरेय' **आरण्यक**[२] ब में पाँच खण्ड हैं, जिनमें प्रत्येक को आरण्यक कहा गया है।

---

[१]**ऐतरेय आरण्यक का सम्पादन मूल तथा अनुवाद के साथ मार्टिन हाग ने दो भागों में किया है; बम्बई १८६३, देखिए इं० स्टू० ९.१७७-३८० (१८६५): शुनः शेप के आख्यान (७.१३-१८) का विवेचन रोथ ने किया है; एम० म्यूल्लेर का एंशि० सं० लिट्० पृ० ५७३ आदि भी देखिए; इसके दूसरे भाग (८.५-२०) का जो राज्या-भिषेक के विषय में है, सेनबोर्न** (Schonborn) **ने सम्पादन किया है (बर्लीन १८६२)।**

[२]**'ऐतरेय आरण्यक' के सायणभाष्य युक्त राजेन्द्रलाल मित्र के संस्करण का प्रथम भाग अभी हस्तगत हुआ है (३० नवम्बर १८७५) देखिए 'बिब्लिओथेका इण्डिका', न्यू सीरीज सं० ३२५; इसमें मूलपाठ १.४.१ तक है।**

दूसरा और तीसरा आरण्यक[1] एक पृथक् उपनिषद् है; इसका भी उपविभाजन किया गया है। दूसरे आरण्यक के अन्तिम चार काण्डों को, जो विशेषतः वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं, 'ऐतरेयोपनिषद्'[2] 'कत एक्सोकीन' नाम दिया गया है। इन दो आरण्यकों के रचयिता महीदास ऐतरेय हैं; उन्हें विशाल और इतरा का पुत्र कहा गया है और इतरा से ही उनका नाम ऐतरेय पड़ा है। स्वयं इस ग्रन्थ में ही यह नाम अन्तिम मान्य प्रमाण के रूप में अनेक बार उद्धृत है। यह स्थिति अन्तिम रूप से इस आरण्यक में प्रतिपादित मतों का उनके साथ सम्बन्ध को वैध ठहराती है। हमें इस धारणा से दूर रहना चाहिए कि इस युग का आचार्य अपने विचारों को कभी लिखित रूप में व्यक्त करता था; शिष्यों को मौखिक उपदेश ही उसके अध्यापन की एकमात्र विधि थी; शिष्यों का ज्ञान परम्परया संक्रमित होता था। अन्ततः यह किसी न किसी रूप में निश्चित और व्यवस्थित हो जाता था; यद्यपि आचार्य का नाम सदैव उसके साथ जुड़ा रहता था। इस प्रकार ही हम इस तथ्य का कारण ढूँढ़ सकते हैं कि इन रचनाओं के लेखकों के नाम स्वयं इन रचनाओं में ही क्यों उल्लिखित हैं। इसके अतिरिक्त ऐतरेय के सिद्धान्त विशेष रूप से लोकप्रिय रहे होंगे, और उनके शिष्यों की संख्या भी विशेषतः बहुत अधिक रही होगी; क्योंकि हम उनका नाम ब्राह्मण और आरण्यक दोनों से ही संबद्ध पाते हैं। ब्राह्मण के साथ इनका नाम संबद्ध होने के विषय में संप्रति कोई कारण नहीं दिया जा सकता, जबकि 'ऐतरेय आरण्यक' के चौथे आरण्यक के विषय में हमें यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि यह शौनक के शिष्य आश्वलायन[3] की रचना है; प्रत्युत स्वयं ये शौनक, इस विषय पर कोलब्रूक (मिस० एसे० १-४७ टिप्पणी) के अनुसार, पाँचवें आरण्यक के रचयिता के रूप में प्रख्यात हुए। ब्राह्मणों में ऐतरेय का नाम कहीं नहीं मिलता; उनका सर्वप्रथम उल्लेख 'छान्दोग्योपनिषद' में किया गया है। ऐतरेयों की शाखा का सबसे प्राचीन निर्देश सामसूत्रों में आया है। तीसरे आरण्यक में मण्डूकों या माण्डूकेयों की शाखा का अनेक बार उल्लेख होने के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाय तो यह शाखा भी इस आरण्यक में प्रतिपादित विचारों के विकास में सक्रिय रही होगी। वस्तुतः आगे चलकर हम ऋग्वेद की पाँच शाखाओं में

---

[1]देखिए इं० स्टू० १.३८८ आदि।

[2]अन्य उपनिषदों के साथ इस ऐतरेयोपनिषद् का संपादन (शांकर भाष्य के साथ) तथा अनुवाद रोइर ने किया है, बिब्लि० इं० ७.१४३ आदि (कल० १८५०), १५.२८ आदि (१८५३)।

[3]मुझे 'आश्वलायन ब्राह्मण' का भी उद्धरण मिला है, किन्तु मैं इस विषय में कोई विस्तृत विवरण देने में असमर्थ हूँ। [ऐतरेय आर० की एक पाण्डुलिपि, इण्डिया आफिस लाइब्रेरी ९८६, में समूचे ग्रन्थ को अन्त में 'आश्वलायनोक्तम् आरण्यकम्' बताया गया है।]

एक शाखा के रूप में स्पष्टत: उनका वर्णन पाते हैं; तथापि एक नितान्त दुर्बोध उपनिषद् और व्याकरण-विषयक ग्रन्थ माण्डूकी-शिक्षा के अतिरिक्त उनके नाम से और कुछ नहीं मिलता। उपनिषद स्पष्टत: केवल अर्थवन् से संबद्ध है और पूर्णरूपेण एक कट्टर व्यवस्था का दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। माण्डूकी-शिक्षा का रचयिता माण्डूकेय को बताया जाता है, जिनका नाम यहाँ और ऋक्-प्रातिशाख्य में आया है।

जिस रूप में 'ऐतरेय-आरण्यक' हमें सम्प्रति उपलब्ध होता है,[1] उसकी विषयवस्तु रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष संकेत नहीं देती; केवल एक संकेत मिलता है जिस पर हम पहले ही ध्यान दे चुके हैं; वह यह कि दूसरे आरण्यक के दूसरे अध्याय में विद्यमान ऋक्-संहिता की क्रम-योजना का वर्णन किया गया है। पुन: इसमें जिन आचार्यों का व्यक्तिगत रूप से उल्लेख किया गया है उनकी संख्या भी बहुत बड़ी है; विशेषत: तीसरे आरण्यक में। इन आचार्यों में दो शाकल्य आचार्य भी हैं—एक कृष्णहारीत और दूसरे पञ्चालचण्ड—और इसे इसकी अधिक अर्वाचीन उत्पत्ति का एक अतिरिक्त प्रमाण माना जा सकता है; यह निष्कर्ष इसमें प्रतिपादित मतों की प्रवृत्ति और स्वभाव से पहले ही सम्मुख आ जाता है।[2]

विद्यमान रूप में **'कौषीतकारण्यक'** में तीन आरण्यक हैं, किन्तु इसमें सन्देह है कि यह आरण्यक पूर्ण है।[3] कुछ ही दिन पहले मैंने इसके प्रथम दो आरण्यकों पर प्रकाश डाला

---

[1]देखिए इ० स्टू० १.३८७-३९२. सम्प्रति समूचा पाठ मेरे पास है, किन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे कोई और विशेष विवरण नहीं देना है। इस विशिष्ट विद्या को गुप्त रखने पर बहुत बल दिया गया है और इस विद्या के ज्ञाताओं के गौरव का बखान किया गया है। इस ग्रंथ में जिन नामों का उल्लेख आया है उनमें आग्निवेश्यायन का नाम अपनी रचना के कारण महत्त्वपूर्ण है। वेद के तीन पाठों निर्भुज=संहितापाठ, प्रतृण्ण= पदपाठ और 'उभयम् अन्तरेण'=क्रम पाठ का विवेचन मा० म्यूल्लेर ने ऋक्-प्राति० १.२-४ की व्याख्या में किया है (देखिए वही नख्ड्रेग पृ० ११)।

[2]जिन स्थितियों पर यहाँ जोर दिया गया है उनका व्यवहार इसके विपरीत मत के समर्थन के लिये किया जा सकता है। वस्तुतः लाट्यायनसूत्र के इस प्रकार की स्थिति में हमने ऐसा ही प्रस्तुत किया है। यह दूसरा मत अब अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

[3]बिउलेर (Bühler) ने शांखायन-आरण्यक की जो पाण्डुलिपि (मैनु० ओर० फोल० ६३०) बर्लीन भेजी है उसमें पन्द्रह अध्याय हैं; प्रथम दो अध्याय ऐत० आर० १.५ से मिलते-जुलते हैं; अध्याय ३-६ कौषी० उप० से निर्मित हैं, अध्याय ७, ८ ऐत० आर० ३ से साम्य रखता है; अध्याय ९ में (शतपथ ब्रा० १४.९.२ के समान) अर्थों का वैषम्य प्रदर्शित किया गया है।

था।[1] ये दार्शनिक चिंतन की अपेक्षा याज्ञिक क्रियाओं का विवेचन करते हैं। तीसरे आरण्यक को ही 'कौषीतक्युपनिषद्'[2] कहा जाता है, जो बहुत रोचक और महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके प्रथम अध्याय में सुखी व्यक्तियों के लोक में जाने और उसमें प्रवेश करने के मार्ग का नितान्त महत्त्वपूर्ण विवरण किया गया है जिसका अर्थ अन्य जातियों के समान विचारों के सन्दर्भ में अब तक पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हुआ है, किन्तु आशा की जाती है कि इससे पर्याप्त ज्ञान उपलब्ध होगा। दूसरे अध्याय में अन्य विषयों के साथ-साथ धार्मिक क्रियाओं के वर्णन में उस समय के पारिवारिक सम्बन्धों की प्रेमपूर्णता और कोमलता का एक बहुत ही मोहक चित्र दिया गया है। तीसरा अध्याय महाकाव्यीय कथा के इतिहास और विकास की दृष्टि से अपरिमित महत्त्व का है; कारण, यह इन्द्र को प्रकृति की उन्हीं शक्तियों के साथ संघर्ष करता हुआ चित्रित करता है, जिन्हें महाकाव्य में दुष्ट दैत्यों के रूप में अर्जुन संहार करते हैं। अन्ततः, चौथे अध्याय में एक ऐसे आख्यान का दूसरा पाठ आया है, जो कुछ विभिन्न रूप में शुक्ल यजुर्वेद के आरण्यक में भी उपलब्ध होता है; वह आख्यान है काशी के राजा अजातशत्रु नामक क्षत्रिय द्वारा एक ऐसे ब्राह्मण को उपदेश जो स्वयं को बहुत बड़ा विद्वान् समझता था। मजे की बात तो यह है कि यह उपनिषद भौगोलिक विवरणों से भरा-पूरा है, जो इसकी उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार आरुणि को उपदेश देने वाले विद्वान् राजा चित्र गाङ्ग्यायनि का नाम, जो पहले अध्याय में आया है, स्पष्टतः गङ्गा को इङ्गित करता है। २।१० के अनुसार इसके रचयिता के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञात संसार हिमवत और विन्ध्य के बीच ही है और ४।१ में आई हुई पड़ोसी जातियों की सूची इसके साथ पूर्णतः संगति रखती है। अपरंच, यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद के बृहदारण्यक का ठीक समकालीन है, यह बात आरुणि, श्वेतकेतु, अजातशत्रु, गार्ग्य बालाकि के नामों के उल्लेख से और गार्ग्य बालाकि के विषय में आख्यानों की अभिन्नता से सिद्ध होती है। (देखिए इ० स्टू० १।३९२-४२०)

दोनों आरण्यक अर्थात् 'ऐतरेय-आरण्यक' के द्वितीय और तृतीय आरण्यकों और कौषीतकि आरण्यकों के तृतीय आरण्यक की टीका शंकराचार्य के भाष्य में मिलती है जो लगभग आठवीं शताब्दी[3] के आचार्य हैं और वेदान्त दर्शन में जिनका सर्वाधिक महत्त्व-

---

[1]देखिए बर्लीन सं० मैन्यु० की सूची पृ० १९ टि० ८२।

[2]देखिए इं० स्टू० १.३९२-४२० यह जान लेना चाहिए कि पोली के इस कथन का क्या आधार है कि "कौषीतकि-ब्राह्मण में नौ अध्याय हैं; इनमें, पहले सातवें, आठवें और नवें अध्याय से 'कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद्' बना है। मैंने इस प्रकार का कोई और विवरण अन्यत्र नहीं पाया है।. [देखिए कावेल की कौषी० उप० की भूमिका, पृ० ७, बिब्लि० इण्डिका]

[3]दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक शंकर के समय का अधिक निश्चित रूप में

पूर्ण स्थान था। उन्होंने न केवल सभी वैदिक ग्रंथों की अर्थात् सभी उपनिषदों की व्याख्या की, जिन पर उनका वेदान्त दर्शन आधृत है, अपितु उन्होंने स्वयं 'वेदान्त सूत्र' का भी भाष्य लिखा। इसके अतिरिक्त इन्होंने वेदान्त दर्शन को स्पष्ट करने एवं उसकी पुष्टि करने के विचार से अनेक छोटे ग्रन्थों की भी रचना की। यह सत्य है कि उनकी व्याख्याएँ प्राय: बलपूर्वक की गई हैं, क्योंकि उनको किसी तरह से वेदान्तदर्शन के अनकूल बनाना था, फिर भी वे हमारे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनके शिष्यों आनन्दज्ञान, आनन्द-गिरि, आनन्दतीर्थ और दूसरों ने उनके भाष्य के ऊपर अपनी-अपनी टीकाएँ लिखीं। इन भाष्यों और टीकाओं में से अधिकांश हमें उपलब्ध हैं। हाल ही में 'एशियाटिक सोसा-इटी' आफ बंगाल के सेक्रेटरी (मन्त्री) डॉ० रोइर ने उपनिषदों सहित उनका सम्पादन उस सोसाइटी से निकलने वाली पत्रिका 'बिब्लिओथेका इण्डिका' में किया है, जिसमें केवल मूल पाठों का प्रकाशन होता है। दुर्भाग्यवश, कौषीतकि उपनिषद् को इस संख्या के अन्तर्गत नहीं रखा गया है और न तो मैत्रायण्य्-उपनिषद् को ही रखा गया है, जिसके विषय में हम आगे विचार करेंगे। यह आशा की जा सकती है, हमें ये दोनों भी प्राप्त होंगे[1]; और तीसरे उपनिषद् वाष्कल-उपनिषद् की भी खोज करके इन ऋग्वेद के उपनिषदों की सूची में सम्मिलित किया जा सकेगा। संप्रति इसका ज्ञान हमें एंक्वेटिल डुपेरोन (Anquetel Duperron) के ओप्नेखात २।३६६-३७१ से होता है; अतएव प्रमुख उपनिषदों के फारसी अनुवाद के समय (१६५६), जिसका अनुवाद लैटिन में एंक्वेटिल ने किया है, उनके मूलपाठ विद्यमान रहे होंगे। वाष्कल-श्रुति का बहुश: उल्लेख सायण ने किया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि ऋक्संहिता का एक विशेष पाठ, जो नष्ट हो गया है, वाष्कल द्वारा रचित बताया जाता है। अतएव यह उपनिषद् साहित्य के एक विस्तृत क्षेत्र का एक दु:खदायी अवशेष है। यह एक आख्यान पर आश्रित है, जिसका अनेकश: उल्लेख ब्राह्मणों में हुआ है और जो तत्त्वत: और नामत: भी गनी मेडीज़ के ग्रीक आख्यान से मिलता-जुलता है। कण्व के पुत्र मेधातिथि को मेष का रूप धारण कर इन्द्र स्वर्ग ले जाते हैं; यात्रा के समय मेधातिथि इन्द्र का परिचय पूछते हैं। उत्तर में इन्द्र मुसकराते हुए अपने को विश्वेदेव बताते हैं। और अपना तादात्म्य विश्व से स्थापित करते हैं।

निर्धारण नहीं हो सका है। वे बौद्धों के कट्टर विरोधी के रूप में ख्यात हैं, अतएव उन्हें उनकी रचनाओं में शैव या शिव का अनुयायी कहा गया है; तथापि वे वासुदेव के भक्त भी प्रतीत होते हैं; कारण, वासुदेव को वे 'ब्रह्मन्' का वास्तविक प्रतिनिधि या अवतार मानते हैं।

[1]दोनों का प्रकाशन 'बिब्लिओथेका इण्डिका' में हुआ है और इसका अनुवाद कावेल (Cowell) ने किया है। कौषी० उप० (कल० १८६१) के साथ शंकरानन्द का भाष्य है और मैत्रि०-उप० पर रामतीर्थ का भाष्य है (१८६३-६९)।

इस अपहरण का कारण वे यह बताते हैं कि मेधातिथि की तपस्या से प्रसन्न होकर उन्होंने उन्हें सन्मार्ग में पहुँचाने का विचार किया था; अतएव मेधातिथि को कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। इस उपनिषद् के समय के विषय में इस समय इससे अधिक कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सामान्यत: इसकी शैली अधिक प्राचीनता की ओर निर्देश करती है।[1]

अब हम ऋग्वेदीय साहित्य की अन्तिम अवस्था अर्थात् सूत्रों पर आते हैं।

पहले हम श्रौतसूत्रों या याज्ञिककर्मों के पाठ्यग्रन्थों का विवेचन करेंगे। इनमें इस समय दो सूत्र उपलब्ध हैं: **आश्वलायन-श्रौतसूत्र** जो १२ अध्यायों में है और **शाङ्खायन श्रौतसूत्र** जो १८ अध्यायों में है। प्रथम अर्थात् आश्वलायन-श्रौतसूत्र का सम्बन्ध ऐतरेय ब्राह्मण से और दूसरे अर्थात् शाङ्खायन-श्रौतसूत्र का सम्बन्ध शाङ्खायन ब्राह्मण से है; इन दोनों सूत्रों में उपर्युक्त ब्राह्मणों से क्रमशः अनेक स्थानों पर उद्धरण लिये गये हैं। इस कारण से तथा विषय के सामान्य विवेचन पद्धति से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये सूत्र अपेक्षतया अधिक परवर्ती समय के हैं। इस तथ्य की पुष्टि के लिये प्रत्यक्ष प्रमाणों का भी अभाव नहीं है। इस प्रकार, आश्वलायन नाम को संभवत: अश्वल से निकला हुआ मान सकते हैं, जिसका उल्लेख हम शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण में विदेह के राजा जनक के होतर् के नाम के रूप में पाते हैं (देखिए इं० स्टू० १।४४१)। पुन: 'आयन' प्रत्यय[2] जोड़कर इस शब्द की रचना संभवत: हमें व्यवस्थित शाखाओं ('अयन') के काल में पहुँचाती है। जो कुछ भी हो, इस प्रकार से बने हुए नाम कभी-कभार ही ब्राह्मणों में आते हैं, और वह भी केवल परवर्ती अंशों में; अतएव सामान्यत: वे सदैव बाद के समय का संकेत देते हैं। हम आश्वलायन-सूत्र में वर्णित विषय में पाये जाने वाले तथ्य द्वारा भी इसकी पुष्टि पाते हैं। उसमें जिन आचार्यों के उद्धरण दिये गये हैं उनमें एक अश्मरथ्य भी हैं। इनके कल्प (सिद्धान्त) को पाणिनि ४।३।१०५ के व्याख्याकार ने संभवत: 'महाभाष्य' के आधार पर उन नये कल्पों के अन्तर्गत माना है, जिनका इस नियम में उल्लेख किया गया है; और प्राचीन कल्पों से विपर्यास दिखाया गया है। तब यदि, आश्वलायन द्वारा उद्धृत आचार्यों को बहुत बाद के समय का माना जाय तो स्वयं आश्वलायन भी और

---

[1]इस विषय पर मेरा विशेष लेख देखिए इं० स्टू० ९।३८-४२; मूल पाठ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

[2]जैसा कि निम्नलिखित नामों के विषय में:—आग्निवेश्यायन, आलम्बायन, ऐतिशायन, औदुम्बरायण, काण्डमायन, कात्यायन, खाडायन, द्राह्यायण, प्लाक्षायण, बादरायण, माण्डूकायन, राणायन, लाट्यायन, लाबुकायन (?) लामकायन, वार्ष्यायणि, शाकटायन, शाङ्खायन, शाट्यायन, शाण्डिल्यायन, शालंकायन, शैत्यायन, शौल्वायन, इत्यादि।

भी बहुत बाद के समय के रहे होंगे। अतएव इस तथ्य को महाभाष्य[१] से उद्धृत मानकर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आश्वलायन प्रायः पाणिनि के समकालीन थे। आश्वलायन ने जिस दूसरे आचार्य तौल्वलि का उद्धरण दिया है, उनका स्पष्टतः उल्लेख पाणिनि ने (२।४।६१) किया है और उन्हें प्राज्यों "पूर्व में निवास करने वालों में' बताया है। अन्त में विविध ब्राह्मण-वंशों और उनके भृगु, अङ्गिरस, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वसिष्ठ और अगस्त्य आदि गोत्रों में विभाजन की रोचक परिगणना है।—सरस्वती के तट पर किये गये यज्ञों का वर्णन मैं आगे करूँगा। यहाँ उन पर केवल संक्षेप में विचार किया जायगा और उसमें भी कुछ नामों में कतिपय परिवर्तन कर दिया गया है, जिन्हें परवर्ती काल का विकृत रूप माना जा सकता है। हम यह भी देख चुके हैं कि आश्वलायन 'ऐतरेय आरण्यक' के चौथे आरण्यक के रचयिता और शौनक के शिष्य थे। शौनक के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने अपने सूत्र को आश्वलायन-सूत्र की रचना होने पर नष्ट कर दिया।

शाङ्खायन के सूत्र का स्वरूप सामान्यतः कुछ अधिक प्राचीन है; विशेषतः पन्द्रहवें और सोलहवें अध्यायों में जिनमें यह एक ब्राह्मण के रूप में दिखाई पड़ता है। सत्रहवें और अठारहवें अध्याय बाद में जोड़े गये हैं और उन्हें स्वतन्त्र स्थान दिया गया है। इन दो अध्यायों पर टीका की गई है। वे कौषीतकि-आरण्यक के प्रथम दो आरण्यकों से साम्य रखते हैं।

चूँकि इनका मुझे केवल अस्पष्ट ज्ञान है अतएव सम्प्रति मैं इस स्थिति में नहीं हूँ कि इन दो सूत्रों के[२] वर्ण्यविषय और पारस्परिक संबंध के विषय में अधिक विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर सकूँ। मेरा अनुमान यह है कि उनके अन्तर स्थानीय कारणों से भी हो सकते हैं, और आश्वलायन के सूत्र तथा ऐतरेय ब्राह्मण दोनों हिन्दुस्तान के पूर्वी भाग की रचनाएँ रहे होंगे। इसके विपरीत शाङ्खायन-सूत्र शाङ्खायन-ब्राह्मण के समान पश्चिमी भारत से संबंध रखता है।[३] दोनों में यज्ञ क्रियाओं का क्रम बहुत कुछ एक ही है, यद्यपि राजाओं के बड़े यज्ञों यथा वाजपेय (जीविका निर्वाह के साधनों की समृद्धि के लिए किया गया यज्ञ),

---

[१]महाभाष्य में इस नाम का उल्लेख नहीं है, देखिए इं० स्टू० १३।४५५।

[२]इस बीच आश्वलायन-सूत्र का प्रकाशन हो चुका है, बिब्लि० इण्डि० (कल० १८६४-७४) इसके साथ नारायण गार्ग्य का भाष्य है और रामनारायण एवं आनन्दचन्द्र ने इसका सम्पादन किया है। इसकी 'शाङ्खायनसूत्र' के साथ विशिष्ट तुलना अभी नहीं की जा सकी है। बिउह्लेर—केटलाग आफ़ मैन्युस्क्रिप्ट्स फ्राम गुजरात १.१५४ (१८७१) ने आश्वलायन श्रौ० सू० पर देवत्रात का भाष्य उद्धृत किया है, इसी प्रकार विद्यारण्य का एक आंशिक भाष्य है।

[३]संभवतः नैमिष वन को (?) देखिए नीचे पृ० ५१

राजसूय (राजा का अभिषेक), अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध का शाङ्खायन-ब्राह्मण अधिक सूक्ष्म विवेचन करता है।

आश्वलायन पर मैंने श्रीपति के पौत्र और कृष्णजित् के पुत्र नारायण[1] की टीका का उल्लेख पाया है। उन्हीं के नाम के एक आचार्य ने ब्रह्मदत्त का अनुकरण करते हुए 'शाङ्खायन-सूत्र' पर एक पद्धति रची, किन्तु ये नारायण पशुपतिशर्मन् के पुत्र थे। वे कब हुए थे यह अनिश्चित है, किन्तु संभवतः उन्हें सोलहवीं शताब्दी का मान सकते हैं। उन्हीं के कथनों के अनुसार वे मलय देश के निवासी थे। अपरंच, शाङ्खायन-सूत्र पर वरदत्तसुत अनर्त्तीय का भाष्य भी है। इसके तीन अध्याय नष्ट हो गये थे, जिन्हें दासशर्मन् मुञ्ज-सूनु ने फिर से लिखे हैं; ये अध्याय हैं: नवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ।[2] अन्तिम दो अध्यायों १७ और १८ पर गोविन्द की टीका है। इन टीकाओं के पहले अन्य टीकाओं की भी रचना हुई थी जो नष्ट हो गई; यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट है और आनर्तीय ने इसका स्पष्ट उल्लेख भी किया है।

इसी प्रकार, ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों में भी हमें केवल दो गृह्यसूत्र मिलते हैं; वे हैं आश्वलायन का (चार अध्यायों में) और शाङ्खायन का (छः अध्यायों में) गृह्यसूत्र। निःसन्देह शौनक के गृह्यसूत्र का भी बार-बार उल्लेख हुआ है किन्तु अब यह नष्ट प्रतीत होता है।

सूक्ष्म विचारों की दृष्टि से उनमें परस्पर चाहे कितना भी अन्तर क्यों न हो दोनों रचनाओं का विषय अनिवार्यतः एक सा ही है, विशेषतया विषय का क्रम और विभाजन एक समान है। जैसा कि मैंने पहले कहा है, वे मुख्यतः वैवाहिक एवं पारिवारिक जीवन की विविध अवस्थाओं में जन्म के पूर्व और उपरान्त विवाह, मृत्यु और मृत्यु के बाद के अवसरों पर की जाने वाली क्रियाओं का विवेचन करते हैं। इनके अतिरिक्त, नितान्त

---

[1] यह भ्रम है। उपर्युल्लिखित नारायण ने शाङ्खायनगृह्य पर भाष्य लिखा था, किन्तु आश्वलायन-श्रौतसूत्र के भाष्यकार नारायण अपनी भूमिका में स्वयं को नरसिंह का पुत्र बताते हैं; इसी प्रकार उत्तर नैषधीय के टीकाकार नारायण ने भी अपने पिता का नाम नरसिंह ही बताया है; परम्परा के अनुसार (रोइर, आमुख, पृ० ८, १८५५) ये नारायण पाँच सौ वर्ष पहले हुए थे। क्या इन दोनों को एक ही व्यक्ति मानना चाहिए? देखिए इण्ड० स्ट्रा० २,२९८ (१८६९)।

[2] चतुर्थ अध्याय के खण्ड ३-५ का प्रकाशन डोन्नेर (Donner) ने अपने 'पिण्ड-पितृयज्ञ' (बर्लीन १८७०) में किया है; तथा शुनः शेप के आख्यान से संबद्ध अंशों (१५। १७-२७) का प्रकाशन स्ट्राइटेर (Streiter) ने किया है (१८६१); इसमें ऐत० ब्रा० के समरूप अंशों के साथ जो पाठभेद मिलते हैं उन्हें मा० म्यूल्लेर ने पहले ही प्रदर्शित किया है ए० सं० लि० पृ० ५७३ आदि।

विरोधी स्वभाव के व्यवहारों और रीति-रिवाजों का चित्रण किया गया है, और विशेषत: विभिन्न अवसरों पर कहे जाने वाले वचनों और मन्त्रों में काफी प्राचीनता की झलक मिलती है; प्राय: वे हमें उस युग में पहुँचा देते हैं, जब ब्राह्मण धर्म का विकास नहीं हुआ था" (देखिए, स्टेन्जलेर का मत इं० स्टू० २-१५९ में)। इनमें मुख्यत: लोकप्रिय अन्ध-विश्वासपूर्ण विचारधाराएं हैं। इस प्रकार हमें नक्षत्रपूजा, नाक्षत्रविद्या, नाक्षत्रिक उत्पात, भूतविद्या और विशेषत: प्रकृति की भयंकर शक्तियों की आराधना तथा उनके दुष्प्रभाव के अपसारण आदि की ओर संकेत मिलता है। विशेषत: पितृतर्पण या पितरों की पूजा के संबंध में हम इन रचनाओं की अर्वाचीन उत्पत्ति का निर्णयात्मक प्रमाण पाते हैं, क्योंकि इनमें पितरों का व्यक्तिगत रूप में नामत: उल्लेख किया गया है। यह प्रथा, जो यद्यपि स्वयं बहुत प्राचीन रही होगी (कारण, हम फारसियों के येष्ट और नेरेगन में इससे पूर्ण साम्य रखने वाली प्रथा पाते हैं) फिर भी इस विशिष्ट प्रयोग की दृष्टि से बहुत बाद के समय की है, जैसा कि स्वयं नामों से ही स्पष्ट है। न केवल ऋक्-संहिता के ऋषियों का विद्यमान क्रम में वर्णन किया गया है, अपितु उन सभी नामों का उसी प्रकार उल्लेख किया गया है, जिन्हें हम विभिन्न शाखाओं की रचना में तथा इसके ब्राह्मणों और सूत्रों के साथ संबंध में विशेषत: महत्वपूर्ण पाते हैं। जैसे—वाष्कल, शाकल्य, माण्डूकेय, ऐतरेय, पैङ्ग्य, कौषीतक, शौनक, आश्वलायन और शाङ्खायन आदि। इनके साथ हम ऐसे नाम भी संबद्ध पाते हैं जिनसे हम अन्यथा परिचित नहीं हैं। तीन विदुषी स्त्रियों के भी नाम आये हैं, जिनमें एक गार्गी वाचक्नवी शुक्लयजुर्वेद के वृहदारण्यक में अनेकश: जनक की सभा में विद्यमान बताई गई हैं। दूसरी के विषय में हम कुछ नहीं जानते;[1] किन्तु तीसरी विदुषी महिला सुलभा मैत्रेयी का नाम महाभारत के आख्यानों[2] में इसी जनक से संबद्ध है, और 'सौलभानि ब्राह्मणानि' को भी इङ्गित करता है जिसका उद्धरण पाणिनि ४।३।१०५ के व्याख्याकार ने संभवत: महाभाष्य के आधार पर[3] इस नियम के अन्तर्गत आने वाले आधुनिक ब्राह्मणों के उदाहरण स्वरूप दिये हैं। ऋकसंहिता के ऋषियों के तत्काल उपरान्त हम ऐसे दूसरे नामों और रचनाओं का उल्लेख पाते हैं जो वैदिक साहित्य के किसी दूसरे भाग में अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। शांख्यायन-गृह्य में इस प्रकार की

---

[1] उसका नाम वडवा प्रातिथेयी है; प्रतीथि नाम के एकआचार्य का उल्लेख सामवेद के 'वंश-ब्राह्मण' में हुआ है।

[2] [तुलना—३।३।३२ पर वेदसूत्र भा० में शंकर का कथन; राम नारायण संपादित संस्करण पृ० ९१५] बुद्ध के चाचा का नाम बौद्ध लोग सुलभ बतलाते हैं; देखिए शीफ़नेर: 'लेबेन डेस् शाक्यमुनि' पृ० ६।

[3] इस पर इं० स्टू० १३।४२९ देखिए। वे पाणिनि ४.२.६८ में दूसरी बार उद्धृत किये गये हैं और कैयट ने 'सुलभेन प्रोक्तानि' कहकर उनकी व्याख्या की है।

तीन रचनाएँ हैं: सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाषा [गार्ग्य-बभ्रु]—और आश्वलायन गृह्य में ये हैं: सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भारत-महाभारतधर्माचार्याः।[1] दूसरा अंश अधिक आधुनिक है और यद्यपि हमें ऐसा नहीं समझना चाहिए कि महाभारत के वर्तमान रूप का यहाँ निर्देश किया गया है, फिर भी इस अंश में स्पष्ट रूप से आए हुए "वैशम्पायनो महाभारताचार्यः" वाक्य से किसी भी दशा में एक ऐसी रचना का बोध होता है, जो इसी आख्यान का वर्णन करती थी और इस कारण हमारे विद्यमान पाठ का आधार रही होगी। इस अनुच्छेद से यह भी पता लगता है कि उसी विषय को जैमिनि ने दूसरी बार हाथ लगाया है जिनकी रचना का वर्तमान जैमिनि-भारत से केवल दूर का संबन्ध रहा होगा। आगे के वर्णनों से इस तथ्य की पुष्टि हो जायगी कि महाकाव्य का उद्भव और वैदिक साहित्य का विभिन्न शाखाओं में सुव्यवस्थित विकास एक ही काल की घटनाएँ हैं। सुमन्तु के सूत्र और पैल के धर्म के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं है। केवल बहुत अर्वाचीन काल में ही, पुराणों में एवं धर्मग्रन्थों में ही मैंने सुमन्तु के नाम से एक रचना पाई है जो एक स्मृतिशास्त्र है। पैल को जिनका नाम पाणिनि ४।१।११८-से प्रकट होता है ऋग्वेद का द्रष्टा होने का श्रेय दिया जाता है—इस स्थिति से कम से कम यह अनुमान तर्कसंगत ठहरता है कि उन्होंने ऋग्वेद के शाखा-विकास की पूर्णता में एक निश्चित योगदान दिया। आश्वलायन सूत्र के उपर्युक्त सूत्र की नितान्त भिन्न व्याख्या भी संभव है और मेरे विचार से ऐसा करना श्रेयस्कर भी होगा। इन चारों व्यक्तिगत नामों का हम चारों रचनाओं से संबन्ध-विच्छेद कर सकते हैं और दोनों वर्गों को स्वतन्त्र मान सकते हैं।[2] क्योंकि उन्हें स्पष्टतः शाङ्खायन गृह्यसूत्र में मानना पड़ेगा।[3] यदि

---

[1]ऊपर 'सूत्र' और 'भारत' के बीच 'भाष्य' शब्द जोड़ लेना चाहिए। यद्यपि लिखते समय जिस पाण्डुलिपि का मैंने आश्रय लिया था उसमें यह शब्द नहीं है किन्तु अन्य पाण्डुलिपियों में है।

[2]इस पाठ के संशोधन के बाद यह अर्थ आवश्यक हो जाता है (देखिए पहले की टिप्पणी), इसके अनुसार इस ग्रन्थ के चार नहीं अपितु पाँच नाम विचारणीय हैं।

[3]'भाष्य' शब्द से दूसरे में [आश्व० गृह्य० में टिप्पणी ४७ से तुलना कीजिए] क्या अर्थ है, यह शुक्ल यजुस् के प्रातिशाख्य से ज्ञात होता है, जिसमें (१.१.१९.२०) 'वेदेषु' और 'भाष्येषु' का परस्पर विरोध प्रदर्शित करते हुए प्रयोग किया गया है; इसी प्रकार कृष्णयजुस् के प्रातिशाख्य (२.१२) में 'छन्दस्' और 'भाषा' का और यास्क में 'अन्वध्याय' और भाषा का प्रयोग पाते हैं। अतएव इससे हमें 'भाषा में रचित' रचनाओं का अर्थ लेना चाहिए, हालाँकि अभी उल्लिखित रचनाओं की अपेक्षा इस शब्द का अर्थ अधिक विकसित है और यह उस अर्थ के निकट जा पहुँचता है, जिस अर्थ में पाणिनि ने इसका प्रयोग किया है। मैं आगे पुनः इस विषय पर विचार करूँगा।

ऐसा किया जाय, तो इस अनुच्छेद के साथ जो बात संबद्ध दिखाई पड़ती है वह है उसकी वह शैली जिसके अनुसार पुराण विविध वेदों के ज्ञान का विभाजन करते हैं; कारण, वे अथर्ववेद को सुमन्तु का, सामवेद को जैमिनि का, यजुर्वेद को वैशम्पायन का और ऋग्वेद को पैल का बताते हैं। किन्तु किसी भी स्थिति में हमें रोथ के साथ, जिन्होंने सर्वप्रथम आश्वलायन सूत्र के उपर्युक्त अनुच्छेद का निर्देश किया (वही० पृ० २७) यह मानना होगा कि यह अनुच्छेद और शाङ्खायन गृह्यसूत्र का अनुच्छेद परवर्तीकाल के क्षेपकों से प्रभावित है;[१] अन्यथा इन दोनों गृह्यसूत्रों का समय बहुत नीचे चला आयगा। कारण, यद्यपि आश्वलायन गृह्य और शाङ्खायन गृह्य के इन दोनों अनुच्छेदों की शैली से—जिनमें सूक्ष्म विचारों की असंगतियाँ पाई जाती हैं—यह पर्याप्त स्पष्ट है कि वे अपने पूर्व ऋग्वेदीय साहित्य के पर्यवसान हो जाने का संकेत करते हैं, फिर भी दोनों रचनाओं का सामान्य दष्टिकोण उनकी अपेक्षतया प्राचीनकालीन उत्पत्ति को प्रदर्शित करता है। शाङ्ख के स्मृतिशास्त्र और शाङ्खायन के गृह्यसूत्र में कोई संबंध है या नहीं, यह प्रश्न अब भी विचारणीय बना हुआ है।

दोनों गृह्यसूत्रों पर उन्हीं नारायण का भाष्य है, जिन्होंने आश्वलायन श्रौतसूत्र पर टीका लिखी है।[२] ये संभवतः पन्द्रहवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं।[३] श्रौतसूत्रों के समान

---

[१] हम 'सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैलाद्या आचार्याः' का उद्धरण दूसरी बार शांखायन गृ० के अन्तिम भाग (६.६) में पाते हैं। जो संभवतः बाद की रचना है; और इसमें उपर्युक्त चार व्यक्तियों के नाम से वेदों के एक प्रकार के विभाजन का निर्देश किया गया है, जो विष्णुपुराण ३.४.८, ९ में आता है। दोनों स्थलों पर अथर्वन् के प्रतिनिधि का नाम पहले और ऋक् के प्रतिनिधि का नाम अन्त में आया है; ऋक् से संबद्ध ग्रन्थ में इसके पाये जाने से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि यह बाद का क्षेपक है। महाभाष्य में भी इसी प्रकार अथर्ववेद को प्रथम स्थान दिया गया है, तुलना इं० स्टू० १३.४३१.

[२] यह ग़लत है। देखिए टिप्पणी ४३, सभी तीनों नारायणों को पृथक्-पृथक् समझना चाहिए। आश्व० श्रौ० सू० के भाष्यकार अपने को गार्ग्य और नरसिंह का पुत्र बताते हैं; आश्वला० गृह्य के भाष्यकार स्वयं को नैध्रुव और दिवाकर का पुत्र बताते हैं; शांखा० गृह्य के भाष्यकार कृष्णजित् के पुत्र और श्रीपति के पौत्र हैं (ये नारायण १५३८ ई० में हुए थे, देखिए बर्लीन मैन्युस्क्रिप्ट्स का केटलाग, पृ० ३५४ स : १२८२)। आश्वला० गृह्य का संपादन अनुवाद के साथ स्टेंजलेर ने किया है (इण्डिश्श हाउजरेगेल्ज, १८६४-६५); नारायण के भाष्य के साथ मूल का संपादन रामनारायण और आनन्दचन्द्र ने बिब्लि० इण्डिका० (१८६६-६९) में किया है। विवाह संस्कार से संबद्ध अंशों का संस्करण हास ने इण्डि० स्टू० ५.२८३ आदि में निकाला है; अन्त्येष्टि कर्म से संबद्ध अंशों को म्यूल्लेर ने त्सा० डा० मो० गे० ९ में प्रकाशित किया है।

[३] 'प्रश्नोपनिषद्' तथा 'मुण्डकोपनिषद्' के शांकर भाष्य पर दो टीकाओं का भी

हों गृह्यसूत्रों से जुड़ी हुई अनेक पद्धतियाँ हैं, उनमें कुछ तो अधिक बड़ी रचनाओं का संक्षेप-मात्र है। इनमें शाङखायन-गृह्यसूत्र पर रामचन्द्र की पद्धति है। रामचन्द्र पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में नैमिष वन में निवास करते थे। मेरा ऐसा विचार है कि यह नैमिषवन स्वयं इस सूत्र का जन्मस्थान था। संभवतः इसी कारण से ही इसके साथ संबद्ध परंपराएँ इस प्रदेश में इतनी भलीभाँति सुरक्षित बनी रही हैं।

ऋक्-संहिता का विद्यमान **प्रातिशाख्य-सूत्र** शौनक का बताया जाता है, जिनका उल्लेख पहले कई बार किया जा चुका है। शौनक आश्वलायन के गुरु थे। यह विस्तृत रचना छन्दों में है, तीन काण्डों में विभक्त है, जिसमें प्रत्येक में छः पटल हैं, और कुल मिलाकर इसमें १०३ कण्डिकाएँ हैं। इसके विषय में सर्वप्रथम सूचना रोथ ने दी थी (वही पृ० ५३ आदि)। परम्परा के अनुसार यह पूर्वोल्लिखित आश्वलायन के सूत्रों से अधिक प्राचीन है, जो केवल शौनक के शिष्यों द्वारा लिखे जाने का संकेत देता है; किन्तु इसकी रचना शौनक ने की थी या यह केवल उनकी शाखा की रचना मात्र है, यह प्रश्न अभी बिना हल के छोड़ना होगा। इनमें जिन नामों का उद्धरण दिया गया है वे अंशतः उन नामों से अभिन्न हैं जो यास्क के 'निरुक्ति' और पाणिनि के सूत्र में उपलब्ध होते हैं। स्वयं इस ग्रन्थ के वर्ण्य विषयों का भी[1] सविस्तर अभी कम ज्ञान प्राप्त हुआ है। विशेष रुचि के वे अनुच्छेद हैं जो सामान्यतः शब्दों के शुद्ध और अशुद्ध उच्चारण का विचार करते हैं। इस पर ऊअट की सुन्दर व्याख्या है, जिसकी भूमिका में विष्णुमित्र के भाष्य का परिष्कार करने का उद्देश्य व्यक्त किया गया है। 'उपलेख' को प्रातिशाख्य सूत्र का सारांश माना जा सकता है,

---

यही नाम है, अतएव इन टीकाओं के रचयिता संभवतः नारायण ही रहे होंगे। अभी पृ० ५० की टिप्पणी २ में जो कुछ कहा गया है उसके अनुसार यह प्रत्यक्षतः सन्देहास्पद लगता है, क्योंकि अनेक दूसरे लेखकों का भी यही नाम है। किन्तु इस विशिष्ट स्थल पर इस अभिन्नता के विरोध में निश्चित प्रमाण दिये जा सकते हैं। इं० स्टू० १.४७० के अनुसार, प्रश्नोप० के टीकाकार को नारायणेन्द्र कहा गया है; और उसी के १.४३९ की टिप्पणी के अनुसार उन्हें नारायण सरस्वती कहा गया है; आऊफ्रेष्ट की 'केटलाग आफ दि आक्सफोर्ड मैन्युस्क्रिप्ट्स' पृ० ३६६ (१८५९-६४) में रायणेन्द्र सरस्वती कहा गया है (?)। इसके विपरीत मुण्डकोप० के टीकाकार को इं० स्टू० १.४७० के अनुसार नारायण भट्ट बताया गया है और वे संभवतः बिब्लि० इं० १८७२ में प्रकाशित लघु अथर्वोपनिषदों की 'दीपिका' के रचयिता भी हैं जिन्हें (वही, पृ० ३८३) भट्ट नारायण नाम का भट्ट रत्नाकर का पुत्र बताया गया है।]

[1]इस अत्यधिक महत्वपूर्ण रचना के हमें इस समय दो संस्करण मूल तथा अनुवाद एवं टिप्पणियों सहित मिलते हैं; एक तो एड० रेग्नीर का (पेरिस १८५७-५८) और दूसरा मैक्स म्यूल्लेर का (लाइपत्सिग १८५६-६९) : देखिए इं० स्टा० २.९४ आदि, १२७ आदि १५९ आदि, लिट० सेण्ट्रालब्लाट्ट १८७०, पृ० ५३०।

और कुछ सीमा तक इसका (विशेषतः १०-११ पटलों का) परिशिष्ट कहा जा सकता है। यह एक छोटा ग्रन्थ है, जिसकी गणना परिशिष्टों के वर्ग में हुई है। इस पर कई बार टीकाएँ लिखी गई हैं।[1]

कुछ अन्य लघुग्रन्थों का भी अभी विवेचन करना है: यद्यपि इन रचनाओं का बहुत उच्चकोटि का नाम 'वेदाङ्ग' रखा गया है, फिर भी जैसा कि ऊपर कहा गया है, उन्हें ऋग्वेदीय साहित्य का परवर्ती परिशिष्ट ही समझना चाहिए; ये हैं शिक्षा, छन्दस् और ज्योतिष। ये तीनों ऋग्वेद और यजुर्वेद से संबद्ध होने के कारण दो दो संस्करणों में उपलब्ध होते हैं। दोनों पाठों में छन्दस् एक समान है और हम इसमें सूत्रों में पाये जाने वाले पिङ्गल के छन्दः सूत्र देखते हैं।[2] अन्य दोनों रचनाओं के समान यह बहुत अर्वाचीन काल का है। उदाहरण के लिये इसका प्रमाण हमें इस तथ्य में मिलता है कि भारतीयों में विशेष रूप से पायी जाने वाली शैली के अनुसार यह अंकों को शब्दों द्वारा[3] और पदों को अक्षरों द्वारा व्यक्त करता है तथा अत्यन्त विकसित छन्दों का वर्णन करता है जो केवल आधुनिक काव्य में ही उपलब्ध होते हैं।[4] वैदिक छन्दों का वर्णन करने वाले अंश अधिक

---

[1]इसका संपादन डब्ल्यू० पेर्टश्श ने किया है (बर्लीन १८५४); इसमें क्रमपाठ का विवेचन किया गया है जो पदपाठ का विस्तृत रूप है और साथ ही साथ संहितापाठ को भी प्रस्तुत करता है; इससे प्रत्येक शब्द दो बार आता है, पहले पूर्ववर्ती शब्द के साथ संयुक्त होकर और तब बाद वाले शब्द के साथ संयुक्त होकर (क ख, ख ग, ग घ . . .)। वेद के पाठ की इससे भी अधिक जटिल विधियाँ हैं, उनके लिए थिबाउट (Thibaut) का 'जटा पाठ' का संस्करण देखिए (१८७०) पृ० ३६ इत्यादि। जटापाठ में विधि इस प्रकार होती है: क ख ख क क ख, खग गख ख ग और इस प्रकार की पाण्डुलिपियाँ भी मिलती हैं, उदाहरण के लिए वाज० सं० की। इसके आगे 'घनपाठ' होता है; तुलना—भण्डारकर 'इण्डियन एण्टिक्वेरी', ३.१३३; हाग: इउबेर दस् वेज़ेन डेस् वेदिश्शेन एक्सेण्ट्स, पृ० ५८; इसकी विधि होती है: कख खक कखग गखक कखग खग गख खग गखघ घगख खगघ।

[2]इं० स्टू० ८ (१८६३) में इसका संपादन और विवेचन मैंने किया है; हलायुध की टीका के साथ इसका संपादन विश्वनाथ शास्त्री ने बिब्लि० इण्डिका (१८७१-७४) में किया है।

[3]वोपके (Woepcke) के 'मेम्वायर सुर ला प्रोपगेशन डेस् शिफ्रेस् इण्डिएन्स', पृ० १०२ आदि (१८६३) में अलबीरूनीका विवरण देखिए। बर्नेल, एलि० आफ० साउथ इं० पेलि० पृ० ५८।

[4]इसके विपरीत, इस ग्रन्थ में छन्दों की भी शिक्षा दी गई है; ये छन्द आधुनिक साहित्य में शायद ही कहीं प्रयुक्त हुए हैं; अतएव ये प्रयोग बाह्य समझे जाने चाहिए। अतएव, ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके बावजूद भी, हमें इस रचना का समय

प्राचीन हो सकते हैं। जिन आचार्यों का उद्धरण दिया गया है उनके नाम अपेक्षतया अधिक प्राचीन हैं। ये हैं:—क्रष्टुकि, ताण्डिन्, यास्क, सैतव, रात और माण्डव्य। सर्वाधिक अन्तर रखने वाले यह पाठ क्रमशः शिक्षा और ज्योतिष के हैं। इनमें प्रथम रचना का दोनों ही पाठों में संबंध सीध पाणिनि से बताया गया है; दूसरे का संबंध 'लगध' या 'लगत' से जोड़ा गया है। इसके अतिरिक्त 'लगध' या 'लगत' नाम भारतीय साहित्य में नहीं मिलता।[1] पाणिनीय शिक्षा के अतिरिक्त एक दूसरी शिक्षा भी है, जिसका नाम है माण्डूकीय शिक्षा, जो इस कारण ऋग्वेद का और भी अधिक प्रत्यक्ष रूप में अनुगमन करती है और किसी भी स्थिति में पाणिनीय शिक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। ध्वनि-संबंधी गवेषणाओं के लिए "शिक्षा" नाम के प्रयोग की प्राचीनता के प्रमाणस्वरूप हम इस स्थिति का हवाला दे सकते हैं कि तैत्ति० आर० ७।१ में हम इस प्रकार आरम्भ होने वाले वाक्य पाते हैं: "हम अब शिक्षा की व्याख्या करेंगे;" इसके उपरान्त इसमें ऐसी मौखिक व्याख्याओं के शीर्षक दिये गये हैं, जिन्हें हम उसके साथ संबद्ध मान सकते हैं (इं० स्टू० २।२११) और यदि इन शीर्षकों के आधार पर निर्णय दिया जाय तो शिक्षा के अन्तर्गत अक्षर, स्वर, मात्रा, उच्चारण, सन्धिनियम आदि उन सभी विषयों का विवेचन हुआ रहा होगा। ये सभी विषय इन दोनों विद्यमान शिक्षाओं में विवेचित हैं।[2]

वैदिक सूत्र साहित्य के अवसान का या ज्योतिष एवं बीजगणितीय साहित्यों के आरम्भ का समय मानना चाहिए; देखिए इं० स्टू० ८.१७३, १७८।

[1]राइनाउ (Reinaud) ने अपने 'मेम्वायर सुर ल'इण्ड, पृ० ३३१, ३३२ पर अल्बीरूनी से एक लात का उद्धरण दिया है, जो प्राचीन 'सूर्यसिद्धान्त' के रचयिता के रूप में ख्यात थे। कहीं से लगध या लगत ही न रहे हों? कोलेब्रुक एसे० २.४०९ के अनुसार ब्रह्मगुप्त ने एक लाढाचार्य का उद्धरण दिया है, इस नाम का संबध हो लगध से जोड़ा जा सकता है। आर्यभट्ट के भाष्यकार सूर्यदेव ने ज्योतिष के लेखक का नाम लागडाचार्य दिया है; देखिए केर्न, आर्यभट्टीय का आमुख, पृ० ९, १८७४। ज्योतिष के पाठ का एक संस्करण सोमाकार के भाष्य एवं व्याख्यात्मक टिप्पणियों के साथ मैंने १८६२ में 'इउबेर डेन् वेदकालेण्डर नामेन्स ज्योतिषम्' में प्रकाशित किया है।

[2]पाणिनीयशिक्षा का मूल और अनुवाद इं० स्टू० ४।३४५-३७१ (१८५८) में हुआ है; इस नाम की अनेक रचनाओं के लिए देखिए: राजेन्द्रलाल मित्र 'नोटिसेज आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' १.७१ (१८७०); बर्नेल केटलाग आफ वेदिक मैन्युस्क्रिप्ट्स, पृ० ८, ४२ (१८७०); 'प्रतिज्ञासूत्र' पर मेरा लेख (१८७२), पृ० ७०-७४; विशेषतः माण्डूकीशिक्षा पर पृ० १०६-११२; हॉग उइबेर दस् वेजेन डेस् वेदिश्शेन एक्सेण्ट्स, पृ० ५३ (१८७३) 'नारदशिक्षा' पर वही, पृ० ५७; और अन्त में कीलेहोर्न इं० स्टू० १४.१६०।

'अनुक्रमणी' नाम की रचनाओं में, जिनमें प्रत्येक सूक्त के छन्द, देवता और रचयिता का उनके उचित क्रम में वर्णन किया गया है, ऋक्संहिता की अनेक अनुक्रमणियाँ मिलती हैं। इनके अन्तर्गत शौनक की **'अनुवाकानुक्रमणी'** और कात्यायन की **'सर्वानुक्रमणी'** आती हैं।[1] दोनों पर षड्गुरुशिष्य का सुन्दर भाष्य है। षड्गुरुशिष्य का समय और वास्तविक नाम अज्ञात है।[2] उन छः गुरुओं के नाम, जिनके नाम से उनकी 'षड्गुरुशिष्य' उपाधि पड़ी, स्वयं उन्होंने ही गिनाये हैं; वे हैं: विनायक, त्रिशूलांक, गोविन्द, सूर्य, व्यास और शिवयोगिन्; षड्गुरुशिष्य इनके नामों का सम्बन्ध तत्तत् नाम के देवताओं से जोड़ते हैं। इस वर्ग की दूसरी रचना बृहद्देवता को पहले शौनक रचित बताया जा चुका है। यह रचना बहुत महत्वपूर्ण है, कारण इसमें कथाओं और आख्यानों का अच्छा भण्डार भरा है। इस विषय पर कून (Kuhn) के वर्णनों (इ० स्टू० १।१०१-१०२) से ऐसा प्रतीत होता है कि यह रचना बहुत बाद के समय की है; कारण, यह मुख्य रूप से यास्क के निरुक्त का अनुसरण करती हैं और इस कारण शौनक की शाखा से उत्पन्न होने से उनसे सम्बद्ध हैं। इसमें यास्क द्वारा उद्धृत आचार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया गया है, यथा—भागुरि और आश्वलायन; और साथ ही यह ऐतरेयक, भाल्लविब्राह्मण और 'निदानसूत्र' के प्रायः उद्धरण देकर इन ग्रन्थों की पूर्वस्थिति का संकेत करता है। चूँकि इसका रचयिता संहिता में आए हुए सूक्तों के क्रम का कठोरता के साथ पालन करता है, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने जिस पाठ का उपयोग किया है उसमें शाकल शाखा के उस पाठ से बहुत अल्प अन्तर था जो इस समय उपलब्ध है। वस्तुतः यत्रतत्र उन्होंने वाष्कल के पाठ का उल्लेख किया है; इस कारण उन्होंने इस पाठ का भी आश्रय लिया होगा। अन्ततः 'ऋग्विधान' नामक ग्रन्थों का भी उल्लेख यहाँ कर देना चाहिए। यद्यपि इनमें कुछ के साथ शौनक का नाम जुड़ा हुआ है तथापि ये सम्भवतः पुराणों के समय की रचनाएँ हैं। वे ऋग्वेद के सूक्त या उसके मन्त्रों के पाठ की रहस्यमय एवं चमत्कारपूर्ण प्रभावोत्पादकता का वर्णन करते हैं। इसी प्रकार बहुत से समान रूप वाले परिशिष्ट भी हैं, जिनके विविध नाम हैं; यथा: वह्वृच-परिशिष्ट, शांखायन-परि०, आश्वलायन-गृह्य-परिशिष्ट इत्यादि।

---

[1] म्यूल्लेर ने अपने ऋक् के बृहत् संस्करण के छठे भाग में संक्षेप में प्रकाशित किया है, पृ० ६२१-६७१।

[2] उनके ग्रन्थ की रचना बारहवीं शताब्दी के अन्त में प्रायः ११८७ ई० में हुई थी; तुलना इ० स्टू० ८.१६० टिप्पणी (१८६३)।

सामवेद : ३

अब मैं 'सामवेद' पर आता हूँ।[1]

'सामवेद-संहिता' ऋक्-संहिता से उद्धृत की गई एक रचना है। इसमें ऋग्वेद के उन मन्त्रों का समावेश है, जिनका गान सोमयज्ञ के समय अभिप्रेत था। इसका विन्यास ऋक्-संहिता के क्रम के अनुसार हुआ है, किन्तु यजुर्वेद की दो संहिताओं के समान इस संहिता में भी हम किसी अविच्छिन्न सम्बन्ध की आशा नहीं कर सकते। वस्तुतः प्रत्येक मन्त्र को स्वतन्त्र माना जाना चाहिए; उसका वास्तविक अर्थ उसी समय निकलता है, जब हम उसे उस विशिष्ट क्रिया के सन्दर्भ में लेते हैं, जिससे उसका सम्बन्ध है। कम से कम साम-संहिता के प्रथम भाग में तो ऐसी ही स्थिति है। यह छः प्रपाठकों में विभक्त है; प्रत्येक प्रपाठक में १० दशत हैं,[2] जो प्रत्येक दस मन्त्रों का है। इस प्रकार का विभाजन 'शपतथ-ब्राह्मण' के उत्तरार्द्ध के समय में था और इसमें पृथक् मन्त्रों को उनमें प्रार्थित देवताओं के अनुसार विभाजित किया गया है। प्रथम बारह दशतों में अग्नि का आह्वान है, और अन्तिम ग्यारह दशतों में सोम का आह्वान है; बीच के छत्तीस दशत अधिकांशतः इन्द्र देवता के प्रति हैं। इसके विपरीत, सामसंहिता का दूसरा भाग नौ प्रपाठकों में विभक्त है; प्रत्येक प्रपाठक दो या कभी-कभी तीन खण्डों में विभक्त है। इस भाग में नियमतः अनेक मन्त्र और प्रायः तीन मन्त्र एक साथ परस्पर सम्बद्ध रूप में आते हैं और इस प्रकार वे स्वतन्त्र वर्गों का आकार ग्रहण कर लेते हैं; ऐसे मन्त्रों के वर्ग में से प्रथम मन्त्र पहले ही प्रथम भाग में आ चुके हैं। इसके विभाजन का सिद्धान्त अब भी बोधगम्य नहीं।[3] संहिता में ये मन्त्र ऋचा के रूप में रखे गये हैं, यद्यपि उनके स्वर साम-स्वर हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त चार 'गान' या गीतों के ग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनमें ये ऋचाएँ साम-रूप में आई हैं। इसका कारण यह था कि गान के समय अक्षरों के प्लुत कर दिये जाने, उनकी आवृत्ति, अतिरिक्त अक्षरों के अन्तर्निवेश से,

---

[1]देखिए इं० स्टू० १.२८-६६।

[2]अन्तिम को छोड़कर, जिसमें केवल ९ दशत हैं।

[3]संहिता के प्रथम भाग को आर्चिक, छन्दस्, छन्दसिका नामों द्वारा अभिहित किया गया है; दूसरे भाग को 'उत्तरार्चिक' या 'उत्तरा' कहा गया है; दूसरे भाग का 'स्तौभिक' नाम, जिसके मेरे उदाहरण स्वरूप प्रयोग करने से म्यूल्लेर को भी (हिस्ट्री आफ एंशि० सं० लि०, पृ० ४७३ टि०) भ्रम हो गया है, गलत है, देखिए मोनाटसबेरिष्ट डेर बर्लिन एके० १८६८, पृ० २३८। दुर्ग के अनुसार सामसंहिता के पदपाठ के रचयिता गार्ग्य थे; देखिए रोथ की व्याख्या, पृ० ३९ (इस वंश के विषय में इ० स्टू० १३.४११ देखिए)।

जो गान के समय विराम का अवसर प्रदान करते थे, तथा इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं से ऋचाओं के रूप में पर्याप्त परिवर्तन हो गया था; और इस प्रकार उन्होंने 'सामन्' का रूप ग्रहण कर लिया। इन गान-ग्रन्थों में 'ग्रामगेय-गान' (जिसे गलती से 'वेयगान' कहा गया है), जो सत्रह प्रपाठकों में है और 'आरण्यगान', जो छः प्रपाठकों में है, दोनों ही संहिता के प्रथम भाग में पाये जाने वाले ऋचाओं के क्रम का अनुसरण करते हैं। 'ग्रामगेयगान' की रचना ग्रामों में या वस्ती वाले स्थानों में गाये जाने के लिए की गई है और 'आरण्यगान' की रचना वन में गाये जाने के लिए हुई है। उनका क्रम एक अपेक्षतया अधिक प्राचीन अनुक्रमणी में निश्चित किया गया है। इस अनुक्रमणी को ब्राह्मण का भी नाम दिया गया है : 'ऋषि ब्राह्मण'। अन्य दो गान—'ऊह गान' जो तेईस प्रपाठकों में है, और 'ऊह्यगान' जो छः प्रपाठकों में है, संहिता के दूसरे भाग में आई हुई ऋचाओं के क्रम का अनुसरण करते हैं। उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अधिक सूक्ष्म गवेषणा अपेक्षित है। इस प्रकार ऋचा से बने हुए ऐसे प्रत्येक सामन का एक पारिभाषिक नाम है, जो बहुत सम्भव है कि इस साम रूप के प्रथम निर्माता ने ही रखे हैं; और ये नाम प्रायः दूसरे विचारों से उधार लिए गये हैं, तथा इन्हें पाण्डुलिपियों में अनेक स्थलों पर स्वयं पाठ के पूर्व ही रखा गया है। चूँकि प्रत्येक ऋचा का असंख्य विधि से गान किया जा सकता है, और प्रत्येक विधि में इसे भिन्न नाम भी दिया जा सकता है, अतएव सामों की संख्या भी वस्तुतः अपरिमित है और निःसन्देह संहिता में आई हुई ऋचाओं की संख्या से बहुत अधिक है। इस संहिता में ऋचाओं की संख्या १५४९ है,[1] जिसमें अठहत्तर ऋचाओं को छोड़ कर सभी ऋक्-संहिता में उपलब्ध होती हैं। इनमें से अधिकांश ऋचाएँ ऋक्-संहिता के आठवें और नवें मण्डलों से ली गई हैं।

ऋक्-संहिता के पाठों की तुलना में साम-संहिता के पाठों की प्राचीनता के विषय में मैं पहले ही कह आया हूँ। इससे यह प्रायः निश्चित रूप से निष्कर्ष निकलता है कि साम-

---

[1]बेनफी (आइनलाइटुंग, पृ० १९) ने गलती से यह संख्या १४७२ बताई है; इसी की नकल मैंने इं० स्टू० १.२९, ३० में की है। ह्विटनी ने उपर्युक्त संख्या अपने एक लेख में रखी है; इस लेख को संभवतः इण्डिश स्टूडिएन में स्थान मिलेगा। सामसंहिता के ऋचाओं की कुल संख्या १८१० है (प्रथम भाग में ५८५ और द्वितीय भाग में १२२५) इनमें २६१ केवल आवृत्तियाँ हैं जिन्हें घटाया जा सकता है, इनमें भी २४९ प्रथम भाग में आई हैं और उनकी आवृत्ति द्वितीय भाग में होती हैं; इनमें तीन ऋचाओं की दो बार आवृत्ति हुई है; नौ ऋचाएँ जो द्वितीय भाग में ही आती हैं, दो बार आई हैं। [इस विषय पर 'टेबलारिश्श दर स्टेल्लुंग डेर गेगेन त्साइटिगेन फरहेल्टनिस्स डेर संहितास् डस ऋक्, सामन् वाइस्सेन यजुस् उण्ड अथर्वन्' के अन्त में ह्विटनी की विस्तृत सूची देखिए; इं० स्टू० २.३२१; ३६३ (१८५३)]।

संहिता के अन्तर्गत आने वाली ऋचाएँ ऋक्-संहिता के गीतों से बहुत प्राचीन काल में उस समय ली गई थीं जब उन गीतों ने अभी ऋक्-संहिता का रूप धारण नहीं किया था; अतएव इस व्यवधान-काल में जन सामान्य में मौखिक सङ्क्रमण की दृष्टि से ऋक्-संहिता के ऋचाओं के साथ घाटा लगा, परन्तु सामरूप में परिवर्तित एवं यज्ञों में व्यवहृत होने के कारण जो ऋचाएँ सुरक्षित थीं उनके साथ ऐसी कोई बात न हो सकी। यह बात भी पहले कही जा चुकी है कि साम-संहिता में ऋक्-संहिता के उन सूक्तों का कोई मन्त्र नहीं पाया जाता है जिन्हें नितान्त अर्वाचीन मानना चाहिए। इस प्रकार कम से कम साधारण पाठ में तो 'पुरुष-सूक्त' से कोई 'सामन्' नहीं लिया गया है, क्योंकि नैगेयों की शाखा ने वस्तुतः इस पुरुष-सूक्त के प्रथम पाँच मन्त्रों को प्रथम भाग के सातवें प्रपाठक में जोड़ लिया था—यह प्रपाठक इस शाखा में अन्य शाखाओं से बिल्कुल भिन्न है। चूँकि साम-संहिता पूर्णतः उद्धृत रचना है, अतः इसके समय-निर्धारण का कोई आधार नहीं मिल पाता। इसके दो पाठ उप-लब्ध हैं, जो समग्र रूप में एक दूसरे से बहुत अल्प अन्तर रखते हैं। इनमें से एक राणायनीय शाखा का है और दूसरा कौथुम शाखा का। नेग या नैगेय शाखा, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, कौथुम शाखा का ही एक विभाग है। इस नैगेय शाखा की दो अनुक्रमणियाँ मिलती हैं, इनमें से एक अनेक मन्त्रों के देवताओं की अनुक्रमणी है और दूसरी ऋषियों की।[1] इन तीनों नामों में से कोई भी नाम अब तक वैदिक साहित्य में नहीं ढूँढ़ा जा सका है; केवल स्वयं सामवेद के सूत्रों में ही कम से कम पहले और दूसरे नामों का उल्लेख मिलता है, परन्तु इस स्थल पर भी नेग का नाम नहीं आया है। राणायणीय पाठ का सम्पादन और अनुवाद सायण के भाष्य का कठोरता के साथ पालन करते हुए धर्मप्रचारक स्टीवेन्सन ने १८४२ ई० में किया; १८४८ ई० से हमें एक दूसरा संस्करण भी मिला है, जिसमें एक पूरी टीका के साथ पर्याप्त अतिरिक्त सामग्री और अनुवाद भी है; इसके सम्पादक हैं गेटिंगेन के प्रोफ़ेसर बेनफी।[2]

---

[1]सातवाँ प्रपाठक जो इसमें विशेष रूप में पाया जाता है इस बीच प्रकाश में आ चुका है। इनका नाम है 'आरण्यकसंहिता' और इसका सम्पादन सीगफ्रीड गोल्डस्मिट ने 'मोना-ट्स्बेरिष्ट डेर बेर्लिन अकाड०,' १८६८, पृ० २२८-२४८ में किया है। सम्पादक ने यह संकेत किया है कि आरण्यगान नैगेय पाठ के आर्चिक पर आधृत है (वही, पृ० २३८) और शायद इसके उत्तरार्चिक की पाण्डुलिपि भी सुरक्षित है (पृ० २४१)। भरत स्वामी के 'सामवेदविवरण' की एक लन्दन पाण्डुलिपि विशेषतः आरण्यकसंहिता का निर्देश करती है; देखिए बर्नेल : केटलाग आफ वेदिक मैन्युस्क्रिप्ट्स (१८७०), पृ० ३९ आरण्यकगान और ग्रामगेयगान का जैमिनि शाखा का भी एक पाठ मिलता है, (वही पृ० ४९) राजेन्द्रलाल मित्र (छान्दोग्यो० के अनुवाद का आमुख, पृ० ४) के अनुसार 'कौथुम (शाखा) गुजरात में प्रचलित है, जैमिनीय कर्णाटक में और राणायणीय महाराष्ट्र में।'

[2]हाल ही में आर्चिक के प्रथम दो अध्यायों 'आग्नेयम्' और 'ऐन्द्रम् पर्व' का (जो

यद्यपि स्वरूप से ही सामवेद संहिता में इसकी उत्पत्तिकाल पर प्रकाश डालने वाले तथ्यों का अभाव है, फिर भी इसके शेष साहित्य में इनकी भरमार है; और उनमें सर्व-तथ्यों ब्राह्मण आते हैं।

सामवेद के ब्राह्मणों में प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण **ताण्ड्य ब्राह्मण** है, जिसे पच्चीस काण्डों में होने से **'पञ्चविंश'** भी कहते हैं। यह सत्य है कि इसका वर्ण्यविषय नितान्त शुष्क और अनुपयोगी स्वभाव का है; क्योंकि रहस्यमय व्यर्थ कल्पना में यह प्रायः सभी सीमाओं का अतिक्रमण करता है। वस्तुतः, सामान्यरूप में सामवेद के अनुयायियों ने ही इस दिशा में विषयों को बहुत दूर तक पहुँचाया। इन सब बातों के होते हुए भी विस्तार में बहुत बड़ा होने से इस ब्राह्मण में अत्यधिक रोचक आख्यानों और सामान्य सूचनाओं का भाण्डार है। यह एक मात्र सोमयज्ञों के अनुष्ठान और उसके साथ गाये जाने वाले उन मन्त्रों का निर्देश करता है, जिन्हें इसमें पारिभाषिक नामों द्वारा उद्धृत किया गया है। इन यज्ञों का सम्पादन अनेक विधियों से हुआ करता था; एक दिन या अनेक दिन या अन्ततः बारह दिनों से अधिक[१] होने के अनुसार इन यज्ञों का एक विशेष प्रकार का वर्गीकरण है। बारह दिनों से अधिक के यज्ञों को, जिन्हें सत्र कहा जाता था, केवल ब्राह्मण ही कर सकते थे और वे भी बड़ी संख्या में मिलकर करते थे; ऐसे यज्ञ १०० दिनों तक या कई वर्षों तक चलते रहते थे। इस प्रकार की जाने वाली क्रियाओं की विविधता के फल-स्वरूप प्रत्येक का अपना एक नाम है जो उस क्रिया के प्रयोजन या उसे पहली बार प्रवर्त्तित करने वाले ऋषि या किसी दूसरे विचार के आधार पर रखा गया है। इसमें संहिता के क्रम का कहाँ तक निर्वाह किया गया है इसका अभी तक अन्वेषण नहीं हुआ है; किन्तु किसी भी दशा में ऐसा मानना ग़लत होगा कि ब्राह्मणों में गिनाई गई सभी याज्ञिक

१.५.२.३.१० तक है) का एक नया और उत्तम संस्करण सत्यव्रत सामाश्रमिन् ने बिब्लि० इं० (१८७१-७४) में प्रकाशित किया है। इसमें गेयगान के समान अंश (प्रपाठक १-१२) भी हैं। सायण का सम्पूर्ण भाष्य है और अन्य विवरण भी हैं। 'सामन्' के पर्वों में विभाजन का प्रथम उल्लेख पारस्कर २.१० में मिलता है (अध्यायादीन् प्रब्रूयाद ऋषिमुखानि-बह्वृचानाम् पर्वाणि छन्दोगानाम्)। सामवेद पर एक रावण भाष्य भी मालाबार में विद्यमान बताया जाता है। देखिए रोस्ट इं० स्टू० ९।१७६।

[१]प्रत्येक सोम यज्ञ के लिए अनेक (कम से कम चार) आरम्भिक दिन होते हैं; इनकी गणना यहाँ नहीं की गई है। उपर्युक्त विभाजन केवल उन दिनों की ओर संकेत करता है जिन दिनों में सोम रस का सेवन होता है अर्थात् सुत्या के दिन। जिस सोम यज्ञ में केवल एक दिन सुत्या का होता है उसे 'एकाह' कहते हैं, दो से बारह सुत्या दिनों के सोम यज्ञ को 'अहीन' कहते हैं। एक वर्ष तक या उससे भी अधिक समय तक चलने वाले सत्र को अयन कहते हैं। सुत्या कर्म की सात संस्थाएँ होती हैं, इं० स्टू० १०.३५२-३५५।

क्रियाओं के लिये संहिता में उपर्युक्त प्रार्थनाएँ भी हैं। इसके विपरीत, संहिता में केवल वे ही मन्त्र हैं जिनका पाठ सामान्य रूप से सोमयज्ञों में हुआ करता था; और ब्राह्मणों को उसका ऐसा परिशिष्ट मानना चाहिए, जिनमें पृथक् यज्ञों एवं बाद में प्रचलित हुए यज्ञों के लिए भी मन्त्रों के परिष्कृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। जैसा हमने पहले देखा है, एक ओर जब गान के लिए एक साथ रखे गये ऋग्वेद के मन्त्रों के समूह को 'शस्त्र' कहा गया है, तो दूसरी ओर विभिन्न सामों के उसी प्रकार के चयन को प्रायः 'उक्थ' (वच् बोलना), 'स्तोम' (स्तु प्रार्थना करना) या 'पृष्ठ' (प्रच्छ माँगना) नाम से अभिहित किया गया है; और शस्त्रों के समान इनके भी पृथक् नाम हैं।[१]

'ताण्ड्य-ब्राह्मण' के रचना-काल की दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं सरस्वती और दृषद्वती के तट के यज्ञों के नितान्त सूक्ष्म विस्तारों से युक्त वर्णन और व्रात्यस्तोमों या उन यज्ञों के वर्णन, जिनके द्वारा आर्य जाति के होते हुए भी ब्राह्मणीय व्यवस्था के अनुसार जीवन न व्यतीत करने वाले भारतीयों ने ब्राह्मण समुदाय में प्रवेश प्राप्त किया। व्रात्यस्तोम यज्ञों के वर्णन, के पूर्व इनके करने वाले व्यक्तियों की वेश-भूषा और जीवन-प्रणाली का वर्णन आया है। "वे खुले हुए युद्ध के रथों में चलते हैं, धनुष और बरछे धारण करते हैं, पगड़ी पहनते हैं, लाल किनारी वाले और फहराते हुए छोरों वाले वस्त्र पहनते हैं; जूता और दोहरा किये गये भेड़ के खाल का प्रयोग करते हैं; उनके नेता भूरे रंग के वस्त्र और चाँदी के कण्ठाभूषण पहनते हैं; वे न तो कृषिकर्म करते हैं और न व्यवसाय; उनका धर्म व्यवस्थित नहीं है; वे ब्राह्मण धर्म में दीक्षित मनुष्यों की ही भाषा बोलते हैं, फिर भी वे सरल वर्णों को कठोर उच्चारण करते हैं।" अन्तिम कथन संभवतः प्राकृत विभाषा के भेदों, व्यञ्जनों के समूह की परस्परता और प्राकृत बोली में पायी जाने वाली इस प्रकार की अन्य विशेषताओं की ओर संकेत करता है। नैमिषीय-ऋषियों के महान् यज्ञ और सुदामन् नदी का उल्लेख हुआ है। यद्यपि इन कथनों से हमें यही निष्कर्ष निकालना होगा कि पश्चिम से, विशेषतः वहाँ के अब्राह्मण आर्यों से, संबन्ध अब भी तेजी से चल रहा था

---

[१]'शस्त्र' का विरोधी शब्द है 'स्तोत्र'। 'पृष्ठ' का अर्थ होता है माध्यंदिनसवन से संबद्ध अनेक स्तोत्र जो उसकी पीठ के समान होते हैं; मूल रूप में 'उक्थ' का प्रयोग 'शस्त्र' के पर्यायवाची शब्द जैसा किया गया है, केवल बाद के समय में ही इसका प्रयोग 'सामन्' के अर्थ में हुआ है, (इं० स्टू० १३.४४७) 'स्तोम' स्तोत्र के छः, सात या अधिक मूल रूपों का नाम है, जिनके अनुकरण पर स्तोत्र की गान के लिए रचना होती है। होतर् और उसके सहयोगियों द्वारा शस्त्रों का गान उन्हीं मन्त्रों के उद्गातृ एवं उसके सहयोगियों द्वारा गान किये जाने के बाद होता है (ग्रहाय, गृहीताय स्तुवतेऽथ शंसति, शत० ८.१ ३.३)। सात संस्थाएँ या सोमयज्ञ के मूल रूप मुख्यतः उनके सुत्या के दिनों के शस्त्रों और स्तोत्रों की विभिन्न संख्या पर आश्रित होती हैं; देखिए इं० स्टू० १०.३५३,९.२२९।

और इस कारण इसकी रचना का स्थान अधिक पश्चिम की ओर[1] रखना होगा, फिर भी ऐसे आँकड़ों का अभाव नहीं है जो पूर्व की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार कोसल के राजा पर-आट्णार का, त्रसदस्यु पुरुकुत्स का, जो ऋक्-संहिता में भी आये हैं, विदेह के राजा नमिन शाप्य (महाकाव्य के निमि) का, कुरुक्षेत्र, यमुना आदि का उल्लेख आया है। ताण्ड्य-ब्राह्मण में कुरु पञ्चालों या उनके राजाओं के नामों के उल्लेख का तथा जनक के किसी उल्लेख के अभाव का कारण यही माना जा सकता है कि इसकी रचना किसी भिन्न प्रदेश में हुई थी। इस बात का दूसरा संभव कारण यह हो सकता है कि हम इस ग्रन्थ को कुरुपाञ्चालों के राज्य के समृद्धिकाल का या उसके पहले का मानें। इसमें जिन दूसरे नामों का उद्धरण दिया गया है वे अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक प्राचीनकाल के प्रतीत होते हैं, प्रत्युत वे ऋषियुग से संबद्ध लगते हैं। अपरंच, बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शायद ही कहीं विविध आचार्यों में किसी मत-वैभिन्य का वर्णन किया गया है। केवल कौषीतकियों के विरुद्ध ही थोड़े द्रोह के साथ विरोध प्रकट किया गया है; उन्हें 'व्रात्य' (धर्मभ्रष्ट) और 'यज्ञावकीर्ण' (यज्ञ के अयोग्य) कहा गया है। अन्ततः इस ब्राह्मण[2] के साथ संयुक्त नाम अर्थात् 'ताण्ड्य' का उल्लेख शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण में एक आचार्य के नाम के रूप में आया है; अतएव, इन सभी बातों को मिलाकर कम से कम हमें इसे शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण से पूर्वकाल का मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[3]

'षड्विंश ब्राह्मण' पञ्चविंश ब्राह्मण का परिशिष्ट है, यह बात नाम से ही विदित हो जाती है। यह मानों इसका छब्बीसवाँ काण्ड है, यद्यपि स्वयं इसे अनेक काण्डों में विभक्त किया गया है। इस ब्राह्मण पर अपने सुन्दर भाष्य के आरम्भ में इसके वर्ण्यविषय का संक्षेप देते हुए सायण कहते हैं कि यह ऐसी याज्ञिक क्रियाओं का विवेचन करता है जो

---

[1]चित्ररथ का नाम (एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्...तस्माच् चैत्ररथीनाम् एकः क्षत्रपतिर्जायतेऽनुलम्ब इव द्वितीयः २२.१२, ५) पाणि० २.२.३१ के गण 'राजदन्त' में बाह्लीक के नाम के साथ समास (चित्ररथ बाह्लीकम्) में आता है; इसे भी इस सम्बन्ध में ध्यान में रखना चाहिए।

[2]वस्तुतः उस नाम का प्रथम प्रयोग लाट्यायन में आता है, अन्य सूत्रों में इसका उद्धरण 'इति श्रुतेः' वाक्य से दिया गया है।

[3]ताण्डय-ब्राह्मण का सम्पादन सायण भाष्य के साथ बिब्लि० इं० (१८६९-७४) में आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश ने किया है। भाषिक सूत्र के समय (देखिए कीलहोर्न इं० स्टू० १०.४२१) इस पर भी स्वर के चिह्न रहे होंगे और वे शतपथब्राह्मण के अनुरूप ही रहे होंगे। इसके विपरीत कुमारिल भट्ट के समय में (बर्नेल के अनुसार सातवीं शताब्दी के उतरार्द्ध) में इसका प्रयोग बिना स्वरों के होता था जैसा कि आजकल होता है। देखिए म्यूल्लेर एंशि० सं० लि०, पृ० ३४८; बर्नेल-सामविधान-ब्राह्मण, आमुख, पृ० ६।

'पञ्चविंश ब्राह्मण' में नहीं दी गई हैं। यह पञ्चविंश से भिन्नता के प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। इसमें हम मुख्यतः प्रायश्चित्त के कर्म तथा आभिचारिक क्रियाओं के साथ-साथ छोटे और सुबोधगम्य सामान्य विधिवाक्य भी पाते हैं। पाँचवें काण्ड (या छठें अध्याय) का अपना एक बिल्कुल ही विशिष्ट स्वरूप है और यह पृथक् ब्राह्मण के रूप में भी **'अद्भुत ब्राह्मण'** नाम से पाया जाता है। 'अद्भुत ब्राह्मण' के रूप में इसमें अन्त में कुछ दूसरे अंश जोड़ दिये गये हैं। इसमें प्रतिदिन के जीवन की अमाङ्गलिक घटनाओं, अपशकुनों और उत्पातों की परिगणना के साथ-साथ उनके दुष्प्रभाव को दूर करने के लिये की जाने वाली क्रियाओं का भी निर्देश है। इससे हमें उस काल की सभ्यता के भीतर दूर तक झाँकने का अवसर मिलता है जो इस समय तक, जैसा कि आशा की जा सकती है, पर्याप्त उन्नत अवस्था में पहुँची हुई थी। सर्वप्रथम उन क्रियाओं का वर्णन किया गया है जो सामान्य अमांगलिक घटनाओं के घटित होने पर की जाती हैं; तब वे क्रियाएँ आती हैं जो मनुष्यों और पशुओं के रोग, फसल की क्षति, बहुमूल्य वस्तु के खो जाने आदि के समय की जाती हैं; तब वे क्रियाएँ आती हैं जो भूकंप, वायु और आकाश के उत्पात, आदि के समय वेदी पर या देवताओं की मूर्तियों पर अद्भुत वस्तुओं के दिखाई पड़ने पर, विद्युत् के चमकने पर और गर्भपात होने पर की जाती हैं।[1] इस प्रकार के अन्धविश्वासों का विवेचन अन्यत्र केवल गृह्यसूत्रों में या परिशिष्टों में किया गया है; इन सब बातों से षड्विंश ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय को उसी प्रकार अधिक अर्वाचीन काल का रूप प्रदान करती है, जिस प्रकार कि शेष वर्ण्यविषय सामान्य रूप से इस ग्रन्थ को। इसके अनुसार हम यहाँ पर उद्दालक आरुणि और अन्य आचार्यों के नामों का उल्लेख पाते हैं, जिनके नाम पञ्चविंश ब्राह्मण में अज्ञात हैं। इस ग्रन्थ में एक ऐसा श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें चारों युगों को उनके प्राचीन नामों द्वारा ही अभिहित किया गया है और उनका संबन्ध उन चार चान्द्र कलाओं से जोड़ा गया है जिनसे स्पष्टतः उनके नामों की उत्पत्ति हुई है, यद्यपि इस तथ्य के सभी अवशेष बाद में नष्ट हो गये हैं।[2] कदाचित् इस श्लोक को मेगस्थनीज़ के पहले का मानना उपयुक्त होगा। मेगस्थनीज़ हमें एक ऐसे काल्पनिक युग-विभाजन का परिचय देते हैं जो महाकाव्य में आये हुए विभाजन से मिलता-जुलता है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि षड्विंश-ब्राह्मण जिसमें यह श्लोक उद्धृत है स्वयं मेगस्थनीज़ के समय से पहले का है।

---

[1]अद्भुत-ब्राह्मण का मैंने मूल और अनुवाद तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशन 'त्स्वाई वेदिश्श टेक्ट इउबेर ओमिना उण्ड पोर्टेण्टा' (१८५९) में कराया है।

[2]रोथ ने अपने निबन्ध 'डी लेहर फोन डेन् फियर वेल्टाल्टेर्न' (ट्यूबिंगेन १८६०) में इसे भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है।

सामवेद के तीसरे ब्राह्मण का नाम है **'छान्दोग्य ब्राह्मण'**, यद्यपि छान्दोग्य सभी सामवेदीय आचार्यों का सामान्य अभिधान है। शंकर ने भी अपने ब्रह्म सूत्र भाष्य में "ताण्डिनम् श्रुति" अर्थात् उसी नाम से जो 'पञ्चविंश ब्राह्मण' को दिया गया है, इसका उद्धरण दिया है। इस ब्राह्मण के प्रथम दो अध्याय अब भी अलभ्य हैं और अन्तिम केवल आठ अध्याय सुरक्षित हैं जिनका विशेष नाम 'छान्दोग्योपनिषद्' भी है। इस ब्राह्मण की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें ब्राह्मणीय तत्वज्ञान के क्रमिक विकास से सम्बद्ध अनेक आख्यान भरे पड़े हैं और विचार, समय, स्थान और उल्लिखित व्यक्तियों की दृष्टि से बहुत कुछ उसी धरातल पर स्थित हैं जिस पर शुक्ल यजुर्वेद का बृहदारण्यक। बृहदारण्यक में और सामान्यतः शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण में नैमिषीय ऋषियों के किसी उल्लेख का अभाव हमें इस तर्क पर पहुँचा सकता है कि 'छान्दोग्योपनिषद्' बृहदारण्यक के पहले का है। फिर भी 'छान्दोग्योपनिषद्' में इनके तथा महावृषों और गन्धारों के उल्लेख को—जिनमें अन्तिम निःसन्देह दूर बसे हुए हैं—सम्भवतः केवल इस बात का प्रमाण मानना चाहिए कि इस ग्रन्थ की उत्पत्ति कुछ पश्चिम में हुई थी, जबकि बृहदारण्यक, जैसा कि हम आगे देखेंगे, हिन्दुस्तान के बिल्कुल पूर्वीय भाग में रचा गया है। इसके विपरीत पशुओं से सम्बद्ध अनेक कथाएँ और महीदास ऐतरेय के नाम का उल्लेख मुझे यह भी मानने के लिए बाध्य करता है कि 'छान्दोग्योपनिषद्' बृहदारण्यक की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन है। यदि एक दूसरे उल्लेख को लिया जाय जो अपने आप में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, तो किसी भी प्रकार का अनुमान करना अधिक आपत्तिजनक होगा। मेरा तात्पर्य कृष्ण देवकीपुत्र के उल्लेख से है, जिन्हें घोर आंगिरस शिक्षा प्रदान करते हैं। घोर आंगिरस और उनके अतिरिक्त (यद्यपि उनके साथ नहीं) कृष्ण आंगिरस के नाम कौषीतकि-ब्राह्मण में भी आये हैं। इस कृष्ण आंगिरस को कृष्ण देवकीपुत्र से अभिन्न मानने पर उनके उल्लेख को कदाचित् बृहदारण्यक की अधिक प्राचीनता का चिह्न माना जा सकता है।[१] इस तादात्म्य को सही मानने पर भी इस तथ्य पर उचित गौरव देना चाहिए कि यहाँ पर नाम में परिवर्तन कर दिया गया है। आंगिरस के स्थान पर उन्हें देवकीपुत्र कहा गया है। इस प्रकार के नाम रूप की समानता हम बृहदारण्यक के वंशों (वंशावलियों) के अतिरिक्त अन्य किसी वैदिक ग्रन्थ में नहीं पाते हैं, जो पर्याप्त बाद के काल की रचना है। उसके बाद के समय में कृष्ण की स्थिति को समझने की दृष्टि से इस उल्लेख का महत्व अस्पष्ट है। यहाँ वे केवल एक आचार्य हैं, जो ज्ञानार्जन में लगे हुए हैं और सम्भवतः क्षत्रिय वर्ण के हैं। निश्चय ही उन्होंने किसी न किसी

---

[१]**तुलना कीजिए—पाणि० ४.१.१५९ सामसूत्रों में आए हुए शम्बूपुत्र, राणायणीपुत्र, तथा कात्यायनीपुत्र, मैत्र्याणीपुत्र, वात्सीपुत्र इत्यादि जो बौद्धों में आते हैं ['पुत्र' से बने हुए मातृ नामों के लिए देखिए इं० स्टू० ३.१५७, ४८५, ४८६; ४.३८०, ४३५; ५.६३, ६४]।**

प्रकार से विशेष ख्याति प्राप्त की होगी, चाहे इस विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प ही क्यों न हो, अन्यथा बाह्य स्थितियों के द्वारा उनका देवता के पद तक पहुँचने के तथ्य का हेतु ढूँढ़ना कठिन हो जायगा।[1]

'छान्दोग्योपनिषद्' और 'बृहदारण्यक' दोनों में प्रवाहण जैवलि, उषस्ति चाक्रायण, शाण्डिल्य, सत्यकाम जाबाल, उद्दालक आरुणि, श्वेतकेतु और अश्वपति के नाम समान रूप से पाये जाते हैं; यह तथ्य इस बात को स्पष्ट करता है कि ये दोनों यथासम्भव समकालीन रचनाएँ थीं; और यह तथ्य 'छान्दोग्योपनिषद्' के सातवें अध्याय का 'बृहदारण्यक' के समान अंश से प्रायः पूर्ण तादात्म्य होने से भी प्रकट होता है। फिर भी छान्दोग्योपनिषद् का समय बाद का सिद्ध करने वाली जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात है वह है नवें अध्याय के आरम्भ में दी गई पूर्ववर्ती बृहत् साहित्य के शाखाओं की गणना। यदि इस नवें अध्याय को बाद में जोड़ा गया परिशिष्ट भी मान लें (क्योंकि सनत्कुमार और स्कन्द के नाम वैदिक साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलते; नारद का भी इसके अतिरिक्त केवल 'ऐतरेय ब्राह्मण'[2] के दूसरे भाग में उल्लेख हुआ है), तो भी पाँचवें अध्याय में अथर्वाङ्गिरसों और इतिहासों तथा पुराणों के उल्लेख आये हैं। यद्यपि यहाँ और बृहदारण्यक के समकक्ष अंश में इतिहास और पुराण से इस समय उपलब्ध इतिहासों और पुराणों को समझ लेने की मनमानी नहीं की जा सकती, फिर भी हमें इन्हें इन रचनाओं का पूर्ववर्ती मानना होगा, जो ऋग्वेद के सूक्तों से सम्बद्ध आख्यानों और परम्पराओं से उत्पन्न होकर पूजा की विधियों के साथ-साथ धीरे-धीरे अपना क्षेत्र बढ़ाने लगीं और अन्य विषयों को भी समेटने लगीं, चाहे वे वास्तविक जीवन के थे या काल्पनिक तथा आख्यानात्मक स्वभाव के। मूल रूप में उन्होंने ब्राह्मणों में और वेदों के अन्य व्याख्यात्मक साहित्य में स्थान बना लिया; किन्तु 'छान्दोग्योपनिषद्' के इस अनुच्छेद के काल में वे कदाचित् अंशतः स्वतन्त्र रूप प्राप्त कर चुकी थीं, यद्यपि भाष्य[3] नियमतः ऐसी उक्तियों का सन्दर्भ स्वयं ब्राह्मणों के अंशों से ही देते हैं। महाभारत में, विशेषतया आदिपर्व में कुछ ऐसे इतिहास हैं जो उस समय भी गद्य में हैं, फिर भी इस प्रकार सुरक्षित थे

---

[1]किस तत्त्व के कारण कृष्ण को देवता के पद पर पहुँचा दिया गया है यह अभी तक अज्ञात है; यद्यपि निःसन्देह इन्द्र के साथ उनका सम्बन्ध इसके मूल में है; देखिए इं० स्टू० १३.३४९ आदि; सम्पूर्ण प्रश्न ही अस्पष्ट है। कृष्ण की पूजा अर्थात् एक सम्प्रदाय के अन्तर्गत कृष्ण की भगवान् के रूप में पूजा को सम्भवतः ईसाई धर्म के प्रभाव से चरमोत्कर्ष प्राप्त हुआ। देखिए मेरा लेख, 'कृष्णस् गेबुर्स्टफस्ट' पृ० ३४६, (देवकी नाम के विषय में भी इस लेख में अनेक विवरण दिये गये हैं)।

[2]इने-गिने स्थलों पर अथर्वसंहिता में भी और 'सामविधान-ब्राह्मण' के वंश में भी।

[3]शंकर नहीं अपितु सायण, हरिस्वामिन् और द्विवेदगंग ने शतपथ-ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक के समान अंशों में।

अंश भी अपनी शैली और कल्पनाओं की दृष्टि से ब्राह्मणों में आने वाले अपने समान अंशों की अपेक्षा बहुत बाद के समय के हैं। स्वयं ब्राह्मणों में उद्धृत श्लोकों, गाथाओं आदि के साथ और 'बृहद्देवता' जैसी रचनाओं के साथ वे आख्यान से महाकाव्यीय कविता के सन्धिकाल के बीच सेतु का काम करते हैं।

इसके अतिरिक्त 'छान्दोग्योपनिषद्' में हम विधि व्यवहारों का वह उदाहरण भी पाते हैं, जिसका वैदिक साहित्य में शायद ही कहीं उल्लेख हुआ हो; वह है : चोरी के अपराध के लिए प्राणदण्ड, जो इस विषय में 'मनुस्मृति' में दिये गये कठोर दण्ड के विधान से पूर्णतः साम्य रखता है। अपराध या निर्दोषता का निर्धारण लाल तपते हुए फरसे को उठा कर किया जाता था; यह भी मनु के नियमों के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त मनुकालीन संस्कृति को जोड़ने वाली एक और शृंखला बृहदारण्यक के एक अनुच्छेद में मिलती है; वह है आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त। हमें यह सिद्धान्त यहाँ पहली बार मिलता है और वह भी पर्याप्त अपूर्ण रूप में; इस रूप में ही इसे बहुत प्राचीन मानना होगा। पाँचवें अध्याय के सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक आख्यान कुल मिला कर मनुस्मृति के आरम्भ में पाये जाने वाले वर्णन के समान ही हैं। इसका कारण तभी स्पष्ट हो सकता है जब मनुस्मृति के वर्णन को उपनिषद् के वर्णन का नकल मान लिया जाय। दसवें अध्याय के विषय हैं आत्मा का स्वरूप, उसका शरीर में स्थान, शरीर छोड़ने के उपरान्त उसकी दशा अर्थात् ब्रह्मलोक में प्रवेश। इस अध्याय में ऐसी प्रचुर सामग्री है, जो इस दृष्टि में 'कौषीतक्युपनिषद्' में पाये जाने वाले समानान्तर अंशों के सन्दर्भ में पर्याप्त रोचक है और 'कौषीतक्युपनिषद्' से केवल इनेगिने विवरणों में ही भिन्न है। यहीं पर वैदिक साहित्य में पहली बार राहु का नाम आता है, जिसे हम 'छान्दोग्योपनिषद्' के अपेक्षतया परवर्ती काल का होने का एक प्रमाण मान सकते हैं।

दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यक्त करने वाले शब्दों में 'उपनिषद्', 'आदेश', 'गुह्य आदेश' (सिद्धान्त को गुप्त रखने का निर्देश बार-बार किया गया है), उपाख्यान (व्याख्या) का प्रयोग है। अध्यापक को (शतपथ-ब्राह्मण के समान ही) "आचार्य" कहा गया है; बस्ती वाले स्थानों के लिए "अर्ध" का प्रयोग है। अकेले श्लोकों और गाथाओं के उद्धरण प्रायशः दिये गये हैं।

'छान्दोग्योपनिषद्' का सम्पादन डॉ० रोइर ने 'बिब्लिओथेका इण्डिका' भाग ३ में शांकरभाष्य और उसकी टीका के साथ किया है।[1] फ० विण्डिश्मन्न ने इसके अनेक अंशों का मूल और कई अंशों का अनुवाद पहले ही दिया है; देखिए इं० स्टू० १.२५४-२७३।

'केनोपनिषद्' सामवेद के चौथे ब्राह्मण का अवशेष है, इसे उसका नवाँ अध्याय माना

---

[1] इस सीरीज (१८५४-६२) में राजेन्द्रलाल मित्र ने एक अनुवाद भी प्रकाशित किया है।

जाता है।[1] इसकी टीका में पाये जाने वाले परिचयात्मक वाक्यों एवं उद्धरणों में इसका नाम 'तलवकार' भी है जो अन्यत्र अज्ञात है। यह दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में श्लोक हैं[2] और यह भाग परब्रह्म का विवेचन करता है तथा चौथे श्लोक में इस विषय का उपदेश करनेवाले प्राचीनकाल के ऋषियों को प्रमाण रूप में उद्धृत करता है। दूसरे भाग में ब्रह्मन् की सम्प्रभुता का समर्थन करनेवाला एक आख्यान है; इसी में उमा हैमवती का नाम भी आता है, जो आगे चलकर शिव की पत्नी होती है, किन्तु यहाँ ब्रह्मन् और अन्य देवताओं के बीच मध्यस्थ का कार्य करती है। संभवत: ऐसा इस कारण है कि उसे वाणी या रचनात्मक शब्द की देवी सरस्वती या वाच् का ही अभिन्न रूप कहा गया है।[3]

सामवेद के ये ही ब्राह्मण उपलब्ध हैं। यह सत्य है कि सायण ने 'सामविधान' के भाष्य में (देखिए म्यूल्लेर, ऋक् १. आमुख, पृ० २७) आठ ब्राह्मण गिनाये हैं: प्रौढ़ या महाब्राह्मण (अर्थात् पंचविंश) : षड्विंश, सामविधि, आर्षेय, देवताध्याय,[4] उपनिषद्; संहितोपनिषद् और वंश। इनमें से चार के ब्राह्मण कहे जाने का कोई ठोस आधार नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'आर्षेय' केवल एक अनुक्रमणी है; और 'देवताध्याय' भी इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता; वंश अन्यत्र भी ब्राह्मणों के अंग के रूप में आया है। अन्त की दो रचनाओं को इस समय विद्यमान नहीं माना जा सकता। उनमें जहाँ तक वंश का सम्बन्ध है उसकी अप्राप्ति दुर्भाग्यपूर्ण है। 'सामविधान' भी जो 'लाट्यायन सूत्र' के इस नाम के अंश के समान ही ऋचाओं के 'सामन्' में परिवर्तन का विवेचन करता है, ब्राह्मण नहीं कहा जा

---

[1]प्रथम आठ अध्यायों के विषयों के संबन्ध में शंकर ने अपने भाष्य के आरम्भ में विवेचन किया है।

[2]क्या यह नाम भी उसी 'ताड्' 'तण्ड्' धातु से व्युत्पन्न नहीं हो सकता जिससे ताण्ड्य बना है ?

[3]'केनोपनिषद्' के साहित्य पर इं० स्टू० २।१८१ देखिए [यहाँ शांकर भाष्य के साथ बिब्लि० इं० भाग ८ में रोइर द्वारा प्रकाशित किये गये संस्करण का उल्लेख किया जा सकता है, उन्होंने इसका अनुवाद भी किया गया है, वही, भाग १५]।

[4]उपर्युक्त विवरण में संशोधन की आवश्यकता है। 'वंश—ब्राह्मण' का सर्वप्रथम सम्पादन मैंने इं० स्टू० ४।३७१ में किया था; बाद में बर्नेल ने सायण के भाष्य के साथ इसका सम्पादन किया (१८७३)। 'देवताध्याय' अनुक्रमणी नहीं है, किन्तु इसमें विभिन्न सामों के देवताओं के विषय में सूचनाएँ दी गई हैं, उनके साथ कुछ अन्य अंश भी संबद्ध हैं। अन्तत: 'सामविधान-ब्राह्मण' में ऋचाओं के 'सामन्' में परिवर्तन के विषय का विवेचन नहीं है। इसके विपरीत यह 'ऋग्विधान' जैसी रचना है और सभी अन्धविश्वासपूर्ण क्रियाओं के लिए सामन् के प्रयोग का वर्णन करता है। दोनों ग्रन्थों का सम्पादन बर्नेल ने सायण के भाष्य के साथ किया है (१८७४)। कुमारिल ने भी सामवेद के ब्राह्मणों की

सकता है। जहाँ तक 'संहितोपनिषद्' का प्रश्न है, मुझे यह सन्देहपूर्ण लगता है कि इससे सायण का तात्पर्य केनोपनिषद् से है या नहीं, क्योंकि यद्यपि परब्रह्म की संहिता (विश्व-रूपत्व) का 'केनोपनिषद्' में विवेचन किया गया है, फिर भी विषय को यह नाम नहीं दिया गया है, जैसा कि इसके नाम की ऐतरेय और तैत्तिरीय आरण्यकों के संहितोपनिषद् से समानता होने के कारण अनिवार्य प्रतीत होता है। मेरा अनुमान यह है कि सायण का अभि-प्राय इस नाम के उस प्रकार के ग्रन्थ से रहा होगा[1], जिसकी हस्तलिखित प्रति म्यूजियम में है (देखिए इंस्टू० ९.४२); यदि ऐसी बात हो तो उन्होंने 'केनोपनिषद्' का कोई उल्लेख नहीं किया है; कदाचित् इसका कारण यह हो सकता है कि यह एक ही साथ अथर्वन् पाठ में भी पाया जाता है (जो बहुत अल्प अन्तर रखता है) और इस कारण उन्होंने इसे अथर्वन् से संबद्ध समझा होगा ?

सामवेद के सूत्रों की संख्या अन्य वेदों की अपेक्षा बहुत अधिक है। इनमें तीन श्रौत-सूत्र हैं; पञ्चविंश ब्राह्मण की चलती हुई टीका के रूप में एक सूत्र है; पाँच सूत्र छन्द पर और ऋचाओं से सामन् में परिवर्तन विषय पर हैं; और एक गृह्यसूत्र है। इनके साथ उन रच-नाओं को भी जोड़ा जा सकता है, जिनके केवल नामों का हमें ज्ञान है। परिशिष्टों की बृहत्संख्या भी इनके साथ जोड़ी जा सकती है।

श्रौतसूत्र में या याज्ञिक क्रियाओं का विवेचन करने वाले सूत्र में प्रथम सूत्र मशक है, जिसका उद्धरण दूसरे साम सूत्रों में आया है। इनमें उल्लिखित आचार्यों ने भी 'आर्षेय कल्प' के रूप में और कभी-कभी 'कल्प' नाम से इसका उल्लेख किया है। लाट्यायन ने तो सीधे मशक नाम से इसका निर्देश किया है।[2] अन्त में आने वाले परिचयात्मक वाक्यों में इसका नाम 'कल्पसूत्र' है। यह सूत्र सोमयज्ञ की विविध क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाली प्रार्थनाओं की क्रमबद्ध परिगणना मात्र है और अंशतः पारिभाषिक साम नामों से और अंशतः आरम्भिक शब्दों द्वारा इस सूची का उद्धरण दिया गया है। इसका क्रम ठीक पञ्चविंश

संख्या आठ बताई है (म्यूल्लेर एंशि० स० लि०, पृ० ३४८); उनके समय में ये सभी ब्राह्मण बिना स्वर के थे। एक तथ्य यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है; वह यह कि 'वंश ब्राह्मण' में उल्लिखित अनेक आचार्यों के नाम ही भारत के उत्तरपश्चिमी प्रदेश की ओर संकेत करते हैं; जैसे—काम्बोज औपमन्यव, मद्रगार शौंगायनि, साति औष्ट्राक्षि, शालंकायन और कौहल; देखिए इं० स्टू० ४।३७४-३८०।

[1] यह वस्तुतः सत्य है; क्योंकि यह पाठ उसमें तथा अन्यत्र भी वंश ब्राह्मण के सम्बन्ध में आया है। यह 'देवताध्याय' से अधिक लम्बा नहीं है; देखिए इं० स्टू० ४।३७५।

[2] लाट्यायन ने मशक को गार्ग्य कहा है, क्या यह नाम ग्रीकों के मास्सग से सम्बद्ध है ? लास्सेन इ० अल्ट० १.१३०; इ० स्टू० ४.७८।

ब्राह्मण का क्रम है; इसके अतिरिक्त कुछ अन्य क्रियाएँ भी बीच में जोड़ी गई हैं, जो 'षड्-विंश-ब्राह्मण' से भी सम्बद्ध हैं। दूसरी क्रियाओं में जनकसप्तरात्र विशेषतः ध्यान देने योग्य है—इस क्रिया को प्रवर्तित करने वाले राजा जनक[1] हैं, जिनके विषय में, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' में कोई उल्लेख नहीं है। अतएव स्पष्टतः उनके जीवन और प्रसिद्धि का काल पञ्चविंश-ब्राह्मण और मशक-सूत्र के बीच का है। इस सूत्र के ग्यारह प्रपाठकों का इस प्रकार विभाजन किया गया है कि एकाहों (एक दिन के यज्ञों) का विवेचन प्रथम पाँच प्रपाठकों में किया गया है; अहीन (अनेक दिन के यज्ञों) का विवेचन उसके बाद के चार प्रपाठकों में और सत्रों (बारह दिनों से अधिक के यज्ञों) का वर्णन अन्तिम दो प्रपाठकों में किया गया है। इस पर वरदराज की टीका है, जिन्हें हम दूसरे सामसूत्र के भाष्यकार के रूप में भी पाते हैं।

दूसरा श्रौतसूत्र लाट्यायन का है, जो कौथुमशाखा का है। लाट्यायन का नाम मेरे विचार से 'लाट' या टोलेमी (Ptolemy)[2] के 'डारिकी' की ओर संकेत करता है जो पश्चिम में सौराष्ट्र ('सुरस्त्रिनी' ग्रीक) के सीधे दक्षिण की ओर एक देश था। यह तथ्य ऊपर वर्णित इस अनुमान से भी पूरा मेल खाता है कि 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' भारत के पश्चिमी भाग की रचना है; और स्वयं इस सूत्र में उपलब्ध उन आँकड़ों से, जिनका हम अभी निरीक्षण करेंगे, यह पुष्ट होता है।

'मशकसूत्र' के समान 'लाट्यायन-श्रौतसूत्र' भी 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है और उस ब्राह्मण से लम्बे-लम्बे अंशों को भी उद्धृत करता है; प्रायः इसके अंशों को उद्धृत करते समय सूत्र में 'तद् उक्तं ब्राह्मणेन' या 'इति ब्राह्मणम् भवति' और एक बार 'तथा पुराणं ताण्डम्' कहकर इस ब्राह्मण की ओर संकेत किया गया है। साथ ही साथ इसमें इन अंशों पर विविध आचार्यों का भाष्य भी दिया गया है। शाण्डिल्य, धानञ्जय और शाण्डिल्यायन का पञ्चविंश-ब्राह्मण के व्याख्याताओं के रूप में प्रायः एक साथ या भिन्न-भिन्न स्थलों पर कई बार उल्लेख हुआ है। इससे प्रथम आचार्य के नाम से तो हम 'छान्दोग्योपनिषद्' में परिचित हो चुके हैं और उनका तथा शाण्डिल्यायन का नाम कई बार एक-दूसरे सूत्र 'निदान-सूत्र' में भी आया है; यही बात धानंजय के विषय में भी है। इनके अतिरिक्त लाट्यायन ने अन्य कई आचार्यों और शाखाओं के नाम दिये हैं; उदाहरण के लिए उन्होंने अपने ही आचार्यों का विशेषतः बार-बार उल्लेख किया है। 'आर्षेयकल्प' का, दो विभिन्न गौतमों का, जिनमें एक की विशिष्ट उपाधि स्थविर (बौद्धों की एक पारिभाषिक

---

[1]यह सही है कि सायण ने पञ्च० २२.९.१ के भाष्य में 'जनक' को 'प्रजापति' की उपाधि माना है, पञ्चविंशब्राह्मण में यही पाठ है।

[2]पियदसि के अभिलेख के समय में लाटिक; देखिए लास्सेन, इं० अल्ट० १.१०८; २.७९२ टिप्पणी।

उपाधि) है; शौचिवृक्षि का (जो पाणिनि द्वारा ज्ञात आचार्य हैं); क्षैरकलम्भि, कौत्स, वार्षगण्य, भाण्डितायन, लामकायन, राणायणीपुत्र इत्यादि का और विशेषतः शाट्यायनियों एवं उनकी रचना शाट्यायनक का शालंकायनियों के साथ, जो निश्चित रूप में भारत के पश्चिमी भाग के थे, उल्लेख हुआ है। इस प्रकार के उल्लेख 'लाट्यायन-श्रौत-सूत्र' में साम-वेद के अन्य सूत्रों के समान ही, दूसरे वेदों के सूत्रों की अपेक्षा अधिक स्थलों पर हुआ है। मेरे विचार से ये उल्लेख अन्य वेदों के सूत्रों की अपेक्षा सामवेद के सूत्रों की प्राक्कालीनता के प्रमाण हैं। सामवेद के सूत्रों की रचना के समय अनेक प्रकार के मतभेद बने हुए थे, जबकि अन्य वेदों के सूत्रों के समय सिद्धान्तों और पूजनविधियों में अधिक एकता एवं कठो-रता आ गई थी। शेष तथ्य भी इस प्रकार की प्राक्कालीनता की ओर संकेत करते हैं, बशर्ते कि उनका कारण हम स्थानीय भिन्नता न मानें। शूद्रों और निषादों की दशा, जो आदिम भारतवासी थे, वैसी दुःखमय और शोषणयुक्त नहीं थी, जैसा कि आगे चलकर हो गई। उनके साथ निवास करना विहित था (शाण्डिल्य ने उनके ग्रामों के पड़ोस में निवास को ही विहित कर इसमें कुछ कठोरता ला दी है) वे स्वयं भी यज्ञों में उपस्थित हो सकते थे, यद्यपि उन्हें यज्ञमण्डप के बाहर ही रहना होता था। अपरंच, यत्र-तत्र उन्हें स्वयं याज्ञिक क्रियाओं में भी भाग लेते हुए दिखाया गया है, हालाँकि वे निम्न कोटि के कर्म का ही सम्पादन करते हैं; परवर्ती काल में तो इन बातों की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। सहिष्णुता की अब भी आवश्यकता थी, क्योंकि हम देखते हैं कि कठोर ब्राह्मणीय सिद्धान्तों को अभी प्रतिवेशी आर्य जातियों में भी मान्यता नहीं मिली थी। ये जातियाँ भी ब्राह्मणीय संस्कृति के भारतीयों के समान ही, अपने पूर्वजों के गीतों एवं प्रथाओं को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखती थीं और उनका उतना ही अनुशीलन करतीं थीं जितना ब्राह्मणीय भारतीय करते थे; प्रत्युत, ब्राह्मण भी कभी-कभी सीधे उनका आश्रय लेते थे और उनकी क्रियाओं को भी खुले आम अपना लेते थे। यह बात इस प्रकार की एक यज्ञ-क्रिया के वर्णनों से पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है, जो वस्तुतः 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' में न आकर 'षड्विंश-ब्राह्मण' में वर्णित है और जिसका विस्तार के साथ लाट्याथन ने वर्णन किया है। यह एक आभिचारिक क्रिया है (जिसे 'श्येन' कहते हैं); और इससे स्वभावतः यह विचार उत्पन्न होता है कि अथर्वन् की यज्ञक्रियाएँ जो अनिवार्यतः अभिचारों और तान्त्रिक कर्मों पर आधृत हैं—और स्वयं अथर्वन् के सूक्तों—का अनुशीलन संभवतः इन पश्चिमी और अब्राह्मणीय आर्य जातियों ने किया था। लाट्यायन ने इन जातियों को जो सामान्य नाम दिया है वह है व्रातीन (और पाणिनि ५.२.२१ भी इससे सहमत हैं)और आगे वे 'यौधों' लड़नेवाले और उनके आचार्य अर्हन्तों के बीच भेद प्रदर्शित करते हैं। उनके 'अनूचान' अर्थात् शास्त्रों का ज्ञान रखनेवाले उपर्युल्लिखित यज्ञ के लिये चुने हुए ऋत्विज् हुआ करते थे। शाण्डिल्य इसे केवल 'अर्हन्तों' तक सीमित करते हैं; 'अर्हन्त' शब्द, जैसा कि सुविदित है, आगे चलकर एकमात्र बौद्ध नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का प्रयोग शुक्ल यजर्वेदीय ब्राह्मण और कृष्णयजुर्वेद

के आरण्यक में भी आचार्य के सामान्य नाम के रूप में हुआ है। षड्विंश और लाट्यायन के अनुसार इन पुरोहितों की पगड़ी और वेशभूषा लाल (लोहित) रंग की होनी चाहिए और रामायण ६.१९.११०, ५१.२१ में लंका के राक्षसों के पुरोहितों का याज्ञिक वस्त्र भी इसी वर्ण का बताया गया है और इस रंग के वस्त्रों के साथ बौद्धों के गेरुआ वस्त्र की भी तुलना की जा सकती है (उदाहरण के लिए 'मृच्छकटिक' स्टेंजलेर का संस्करण, पृ० ११२, ११४ देखिए; महाभारत १२।५६६, ११८९८; याज्ञ० स्मृति १.२७२)। वराह मिहिर के 'लघुजातक' में सांख्य भिक्षु[1] का वस्त्र भी लाल (रक्त) वर्ण का बताया गया है। इन पश्चिमी अब्राह्मणीय व्रात्यों और व्रातीनों को पूर्वदेशीय अब्राह्मण बौद्धों और आचार्यों के समकक्ष रखा गया था, यह बात 'पञ्चविंश ब्राह्मण' में व्रात्यस्तोमों के वर्णन के साथ लाट्यायन द्वारा दिये गये एक अतिरिक्त विवरण से स्पष्ट होती है। इसमें यह बताया गया है कि जिन व्रात्यों को ब्राह्मण समाज में प्रविष्ट कर लिया गया है, उन्हें पिछले व्रात्य-जीवन से सभी सम्बन्ध तोड़ने के लिए अपना धन अपने उन बन्धुओं को दे देना चाहिए जो व्रात्य का जीवन व्यतीत कर रहे हों; इस प्रकार वह अपने पूर्वजीवन की अपवित्रता को अपने वर्ग के लोगों के पास स्थानान्तरित कर देता है, अथवा वह 'ब्रह्मबन्धु मागधदेशीय' को अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दे।' ब्रह्मबन्धु मागधदेशीय की व्याख्या तभी सम्भव हो सकती है जब हम यह मान लें कि अपनी ब्राह्मण विरोधी प्रवृत्तियों के साथ बौद्ध धर्म इस समय मगध में फला-फूला हुआ था; और 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' में इस प्रकार के किसी उल्लेख का अभाव इस रचना और 'लाट्यायन सूत्र' के बीच बीते हुए समय के लिए पर्याप्त महत्वपूर्ण है।[2]

'लाट्यायन-सूत्र' के प्रथम सात प्रपाठकों में सभी सोमयज्ञों में सामान्य रूप से व्यवहृत होने वाले नियम दिये गये हैं; इसके विपरीत आठवें और नवें प्रपाठक का कुछ अंश विभिन्न एकाहों का वर्णन करते हैं, नवें प्रपाठक के शेष भाग में अहीनों का और दसवें प्रपाठक में

---

[1]भाष्य के अनुसार; अथवा यह शाक्यभिक्षु हो सकता है? देखिए इं० स्टू० २.२८७।

[2]'ऋक-संहिता' में, जहाँ मगध के लोगों का प्राचीन नाम कीकटों का और उनके राजा प्रमंगद को शत्रु के रूप में उल्लिखित किया गया है, हमें देश के आदिमवासियों से अर्थ लेना चाहिए विद्रोही आर्यों से नहीं (?)। यह असम्भव नहीं दिखाई पड़ता है कि मूल निवासी जो विशेष रूप से उग्र होते थे, अन्य स्थानों की अपेक्षा मगध देश के ब्राह्मणीय संस्कृति के प्रभाव में आने पर भी अधिक प्रभावशाली बने रहे—ब्राह्मणीय संस्कृति का प्रभाव कभी भी पूर्ण रूप से नहीं सिद्ध हुआ; इन आदिम जातियों ने ब्राह्मणों के समुदाय में क्षत्रिय बन कर प्रवेश किया; ऐसी घटनाएँ अन्यत्र भी घटित हुईं; और इस कारण ही मगध में बौद्ध धर्म को विशेष सहानुभूति और सफलता मिली; यहाँ के निवासियों ने एक नये रूप में पुनः अपने प्राचीन पद को प्राप्त करने के लिए इस बौद्ध धर्म को साधन बनाया।

सत्रों का विवेचन है। इस पर अग्निस्वामी[1] का एक सुन्दर भाष्य है। अग्निस्वामिन् संभवतः उन्हीं भाष्यकारों के काल के हैं जिनके नामों के अन्त में 'स्वामिन्' पद का प्रयोग है, जैसे—भवस्वामिन्, धूर्तस्वामिन्, हरिस्वामिन्, खदिरस्वामिन्, मेघस्वामिन्, स्कन्दस्वामिन्, क्षीरस्वामिन् इत्यादि; उनके समय का निर्धारण अभी तक नहीं हुआ है।[2]

तीसरा सामसूत्र अर्थात् 'द्राह्यायण-सूत्र' 'लाट्यायन-सूत्र' से स्वल्प अन्तर रखता है। यह राणायणीय शाखा का है। लाट्यायन के 'राणायणीपुत्र' में हम राणायणियों का नाम पाते हैं; उनका वंश वशिष्ठ से उत्पन्न हुआ है, जिस कारण इस सूत्र को 'वसिष्ठ-सूत्र' भी कहते हैं। द्राह्यायण नाम के समान कोई और नाम नहीं दिया जा सकता।[3] इस सूत्र और लाट्यायन के सूत्र में अन्तर मुख्यतः विषय-विभाजन का है। कुल मिलाकर विषय तो दोनों के अनुरूप ही हैं और समान पदों द्वारा व्यक्त भी किये गये हैं। मुझे अब तक इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की पूरी विषयसूची नहीं मिली है, किन्तु केवल इस ग्रन्थ के आरम्भ और अन्त के भाग मिले हैं, जिन पर दो विभिन्न भाष्य हैं। इन भाष्यों का समय अभी तक निर्धारित नहीं किया जा सका है। आरम्भ का भाग मेघस्वामी के भाष्य में मिलता है, जिसे रुद्रस्कन्द ने पुनः परिष्कृत किया है; अन्त का भाग धन्विन् के सुन्दर भाष्य में मिलता है।

गोभिल कृत श्रौतसूत्र की एकमात्र जानकारी रोथ के एक लेख (वही, पृ० ५५, ५६) से मिली है, जिसके अनुसार कृत्यचिन्तामणि के इस पर टीका लिखने की बात कही जाती है।[4]

लाट्यायन द्राह्यायण से जितना भिन्न हैं उसकी अपेक्षा कहीं बहुत अधिक भिन्न वे एक ओर तो कात्यायन से हैं, जिन्होंने अपने शुक्ल यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र के अध्याय २२-२४ में एकाहों, अहीनों और सत्रों का विवेचन किया है; और दूसरी ओर वे आश्वलायन

---

[1]बिब्लि० इं० (१८७०-७२) में लाट्यायन-सूत्र अग्निस्वामी के भाष्य के साथ आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश ने प्रकाशित किया है।

[2]शक ६२७ के एक शिलालेख में 'स्वामिन्' से अन्त होने वाले अनेक ब्राह्मणों के नाम आते हैं; जर्नल बम्बे प्रान्त रा० ए० सो० ३.२०८; तथा ज० अमे० ओर० सो० ६।५८९ में प्रकाशित एक तिथिहीन शिलालेख में।

[3]यह सर्वप्रथम 'वंश-ब्राह्मण' में आता है, जिसके आचार्यों की प्रथम सूची सम्भवतः इसी शाखा का निर्देश करती है; देखिए इ० स्टू० ४.३७०; 'द्रह' को 'ह्रद' का प्राकृत भ्रष्ट रूप कहा गया है, देखिए हेम० प्राकृ० २.८०, १२०।

[4]'कृत्यचिन्तामणि' नाम संभवतः इस ग्रन्थ का ही है; तुलना—इं० स्टू० १.६०, २.३९६; आउफ्रेस्ट केटलोगस्, पृ० ३६५ अ; किन्तु वस्तुतः यह गोभिल के श्रौतसूत्र पर भाष्य था या नहीं यह सन्देहपूर्ण है, क्योंकि इस प्रकार की रचना का उल्लेख कहीं अन्यत्र नहीं मिलता है।

तथा शाङ्खायन के ऋक्-सूत्रों से भिन्न हैं, जो इन विषयों का उचित स्थान पर विवेचन करते हैं। इनमें मत-वैभिन्य का कोई प्रश्न नहीं है; 'लाट्यायन-सूत्र' में शाण्डिल्य द्वारा प्रस्तुत कठोर दृष्टिकोण को सर्वत्र प्रधानता दी गई है। सरस्वती के तट के यज्ञ और व्रात्य-स्तोम भी, स्थानीय दृष्टिकोण से भी, वास्तविक जीवन से बहुत दूर जा पड़ते हैं, जैसा कि उनके अल्पगौरव के साथ विवेचन और नामों इत्यादि के परिवर्तन से प्रकट होता है कि उनके मौलिक रूप को भुलाया जा चुका था। सामसूत्रों में विवेचित इन यज्ञकर्मों में अनेक अन्य वेदों के सूत्रों में बिल्कुल नहीं पाये जाते; और जो दूसरे वेदों के सूत्रों में विवेचित हैं उनकी केवल एक क्रम में गणना कर दी गई है, उन पर विशद विचार नहीं किया गया है; यह भेद इसलिए उत्पन्न हुआ कि अन्य सूत्रों में प्रयोजन का अन्तर है; यजुर्वेद के सूत्रों के वर्ण्यविषय अध्वर्यु के कर्म हैं, जबकि ऋग्वेद के सूत्रों में होतर के कर्मों पर ही विचार किया गया है।

एक चौथा सामसूत्र 'अनुपद सूत्र' है, जो दस प्रपाठकों में है। इसके रचयिता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। यह 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' के गूढ़ अंशों की व्याख्या करता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'षड्विंश-ब्राह्मण' के भी कठिन अंशों को स्पष्ट करता है। यह निरन्तर मूलपाठ का अनुसरण करता है। अब तक इस पर पूरा विचार नहीं हुआ है, किन्तु आशा की जाती है कि यह ब्राह्मणीय कर्मकाण्ड के इतिहास का उत्तम भण्डार सिद्ध होगा, क्योंकि यह अनेक विभिन्न ग्रन्थों का उल्लेख करता है और उनके उद्धरण भी देता है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेदीय शाखाओं में यह ऐतरेयिन्, पैङ्गिन्, कौषीतक का; यजुर्वेदीय शाखाओं में सामान्यतः अध्वर्युओं का और इसके अतिरिक्त शाट्यायनिन्, खाडायनिन्, तैत्तिरीय, काठक, कालभविन्, भाल्लविन्, शाम्बुविस्, वाजसनेयिन् आदि का उद्धरण प्रस्तुत करता है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है, जिस पर अधिक अध्ययन करने की आवश्यकता है।[1]

उपर्युल्लिखित सामवेद के चार सूत्र अपना सम्बन्ध विशेषतः 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' से जोड़ते हैं। किन्तु अब जिन सूत्रों का उल्लेख किया जायगा वे 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' से अधिक स्वतन्त्र हैं; यद्यपि, कम से कम अंशतः वे इसका निर्देश प्रायः करते ही हैं। सर्वप्रथम 'निदान सूत्र' आता है जिसमें दस प्रपाठकों में विभिन्न उक्थों, स्तोमों और गानों पर छान्दिक तथा एतादृश अन्य गवेषणाएँ प्रस्तुत की गई हैं। रचयिता का नाम नहीं दिया गया है। 'निदान' अर्थात् 'मूल' शब्द का प्रयोग शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण में छन्द के सन्दर्भ में किया गया है;[2] और यद्यपि दो स्थलों पर जहाँ यास्क ने नैदानों का उल्लेख किया है उनका कार्य

---

[1] **दुर्भाग्यवश इस समय हमें एक पाण्डुलिपि से अधिक का ज्ञान नहीं है; देखिए इं० स्टू० १.४३।**

[2] **यह अशुद्ध है; इसके विपरीत प्रस्तुत अंश में इस शब्द का नितान्त सामान्य अर्थ है (अर्थात 'गायत्री वा एषा निदानेन' में या 'यो वा अत्राऽग्निर्गायत्री स निदानेन' में)।**

छन्द का अध्ययन होने की अपेक्षा धातुओं और व्युत्पत्तियों का अध्ययन प्रतीत होता है; फिर भी निदानसंज्ञक ग्रन्थ का उद्धरण 'बृहद्देवता' ५.५ में या तो सीधे छान्दोग्यों की श्रुति के रूप में, या कम से कम उनकी श्रुति[1] से युक्त ग्रन्थ के रूप में दिया गया है। यह सूत्र वैदिक शाखाओं और आचार्यों की बहुत बड़ी संख्या का निर्देश करने के कारण विशेषतः उल्लेखनीय है। यह आचार्यों के विविध मतों को भी प्रस्तुत करता है, और इस दृष्टिकोण से यह उसी धरातल पर स्थित है, जिस पर 'अनुपद-सूत्र'। 'अनुपद-सूत्र' से इसका भेद यही है कि यह विशेष रूप से उन सामवेदीय आचार्यों के मतों का बहुशः उद्धरण देता है जिनके उल्लेख लाट्यायन और द्राह्यायण ने किये हैं; ये आचार्य हैं: धानंजय्य, शाण्डिल्य, शौचिवृक्षि आदि। ऐसी बात अनुपद सूत्र में कहीं नहीं पायी जाती। कौषीतकियों के प्रति जिस प्रकार के वैमनस्य से हम पहले 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' में परिचित हो आये हैं, वह यहाँ नितान्त स्पष्ट रूप में उन शब्दों में प्रदर्शित हुआ है जिन्हें धानंजय्य की उक्ति कहा जाता है। ऋग्वेद के सम्बन्ध में दस मण्डलों के 'दशतयी' विभाजन का भी संकेत मिलता है, जैसा कि यास्क में भी इसका उल्लेख आया है। आथर्वणिकों और अनुब्राह्मणिन् का उल्लेख विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है; अनुब्राह्मणिन् शब्द पाणिनि के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता है। इस सूत्र का भी विशेष अध्ययन करने की आवश्यकता है; क्योंकि यह अपने काल के साहित्य के विषय में बहुत ज्ञान प्रदान करता है।[2]

इस प्रकार की अधिक जानकारी की आशा हम गोभिल[3] के 'पुष्पसूत्र' से नहीं कर सकते, जिसका नामोल्लेख 'निदान सूत्र' के साथ होना चाहिए। अनेक कठिनाइयों के कारण यह सूत्र बोधगम्य नहीं हो पाता। कारण, यह न केवल सामन् के पारिभाषिक नामों और अन्य शब्दों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में देता है, अपितु यह अनेक व्याकरणीय एवं अन्य प्रकार के पारिभाषिक पदों का भी प्रयोग करता है, जो यद्यपि प्रायः प्रातिशाख्य सूत्रों के तत्समान पदों से साम्य रखते हैं, फिर भी अनेक स्थलों पर उनकी रचना बिलकुल अनोखे ढंग से करते हैं। कहीं कहीं तो वे पाणिनि की प्रिय सांकेतिक या प्रत्याहार विधि से रचे गये हैं। प्रथम चार प्रपाठकों में यह बात विशेष रूप से देखने में आती है; और इसी कारण से कम से कम इस समय तक तो, इस पर कोई भाष्य उपलब्ध नहीं है; जबकि शेष छः

---

[1]'मूल' या 'आधार' के अर्थ में 'निदान' शब्द बौद्ध सूत्रों में प्रायः मिलता है; देखिए बरनाउफ़ इण्ट्रोड० ए ला' हिस्टोरे डू बुद्धिज्मे इण्डिएन, पृ० ५९, ४८४ आदि।

[2]देखिए इं० स्टू० १.४४ आदि; प्रथम दो पटलों का, जिनमें छन्दों का विशिष्ट निर्देश है, सम्पादन और अनुवाद मैंने किया है, इं० स्टू० ८।८५-१२४; अनुब्राह्मणिन्, -ण के लिए आश्व० श्रौ० २.८.११ तथा तै० सं० १.८.१.१ का भाष्य देखिए।

[3]कम से कम पाण्डुलिपि के दो अध्यायों के अन्तिम परिचयात्मक वाक्यों में रचयिता का यही नाम दिया गया है। चैम्बर्स २२० (केटलाग आफ द बर्लिन मैन्यु०, पृ० ७६)।

सूत्रों पर उपाध्याय अजातशत्रु[1] का बहुत सुन्दर भाष्य विद्यमान है। यह ग्रन्थ उन विधियों का वर्णन करता है जिन विधियों से पृथक् ऋचाओं को विविध निविदों इत्यादि द्वारा सामन् में परिवर्तित किया जाता है या पुष्प जैसा खिला दिया जाता है। इसी कारण इस सूत्र का नाम 'पुष्पसूत्र' रखा गया है। प्रवचन अर्थात् (भाष्य के अनुसार) कालभविन् और शाट्यायनिन् शाखाओं के ब्राह्मणों के अतिरिक्त मैंने विहङ्गम दृष्टि डालने पर कौथुम शाखा के ब्राह्मण का भी उल्लेख पाया है। यह प्रथम अवसर है जब इनके नाम वैदिक साहित्य से संबद्ध ग्रन्थ में आते हैं। इस रचना के कुछ अंश, विशेषतः अन्तिम प्रपाठकों के अंश, श्लोकों में रचे गये हैं और निःसन्देह हमें इन्हें विभिन्न कालों के स्फुट अंशों का संकलन मानना होगा।[2] इससे घनिष्ठ संबन्ध रखनेवाला 'सामतन्त्र' है, जो उसी शैली में रचा गया है और उसी प्रकार बिना भाष्य के नितान्त दुरूह है। इसमें तेरह प्रपाठकों में पृथक् मन्त्रों के स्वर और स्वरप्रक्रिया पर विचार किया गया है। इस पर एक भाष्य अवश्य मिलता है, किन्तु इस समय वह खण्डित रूप में है। अन्त में इस ग्रन्थ को सामवेदीय आचार्यों का व्याकरण कहा गया है।[3]

अनेक दूसरे सूक्त भी ऋचाओं के सामन् रूप में परिवर्तन पर विचार करते हैं। इनमें से एक 'पञ्चविधिसूत्र' (पञ्चविध्य, पञ्चविधेय) का ज्ञान मुझे केवल उद्धरणों से है, जिनके अनुसार और इसके नाम से भी इसमें ऋचाओं को सामन् के रूप में परिवर्तित करने की पाँच विधियों का विवेचन किया गया है। दूसरा-सूत्र 'प्रतिहार सूत्र' कात्यायन रचित बताया जाता है; इस पर 'दशतयी' नाम का भाष्य वरदराज ने लिखा था। वरदराज ने

---

[1]अपने शिष्य विष्णुयशस् के लिए रचा।

[2]दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपियों में इस रचना को 'फुल्लसूत्र' कहा गया है, और इसे वररुचि का बताया गया है, गोभिल का नहीं। देखिए बर्नेल—केटलाग पृ० ४५, ४६; इस विषय तथा अन्य मतभेदों पर मेरा लेख देखिए : इउबेर डस् सप्तशतकम् डेस् हाल (१८७०), पृ० २५८, २६९; मेरे पास इस समय मूल तथा उसकी टीका की एक प्रति है, किन्तु उससे कोई ऐसी विशेष बात नहीं मिलती जो ऊपर के कथन के अतिरिक्त कहा जा सके।

[3]देखिए बर्नेल—केटलाग, पृ० ४०, ४१; वही पृ० ४४। हम एक स्वरपरिभाषा या 'सामलक्षण' का भी उल्लेख पाते हैं। कैयट ने भी एक 'सामलक्षणम् प्रातिशाख्यं शास्त्रम्' का उल्लेख किया है, जिसके द्वारा ये 'उक्थार्थ' शब्द की व्याख्या करते हैं; महाभाष्य के अनुसार 'उक्थार्थ' 'औक्थिकु' का आधार है, जिसकी रचना स्वयं पाणिनि ने बताई है (४.२.६०) देखिए इं० स्टू० १३.४४७; इसके अनुसार यह निःसन्देह सन्देहास्पद लगता है कि कैयट ने जिस 'सामलक्षण' का नाम लिया है वह इसी नाम की विद्यमान रचना है या नहीं।

'मशकसूत्र' पर भी भाष्य लिखा है। इसमें उपर्युक्त पाँच विधियों का एकविधि प्रतिहार के विशेष विवेचन के साथ वर्णन है। 'तण्डालक्षण सूत्र' के केवल नाम का मुझे ज्ञान है; इसी प्रकार 'उपग्रन्थसूत्र'[१] का भी नाम भर मिलता है; ये दोनों सूत्र तथा इनके पहले उल्लिखित दो सूत्र (पञ्चविधि और प्रतिहार) सूची के अनुसार 'फोर्ट विलिअम कलेक्शन आफ़ मैन्युस्क्रिप्टस्' में पाये जाते हैं। 'मशकसूत्र' की बर्लिन पाण्डुलिपि के अज्ञातनामा लेखक ने, जिसे आप्त प्रमाण नहीं माना जा सकता, पाण्डुलिपि के अन्त में सामवेद के दस श्रौतसूत्र गिनाये हैं। इनमें लाट्यायन, अनुपद, निदान, कल्प, तण्डालक्षण, पञ्च-विधेय और उपग्रन्थ सूत्रों के अतिरिक्त कल्पानुपद अनुस्तोत्र, और क्षुद्रस् सूत्र भी बताये गये हैं। अन्तिम तीन नामों से क्या अर्थ लगाया जाय यह सम्प्रति निश्चित नहीं किया जा सकता।[२]

सामवेद का गृह्यसूत्र गोभिल का है, जिन्हें एक श्रौतसूत्र और पुष्पसूत्र का भी रचयिता माना जाता है।[३] उनका नाम काफ़ी अवैदिक प्रतीत होता है और इस प्रकार का कोई नाम शेष वैदिक साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।[४] चार प्रपाठकों में निबद्ध यह गृह्यसूत्र शेष वेदों के गृह्यसूत्रों से क्या संबंध रखता है, यह अब तक नहीं जाना जा सका है।[५] इसका एक परिशिष्ट है कात्यायन का 'कर्मप्रदीप'। इसकी भूमिका के शब्दों में इसे स्पष्ट रूप से गोभिल गृह्यसूत्र का परिशिष्ट कहा गया है, किन्तु इसे इस वेद का दूसरा गृह्यसूत्र भी मानते हैं और एक स्मृतिशास्त्र भी। इस कर्मप्रदीप के भाष्यकार आशार्क के कथन के अनुसार गोभिलगृह्यसूत्र सामवेद की दोनों शाखाओं, कौथुम और राणायणीय[६] के लिये

---

[१] ऋगनुक्रमणी के भाष्य की भूमिका में षड्गुरुशिष्य ने कात्यायन को 'उपग्रन्थस्य कारक' कहा है।

[२] 'पञ्चविधिसूत्र' और 'कल्पानुपद' पर जो दोनों दो प्रपाठकों में हैं; तथा 'क्षौद्र' के विषय में जो तीन प्रपाठकों में है म्यूल्लेर का एं० सं० लि०, पृ० २१० तथा आउफ्रेस्ट केटलागस, पृ० ३७७ ब देखिए। 'उपग्रन्थसूत्र' में प्रायश्चित्तों का वर्णन है, देखिए राजेन्द्रलाल मित्र : 'नोटिसेज आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स', २.१८२।

[३] उन्हीं का एक 'नैगेय सूत्र' भी बताया जाता है, "जो सामवेद के छन्दों का एक विवेचन है", देखिए कोलिन ब्राउनिंग का 'केटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स एक्जिस्टिंग इन अवध (१८७३), पृ० ४।

[४] गोभिल शाखा के आचार्यों की एक सूची वंश-ब्राह्मण में मिलती है।

[५] 'गोभिल गृह्य सूत्र' का एक संस्करण चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने अपने विस्तृत भाष्य के साथ बिब्लि० इंडिका (१८७१) में निकल रहा है; चतुर्थ खण्ड (१८७३) २.८.१२ तक पहुँचा है। हास के लेख में विवाह से सम्बद्ध अंशों को देखिए इं० स्टू० ५.२८३।

[६] स्मृति-शास्त्रों के लेखकों में एक कुठुमि के नाम का भी उल्लेख किया गया है।

प्रामाणिक था। क्या 'खदिर गृह्यसूत्र' को जिसका कभी-कभी उल्लेख किया जाता है सामवेद का ही मानना चाहिए ?[१]

सामवेदीय साहित्य की अन्तिम अवस्था के रूप में हम एक ओर तो उन विविध पद्धतियों और टीकाओं का निर्देश कर सकते हैं जो स्वयं को सूत्रों से संबद्ध करती हैं और उनकी व्याख्या तथा विकास का कार्य करती हैं; दूसरी ओर हम उन छोटे-छोटे लघुग्रन्थों के वर्ग का निर्देश कर सकते हैं, जिन्हें परिशिष्ट कहते हैं और जो पद्धतियों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र स्वरूप वाले हैं। इन परिशिष्टों को सूत्रों का पूरक या परवर्ती काल का जोड़ माना जाता है।[२] इनमें नैगेय की संहिता के पूर्वोल्लिखित 'आर्ष' और 'दैवत' परिशिष्ट—जो ऋषियों एवं देवताओं की गणना करते हैं—विशेष उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ आद्योपान्त अपेक्षतया अधिक प्राचीन परम्परा को इंगित करते हैं; उदाहरण के लिये वे यास्क और शाकपूणि प्रभृति नैरुक्तों, नैघण्टुकों, शौनक (संभवतः उनकी 'ऋग्वेदानुक्रमणी') अपने ही ब्राह्मणों, ऐतरेय और ऐतरेयिन, शतपथिक, प्रवचनकाठक और आश्वलायन का उल्लेख करते हैं। संभवतः 'दाल्भ्य परिशिष्ट' का भी नाम यही रखना चाहिए; इसके नाम के साथ एक ऐसे व्यक्ति का नाम जुड़ा है, जो 'छान्दोग्योपनिषद्' में अनेक बार आता है और पुराणों में यह नाम प्रायः शास्त्रार्थ या संवाद करानेवाले एक आचार्य के नाम के रूप में आया है।

---

[१]निश्चय ही। बर्नेल के केटलाग पृ० ५६ में द्राह्यायण-गृह्यसूत्र (चार पटलों में) खादिर का बताया जाता है। रुद्रस्कन्दस्वामिन् ने इस ग्रन्थ पर एक वृत्ति भी लिखी है (देखिए, पृ० ८०) और खादिर के गृह्यसूत्र की कारिका को रचयिता वामन बताये जाते हैं; बर्नेल, पृ० ५७। सामवेद के गृह्यसूत्र से ही गौतम का 'पितृमेघ-सूत्र' सम्बद्ध है। (तुलना—बर्नेल, पृ० ५७; भाष्यकार अनन्तयज्वन् ने रचयिता का तादात्म्य अक्षपाद से किया है जो 'न्यायसूत्र' के रचयिता हैं); 'गौतमधर्मसूत्र' भी इसी से संबद्ध है। विधि साहित्य का विवेचन करनेवाला अंश देखिए।

[२]रामकृष्ण ने शुक्ल यजुस् गृह्यसूत्र के अपने भाष्य में अनेक बार इनका रचयिता कात्यायन को बताया है (इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, संसू ४४०, ५२ अ ५६अ, ५८ अ, इत्यादि) या ये उद्धरण उपर्युल्लिखित 'कर्मप्रदीप' का निर्देश करते हैं ?

४ : यजुर्वेद

यजुर्वेद का अन्य वेदों से विशेष भेद यह है कि इससे बड़ी संख्या में विभिन्न शाखाएँ संबद्ध हैं। यही तथ्य इसका कारण और प्रमाण है कि यह मुख्य रूप से अध्ययन का विषय बन गया; क्योंकि इसमें सम्पूर्ण यज्ञविधि के नियम दिये गये हैं; और वस्तुतः वे ही इसके आधार हैं। इसके विपरीत ऋग्वेद मुख्य रूप से और सामवेद पूर्ण रूप से केवल इसके एक अंग सोमयज्ञ का ही विवेचन करते हैं। यजुर्वेद प्रथमतः दो भागों में विभक्त है : कृष्णयजुर्वेद और शुक्लयजुर्वेद। कुल मिलाकर इन दोनों का वर्ण्यविषय एक समान है; किन्तु मौलिक रूप में वे एक दूसरे से विषय-विन्यास की दृष्टि से भेद रखते हैं। कृष्णयजुर्वेद संहिता में अधिकांशतः याज्ञिक मन्त्रों के तत्काल बाद उनकी शास्त्रीय व्याख्या आती है और उनसे संबद्ध यज्ञ का वर्णन आता है; इसका ब्राह्मण भाग केवल समय की दृष्टि से संहिता से भिन्न है अन्यथा उसे संहिता का परिशिष्ट या पूरक ही समझना चाहिए। इसके विपरीत, शुक्ल-यजुर्वेद में याज्ञिक मन्त्रों, उनकी व्याख्या और ब्राह्मणान्तर्गत आने वाले यज्ञों का विवेचन सभी को बिल्कुल अलग-अलग कर दिया गया है; ऐसी ही बात ऋग्वेद और सामवेद में ही पाई जाती है। इसके अतिरिक्त एक और भेद यह है कि कृष्णयजुर्वेद में होतर और उसके कर्मों पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है, किन्तु शुक्लयजुर्वेद में इस विषय को बहुत कम स्थलों पर निर्दिष्ट किया गया है। ऐसी स्थिति में जो रचना अव्यवस्थित होती है उसे आरम्भिक या पूर्ववर्ती काल का माना जाता है और जिसमें व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है उसे परवर्ती काल का समझा जाता है; और यह विचार प्रस्तुत उदाहरण में भी सत्य पाया जा सकता है। चूंकि प्रत्येक यजुर्वेदीय संहिता का नितान्त स्वतंत्र साहित्य है, अतः हम प्रत्येक का विवेचन अलग-अलग करेंगे।

कृष्ण यजुर्वेद

सर्वप्रथम कृष्णयजुर्वेद आता है। इसके विषय में हमें अब तक जो तथ्य प्राप्त हैं वे इतने विस्तृत साहित्यक जगत का द्वार उद्घाटित करते हैं किन्तु साथ ही साथ इतने अल्प रूप में सामग्री प्रदान करते हैं कि अब तक इस क्षेत्र में अन्वेषणों का अन्य किसी क्षेत्र की अपेक्षा कम सन्तोषदायक परिणाम निकलता है।[1] प्रथमतः 'कृष्णयजुर्वेद' नाम बहुत

---

[1]देखिए इ० स्टू० १.६८ आदि [सूत्रों को छोड़कर यज्ञविषयक सभी ग्रन्य अब प्रकाशित हो चुके हैं, आगे टिप्पणियाँ देखें]।

बाद के समय का है और संभवतः यह नाम शुक्लयजुर्वेद नाम रख दिये जाने के उपरान्त उससे इसका विपर्यास प्रदर्शित करने के लिये रखा गया। ऋग्वेदीय आचार्यों को 'वह्वृच' सामवेदियों को 'छन्दोग' कहा गया है: और इसी प्रकार यजुर्वेद के आचार्यों का प्राचीन नाम 'अध्वर्यु' है; वस्तुतः कृष्णयजुर्वेदसंहिता और शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण में इन तीनों नामों का इसी रूप में प्रयोग किया गया है। शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण में अध्वर्यु नाम का प्रयोग उसी ब्राह्मण के अनुयायियों के लिये हुआ है तथा चरकाध्वर्यु को निन्दित एवं अध्वर्यु लोगों का विरोधी बताया गया है। इस प्रकार की शत्रुता शुक्लयजुर्वेदीय संहिता के भी एक अनुच्छेद से प्रकट होती है, जिसमें पुरुषमेध की एक बलि के रूप में 'चरकाचार्य' को 'दुष्कृत' या बुरे कर्म को अर्पित किया गया है। यह बात बड़ी विलक्षण प्रतीत होती है; क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर 'चरक' पद का प्रयोग अच्छे अर्थ में 'पर्यटनशील विद्वान्' के लिये हुआ है, जैसा कि 'चर्' धातु का अर्थ है 'अध्ययन के लिये भ्रमण करना'। तब उपर्युक्त तथ्य का कारण यही प्रतीत होता है कि चरक नाम कृष्णयजुर्वेद की एक प्रमुख शाखा का भी है, जिससे हमें यह मानना होगा कि इन चरकों और शुक्लयजुर्वेद के अनुयायियों में सीधी शत्रुता थी जो उनके विरोध में खड़े हो गये थे। इस प्रकार का वैमनस्य समान रूप से दूसरी स्थितियों में भी मिलता है। कृष्णयजुर्वेद का दूसरा नाम तैत्तिरीय है। यह नाम इस वेद के प्रातिशाख्य सूत्र और सामसूत्र में आने के पहले और कहीं नहीं आया है। पाणिनि[1] इस नाम का सम्बन्ध 'तित्तिर' नाम के ऋषि से जोड़ते हैं; ऐसी ही बात ऐतरेय शाखा की अनुक्रमणी में भी मिलती है, जिसका हम प्रायः उल्लेख करेंगे। इसके विपरीत इसका संबंध एक कथा से भी है। जब वैशम्पायन के शिष्यों में से एक ने अपने गुरु से क्रुद्ध होकर यजुस् मन्त्रों को निगल लिया और फिर उगल दिया तब शेष शिष्यों ने 'तित्तिर' बनकर उसे चुन लिया था या एकत्र किया था। यह कथा भले ही हास्यास्पद लगती है फिर भी इसके बाह्य रूप के भीतर कुछ अर्थ छिपा हुआ है। कृष्णयजुर्वेद वस्तुतः बिखरा हुआ, अव्यवस्थित विभिन्न अंशों का ढेर है; और मैं स्वयं तैत्तिरीय नाम की व्युत्पत्ति तित्तिर ऋषि से करने की अपेक्षा त्तित्तिर पक्षी से करना अधिक संगत समझता हूँ, जिस प्रकार कृष्णयजुर्वेद की एक दूसरी प्रमुख शाखा खाण्डिकीय का नाम संभवतः इसी तथ्य के आधार पर पड़ा है कि कृष्णयजुर्वेद खण्डों से बना है।

---

[1]ऊपर जिस नियम (४.३.१०२) का उल्लेख किया गया है उसकी व्याख्या कलकत्ता के भाष्यकार के अनुसार, पतंजलि के भाष्य में नहीं की गई है। संभवतः यह पतंजलि का भाष्यकार न हो अपितु पतंजलि से बाद का हो सकता है। [स्वयं तैत्तिरीय नाम का भाष्य में अनेक बार उल्लेख हुआ है; देखिए इं० स्टू० १३.४४२; इसमें तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः' का भी उल्लेख है जो छन्दस् का नहीं है; देखिए इं० स्टू० ५.४१; गोल्डस्टूकेर, पाणिनि, पृ० २४३]।

पाणिनि[1] ने तैत्तिरीय के समान ही इसका संबंध खण्डिक नाम के ऋषि से जोड़ा है और वस्तुतः खण्डिक (औद्भरि) नाम के ऋषि का उल्लेख शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण (११-८-४.१) में भी हुआ है।

कृष्णयजुर्वेद की अनेक शाखाओं में संभवतः सभी शाखाएँ संहिताओं और ब्राह्मणों तक व्याप्त नहीं थीं; कुछ में शायद केवल सूत्र ही थे।[2] कम से कम यहाँ तक संहिता के केवल तीन विभिन्न पाठ हमें सीधे ज्ञात हैं; उनमें से दो तो स्वयं मौलिक पाठ के रूप में हैं और तीसरी संहिता अनुक्रमणी द्वारा ज्ञात होती है। प्रथम दो हैं तैत्तिरीय संहिता 'कत' 'एक्सोकीन', जिसका संबंध खाण्डिकीय शाखा के एक भेद आपस्तम्ब शाखा से जोड़ा जाता है और काठक संहिता जो चरक शाखा और उसके विशिष्ट भेद चारायणीय शाखा की है।[3] औखीय शाखा के एक भेद आत्रेय शाखा की एक संहिता का पता हमें केवल इसकी अनुक्रमणी से चलता है। तत्त्वतः यह आपस्तम्ब की शाखा से साम्य रखती है। काठकसंहिता के साथ ऐसी बात नहीं है। यह अधिक स्वतन्त्र धरातल पर स्थित है, और कृष्ण तथा शुक्ल यजुस् के बीच माध्यमिक स्थान ग्रहण करती है। पाठ की दृष्टि से काठक-संहिता प्रायः शुक्लयजुस् से मिलती-जुलती है और विषयविन्यास की दृष्टि से कृष्णयजुस् से। यास्क ने अपने निरुक्त में ब्राह्मण वर्ग की एकमात्र रचना के रूप में 'हारिद्रविक' के साथ केवल काठक का नाम लिया है; 'हारिद्रविक' एक नष्ट रचना है, जो निःसन्देह काठक के समान ही कृष्णयजुस् अर्थात् मैत्रायणीय शाखा के भेद हारिद्रवीय शाखा से सम्बद्ध है। पाणिनि ने भी एक सूत्र में इसका स्पष्ट निर्देश किया है और 'अनुपद-सूत्र' तथा 'बृहद्देवता' में भी इसका आगे उल्लेख किया गया है। अन्य वैदिक रचनाओं में कठ का नाम नहीं मिलता और न आपस्तम्ब का ही नाम आता है।[4]

---

[1]नियम वही है जो तित्तिर के लिए। पिछली टिप्पणी में जो कुछ कहा गया है, वह यहाँ भी लागू होता है।

[2]अन्य वेदों के साथ भी ऐसी ही बात है।

[3]मूल के अतिरिक्त एक ऋष्यनुक्रमणी भी है।

[4]बाद की रचनाओं में अनेक कठों का भेद दिखाया गया है; कठ, प्राच्यकठ, और कपिष्ठल कठ; अन्तिम का विशेषण पाणिनि (८.३.९१) में मिलता है और मेगास्थनीज ने 'काम्बिष्ठोलोइ' को पंजाब की एक जनता बताया है। फोर्ट विलियम केटलाग में एक कपिष्ठल-संहिता का उल्लेख है (देखिए इं० स्टू० १३.३७५, ४३९—'महाभाष्य' के काल में कठों का स्थान पर्याप्त महत्वपूर्ण रहा होगा क्योंकि उनका और उनके ग्रन्थ काठक का अनेक बार उल्लेख किया है।

देखिए इं० स्टू० १३।४३७– उनकी शाखा के प्रवर्त्तक कठ महाभाष्य में वैशम्पायन के शिष्य प्रतीत होते हैं और कठ भी कालापों और कौथुमों से सम्बद्ध दिखाई पड़ते

आपस्तम्ब शाखा की संहिता सात काण्डों में (जिन्हें अष्टक! कहा गया है) है; इन अष्टकों का विभाजन ४४ प्रश्नों, ६५१ अनुवाकों और २१९८ कण्डिकाओं में किया गया है। कण्डिकाओं को समान अक्षरों या मात्राओं के सिद्धान्त के आधार पर एक दूसरे से अलग किया गया है।[1] ऐतरेय पाठ के विस्तार के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; इसका भी विभाजन काण्डों, प्रश्नों और अनुवाकों में किया गया है; इनके प्रथम शब्द प्रायः आपस्तम्ब शाखा की संहिता के समकक्ष विभागों के प्रथम शब्दों से मिलते हैं। काठकसंहिता का विभाजन बिल्कुल भिन्न ढंग से किया गया है। इसमें पाँच काण्ड हैं, जिनमें प्रथम तीन को चालीस स्थानकों और अनेक छोटी कण्डिकाओं में (जो संभवतः मात्रा के आधार पर ही एक दूसरे से पृथक् की गई हैं) विभक्त किया गया है; चौथे काण्ड में केवल होतर् द्वारा पढ़ी जाने वाली ऋचाएँ दी गई हैं और पाँचवें में अश्व-मेध यज्ञ से संबद्ध मन्त्र दिये गये हैं। प्रथम तीन काण्डों के परिचयात्मक वाक्यों में चरक शाखा को क्रमशः 'इठिमिका', 'मध्यमिका' और 'ओरिमिका' नामों द्वारा अभिहित किया गया है। इन नामों में प्रथम और तृतीय का अर्थ अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है।[2] इन रच-नाओं में जहाँ तक यज्ञों का प्रश्न है, ब्राह्मण भाग अत्यल्प है और वह यज्ञ का केवल अपूर्ण चित्र ही प्रस्तुत करता है; फिर भी यह देवताविषयक कल्पनाप्रधान आख्यानों से परिपूर्ण है। सम मिलाकर याज्ञिक मन्त्र के ही हैं, जो शुक्लयजुःसंहिता में पाये जाते हैं; किन्तु

हैं, जो सामवेद की शाखाएँ हैं। रामायण में भी कठ-कालापों के अयोध्या में अधिक सम्मानित होने का वर्णन मिलता है'(२.३२.१८ स्लेगेल)। हरदत्त का यह कथन कि "बहवृचानाम् अप्य् अस्ति कठशाखा" (भट्टोजि का सिद्धान्तकौमुदी, सं० तारानाथ १८६५, भाग २, पृ० ५२४, पाणि० ७.४.३८ पर) संभवतः किसी भ्रामक अर्थ पर आधृत है। देखिए इं० स्टू० १३.४३८]।

[1]मात्राओं की संख्या पर नहीं अपितु शब्दों की संख्या पर इसका निर्धारण होता है; नियमतः बावन शब्दों की एक कण्डिका होती है; देखिए इं० स्टू० ११.१३; १२.९०; १३.९७-९९। अष्टक के स्थान पर हम अधिक शुद्ध नाम काण्ड भी पाते हैं और 'प्रश्न' के स्थान पर जो तैत्तिरीय शाखा के ग्रन्थों में विशेष रूप से पाया जाता है, सामान्यतः 'प्रपा-ठक' शब्द का प्रयोग हुआ है; देखिए इ० स्टू० ११, १३, १२४ तैत्ति० ब्रा० और तैत्ति० आर० का भी कण्डिकाओं में विभाजन किया गया है, और इनका भी विभाजन छोटे अंशों में किया गया है; किन्तु इस विभाजन का आधार अभी स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं किया जा सका है।

[2]'इठिमिका', 'हेट्ठिमा' से व्युत्पन्न है (हेट्ठ या अधस्तात् से) और 'ओरिमिका' 'उररिम' से बना है ('उपरि' से); देखिए मेरा लेख 'उइबेर डी भगवती डेर जैन' १.४०४ टिप्पणी।

उनका क्रम भिन्न है, यद्यपि जिन यज्ञों से ये मन्त्र संबद्ध हैं उनका क्रम अधिकांशत: वही है। शब्दों की अनेक असंगतियाँ भी हैं; विशेष रूप से यह व्यञ्जन के बाद आने वाले अन्तस्थ व्यञ्जन 'व्' और 'य्' के 'उव्' और 'इय्' के रूप में वृद्धि का उदाहरण दे सकते हैं, जो केवल आपस्तम्ब शाखा में पायी जाती है।[1] जहाँ तक भौगोलिक या ऐतिहासिक तथ्यों का प्रश्न है (यहाँ मैं केवल आपस्तम्ब शाखा और काठक संहिता के विषय में ही कह सकता हूँ), वर्ण्य विषय में अन्तर न होने के कारण ये तथ्य वे ही हैं जो शुक्लयजु: संहिता में उपलब्ध होते हैं (शुक्लयजुस् में इनकी संख्या और अधिक है, क्योंकि इसमें ऐसे यज्ञों के भी मन्त्र हैं, जो काठक में नहीं मिलते, जैसे पुरुषमेध)। अब ये तथ्य जिनके साथ हमें ब्राह्मण स्वरूप वाले अंशों में विकीर्ण कुछ अन्य उल्लेखों को भी जोड़ना चाहिए[2] —हमें पीछे की ओर कुरुपञ्चालों के राज्य के समृद्धियुग में खींच ले जाते हैं; इस कारण इन दोनों रचनाओं का उद्गम स्थान कुरुपञ्चालों का जनपद मानना चाहिए।[3] यह बात उनके अन्तिम संकलन पर भी लागू होती है या नहीं, यह एक दूसरा प्रश्न है, जिसका उत्तर, जहाँ तक आपस्तम्ब संहिता का प्रश्न है, इस बात पर निर्भर करता है कि इसकी क्रमयोजना में आपस्तम्ब का क्या हाथ है जिनके नाम से यह संबद्ध है। ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसके अनुसार, काठकसंहिता यास्क के समय में भी अपने पूर्णरूप में विद्यमान प्रतीत होती है, क्योंकि यास्क ने उससे उद्धरण दिये हैं। इसके विपरीत आत्रेय शाखा की अनुक्रमणी यास्क पैङ्गि[4] को (वैशम्पायन के शिष्य के रूप में) तित्तिर का गुरु, तित्तिर को उख का गुरु और उख

---

[1]अधिक विवरण के लिए इं० स्टू० १३.१०४-१०६ देखिए।

[2]उदाहरण के लिए, उनके अन्तर्गत आपस्तम्बसंहिता में सभी चान्द्र नक्षत्रों को गिनाया गया है,उनका क्रम बाद की गणनाओं के क्रम से अन्तर रखता है, जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ यह क्रम १४७२ और ५३६ ई० पू० के बीच निर्धारित किया जा चुका होगा। किन्तु प्रस्तुत अंश के सम्बन्ध में इससे जो कुछ निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि यह १४७२ ई० पू० के पहले का नहीं है, इससे यह कदापि निष्कर्ष नहीं निकलता कि ५३६ ई० पू० के बाद का है। अतएव इस सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं मिलती। [यद्यपि यहाँ स्थिति में कुछ अन्तर है, फिर भी यह सही है; देखिए ऊपर पृ० २ तथा ३० की टिप्पणियाँ। नक्षत्रों की गणना के सम्बन्ध में मेरा लेख विशेष रूप से देखिए। 'डी वेदिश्श नखरिष्टेन फोन डन् नक्षत्र (२.२९९ आदि)।

[3]काठक में धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य का उल्लेख विशेष ध्यान देने योग्य है और इसी प्रकार पञ्चालों और कुन्तियों केसंघर्ष का उल्लेख भी रोचक है; देखिए इं० स्टू० ३.४६९-४७२।

[4]इसके विपरीत, भट्ट भास्कर मिश्र ने पैङ्गि् के स्थान पर याज्ञवल्क्य नाम दिया है, देखिए बर्नेल केटलाग, पृ० १४।

को आत्रेय[1] का गुरु बताती है। इससे आत्रेय शाखा की अनुक्रमणी के लेखक का यह स्पष्ट रूप से विचार दिखाई पड़ता है कि यास्क तित्तिरि और आत्रेय नाम की कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं के पाठों के पहले हुए थे; यद्यपि इस विचार की सत्यता प्रमाणित करनेवाले तथ्यों का अभाव है। कृष्णयजुःसंहिता को क्रमबद्ध करने में निःसंदेह यास्क का भी कुछ प्रभाव रहा होगा, यह बात इस तथ्य से प्रकट है कि भट्ट भास्कर ने आपस्तम्ब संहिता[2] के भाष्य के एक विद्यमान अंश में पाठ के विभाजन के संबंध में काशकृत्स्न और एकचूर्णि के विचारों के साथ-साथ यास्क के मत का भी उद्धरण दिया है।

शुक्लयजुर्वेदीय 'कातीयसूक्त' के भाष्य में काठक के साथ-साथ मानव और मैत्र से भी बहुशःउद्धरण लिये गये हैं। यह सत्य है कि हम इन नामों को सूत्रों या उनकी रचनाओं में नहीं पाते, किन्तु किसी भी दशा में वे काठकसंहिता से मिलती-जुलती संहिता के विषय में उल्लिखित हैं, जैसा कि स्वयं उद्धरणों से स्पष्ट है। ये उद्धरण प्रायः पर्याप्त विस्तारवाले हैं। वस्तुतः हम यद्यपि परवर्तीकाल की रचनाओं में ही मैत्रायणीय और उनके उपभेद के रूप में मानवशाखा का उल्लेख कृष्णयजुस् की शाखाओं के रूप में पाते हैं। संभवतः ये रचनाएँ भारत में अब भी विद्यमान हैं।[3]

---

[1]आत्रेय उनकी शाखा के पदकार थे और कुण्डिन वृत्तिकार थे। यहाँ 'वत्ति' का अर्थ समझ में नहीं आता; इसी प्रकार पाणिनि ४.३.१०८ के भाष्य में भी इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है ('माधुरी वृत्ति') (देखिए इं० स्टू० १३.३८१)।

[2]इसके अतिरिक्त सायण का एक भाष्य भी है– यद्यपि यह केवल आंशिक रूप में है; दूसरा भाष्य बालकृष्ण का बताया जाता है। (बर्नेल के पाण्डुलिपियों के संकलन में देखिए उनका केटलाग, पृ० १२-१४)। भट्ट कौशिक भास्कर मिश्र के भाष्य का अधिकांश 'ज्ञानयज्ञ' नाम से उपलब्ध होता है; इसके रचयिता का समय सायण से ४०० वर्ष पहले का बताया गया है। अन्य व्यक्तियों के साथ उन्होंने भवस्वामिन् का उद्धरण दिया है, और वे आत्रेयी शाखा से विशेष सम्बन्ध रखते प्रतीत होते हैं। कृष्णयजुस् के एक 'पैशाचभाष्य' का भी उल्लेख किया गया है; देखिए इं० स्टू० ९।१७६—सायण के सम्पूर्ण भाष्य के साथ तैत्ति० संहिता का एक संस्करण रोईर ने (१८५४) में बिब्लिओथेका इण्डिका में निकालना आरम्भ किया था, इसे आगे कावेल और रामनारायण ने चालू रखा और अब यह महेशचन्द्र न्यायरत्न के हाथों में है (अन्तिम भाग सं० २८, १८७४, ४।३।११ तक पहुँचता है) : रोमन लिपि में सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन मैंने किया है इं० स्टू० १७, १२ (१८७१-७२)। काठक पर इं० स्टू० ३।४५१-४७९ देखिए।

[3]फोर्ट विलियम केटलाग के अनुसार मैत्रायणी शाखा का वहाँ अभी अस्तित्व है। [इस बीच अन्य पाण्डुलिपियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, देखिए इं० स्टू० ९।१७५ में हाग का विचार; उनका लेख 'ब्रह्म उण्ड डी ब्रह्मनेन' पृ० ३१-३४ (१८७१) और इस शाखा की

संहिता के अतिरिक्त एक ब्राह्मण भी है जो आपस्तम्ब शाखा और आत्रेय शाखा[१] को भी मान्य है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, यह ब्राह्मण संहिता से वर्ण्य विषय की दृष्टि से भेद नहीं रखता, अपितु केवल समय की दृष्टि से भिन्न है। वस्तुतः, इसे संहिता का परिशिष्ट या पूरक ही मानना चाहिए। यह या तो संहिता में आए हुए मन्त्रों को उद्धृत करता है और उनका संबन्ध उपर्युक्त यज्ञों से जोड़ता है, अथवा उनके साथ एकदम नये नियमों को जोड़ता है; उदाहरण के लिये, पुरुषमेध से संबद्ध विधान जो संहिता में बिल्कुल ही नहीं है तथा चान्द्र नक्षत्रों के यज्ञों से संबद्ध नियम। इस समय केवल तीसरा और अन्तिम काण्ड उपलब्ध है, जो बारह प्रपाठकों में है।[२] अन्तिम तीन प्रपाठकों में कतिपय विशिष्ट रूप से पवित्र यज्ञाग्नियों को उत्पन्न करने की विधि पर चार विभिन्न खण्ड हैं; इन प्रपाठकों को आत्रेय शाखा की अनुक्रमणी में कठ ऋषि की रचना बताया गया है (और इस कथन की पुष्टि सायण ने भी एक दूसरे स्थल पर की है)। इसके दो अन्य अध्याय भी हैं जो केवल आत्रेय शाखा में मिलते हैं, आपस्तम्व शाखा में नहीं। अन्ततः, इससे 'तैत्तिरीय आरण्यक' के प्रथम दो अध्याय भी संबद्ध हैं, जिनका वर्णन आगे किया जायगा। ये आठों अध्याय मिलकर ऊपर विवेचित काठक के स्पष्ट रूप से पूरक या परिशिष्ट हैं। ये स्वतंत्र रचना के रूप में विद्यमान नहीं दिखाई पड़ते, अपितु केवल आपस्तम्ब (और आत्रेय शाखाओं) के ब्राह्मण और आरण्यकों से संबद्ध हैं। इनसे इसके शेष भाग की बाह्यतः भिन्नता 'व्' और 'य्' की वृद्धि 'उव्' और 'इय्' के अभाव से आसानी से समझी जा सकती है। इन अध्यायों में दूसरे अध्याय के अन्त में नचिकेतस् के पाताललोक जाने के विषय में जो आख्यान उद्धृत है, उसने 'कठोपनिषद्' नाम के एक अथर्ववेदीय उपनिषद् को जन्म दिया। काठक के इस परिशिष्ट और स्वयं काठक के बीच पर्याप्त समय बीत गया होगा, जैसा कि अन्तिम अध्याय में महामेरु, क्रौञ्च, मैनाग, वैशम्पायन, व्यास, पाराशर्य इत्यादि के उल्लेखों

रचनाओं का ब्यूहलेर द्वारा किया गया विस्तृत विवेचन इ० स्टू० १३.१०३, ११७-१२८; इसके अनुसार, मैत्र० सं० में इस समय पाँच काण्ड हैं, इनमें दो बाद में जोड़े गये हैं; वे हैं उपनिषद जो काण्ड २ के रूप में चलता है और अन्तिम काण्ड जिसे खिल कहते हैं]।

[१]कम से कम जहाँ तक वस्तुस्थिति है संहिता और ब्राह्मण नाम अनुक्रमणी में नहीं आते हैं। इसके विपरीत आपस्तम्ब शाखा की संहिता अंशों से यह सीधे उसके ब्राह्मणों पर आ जाती है।

[२]सभी तीनों का सम्पादन सायण भाष्य के साथ बिब्लि० इं० (१८५५-७०) में राजेन्द्रलाल मित्र ने किया है। हिरेण्यकेशिशाखीय-ब्राह्मण जिसका उद्धरण ब्यूहलेर केटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स फ्राम गुजरात १।३८ पर किया है, साधारण आपस्तम्ब पाठ से अधिक भेद नहीं रखता होगा। कम से कम इनके अपने-अपने गृह्यसूत्र प्रायः शब्दशः एक दूसरे से साम्य रखते हैं; देखिए ब्यूहलेर—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, आमुख, पृ० ६ (१८६८)

से तथा उसमें पूर्वकालीन साहित्य अथर्वाङ्गिरसः ब्राह्मणाः, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसीः का स्वाध्याय विषयों के रूप में निर्देश होने से स्पष्ट है। अपरंच, इनमें से अन्तिम के पहले वाला अध्याय दूसरे रचयिता अरुणस् या आरुण का बताया जाता है, जिन्हें पाणिनि के[1] टीकाकार ने वैशम्पायन का शिष्य बताया है; इस कथन के साथ इस अध्याय में वैशम्पायन के मतों का मान्यतापूर्ण उल्लेख संगति रखता है। अतएव इस अध्याय को केवल भ्रमवश ही कठशाखा का कह दिया गया है। तैत्तिरीय-आरण्यक को, जिसके आरम्भ में वह अध्याय आया है और जो आपस्तम्ब और आत्रेय दोनों ही शाखाओं का है, इन शाखाओं के ब्राह्मणों का केवल परवर्ती काल का परिशिष्ट ही मानना चाहिए। अधिकांश आरण्यकों के समान यह भी वैदिक युग के पर्यवसान के समय की रचना है। इसमें दस अध्याय हैं; प्रथम छः अध्याय यज्ञों से संबद्ध हैं; प्रथम और तीसरे अध्यायों में अग्निचयन का वर्णन है; चौथे, पाँचवें और छठें अध्यायों में प्रायश्चित्त यज्ञों एवं पितृयज्ञों का वर्णन है, जो शुक्ल-यजुस्संहिता के अन्तिम अध्यायों से मिलता-जुलता है। इसके विपरीत आरण्यक में अन्तिम चार अध्यायों में दो उपनिषद् आते हैं; सातवें, आठवें और नवें अध्यायों में 'तैत्तिरीयोपनिषद्' 'कत' एक्सोकीन' और दसवें अध्याय में 'याज्ञिकी या नारायणीय उपनिषद्'। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' तीन भागों में है। पहला भाग 'संहितोपनिषद्' या शिक्षावल्ली[2] है, जो एक लघु व्याकरणीय विवेचन से प्रारम्भ होती है[3] और फिर विश्वात्मा के ऐक्य विषय की ओर मुड़ जाती है। द्वितीय और तृतीय भाग क्रमशः आनन्दवल्ली और भृगुवल्ली हैं, जिन दोनों का संयुक्त नाम 'वारुणी उपनिषद्' भी है। ये परमात्मा के चिन्तन में समाधि की अवस्था के सुख तथा जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य का वर्णन करते हैं।[4] यदि इनमें हम पूर्णतः सुगठित चिन्तनप्रणाली पाते हैं तो याज्ञिकी उपनिषद् का एक भाग हमें और भी आगे ले जाता है

---

[1]पाणिनि ४.२.१०४ पर कैयट (महाभाष्य ७३ ब के बाद, बनारस संस्करण); वे उन्हें अरुण के स्थान पर आरुणि नाम देते हैं; और उनसे आरुणिनों की शाखा की उत्पत्ति बताते हैं (भाष्य में उसी स्थल पर उद्धृत है); आरुणियों का उल्लेख स्वयं काठक में हुआ है; देखिए इं० स्टू० ३.४७५।

[2]'वल्ली' का अर्थ है 'लता', संभवतः इसका उद्देश्य इन उपनिषदों का लताओं के रूप में वर्णन करना है जो वेदशाखा से लिपटी रहती हैं।

[3]देखिए ऊपर पृ० ५३ म्यूल्लेर एंशि० सं० लिट्०, पृ० ११३; हॉग : 'इउबेर डस् वेजेन डेस् वेदिश्शेन एक्सेण्ट्स', पृ० ५४।

[4]इं० स्टू० २।२०७-२३५ में तैत्ति० उपनिषद का अनुवाद देखिए। शांकर भाष्य के साथ इसका संपादन रोइर ने बिब्लि० इं० भाग ७ में किया है [तैत्ति० आर० के अंश के रूप में केवल मूल का सम्पादन राजेन्द्रलाल मित्र ने किया है; देखिए अगली टिप्पणी, रोइर का अनुवाद बिब्लिओथेका इण्डिका भाग १५· में प्रकाशित हुआ था।

जिसमें हम नारायण की एक प्रकार की सम्प्रदायगत पूजा पाते हैं, शेष भाग में यज्ञविधि-विषयक परिशिष्ट है। अपने बहुविध वर्ण्यविषयों एवं सभी प्रकार के अंशों के संकलन के कारण यह आरण्यक रोचक तो है ही एक दूसरे दृष्टिकोण से भी यह हमारे लिये विशेष महत्त्व का है; वह यह कि इसके दसवें अध्याय के वस्तुतः दो पाठ हैं: एक पाठ तो वह जो सायण की उक्तियों के अनुसार द्रविड़ों का है और दूसरा पाठ वह जिसके साथ आन्ध्रों का नाम जुड़ा है, और ये दोनों ही दक्षिण भारत की जातियों के नाम हैं। इन दो पाठों के अतिरिक्त सायण ने कर्णाटकों के पाठ का और एक दूसरे पाठ का उल्लेख किया है, जिसका नाम उन्होंने नहीं दिया है। अन्ततः, यह दसवाँ अध्याय[1] एक अथर्वोपनिषद् के रूप में भी है और उसके भी अनेक पाठभेद हैं; इस कारण इस विषय में अनुसन्धान और अनुमान का एक विस्तृत क्षेत्र आलोचनात्मक अध्ययन के लिए खुला हुआ है। निःसन्देह, भारतीय साहित्य के इतिहास में ऐसे विषयों का अभाव नहीं रहा है, फिर भी ऐसी स्थिति कम आती है, जब तथ्य इस प्रकार सुलभ हों जैसा कि इस स्थल पर हैं; और इसके लिये हम सायण भाष्य के आभारी हैं। सायण का भाष्य इस स्थल पर वस्तुतः उत्तम है भी।

जब हम कृष्णयजुस् के अन्य ब्राह्मणों का अन्वेषण करने के लिए अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो पहले हम कामसूत्रों में उल्लिखित शाखाओं में दो ऐसी शाखाएँ पाते हैं, जिन्हें संभवतः कृष्णयजुस् की शाखा माननी चाहिए; ये हैं भाल्लविन् और शाट्यायनिन् शाखाएँ। भाल्लविन् शाखा के ब्राह्मण का उद्धरण पाणिनि के टीकाकार ने संभवतः 'महाभारत' के आधार पर[2] एक 'प्राचीन' ब्राह्मण के रूप में दिया है: इसका उल्लेख 'बृहद्दे-

---

[1]इसके एक अंश का अनुवाद इं० स्टू० २.७८-१०० में देखिए [सायण भाष्य के साथ तैत्ति० आरण्यक के पूर्ण संस्करण में इसका प्रकाशन हुआ है। (केवल अध्याय ७-९ नहीं है, देखिए पिछली टिप्पणी); इसका प्रकाशन बिब्लि० इं० (१८६४-७२) में राजेन्द्रलाल मित्र ने किया है; मूल द्राविड पाठ है जिस पर सायण ने भाष्य लिखा है और यह ६४ अनुवाकों में है साथ ही इसमें आन्ध्रपाठ के अनेक शब्द मिलते हैं (आन्ध्र पाठ में ८० अनुवाक है)। बर्नेल के संकलन में तैत्ति० आर० पर भट्ट भास्कर मिश्र का भाष्य भी है, जिसे संहिता के भाष्य के समान 'ज्ञानयज्ञ' नाम दिया गया है; देखिए बर्नेल केटलाग पृ० १६, १७]

[2]किन्तु ऐसी बात नहीं है; कारण, पाणिनि के सूत्र (४.३.१०५) के भाष्य में 'भाल्लविन्' का उल्लेख नहीं है। उनका उल्लेख इस ग्रंथ में अन्यत्र हुआ है ४.२.१० (कैयट ने इन्हें भल्लु नाम के आचार्य से उत्पन्न बताया है: भल्लुना प्रोक्तम् अधीयते'): अनुपद में ६५ में भाल्लवेयो मत्स्यो राजपुत्रः आया है, अतएव उनका देश मत्स्यों का देश रहा होगा; देखिए इं० स्टू० १३.४४१, ४४२ भाषिक सूत्र के समय में उनके ब्राह्मण में स्वरों का विधान था, जिस प्रकार कि शतपथब्राह्मण में; देखिए कीलहार्न इं० स्टू० १०.४२१।

वता' में भी है; सुरेश्वराचार्य और स्वयं सायण भी भाल्लविश्रुति के अंश उद्धृत करते हैं। माधव सम्प्रदाय ने भी अपने द्वैतमत की पुष्टि में एक ऐसा अनुच्छेद उद्धृत किया है, जिसे 'भाल्लवि-उपनिषद्' से लिया गया माना जाता है (एशि,० रिस० १६-१०४)। भाल्लवि-शाखा कृष्णयजुस् की शाखा है, यह बात अब भी अनिश्चित है; सम्प्रति मैंने ऐसा निष्कर्ष इस तथ्य से निकाला है कि भाल्लवेय एक ऐसे आचार्य का नाम है, जिनके मत का शुक्ल-यजुस् के ब्राह्मण में विशेष रूप से खण्डन और अनादर किया गया है। जहाँ तक शाट्यायनिन् शाखा का प्रश्न है, इसके ब्राह्मण को भी पाणिनि[1] के भाष्यकार ने एक प्राचीन ब्राह्मण माना है और सायण ने प्रायः इसके उद्धरण दिये हैं। यह निश्चित है कि शाट्यायनिन् कृष्णयजुस् के हैं, जैसा कि उन्हें चरणव्यूह में बताया गया है। चरणव्यूह विभिन्न शाखाओं की आधुनिक अनुक्रमणिका है; इसके अतिरिक्त शाट्यायनि नाम के एक आचार्य का उल्लेख शुक्लयजुस् के ब्राह्मण में दो बार आया है। सामसूत्रों में शाट्यायनियों को जो विशेष सम्मान दिया गया है, तथा उनके उद्धरणों के आधार पर यदि कहा जाय तो ये भी सामन् के प्रति जो सम्मान प्रदर्शित करते हैं उसका कारण यही हो सकता है कि शुक्लयजुस् और सामन् की शाखाओं के बीच एक विलक्षण संबन्ध था जो (स्वयं गूढ़ है किन्तु) अन्यत्र भी पाया जाता है।[2] इस प्रकार, कठों का उल्लेख कालापों और कौथुमों के साथ किया गया है और कौथुमों के साथ लौकाक्षों का भी नाम आया है। जहाँ तक शाकायनिन्[3], सायकायनिन्, कालभविन् और शालङ्कायनिन्[4] का प्रश्न है, जिनसे और शाट्यायनिन् से हम केवल उद्धरणों द्वारा परिचित हैं, यह नितान्त अनिश्चित है कि ये कृष्णयजुस् के हैं या नहीं।

---

[1]इस स्थल पर भी वह महाभाष्य को प्रमाण नहीं मानता, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र ४.३.१०५ के भाष्य में 'शाट्यायनिन्' का उल्लेख नहीं है; किन्तु कैयट ने शाट्यायन आदि द्वारा उक्त ब्राह्मणों का उद्धरण दिया है और उन्हें 'याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि' और 'सौलभानि ब्रा०' के समकालीन बताया है, जिनका उल्लेख महाभाष्य में हुआ है (देखिए इं० स्टू० ५.६७, ६८) स्वयं महाभाष्य में शाट्यायनिन का उल्लेख भाल्लविनों के साथ किया गया है (४.२.१०४ का भाष्य); वे उत्तर देश के प्रतीत होते हैं, देखिए इं० स्टू० १३.४४२।

[2]इस पर इं० स्टू० ३, ४७३; १३.४३९ देखिए।

[3]इसका उल्लेख शुक्ल यजुस् ब्राह्मण के दसवें काण्ड में हुआ है [देखिए काठक २२।७; इं० स्टू० ३.४७२]; सायकायन का भी उल्लेख है।

[4]पाणिनि ५.३.११४ के कलकत्ता भाष्य में शालङ्कायनों को वाहीकों के ब्राह्मणों में माना गया है (भाष्ये न व्याख्यातम्)। व्यास की माता सत्यवती को 'शाल-ङ्कायनजा' कहा गया है और स्वयं पाणिनि को शालङ्कि; देखिए इं० स्टू० १३.३७५, ३९५, ४२८, ४२९।

छागलिन्, जिनका नाम एंक्वेटिल के 'ओप्नेखात्' में पर्याप्त प्राचीन उपनिषद् में आया है, चरणव्यूह[1] में कृष्णयजुस् की एक शाखा के रूप में वर्णित हैं (पाणिनि ४।३।१०९ के अनुसार उन्हें छागलेयिन् कहा गया है); यही बात 'श्वेताश्वतर' के विषय में भी है। श्वेताश्वतर में इन्होंने अपना नाम एक छन्दोबद्ध उपनिषद के साथ जोड़ दिया और उसके अन्त में उसे श्वेताश्वर की रचना बताई है; इसमें दो प्राचीन मतों वाला सांख्य सिद्धांत अद्वैतवादी योग-दर्शन के साथ मिला दिया गया है। इस प्रकार इसमें यजुस् की संहिता आदि के नितान्त अप्रासंगिक अनुच्छेदों का विलक्षण दुरुपयोग किया गया है; और इस आधार पर ही यह यजुस् से संबद्ध होने का दावा करता है। सांख्य दर्शन के प्रवर्त्तक स्वयं कपिल को इसमें देवताओं के स्थान तक पहुँचा दिया गया है और यह स्पष्टतः एक बहुत बाद के काल की रचना है; क्योंकि यद्यपि इसमें से अनेक अनुच्छेदों को बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' में उद्धृत किया गया है (जिससे कम से कम इसके 'ब्रह्मसूत्र' से पहले की रचना होनी निश्चित है), फिर भी वे एक ही स्रोत यजुषों से भी उद्धृत किये गये हो सकते हैं। किसी भी स्थिति में यह शंकर से बहुत पहले का है, क्योंकि शंकर ने इसे श्रुति माना है और इस पर भाष्य लिखा है। हाल ही में इसका प्रकाशन शांकर भाष्य[2] के साथ डॉ० रोइर ने 'बिब्लिओथेका इण्डिका' भाग ३ में किया है (इण्ड० स्टू० १।४२० आदि भी देखिए)। कम से कम 'मैत्रायण-उपनिषद' का नाम तो बहुत प्राचीन है और इसका सम्बन्ध संभवतः उपर्युल्लिखित मैत्र (ब्राह्मण) के साथ जोड़ा जा सकता है। भाषा और वर्ण्य विषय की दृष्टि से इसका पाठ यह प्रकट करता है कि मैत्र ब्राह्मण की तुलना में यह बहुत ही अर्वाचीन काल का है। दुर्भाग्यवश, इस समय मेरे पास केवल प्रथम चार प्रपाठक हैं और ये भी बड़े अशुद्ध रूप में,[3] जबकि एंक्वेटिल के

---

[1]इस कथन में संशोधन की आवश्यकता है; कारण, चरणव्यूह में छागलिन् का नाम नहीं आया है (इसका उल्लेख केवल पाणिनि ने ही किया है) केवल 'छागेय' या 'छालेय' का उल्लेख चरणव्यूह में है; देखिए इं० स्टू० ३.२.८; म्यूल्लेर एशि० सं० लिट० पृ० ३७० एंक्वेटिल के स्कली ((Tschakli)) उपनिषद पर इं० स्टू० ९.४२-४९ देखिए।

[2]इसकी विशेषता यह है कि इसमें अनेक उद्धरण हैं, कभी कभी पुराणों आदि से बहुत लम्बे उद्धरण भी दिये गये हैं [रोइर का अनुवाद बिब्लि० इं० भाग १५ में प्रकाशित हुआ था।]

[3]हाल ही में इसकी प्रतिलिपि मुझे पेरिस के बैरोन डि एक्सटाइन के सौजन्य से प्राप्त हुई है; इसमें दसवें अध्याय का पद्यानुवाद है, जिसे इस उपनिषद् का अनुभूतिप्रकाश कहते हैं; यह १५० श्लोकों में है और इन चार प्रपाठकों में फैला हुआ है। इसकी प्रतिलिपि इ० आर० एच० ६९३ से की गई है और यह संभवतः विद्यारण्य की रचना से अभिन्न है, जिसका प्रायः उल्लेख कोलब्रूक ने किया है। [यह वस्तुतः ऐसा ही है और इस बीच

अनुवाद में इस उपनिषद् में बीस अध्याय हैं—फिर भी ये चार प्रपाठक ही इस ग्रन्थ के स्वरूप-निर्धारण के लिये पर्याप्त हैं। राजा बृहद्रथ ने सांसारिक वस्तुओं की असारता के कारण दुःखी होकर अपना राज्य पुत्र को दे दिया और स्वयं ध्यान में लग गये; इसी राजा की शाकायन्य (देखिए गण कुञ्ज) ने आत्मा और संसार के संबंध विषय पर इस उपनिषद् में उपदेश दिया है। शाकायन्य उन्हें वे ही उपदेश देते हैं जो मैत्रेय ने इस विषय पर कहा है; मैत्रेय ने भी उन्हीं उपदेशों को दुहराया था जिसे स्वयं प्रजापति ने बालखिल्यों को प्रदान किया था। इस प्रकार यह सिद्धान्त क्रमशः तीन व्यक्तियों से संक्रमित होने के उपरान्त इस रूप में आया है और इस परम्परा में हम इसकी परवर्तीकालीन उत्पत्ति की भी झलक देख सकते हैं। यह परवर्तीकालीन उत्पत्ति बाध्यरूप से भी इस तथ्य द्वारा प्रकट होती है कि दूसरे ग्रन्थों के समरूप अनुच्छेदों को इस सिद्धान्त में बहुशः उद्धृत किया गया है और उद्धरणों के आरम्भ में "अथऽन्यत्राऽप्युक्तम्" "एतद् अप्य् उक्तम्" "अत्रेऽमे श्लोका भवन्ति" "अथ यथेऽयं कौत्सायनस्तुतिः" वाक्य आते हैं। स्वयं इसके सिद्धान्त भी पूर्ण विकसित सांख्य सिद्धान्तों के समकक्ष हैं,[१] और भाषा भी ब्राह्मणों की भाषा से स्पष्टतः भिन्न है; कारण, इसमें पर्याप्त दीर्घ समासों का प्रयोग है और ऐसे शब्दों का प्रयोग है जो इन ब्राह्मणों में नहीं मिलते, अपितु केवल महाकाव्य काल की भाषा में भी पाये जाते हैं (जैसे—सुर, यक्ष, उरग, भूतगण, इत्यादि। ग्रहों तथा ध्रुवतारा (ध्रुवस्य प्रचलनम्) का उल्लेख भी एक ऐसे युग का संकेत देता है, जो ब्राह्मणों से बहुत पहले का है।[२] एंक्वे-

---

इस अंश का प्रकाशन सम्पूर्ण उपनिषद् के साथ कावेल ने अपने मैत्र० उपनिषद के संस्करण में किया है जो सात प्रपाठकों में है और रामतीर्थ के भाष्य तथा अंग्रेजी अनुवाद से संवलित हैं; इसका प्रकाशन बिब्लि० इं० (१८६२-७०) में हुआ है। भाष्य के अनुसार, अन्तिम दो अध्यायों को खिल समझना चाहिए और दूसरी ओर सम्पूर्ण उपनिषद् एक 'पूर्वकाण्ड' का है, जो चार अध्यायों में है और कर्मकाण्ड का ग्रंथ है; इससे सामान्यतः मैत्रायणी संहिता से तात्पर्य लगाया जाता है; इस विषय पर ब्यूहलेर ने विचार किया है (देखिए इं० स्टू० १३.११९ आदि) इसमें दूसरे (!) काण्ड के रूप में उपनिषद् को उद्धृत किया गया है; देखिए वही पृ० १२१; एक्सटाइन ने जो प्रतिलिपि भेजी है उसमें दूसरे पाठों से अनेक भेद हैं; इसका मौलिक पाठ दुर्भाग्यवश अभी तक नहीं उपलब्ध हो सका है।

[१]ब्रह्मन्, रुद्र और विष्णु क्रमशः प्रजापति के सत्त्व, तमस् और राजस् गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

[२]कावेल (पृ० २४४) के अनुसार 'ग्रह' का कम से कम एक बार नक्षत्र नहीं (१.४) अपितु बालग्रह (बच्चों के रोग) हैं; 'ध्रुवस्य प्रचलनम्' संभवतः एक 'प्रलय' का निर्देश करता है, तब "कभी विचलित न होने वाला ध्रुव भी चलने लगता है।" दूसरे अंश में (६.१९, पृ० १२४) 'ग्रह' चन्द्रमा और 'ऋक्षों' के साथ वर्णित है। सूर्य की दो

टिल के अनुवाद में राशि नामों का भी उल्लेख है। जो पाठ मुझे उपलब्ध है उसमें यहाँ तक का अंश नहीं है।[1] भूमिका में जिन राजाओं के महान् होते हुए भी नष्ट हो जाने का वर्णन किया गया है उनमें एक भी ऐसा नाम नहीं है जो 'महाभारत' और 'रामायण' के अधिक सूक्ष्म आख्यान से संबन्ध रखता हो। इसका कारण निःसन्देह यही है कि बृहद्रथ पाण्डु के पूर्वज माने गये हैं। हमें संभवतः उन्हें मगध के राजा बृहद्रथ से अभिन्न मानना होगा; जिन्होंने महाभारत के अनुसार (२-७५६) अपना राज्य जरासन्ध को दे दिया, और तपस्या करने के लिए वन को चले गये। बाद में पाण्डवों ने जरासन्ध का वध कर दिया। इस उपदेश को शाकायण्य मगध के एक राजा को देते हैं, इसके साथ ही इस तथ्य को भी जोड़ना चाहिए कि मगध देश में ही शाक्यमुनि के उपदेश बौद्धधर्म का स्वागत हुआ था। मैं यह सीधे मान सकता हूँ कि यह शाक्यमुनि के ही विषय में एक ब्राह्मणीय आख्यान है; इसके अतिरिक्त इस प्रकार के आख्यान हमें बौद्धधर्म के अनुयायियों में ही मिलते हैं। यह सुविदित है कि बौद्धधर्मावलम्बियों में मैत्रेय भावी बुद्ध का नाम है, फिर भी उनके आख्यानों में यह नाम भी शाक्यमुनि से सीधा संबन्ध रखता है। एक पूर्ण मैत्रायणीपुत्र को भी शाक्य-मुनि का शिष्य बताया गया है। वस्तुतः इस समय हम जहाँ तक निर्णय कर सकते हैं, इस उपनिषद् का दर्शन भी बौद्धों के मतों से गहरा सम्पर्क रखता है,[2] हालांकि अपनी ब्राह्मणीय उत्पत्ति होने से यह बौद्धों की विशिष्ट रूढ़ियों और कथाओं से नितान्त मुक्त है। हम यहाँ विशेष रूप से पुष्टि के लिये उद्धृत किये गये एक श्लोक में प्रदर्शित लेखन के प्रति अरुचि पर भी ध्यान दे सकते हैं।[3]

संक्रान्तियों की सीमाक्षेत्र के विषय में जो विवरण दिये गये हैं वे भी बहुत रोचक हैं (७.१४; कावेल, प्ट० ११९, २६६); इस पर इं० स्टू० ९.३६३ देखिए।

[1]मूलपाठ में ऐसी कोई बात नहीं है (७.१, प्ट० १९८); किन्तु सेटर्न 'शनि' (पृ० २०१) का विशेष उल्लेख किया गया है; और जहाँ शुक्र का नाम भी आता है (पृ० २००) वहाँ हम 'वेनस्' के विषय में सोच सकते हैं। इस अन्तिम अध्याय में आद्यो-पान्त इसकी परवर्तीकालीन उत्पत्ति स्पष्ट है, नास्तिकों और शास्त्रविरोधियों का जो खण्डन किया गया है वह विशेषतः रोचक है (पृ० २०६)।

[2]बाण के हर्षचरित में एक मैत्रायणीय दिवाकर का नाम आया है जिन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था; और भाउ दाजी (जर्नल बम्बे ब्रांच रा ए सो १०।४०) का कथन है कि अब भी विन्ध्य के मूल में भड़गाँव के निकट मैत्र० ब्राह्मण निवास करते हैं; जिनके साथ बैठकर अन्य ब्राह्मण भोजन नहीं करते इसका कारण उनमें से अनेक का पहले बौद्ध धर्म की ओर झुकाव ही रहा होगा।'

[3]जो कुछ अन्य श्लोकों के साथ ठीक उसी रूप में अमृतबिन्दु (या ब्रह्मबिन्दु) उपनिषद् में आते हैं। यद्यपि यह सन्देहास्पद है कि ग्रन्थ शब्द को बाह्यतः लिखित पुस्तकों

छागलिन्, श्वेताश्वतर और मैत्रायणीय में किसी का भी उल्लेख दूसरे वेदों के सूत्रों में या उसके समान रचनाओं में कृष्णयजुर्वेद की शाखाओं के रूप में नहीं किया गया है; फिर भी इसके विकास में हमें मैत्रायणीय का विशेष योगदान स्वीकार करना होगा। मैत्रेय तथा मैत्रेयी नाम का भी उल्लेख ब्राह्मणों में प्रायशः हुआ है।

कृष्णयजुस् के सूत्रों के सम्बन्ध में भी विभिन्न शाखाओं की बड़ी संख्या ध्यान देने योग्य है। यद्यपि ब्राह्मणों के समान ही उनके अधिकांश भाग की जानकारी हमें केवल उद्धरणों द्वारा ही होती है तथापि हमारा यह मानना उचित है कि न केवल 'इण्डिया हाउस' के अत्यन्त समृद्ध संग्रह में (जिससे मेरी ठोस जानकारी नहीं है) में ही इस विभाग के अनेक रत्न मिलेंगे, अपितु उनमें से अनेक की खोज स्वयं भारत में ही हो सकेगी। बर्लिन संग्रह में कोई सूत्र नहीं है। प्रथमतः जहाँ तक श्रौतसूत्र का प्रश्न है 'कठसूत्र,[१] 'मनु-सूत्र', मैत्र-सूत्र तथा 'लौगाक्षिसूत्र' की एकमात्र जानकारी मुझे शुक्लयजुस् के 'कातीय सूत्र' के भाष्यों में हुई है। इनमें दूसरा[२] अर्थात् 'मनु-सूत्र' फोर्ट विलियम संग्रह की सूची में मिलता है, और अन्तिम सूत्र 'लौगाक्षिसूत्र' की एक प्रति संभवतः वियना में है। इसके रचयिता का नाम 'कठ-सूत्र' और 'कातीयसूत्र' में आया है। सत्याषाढ़ हिरण्यकेशि कृत 'कल्पसूत्र' के भाष्यकार महादेव ने अपनी भूमिका में तैत्तिरीय सूत्रों को क्रमानुसार गिनाते हुए इन चार सूत्रों को एकदम छोड़ दिया है; और अपनी सूची के आरम्भ में बौधायन-सूत्र को सबसे प्राचीन बताया है, तब भारद्वाजसूत्र को, उसके बाद आपस्तम्ब सूत्र को और तब स्वयं हिरण्यकेशि-सूत्र को; और अन्त में दो नाम जिनका इस सम्बन्ध में अन्यत्र उल्लेख नहीं है वाधून और वैखानस हैं जिनमें से प्रथम कदाचित् भ्रष्ट रूप में है। इन नामों में केवल भारद्वाज नाम वैदिक रचनाओं में पाया जाता है; यह नाम शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण में विशेषतः

का अर्थ लिया जाय या नहीं (तुलना इं० स्ट० १३।४७६) फिर भी कम से कम इस श्लोक में दूसरी व्याख्या भी संभव नहीं हो सकती।

[१]लौगाक्षि और 'लामकायनिनाम् ब्राह्मणम्' को उसमें उद्धृत बताया गया है।

[२]इस पर और इस ग्रंथ में वर्णित विषय तथा उसके विभाजन पर इं० स्टू० ५। १३-१६ में मेरा कथन देखिए जो प्रोफेसर कावेल से प्राप्त एक सूचना पर आधृत है। तुलना हॉग वही, ९।१७५; ब्यूहलेर के केटलाग आफ मैन्युस्क्रिप्ट्स फ्राम गुजरात १. १८८ (१८७१) में एक 'मानव श्रौतसूत्र' का भी उल्लेख है; यह ३२२ में है; जिस पाण्डुलिपि का सम्पादन गोल्डस्ट्यूकेर ने 'मानव कल्पसूत्र बिइंग ए पोर्शन आफ दिस एंशिएण्ट वर्क आन वेदिक राइट्स टुगेदर विद द कमेण्ट्री आफ कुमारिलस्वामिन्' शीर्षक से (१८६१) किया है, उसमें मूलपाठ बहुत थोड़ा दिया गया है; भाष्य में मूलपाठ के अंश का प्रथम शब्द ही दिया गया है; इसके उपसंहार के वाक्य 'कुमारिलभाष्यं समाप्तम्' वस्तुतः यह निर्देश करता है कि कुमारिल इस भाष्य के रचयिता थे, इसमें सन्देह है।

वृहदारण्यक के परिशिष्ट में (जहाँ इस नाम के अनेक व्यक्तियों का उल्लेख है); उसी यजुस् के कातीय सूत्र में, कृष्णयजुस् के प्रातिशाख्य सूत्र में और पाणिनि में आया है। यद्यपि यह नाम गोत्रनाम है, फिर भी यह संभव है कि ये अन्तिम उद्धरण एक ही व्यक्ति का निर्देश करते हैं, अतएव उन्हें भारद्वाजीय की व्याकरणीय शाखा का भी प्रवर्तक मानना चाहिए। अब तक उस सूत्र का कोई अंश मुझे देखने को नहीं मिला है और इसकी जानकारी मुझे केवल उद्धरणों द्वारा है। महादेव के एक कथन के अनुसार इसमें दो प्रश्नों में पितरों को दी जाने वाली आहुतियों का वर्णन किया गया है और इस कारण शेष सूत्रों के समान ही इसमें भी अध्यायों के लिये यह नाम पाया जाता है, जो कृष्णयजुस् की विशेपता है।[1] आपस्तम्ब का सूत्र[2] 'इण्डिया हाउस' के पुस्तकालय में मिलता है और इसका एक भाग पेरिस में भी उपलब्ध है। इस पर धूर्तस्वामिन् तथा तालवृत्तनिवासिन् के भाष्यों का भी उल्लेख किया गया है[3] और साथ ही 'बौधायन-सूत्र' पर कपर्दिस्वामिन्[4]

---

[1]'भारद्वाजीय सूत्र' को ब्यूहलेर ने खोज निकाला है; देखिए उनका केटलाग आफ मैन्यु० फ्राम गुज० १.१८६ (२१२); वैखानससूत्र का भी उद्धरण दिया गया है वही १।१९० (२९२) हाग : इं० स्टू० ९।१७५ भी देखिए।

[2]उद्धरणों के अनुसार, इसमें वाजसनेयक, बह्वृच-ब्राह्मण और शाट्यायनक का बहुशः उल्लेख है।

[3]आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र और इस पर धूर्तस्वा० कपर्दस्वामिन्, रुद्रदत्त, गुरुदेव-स्वामिन्, करविन्दस्वामिन्, तालव्० अहोबलसूरि (ब्यूहलेर के केटलाग पृ० १५० में अडबील; ब्यूहलेर ने नृसिह का भी नाम दिया है पृ० १५२) तथा अन्य भाष्यकारों के भाष्यों के विषय में बर्नेल का केटलाग पृ० १८-२४ तथा इण्डियन एण्टिक्वेरी १.५.६ देखिए। इसके अनुसार, इस रचना में तीस प्रश्न हैं। प्रथम तेईस प्रश्नों में यज्ञों का ठीक उसी क्रम में विवेचन किया गया है (दर्शपूर्णमासौ से सत्रायणम् तक) जिस क्रम में हिरण्य-केशि में किया गया है; हिरण्यकेशि का सूत्र ठीक आपस्तम्ब सूत्र के समान है। देखिए आप० धर्मसूत्र का ब्यूहलेर का आमुख, पृ० ६; २४वें प्रश्न में सामान्य नियम या परिभाषाएँ हैं, जिसका संपादन मै० म्यूल्लेर ने त्सा० डा० मो० गे० भाग ९ (१८५५) में किया है, और इसमें एक 'प्रवरकाण्ड' तथा 'हौत्रक' है; प्रश्न २५-२७ गृह्यसूत्र हैं; प्रश्न २८, २९ 'धर्मसूत्र' है जिसका संपादन ब्यूहलेर (१८६८) ने किया है; और अन्ततः प्रश्न ३० सुल्व-सूत्र है ('सुल्व' का अर्थ है नापने का डोरा)।

४. बौधायनसूत्र पर बर्नेल का केटलाग, पृ० २४-३० देखिए। भवस्वामिन् का, जिन्होंने भी इस पर भाष्य लिखा है, भट्ट भास्कर ने उल्लेख किया है; और इस कारण बर्नेल उनका समय आठवीं शताब्दी मानते हैं। कीलहोर्न के 'केटलाग आफ सं० मैन्यु० इन द साउथ डिवीजन आफ द बम्बे प्रेसि०' पृ० ८ के अनुसार इस पर सायण का भी एक

के भाष्य का भी। महादेव के कथनानुसार[1] सत्याषाढ़ की रचना में सत्ताइस प्रश्न हैं। इस ग्रंथ के वर्ण्य विषय का क्रम प्राय: ठीक वही है जो 'कातीयसूत्र' का। केवल अन्तिम नौ प्रश्न अपवाद हैं और इस सूत्र की अपनी विशेषताएँ हैं। उन्नीसवें और बीसवें प्रश्नों में गृह्यकर्मों का निर्देश किया गया है, जिसका वर्णन प्राय: गुह्य और स्मार्त सूत्रों में होता है। इक्कीसवें प्रश्न में वंशावलियाँ और सूचियाँ हैं, जैसी कि बौधायनसूत्र के एक प्रश्न में मिलती हैं।[2]

कृष्णयजुस् के गृह्यसूत्रों के विषय में हमारा ज्ञान और भी कम है। 'काठक गृह्यसूत्र' का ज्ञान मुझे केवल उद्धरणों द्वारा ही है; तथा बौधायन (जो फोर्ट विलियम संग्रह में है), भारद्वाज तथा सत्याषाढ़ या हिरण्यकेशि सूत्रों का भी मेरा ज्ञान ऐसा ही है, जब तक कि यह न मान लिया जाय कि इस दूसरी स्थिति में कल्पसूत्र के केवल समरूप 'प्रश्न' ही अभिप्रेत है।[3] मैंने स्वयं मैत्रायणीय शाखा के गृह्यसूत्र की एक पद्धति देखी भर है, जो सामान्य विषय (सोलह संस्कारों) का विवेचन करती है। इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मानव शाखा का भी एक गृह्यसूत्र अवश्य रहा होगा,[4] जिसका यह नाम स्मृति के विद्यमान होने के कारण पड़ा होगा[5], जिस प्रकार अत्रि, आपस्तम्ब, छागलेय, बौधायन, लौगाक्षि,

---

भाष्य है; सायण के लिये तो यह उनकी अपनी ही यजुस् शाखा का प्रमुख ग्रन्थ था; देखिए बर्नेल, वंश-ब्राह्मण' पृ० ९-१९; ब्यूहलेर के केटलाग आफ मैन्यु० फ्राम गुजरात, भाग १ १८२, १८४ में अनन्तदेव, नवहस्त और शेष को भी भाष्यकार बताया गया है। संपूर्ण ग्रंथ का यथार्थ विस्तार अभी निश्चित नहीं किया जा सका है; बौधायन-धर्मसूत्र पर जो ब्यूहलेर के 'डाइजेस्ट आफ हिन्दू ला' १. पृ० २१ (१८६७) के अनुसार आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि के सामन ही श्रौतसूत्र का अंग है, गोविन्दस्वामिन् ने भाष्य लिखा था; देखिए बर्नेल, पृ० ३५।

[1]मातृदत्त और वाञ्जेश्वर(?) को भी भाष्यकार बताया गया है; देखिए कीलहोर्न, उपर्युल्लिखित रचना, पृ० १०।

[2]इस प्रकार की सूचियाँ आश्वलायन की रचनाओं के अन्त में भी पाई जाती हैं, यद्यपि वे संक्षेप में हैं, 'कातीयसूत्र' का एक परिशिष्ट भी है, हिरण्यकेशि के प्रश्न २६, २७ में धर्मों का विवेचन है; अतएव आप० बौधा० के ही यहाँ भी धर्मसूत्र श्रौतसूत्र का एक अंग है।

[3]वस्तुतः ही ऐसी बात है। आपस्तम्ब और भारद्वाज गृह्य पर बर्नेल का केटलाग पृ० ३०-३३ देखिए। जातकर्म से संबद्ध दोनों ग्रंथों के दो प्रयोगों का भाग स्पाइजर द्वारा डि सेरेमोनिआ अपुड इण्डोस् क्टोए वोकाटुर जातकर्म (लीडेन, १८७२)

[4]यह वस्तुतः विद्यमान है; देखिए ब्यूहलेर का केटलाग १.११८ (८०) और कीलहोर्न का उपर्युल्लिखित ग्रंथ पृ० १० (अंश)

[5]योहेण्टगेन ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'उइबेर डस् गेस्ट्त्स्बूरख डेस् मनु' (१८६३)

और शाट्यायन के धर्म ग्रन्थों का उद्गम भी कृष्णयजुर्वेद की इसी नाम की शाखाओं अर्थात् उनके गृह्यसूत्रों में ढूंढ़ा जा सकता है।[1]

अन्ततः अभी कृष्णयजुर्वेद के सूत्र के रूप में प्रातिशाख्य सूत्र का उल्लेख करना शेष है। इसकी जिस एकमात्र पाण्डुलिपि से मेरा परिचय है वह दुर्भाग्यवश दो 'प्रश्नों' में प्रथम प्रश्न के चौथे अध्याय से ही आरम्भ होती है। इस ग्रंथ में आए हुए आचार्यों[2] के विलक्षण नामों के कारण यह विशेष महत्त्व का है: जैसे आत्रेय, कौण्डिन्य (एक स्थान पर 'स्थविर' उपाधि के साथ) और भारद्वाज जिनसे हम पहले ही परिचित हो चुके हैं; वाल्मीकि का भी नाम आया है, जो इस संबन्ध में विशेष आश्चर्यजनक है। इसी प्रकार आग्निवेश्य, आग्निवेश्यायन पौष्करसादि और दूसरों के नाम भी आये हैं। आग्निवेश्यायन पौष्करसादि तथा कौण्डिन्य[3] के नाम बौद्ध रचनाओं में बुद्ध के शिष्यों या उनके समकालीन व्यक्तियों के नाम हैं। पौष्करसादि का नाम पाणिनि पर कात्यायन द्वारा लिखे गये वार्त्तिकों में भी आया है। अपरंच, यहाँ मीमांसकों और तैत्तिरीयकों का जो सर्वप्रथम उल्लेख है वह भी ध्यान देने योग्य है। इस सूत्र के अन्त में छन्दस् तथा भाषा अर्थात् वैदिक और सामान्य संस्कृत भाषा का भेद भी उल्लेखनीय है।[4] यह रचना कृष्णयजुस् के आरण्यक के एक भाग तक फैली हुई प्रतीत होती है; उस आरण्यक के सम्पूर्ण भाग तक इसका विस्तार है या नहीं, यह अभी निश्चित नहीं किया जा सकता और शायद ऐसा संभव भी न हो सके।[5]

पृ० १०९ आदि में मनु २.१७ आदि के भौगोलिक तथ्यों से दृषद्वती और सरस्वती के प्रदेश को मानवों का निवासस्थान बताया है। यह कुछ कठोर प्रतीत होता है। जो कुछ भी हो, शुक्ल यजुस के 'प्रतिज्ञा-परिशिष्ट' में मध्यदेश के विस्तार के संबन्ध में जो कथन मिलते हैं, वे शुक्लयजुस् के उद्भव का स्थान पूर्व की ओर बताते हैं; मेरा लेख 'उइबेर डस् प्रतिज्ञा सूत्र' (१८७२) पृ०१०१,१०५देखिए।

[1]देखिए योहेण्टगेन, उपर्युल्लिखित ग्रन्थ पृ० १०८, १०९।

[2]उनकी संख्या बीस है; देखिए रोथ का 'त्सुर लिट० उण्ड गेशि०' पृ० ६५, ६६।

[3]देखिए इं० स्टू० १.४४१ टिप्पणी (१३,३८७, ४१८)।

[4]इस अंश (२४.५) में 'छन्दोभाषा' का अर्थ है 'वेद की भाषा'; ह्विटनी-पृ० ४१७ देखिए।

[5]इस ग्रंथ का एक सुन्दर संस्करण इस समय उपलब्ध है, जिसका संपादन ह्विटनी ने ज० अमे० ओ० सो० भाग ९ (१८७१) में किया है; इसमें मूल अनुवाद, टिप्पणियों के साथ-साथ 'त्रिभाष्यरत्न' नाम का एक भाष्य भी है, जिसके लेखक का नाम अज्ञात है (संभवतः लेखक कार्त्तिकेय हैं?) यह आत्रेय माहीषेय और वररुचि के तीन प्राचीन भाष्यों का संकलन है। मूल में कहीं भी तैत्ति० आर० या तैत्ति० ब्रा० का उल्लेख नहीं हुआ है; इसके विपरीत, यह तैत्ति० सं० तक ही सीमित है। कुछ स्थलों पर भाष्य तैत्ति०

अन्ततः, मैं उन दो अनुक्रमणियों पर विचार करूँगा जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनमें से एक[1] आत्रेय शाखा की है और दूसरी काठक शाखा के भेद चारायणीय शाखा की है। आत्रेय शाखा की अनुक्रमणी अनेक खण्डों के विषयों का वर्णन करती है, और उसे उनके क्रम में ही प्रस्तुत करती है। इसमें दो भाग हैं। प्रथम भाग जो गद्य में है, केवल पारिभाषिक शब्दसंग्रह है; दूसरा भी, जो चौंतीस श्लोकों में है, कुछ और नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें इस ग्रंथ के अध्यापनविषय पर कुछ विवरण दिये गये हैं। इसके साथ दोनों भागों पर एक भाष्य जुड़ा हुआ है जो प्रत्येक अध्याय के आरम्भिक शब्दों का भारी और विस्तार के साथ उल्लेख करता है। काठक शाखा की अनुक्रमणी इस विषय में प्रवेश नहीं करती। इसका क्षेत्र सीमित है। इसके विपरीत इसमें विविध अध्यायों तथा पृथक् मन्त्रों के ऋषियों के नाम दिये गये हैं। इस स्थल पर ऋग्वेद से लिये गये अंशों में ऋग्वेद की अनुक्रमणी के वर्णनों से बहुधा पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। विशेषतः यह अनेक नये नामों का उल्लेख करती है। इसके अन्तिम वाक्य के अनुसार यह अत्रि की रचना है, जिन्होंने इसकी शिक्षा लौगाक्षि को दी थी।

शुक्ल यजुर्वेद

अब हम शुक्लयजुस् पर आते हैं।

सर्वप्रथम जहाँ तक इसके नाम का प्रश्न है, यह, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संभवतः इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि इसमें याज्ञिक मन्त्रों को उनके यज्ञक्रिया के आधार एवं शास्त्रीय व्याख्याओं से अलग कर दिया गया है; और इसमें उस विषय का क्रम-बद्ध तथा सुव्यवस्थित विभाजन किया गया है, जो कृष्णयजुस् में अस्तव्यस्त है। भाष्य-कार द्विवेदगंग ने इसी प्रकार शुक्लानि यजूंषि की व्याख्या की है, जो अब तक केवल एक-मात्र स्थल पर इस अर्थ में शुक्लयजुस् के बृहदारण्यक के अन्तिम परिशिष्ट में आया है। मैंने एकमात्र स्थल इसलिये कहा है कि यद्यपि इसका दूसरी जगह 'शुक्रयजूंषि' नाम से एक बार और कृष्णयजुस् के आरण्यक (५.१०) में प्रयोग हुआ है, किन्तु वहाँ उसका वही सामान्य अर्थ नहीं है, अपितु इसके विपरीत वह स्वयं आरण्यक के चौथे और पाँचवें अध्यायों को इंगित करता है; क्योंकि आत्रेय शाखा की अनुक्रमणी में इन अध्यायों का नाम शुक्रिय-काण्ड है, कारण, ये प्रायश्चित्त कर्मों का विवेचन करते हैं और "शुक्रिय" शुद्ध करने वाला

सं० के बाहर भी जाता है; इस विषय पर ह्विटनी का विशेष विवेचन देखिए पृ० ४२२-४२६; तुलना इं० स्टू० ४.७६-७९।

[1]देखिए इं० स्टू० ३।३७३-४०१; १२।३५०-३५७ और बर्नेल के केटलाग पृ० १४ पर भट्ट भास्कर मिश्र के भाष्य की उक्तियाँ जो इसके समान ही हैं। यहाँ आत्रेयी शाखा का सारस्वत पाठ से विशेष संबन्ध दिखाई पड़ता है।

(संभवतः प्रकाशित करने वाला ?) नाम भी शुक्लयजुस् के समरूप अंशों का और इन विशिष्ट यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले सामन् का भी नाम है।

शुक्लयजुस् का दूसरा नाम वाजसनेय उपाधि से बना है। वाजसनेय आचार्य याज्ञ-वल्क्य की उपाधि है, जिन्हें उपर्युल्लिखित वृहदारण्यक के परिशिष्ट में इसका रचयिता कहा गया है। शुक्लयजुस् संहिता के भाष्य के आरम्भ में महीधर ने वाजसनेय, वाजसनि का पुत्र, का एक पैतृक नाम बताया है। चाहे यह सही हो या चाहे वाजसनि को एक उपाधि माना जाय, इसका अर्थ होता है "अन्न देने वाला"[1] और इस प्रकार यह प्रत्येक यज्ञक्रिया के मूल में निहित यज्ञकर्ता द्वारा आराध्य देवता से अन्न प्राप्त करने के उद्देश्य को इंगित करता है। इसी उद्देश्य से ही वाजिन् 'अन्नवाला' नाम पड़ा है, जिससे शुक्लयजुस् के आचार्यों को कभी-कभी अभिहित किया जाता है।[2] वाजसनेय से दो प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति हुई है, जिनके द्वारा शुक्लयजुस् की संहिता और ब्राह्मण का उल्लेख किया जाता है। उनमें पहला नाम है वाजसनेयक, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग आपस्तम्ब के तैत्तिरीय-सूत्र में और स्वयं शुक्ल-यजुस् के कातीय-सूत्र में हुआ है। दूसरा शब्द है वाजसनेयिन्[3] अर्थात् वे जो इन दोनों रचनाओं का अध्ययन करते हैं। इसका प्रयोग सर्वप्रथम सामवेद के 'अनुपद सूत्र' में हुआ है।

शुक्लयजुस् में हम पाते हैं कि संहिता और ब्राह्मण समग्र रूप में दो विभिन्न पाठों में उपलब्ध होते हैं; ऐसी बात किसी अन्य वेद के विषय में नहीं पायी जाती, और इस प्रकार निर्धारण करने के लिये एक मापदण्ड मिलता है। ये दोनों पाठ प्रायः पूर्ण रूप से विषयों तथा उनके विभाजन की दृष्टि से समान हैं; विषय-विभाजन की दृष्टि से अनेक छोटी विषमताएँ भी हैं। मुख्य भेद अंशतः ब्राह्मणों के समान ही याज्ञिक मन्त्रों के पाठभेद हैं, और वे अंशतः उच्चारण-संबन्धी विशिष्टताएँ हैं। इनमें एक पाठ का नाम काण्व है और दूसरे का माध्यंदिन। ये दोनों नाम इसके पहले सूत्रों या उनके समान रचनाओं में नहीं मिलते हैं। एकमात्र अपवाद स्वयं शुक्लयजुस् का प्रातिशाख्य सूत्र है, जिसमें काण्व और माध्यंदिन दोनों का ही उल्लेख है। 'वृहदारण्यक' की परिशिष्ट में आने वाली आचार्यों

---

[1]महाभारत १२.१५०७ में यह शब्द कृष्ण का एक विशेषण है (ऊपर की तरह यहाँ भी इसकी व्याख्या ऋक् के लिए की गई है; सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी के अनुसार हमें इसका अर्थ 'साहस और शक्ति देने वाला, विजयी, धन या पुरस्कार प्राप्त करने वाला' करना होगा। 'वाज' शब्द का 'अन्न' अर्थ संभवतः नितान्त शास्त्रीय है।

[2]दूसरी व्याख्या के अनुसार, इसका कारण यह है कि आदित्य ने घोड़े का रूप धारण कर याज्ञवल्क्य को यह ज्ञान प्रदान किया 'अयातयामसंज्ञानि यजूंषि'; देखिए विष्णु-पुराण ३.५.२८ 'तीव्र, साहसी, अश्व' इस शब्द के मौलिक अर्थ हैं।

[3]ये गण 'शौनक' में आते हैं (वाजसनेयक का भी उद्धरण लाट्यायन ने दिया है)।

की सूची में कम से कम एक काण्वीपुत्र (६.५.१) और एक माध्यंदिनायन (४.६.२) का नाम है; किन्तु ये नाम उसके काण्व पाठ में ही मिलते हैं, दूसरे में नहीं। इनमें प्रथम नाम काण्वों का उल्लेख क्रमशः सूचियों के अत्यन्त बाद के सदस्यों और दूसरे माध्यंदिनायनों का उल्लेख अधिक अर्वाचीन सदस्यों के रूप में हुआ है। अब प्रश्न उठता है कि इन दोनों पाठों को एक ही काल का माना जाय या एक को दूसरे से अधिक प्राचीन माना जाय। दूसरे मत को स्वीकार कर काण्व पाठ को अधिक प्राचीन मानना संभव है। कारण, काण्व नाम न केवल ऋग्वेद की प्राचीन ऋषिशाखाओं में एक शाखा का नाम है—ऋग्वेद में यह पाठ मूर्धन्य 'ड्' को 'ळ्' करने के कारण साम्य रखता है—अपितु शुक्लयजुस् का शेष सम्पूर्ण साहित्य माध्यंदिन शाखा की अपेक्षा काण्वशाखा से संबद्ध प्रतीत होता है। जो कुछ हो, हम किसी भी दशा में[1] इन दोनों पाठों के समय के बीच किसी दीर्घ व्यवधान जैसी बात नहीं मान सकते। वे एक दूसरे से बहुत घनिष्ठ सम्पर्क रखते हैं; और हमारे लिये उनके भेदों को भौगोलिक मानना अधिक उपयुक्त होगा। उच्चारणसंबन्धी असमानताओं की व्याख्या भी सामान्यतः भौगोलिक कारणों से हो जाती है। जहाँ तक इन पाठों का निश्चित समय निर्धारित करने का प्रश्न है, जैसा कि हम अपने सामान्य पर्यवेक्षण में कह आये हैं, यह संभव है कि हमें यहाँ एक ऐतिहासिक धरातल प्राप्त हो। ऐसी स्थिति इस क्षेत्र में बहुत कम होती है। मेगस्थनीज़ का उद्धरण देते हुए एर्रियन ने मादिआन्दिनोई (ग्रीक) "जिनके देश से अन्धोमती नदी बहती है" नाम की जनता का उल्लेख किया है; और मैंने यह सुझाव देने का साहस किया है कि हमें इन्हें माध्यंदिन समझना चाहिए,[2] जिनके नाम पर इन शाखाओं में से एक शाखा का नाम पड़ा है। अतएव यह शाखा या तो उस समय अस्तित्व में आ चुकी थी या उसी समय में अथवा उसके तत्काल बाद ही इसका उदय हुआ।[3] निश्चय

---

[1]पातंजलि के महाभाष्य में माध्यन्दिनों का उल्लेख नहीं है किन्तु काण्वों, काण्वक, एक पीले (पिङ्गल) काण्व और एक काण्यायन का तथा उनके शिष्यों का उल्लेख किया गया है; देखिए इं० स्टू० १३ ४१७, ४४४; 'काण्वस् सौश्रवसाः' की शाखा का नाम काठक में आया है; इस विषय पर इं० स्टू० ३,४७५ देखिए।

और 'आपस्तम्ब धर्म-सूत्र' में भी कण्व या काण्व का उल्लेख किया गया है। आश्वलायन के प्रवर काण्ड और स्वयं पाणिनि (४.२.१११) में भी कण्व और काण्व नाम आया है।

[2]'मादिआन्दिनोई' का प्रदेश ठीक मध्यदेश के बीच में है, जिसकी सीमाएँ प्रतिज्ञा परिशिष्ट' में दी गई हैं; देखिए मेरा लेख 'उइबेर डस प्रतिज्ञासूत्र', पृ० १०१-१०५।

[3]हम यह मान सकते हैं कि इस समय माध्यंदिन शाखा की सभी रचनायें इस संकलन में आ चुकी थीं या नहीं, यह एक पृथक् प्रश्न है। [म्यूल्लेर की एंशि० सं० लिट० पृ० ४५३ के एक रोचक उल्लेख इस बात की ओर संकेत करता है कि गोपथ-

ही इस विषय को असन्दिग्ध नहीं माना जा सकता; कारण, 'माध्यंदिन' नाम का प्रयोग सामान्यतः किसी दक्षिणी जनता या दक्षिणी शाखा के लिये हो सकता है; और वस्तुतः हम 'माध्यंदिन-कौथुमाः' 'दक्षिणी कौथुमों'[1] का उल्लेख पाते भी हैं। मुख्यतः यह समय इतना उपयुक्त बैठता है कि कम से कम इस अनुमान को सीधा अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न से शुक्लयजुस् के समय के प्रश्न को बिल्कुल पृथक् रखना चाहिए; इस प्रश्न का समाधान केवल स्वयं इस रचना में पाये जाने वाले प्रमाण द्वारा ही हो सकता है। यहाँ हमारा प्रमुख कार्य इसके उन विभिन्न अंशों को पृथक् करना है जो वर्तमान रूप में एक साथ सुबद्ध हैं। सौभाग्यवश, हमारे पास इतने आँकड़े विद्यमान हैं जो विविध अंशों की पूर्वकालीनता या उत्तरकालीनता को निर्धारित करने में सहायक हैं।

सर्वप्रथम, जहाँ तक शुक्लयजुःसंहिता वाजसनेयिसंहिता का संबन्ध है, यह दोनों पाठों में ४० अध्यायों में उपलब्ध है। माध्यंदिन पाठ में ये अध्याय ३०३ अनुवाकों और १९७५ कण्डिकाओं में विभक्त हैं। प्रथम २५ अध्यायों में सामान्यतः यज्ञों के लिये मन्त्र और विधियाँ है;[2] पहले (१—२) पौर्णमास्ययज्ञ; तब (३) प्रातः और सायं अग्नि में किये जाने वाले होम और प्रत्येक चातुर्मास्य के आरंभ में किये जाने वाले यज्ञों; तब (४—८) सामान्य सोमयज्ञ, और (९,१०) उसके दो परिष्कार; फिर (११-१८) यज्ञाग्नि के लिये वेदि का निर्माण; तब (१९-२१) सौत्रामणी, जो मौलिक रूप में सोम का अधिक पान करने के लिए एक प्रायश्चित्तस्वरूप कर्म था, और अन्त में (२२-२५) अश्वमेधयज्ञ के विधान दिये गये है। इनमें अन्तिम सात अध्यायों को पहले को अठारह अध्यायों के साथ बाद में जोड़ा गया माना जा सकता है। किसी भी स्थिति में यह निश्चित है कि अन्तिम पन्द्रह अध्याय जो उनके बाद आते हैं, बाद के और संभवतः बहुत बाद के काल का है। शुक्लयजुस् की

ब्राह्मण में विभिन्न वेदों के आरंभिक शब्दों को उद्धृत करते समय यजुर्वेद की वाज० सं० के आरम्भ के शब्दों को उद्धृत किया गया है न कि तैत्ति० सं० (या काठ०) के।

[1] [विनायक ने अपने 'कौषीतकि-ब्राह्मण-भाष्य' का नाम 'माध्यंदिन-कौथुमानुगम्' कहा है; किन्तु क्या यहाँ उनका तात्पर्य इस नाम की दो शाखाओं (माध्य० और कौथु०) से नहीं है? हाल द्वारा जर्नल अमे० ओ० सी० ६।५३९ में प्रकाशित एक शिलालेख में भी दोनों नाम एक साथ आये हैं] पाणिनि ७.१.९४ की काशिका में माध्यंदिनि नाम के एक वैयाकरण को व्याघ्रपाद का शिष्य कहा गया है (व्याघ्रपदां वरिष्ठः), देखिए बेट-लिंक, पाणिनि भूमिका पृ० ५०, इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण में दो वैया-घ्रपद्यों और एक वयाघ्रपदीपुत्र का उल्लेख है।

[2] मैंने अपने लेखों-'त्सुर् केण्टनिस्स् डेस् वेदिश्शेन ओपफेररिटुअलस' में इं० स्टू० १०.३२१-३९६; १३. २१७-२९२ में इसकी सरल और संक्षिप्त व्याख्या प्रारम्भ की है।

अनुक्रमणी में जिसके साथ कात्यायन का नाम जुड़ा है, तथा इसके परिशिष्ट में[1] एवं आगे चलकर संहिता पर महीधर के भाष्य में भी अध्याय २६-३५ को स्पष्टतः 'खिल' या बाद में जोड़ा गया अंश कहा गया है; और अध्याय ३६-४० को 'शुक्रिय' कहा गया है, जिस नाम की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इस कथन को 'याज्ञवल्क्य स्मृति' की टीका (मिताक्षरा) ने इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है कि 'शुक्रिय' अध्याय ३०.३ से प्रारम्भ होता है और ३६.१ एक आरण्यक के प्रारम्भ में आता है।[2] बाद में जोड़े गये इन अध्यायों में प्रथम चार (२६-२९) में ऐसे यजुस् हैं, जो पूर्व के अध्यायों में विवेचित यज्ञों से संबन्ध रखते हैं, और उन्हें उनमें यथास्थान प्रयुक्त कर लेना चाहिए। इसके आगे के दस अध्यायों (३०-३९) में नितान्त नवीन यज्ञों के यजुस् हैं; ये यज्ञ हैं पुरुषमेध,[3] सर्वमेध, पितृमेध और प्रवर्ग्य (प्रायश्चित्तकर्म)।[4] अन्त में, अन्तिम अध्याय यज्ञों से किसी भी प्रकार का सीधा संबन्ध नहीं रखता। इसे एक उपनिषद् भी माना जाता है;[5] और इसकी रचना एकमात्र याज्ञिक कर्मों में लगे हुए व्यक्तियों एवं उनकी अवहेलना करने वालों में अन्तर दिखाने के ध्येय से हुई है। यह चिन्तन की एक पर्याप्त विकसित अवस्था से संबन्ध रखती है; क्योंकि यह विश्व का एक स्वामी (ईश) मानती है।[6] इन पन्द्रह अध्यायों की परवर्ती काल की रचना होने के उपर्युल्लिखित बाह्य प्रमाण के अतिरिक्त भी उनकी उत्तरकालीनता उनके कृष्ण-

---

[1]देखिए मेरा लेख 'उइबेर डस् प्रतिज्ञा-सूत्र (१८७२) पृ० १०२-१०५।

[2]इन अन्तिम काण्डों के एक अंश को आरण्यक मानना चाहिए यह सन्देहरहित है, विशेषत ३७-३९ के लिये तो यह निश्चित ही है, क्योंकि इनकी व्याख्या ब्राह्मण के आरण्यक के रूप में की गयी है।

[3]इं० स्ट्रा० १.५४ में मेरा लेख 'उइबेर मेन्शेन ओप्फेर बाइ डेन इन्डेर्न डेर वेदिश्शेन त्साइट' देखिए।

[4]'प्रवर्ग्य' शब्द का यह अनुवाद शाब्दिक नहीं है (इसके लिए सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी में 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'वर्ज' धातु देखिए); किन्तु यह अर्थ इसके अन्तर्गत की जाने वाली क्रिया और उसके प्रयोजन के आधार पर रखा गया है। ऐत० ब्रा० १.१८ पृ० ४२ में आये हुए हॉग के कथन के अनुसार यह "एक प्रकार का प्रारम्भिक कर्म है जो यज्ञकर्त्ता को एक दिव्य शरीर प्रदान करने के लिए किया जाता है, जिस शरीर से ही वह देवताओं के लोक में प्रवेश कर सकता है।

[5]वाज० सं० के अन्य अंशों को भी बाद के काल में उपनिषदों के रूप में समझा गया है, उदाहरण के लिए सोलहवाँ अध्याय (शतरुद्रिय) इकतीसवाँ अध्याय (पुरुषसूक्त) बत्तीसवाँ अध्याय (तदेव) और चौंतीसवें अध्याय का आरम्भ (शिवसंकल्प),

[6]महीधर के भाष्य के अनुसार इसका प्रतिवाद अंशतः बौद्धों के विरुद्ध है अर्थात् संभवतः यह उस मत का खण्डन करता है जो आगे चलकर सांख्य मत कहलाया।

यजुस् तथा स्वयं अपने ब्राह्मण के साथ संबन्ध द्वारा और स्वयं इन्हीं में पाये जाने वाले तथ्यों से पर्याप्त रूप में प्रमाणित होती है। तैत्तिरीय-संहिता में केवल वे ही यजुस् मन्त्र आते हैं, जो पहले १८ अध्यायों में पाये जाते हैं; उनके साथ कुछ मन्त्र अश्वमेधयज्ञ के भी हैं; अश्वमेधयज्ञ के शेष मन्त्रों का सौत्रामणी और पुरुषमेधयज्ञ के मन्त्रों के साथ केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण ने विवेचन किया है; तथा सर्वमेधयज्ञ एवं प्रायश्चित्त कर्मों तथा पितृयज्ञों के मन्त्र केवल तैत्तिरीय आरण्यक में आते हैं। इसी प्रकार शुक्लयजुस् के ब्राह्मण में प्रथम अठारह अध्यायों का पूर्ण रूप में उद्धरण दिया गया है और उसकी शब्दशः व्याख्या की गई है; किन्तु सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृयज्ञों के कुछ ही मन्त्रों (१९-३५) का उल्लेख बारहवें और तेरहवें अध्यायों में हुआ है और वह भी अधिकांशतः केवल आरम्भिक शब्दों द्वारा अथवा केवल अनुवाकों के प्राथमिक शब्द द्वारा बिना किसी व्याख्या के उनका उद्धरण दिया गया है। केवल अन्तिम अध्याय के पहले के तीन अध्यायों (३७-३९) की ही चौदहवें अध्याय के आरम्भ में पुनः व्याख्या हुई है। जिन मन्त्रों का केवल आरम्भिक शब्दों द्वारा निर्देश कर दिया गया है उनकी व्याख्या अनावश्यक समझी गई है। संभवतः इसका कारण यह है कि उस समय वे सामान्यतः बोधगम्य थे। अतएव हमें इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ब्राह्मण के रचयिता के समय में वे मन्त्र उसी रूप में थे जिस रूप में वे इस समय उपलब्ध होते हैं। इसके विपरीत जहाँ तक ऐसे मन्त्रों का प्रश्न है जिनका उल्लेख बिल्कुल नहीं किया गया है, यह कल्पना स्वतः ही उत्पन्न होती है कि वे उस समय तक ब्राह्मणों की रचना के समय जो संहिता थी उसमें जोड़े नहीं गये थे। ऐसे मन्त्र सामान्यतः दो प्रकार के हैं। पहले, ऋग्वेद से लिये गये मन्त्रसमूह हैं, जिनका पाठ होतर को करना होता है। यदि कठोरता के साथ कहा जाय तो इन्हें यजुस् में स्थान ही नहीं देना चाहिए और यह संभव है कि ब्राह्मणों ने इन पर कोई ध्यान न दिया हो, कारण होतर के विशेष कर्म से अर्थात् विशेषतः बीसवें, तेईसवें और चौबीसवें अध्यायों से इनका कोई संबन्ध नहीं है। दूसरे, ब्राह्मणस्वरूप वाले ऐसे अनुच्छेद हैं जो कृष्णयजुर्वेद के समान अपने पूर्व आने वाले मन्त्रों की व्याख्या नहीं करते, अपितु वे स्वतन्त्र रूप में हैं; उदाहरण के लिये विशेषतः उन्नीसवें अध्याय के अनेक अनुच्छेद और चौबीसवें अध्याय में अश्वमेध के समय बलिरूप में मारे जाने वाले अनेक पशुओं की सूची। प्रथम अठारह अध्यायों में ही कुछ ऐसे यजुस् मन्त्र हैं, जिनका या तो ब्राह्मण उल्लेख नहीं करता (और जो इस कारण ब्राह्मण की रचनाकाल में संहिता में नहीं थे) अथवा केवल उनके आरम्भिक शब्दों का उद्धरण देता है या केवल अनुवाक के प्रथम शब्द का ही निर्देश देकर उल्लेख करता है। किन्तु ऐसी बात केवल सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें अध्यायों में देखी जाती है; यद्यपि इनमें ऐसा कई बार हुआ है। इसका कारण स्पष्टतः यह है कि स्वयं ये अध्याय ही अल्पाधिक ब्राह्मणस्वरूप वाले हैं। अन्ततः, जहाँ तक अन्तिम अध्याय में पाये जाने वाले तथ्यों और उनकी उत्तरकालीनता को प्रमाणित करने वाले तथ्यों का प्रश्न है, ये

सोलहवें अध्याय की तुलना में तीसवें और उनतालीसवें अध्याय में अधिक उल्लेखनीय रूप से देखे जा सकते हैं। निःसंदेह इसमें केवल यजुस् मन्त्रों का ही उद्धरण दिया जा सकता है; ऋग्वेद से उद्धृत किये गये मन्त्रों को नहीं उद्धृत किया जा सकता, जो स्वभावतः इस संबन्ध में कोई प्रकाश नहीं डालते। अधिक से अधिक ये केवल यजुस् में विलयन का उस सीमा तक एक प्रकार का मानदण्ड प्रस्तुत कर सकते हैं, जहाँ तक कि वे ऋक् के अन्तिम अंशों से लिये गये हैं। ऐसी स्थिति में उस समय इनके अस्तित्व की निश्चित रूप से सूचना मिलती है। जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है वे दो बातों में मिलती हैं। प्रथम तो यह कि जहाँ सोलहवें अध्याय में प्रज्वलित अग्नि के देवता के रूप में रुद्र को अनेक विशे-षण दिये गये हैं, जो आगे चलकर शिव के लिये प्रयुक्त हुए हैं; इनमें दो अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषणों का अभाव है; उन दोनों विशेषणों का उनतालीसवें अध्याय में प्रयोग हुआ है; ईशान और महादेव। दोनों ही नाम संभवतः किसी प्रकार की सांप्रदायिक पूजा को द्योतित करते हैं (देखिए ऊपर पृ० ३८)। दूसरे, तीसवें अध्याय में संकर वर्णों की जो संख्या दी गई है, वह सोलहवें अध्याय में दी गई संख्या से काफी अधिक है। तीसवें अध्याय में जिन संकर वर्णों का उल्लेख किया गया है, उन सभी वर्णों का सोलहवें अध्याय के समय में अस्तित्व नहीं रहा होगा, अन्यथा उसमें जिनका वास्तव में वर्णन किया गया है उनके अति-रिक्त अन्य संकर वर्णों का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

संहिता के चालीस अध्यायों में सोलहवें और तीसवें अध्यायों पर रचनाकाल की छाप सर्वाधिक स्पष्ट रूप में पड़ी है। सोलहवाँ अध्याय, जिसके तैत्तिरीय पाठ को आगे चलकर उपनिषद् कहलाने का तथा शैव धर्म का प्रधान ग्रंथ होने का सम्मान मिला, रुद्र की स्तुति का विवेचन करता है; और (देखिए इं० स्टू० २।२२, २४-२६) अनेक प्रकार के चोरों, लुटेरों, हत्यारों, रात्रि में घूमने वालों, और बटमारों की गणना कर, जिन्हें रुद्र का सेवक माना जाता है, यह हमारे सम्मुख अराजकता और हिंसा के काल का चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें उपलब्ध विविध संकर वर्णों का विवेचन भी यह संकेत देता है कि भारतीय वर्ण तथा राजव्यवस्था का पूर्णतः विकास हो चुका था। वस्तुओं के स्वभाव के समान ही, इनकी भी स्थापना उन लोगों के उग्र विरोध का सामना किये बिना नहीं हुई, जिन्हें निम्न कोटि के वर्गों में बलात् ढकेल दिया गया था। ये विरोध प्रत्यक्षतः शोषकों के साथ हुए होंगे या संघर्षों से प्रकट हो चुके होंगे। अतएव मैं यही मानूँगा कि यह रुद्राध्याय उस समय का है जब विजित आदिम जातियों तथा व्रात्यों या ब्राह्मण धर्म को न स्वीकार करने वाले आर्यों के आन्दोलन उनके खुलेआम विरोध के उपरान्त कुचल दिये गये थे।[1] ऐसे समय में

---

[1]बौद्ध आचार्य यशोमित्र ने, जिन्होंने 'अभिधर्मकोश' पर भाष्य लिखा है, शतरु-द्रिय को बौद्धों के विरोध में की गई व्यास की रचना बतायी है; इस कारण हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह रचना विशेषतः एक उपनिषद् के रूप में शिवपूजा का प्रमुख सम-

आतंक और उपद्रव के मूर्तरूप में प्रसिद्ध देवता की पूजा नितान्त स्वाभाविक है। पुरुषमेध में बलि के रूप में अर्पित किये जाने वाले विभिन्न वर्गों के पुरुषों को गिनाते हुए तीसवें अध्याय में अधिकांश भारतीय संकर वर्णों के नाम दे दिये गये हैं, जिससे हम किसी भी दशा में यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उस समय ब्राह्मणीय राजव्यवस्था पूर्ण रूप से पुष्ट हो चुकी थी। इनमें दिये गये कुछ नाम विशेषतः रोचक हैं। उदाहरण के लिये 'मागध' जिसकी बलि ५।५ में दी गई है, "अतिक्रुष्टाय"। प्रश्न उठता है: मागध से क्या अर्थ लिया जाय? यदि हम 'अतिक्रुष्ट' का अर्थ 'घोर कोलाहल' लें तो महीधर के अनुसार 'मागध' का महाकाव्यीय अर्थ के सन्दर्भ में 'चारण'[1] अर्थ होगा, जो क्षत्रिया स्त्री से उत्पन्न वैश्य का पुत्र होता था। इसकी पूर्ण संगति इसके तत्काल बाद आने वाली 'नृत्य' के लिए सूत की और गान के लिये 'शैलूष' की बलियों से बैठती है; यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि इसकी संगति इतने उत्तम ढंग से इसके पूर्व आने वाली क्लीब (नपुंसक) अयोगू (जुआड़ी) और पुंश्चलू (वेश्या) की बलियों से नहीं बैठती। इनके साथ मागध पुनः ५।२२[2] में आता है और ये उसके नैतिक आचरण पर उत्तम प्रकाश डालने वाले नहीं कहे जा सकते। इस वर्ण की महाकाव्यों में स्थिति देखते हुए प्रस्तुत विवरण निश्चय ही आश्चर्यजनक है, यद्यपि भारत में भी संगीतविदों, नर्तकों और गायकों (शैलूष) को कभी भी सर्वोच्च सम्मान नहीं प्राप्त हुआ है। किन्तु 'मागध' शब्द की दूसरी व्याख्या भी संभव है।[3] अथर्वसंहिता के पन्द्रहवें काण्ड में जिसे व्रात्यकाण्ड कहते हैं, व्रात्यों (ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से बाहर रहने वाले भारतीयों)[4] का पुंश्चली और मागध के साथ विशेष संबन्ध दिखाया गया है। श्रद्धा

बैंक ग्रंथ के रूप में ख्यात था; देखिए बर्नाउफ का इण्ट्रोडक्शन ला-हिस्टोरे डू बुद्धिज्मे, पृ० ५६८, इं० स्टू० २।२२।

[1]**उनका यह नाम कैसे पड़ा यह स्पष्ट नहीं होता।**

[2]**यहाँ 'अयोगू' के स्थान पर 'कितव' शब्द है; और स्पष्ट रूप से यह शर्त रखी गई है कि ये चारों न तो शूद्र होवें और न ब्राह्मण वर्ण के ['अयोगू' का अर्थ व्यभिचारिणी स्त्री भी हो सकता है; देखिए इं० स्ट्रा० १।७६]**

[3]**तैत्ति० ब्राह्मण के समान अंश (३।४।१) के भाष्य में सायण ने 'अतिक्रुष्टाय' का अर्थ 'अतिनिन्दितदेवाय' किया है, अर्थात् 'उसके अत्यन्त निन्दित देवता को प्रदत्त' [राजेन्द्रलाल मित्र का संस्करण पृ० ३४७] यह 'अतिनिन्दित' चारणों की अपकीर्ति की ओर भी निर्देश कर सकता है।**

[4]**इसका अनुवाद आऊफ्रेष्ट ने किया है, इं० स्टू० १.१३० आदि [सेंट पीटसबर्ग डिक्शनरी में अथर्व० १५, में आयी हुई व्रात्यों की प्रशस्ति को भिक्षुक (परिव्राजक) जीवन को आदर्श रूप में उपस्थित करने वाला वर्णन माना गया है (उसके 'पुंश्चली' और 'मागध' के साथ संबद्ध होने की बात अजीब दिखाई पड़ती है और इस व्याख्या के होते हुए भी इससे बौद्धधर्म का ही संकेत देती है)।**

को पुंश्चली और मित्र को उसका मागध कहा गया है; इसी प्रकार उषा, पृथ्वी (?) और विद्युत् को उसकी पुंश्चली, मन्त्र, हस और वज्र को उसका मागध कहा गया है। व्रात्यकाण्ड के दुर्बोध होने के कारण इस अंश का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं है; अतएव यह संभव है कि यहाँ भी निन्दित जीवन व्यतीत करने वाले चारण से ही तात्पर्य है। इन सभी स्थितियों के होते हुए भी लाट्यायन और द्राह्यायण के सामसूत्रों तथा 'कातीयसूत्र' के समरूप अंशों में व्रात्यों और 'मगधदेशीय ब्रह्मबन्धु'[1] के बीच जो संबन्ध है, एवं अथर्वसंहिता में अन्यत्र मगधों का जिस प्रकार अनादर के साथ उल्लेख किया गया है (देखिए, रोथ, पृ० ३८) इन दोनों ही बातों से हमें व्रात्यकाण्ड के 'मागध' का विधर्मी या नास्तिक आचार्य का अर्थ लेना होगा। आगे हम जिन अंशों पर विचार करेंगे उनमें भी यह अर्थ पहले दिये गये अर्थ की अपेक्षा अधिक सटीक बैठता है, और विशेषतः इसे ५।२२ के इस स्पष्ट निर्देश से और भी बल मिलता है कि "मागध, पुंश्चली, द्यूतकर और क्लीब" न तो शूद्र हों और न ब्राह्मण। यदि हम मागध को वर्णसंकर मानें तो इस प्रकार के निर्देश का कोई प्रयोजन न होगा; किन्तु यदि इस शब्द का अर्थ "मगधदेश का निवासी" लें तो यह निर्देश बिल्कुल उपयुक्त ठहरेगा। यदि हम इस दूसरी व्याख्या को अपनाते हैं तो यह निष्कर्ष निकलता है कि नास्तिक (अर्थात् बौद्ध) मत इस तेरहवें अध्याय की रचना के समय में मगध में प्रचलित रहा होगा। इसी बीच यह प्रश्न कि इन दो अर्थों में कौन अधिक उत्तम है बिना समाधान के ही रह जाता है। ५।१० में नक्षत्रदर्श "नक्षत्रों का अवलोकन करने वालों" और ५।२० में 'गणक' गणना करने वाला के उल्लेख से किसी भी स्थिति में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नक्षत्र-संबन्धी शास्त्र का बड़े मनोयोग के साथ अध्ययन किया जाता था। ५।१० में बार-बार उल्लिखित 'प्रश्न' कम से कम महीधर के अनुसार इसी से संबन्ध रखते हैं, यद्यपि सायण का विचार है कि वे ब्राह्मणों के सामान्यतः प्रचलित शास्त्रों का निर्देश करते हैं; और शायद सायण का यह कथन अधिक सही है। तथाकथित वैदिक वर्षपंचक का अस्तित्व भी इस तथ्य से प्रकट है कि ५.१५ में (और उसके अतिरिक्त केवल २७.४५में इसके वर्षों के पाँच नाम गिनाये गये हैं और इससे नाक्षत्रिक निरीक्षण में कम दक्षता का प्रमाण नहीं मिलता।[2] ५.१५ में वन्ध्या स्त्री की बलि अथर्वन् के लिये बताई गई है; जिसका

---

[1]ठीक उसी प्रकार 'मागध' को—जिससे सायण ने 'मगधदेशोत्पन्नो ब्रह्मचारी' बताया है—सूत्रकार (संभवतः बौधायन ने) तैत्ति० सं० ७.५.९.४ में 'पुंश्चली' के साथ निन्दा की भावना के साथ उल्लिखित किया है, देखिए इं० स्टू० १२।३३० मगध में अच्छे ब्राह्मण भी निवास करते थे यह 'मगधवासी' नाम से प्रकट होता है, जो शांख० आर० ७.१४ में ह्रस्व माण्डूकेय के पुत्र प्रातिबोधीपुत्र के लिये प्रयुक्त किया गया है।

[2]चूंकि यहाँ दो बार आरम्भ और अन्त में 'संवत्सर' शब्द आया है, अतएव यहाँ संभवतः षड्वर्षीय चक्र की ओर भी निर्देश है। तुलना तै० ब्रा० ३.१०.४.१;) मेरा

अर्थ सायण अथर्वन् नाम के आभिचारिक एवं जादूवाले मन्त्रों से लेते हैं। अतएव उन्हें यहाँ पर उनके एक फल वन्ध्यत्व को बलिरूप में अर्पित किया गया है। यदि यह सही अर्थ हो तो इससे यह अनिवार्यतः निष्कर्ष निकलता है कि तीसवें अध्याय की रचना के समय अथर्वन् सूक्त विद्यमान थे। ५.१८ में आए हुए द्यूत-क्रीडा की तीन गोटियों के नामों (कृत, त्रेता, और द्वापर) की व्याख्या सायण ने तैत्तिरीय-ब्राह्मण के समरूप अंश के भाष्य में महाकाव्यीय युगों के उन नामों के रूप में की है, जो इनके अनुरूप हैं। यह धारणा यहाँ लागू नहीं होती, भले ही तैत्तिरीय-ब्राह्मण[1] के संबन्ध में कदाचित् यह ठीक बैठती है। ५.१८ में चरकाचार्य का जो निन्दापूर्ण उल्लेख है उसके विषय में पहले ही कहा जा चुका है।[2]

आरम्भ के अध्यायों में विशेषतः दो ऐसे अंश हैं जो उनकी रचनाकाल का संकेत देते हैं। इनमें से पहला केवल काण्व पाठ में पाया जाता है और इसमें राजा के अभिषेक के समय का विवेचन है। माध्यंदिन पाठ (१९।४०।१०।१८) में उसका मूलपाठ इस प्रकार है: 'हे अमुकनामा, यह तुम्हारा राजा है।' सर्वनाम 'अमी' का ही प्रयोग किया गया है, किन्तु काण्व पाठ (१९.३.३.६,३) में इस प्रकार कहा गया है: "हे कुरुओं, हे पंचालों।[3] यह तुम्हारा राजा है।" दूसरा अंश अश्वमेधयज्ञ (२३।१८) के संबन्ध में आता है। इस कर्म को करने वाली महिषी या राजा की पटरानी को पुत्रप्राप्ति के लिए निहत घोड़े के शिश्न को अपने उपस्थ पर रखकर उसके साथ रात भर सोना होता है; उसके साथ जिन सपत्नियों को जाना होता है उनसे वह इस प्रकार प्रलाप करती हुई कहती है: 'हे अम्बा, हे अम्बिका! हे अम्बालिका! मुझे बलात् कोई (इस अश्व के पास) नहीं ले जा रहा है; (किन्तु यदि मैं अपनी इच्छा से न जाऊँ) तो यह अश्व काम्पील में निवास करनेवाली

लेख 'डी वेदिश्शेन नखरिष्टेन् फोन् डेन् नक्षत्र' २.२९८ (१८६२) देखिए। पंचवर्षीय 'युग' का सर्वप्रथम उल्लेख स्वयं ऋक् ३.५५, १८ (१.२५.८) में आता है।

[1] इसके अतिरिक्त इसमें यहाँ दिये गये आस्कन्द के स्थान पर चौथा नाम 'कलि' भी पाया जाता है। [देखिए इं० स्ट्डा० १.८२]

[2] तै० ब्रा० ३.४.१६, पृ० ३६१ के भाष्य में सायण ने इस शब्द का अर्थ (!) 'बाँस के ऊपर नाचने की कला का शिक्षक' किया है; किन्तु 'वंशनर्तिन' का नाम अलग से ५।२१ (तै० ब्रा० ३.४.१७) में दिया गया है।

[3] ब्राह्मण के समान अंश (५.३.३.११) पर सायण का कथन है कि बौधायन 'एष वो भरता राजेति' पाठ देते हैं [इस प्रकार तै० सं० १.८.१०.२, तै० ब्रा० १.७.४.२] इसके विपरीत आपस्तम्ब भरता, कुरवो, पंचाला, कुरुपांचाला, या जना राजा में जिस देश के राजा हो उसके अनुसार उपयुक्त शब्द का प्रयोग करने का विकल्प प्रस्तुत करते हैं [काठ १५.७ में 'एष ते जनते राजा' है]।

सुभद्रा जैसी किसी दूसरी दुष्ट स्त्री के साथ सोवेगा।"[1] काम्पील पञ्चाल देश में एक नगर है। अतएव सुभद्रा उस जनपद[2] के राजा की रानी रही होगी और यदि रानी इस अशोभनीय कर्म को करने के लिए प्रस्तुत नहीं होती तो ऐसा माना गया है कि अश्वमेध का फल काम्पील जनपद के राजा को मिलेगा। यदि हम 'महिषी' को कुरु देश के राजा की पत्नी मानें—और अम्बिका तथा अम्बालिका नाम इस संबन्ध में वस्तुतः महाभारत में धृतराष्ट्र और पाण्डु की माताओं के नाम के रूप में आये भी हैं—तो हम संभवतः यह अनुमान कर सकते हैं कि कुरु लोग पञ्चालों से वैमनस्य रखते थे। संभवतः यह वैमनस्य की भावना उस समय धुआँ रही थी, किन्तु महाभारत के महाकाव्यीय आख्यान में युद्ध के रूप में प्रज्वलित होकर भड़क उठी है। जो कुछ हो, काम्पील का उल्लेख यह प्रदर्शित करता है कि यह मन्त्र या सम्पूर्ण अध्याय (तथा तैत्तिरीय-ब्राह्मण का समरूप अंश) पञ्चालों के देश में रचा गया और यह अनुमान काण्व पाठ के ग्यारहवें काण्ड के लिये भी उपयुक्त ठहरता है।[3] इसके प्रमाण के रूप में हम माध्यंदिन में राजसूय यज्ञ के एक मन्त्र[4] (१०.२१) में 'अर्जुन' शब्द तथा काण्व पाठ के 'फल्गुन' शब्द को भी प्रस्तुत कर सकते हैं। "वीर्य और अन्न प्राप्त करने के लिए (मैं, यज्ञकर्ता) तुम पर चलता हूँ (हे रथ), मैं अजेय अर्जुन (फाल्गुन) अर्थात् इन्द्र या इन्द्रतुल्य हूँ।" यद्यपि हमें इन दोनों शब्दों को इस दूसरे अर्थ

---

[1]शुक्लयजुस् के ब्राह्मण में इस श्लोक के केवल आरम्भिक शब्दों को उद्धृत किया गया है; अतएव इसमें 'सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्' शब्द नहीं हैं।'

[2]वस्तुतः महाभारत में सुभद्रा पंचालों के प्रतिनिधि अर्जुन की पत्नी है; एक सुभद्रा के कारण (संभवतः महाभारत में वर्णित उसके अपहरण के कारण?) एक महायुद्ध हुआ था, जैसा कि पाणिनि के भाष्यकार द्वारा अनेकशः उद्धृत कुछ शब्दों से प्रतीत होता है। क्या इसके लिये इस टीकाकार के समय महाभाष्य का प्रमाण है? [महाभाष्य में ऐसी कोई बात नहीं मिलती]।

[3]तैत्ति० सं० ७.४.१९.१, काठ० आश्व० ४.८ में दो कर्मों के स्थान पर दो संबोधन के रूप में हैं; इसके अतिरिक्त 'सुभद्रा' के स्थान पर 'सुभगे' है। 'काम्पील-वासिनि' संबोधन की व्याख्या सायण ने इस प्रकार की है 'हे सुन्दर वस्त्रों में आवृत्त स्त्री' ('काम्पीलशब्देन श्लाघ्यो वस्त्रविशेष उच्यते' देखिए इं० स्टू० १२।३१२)। यह व्याख्या संगत नहीं कही जा सकती और इस शब्द से काम्पील नगर का महीधर द्वारा किया गया निर्देश मान्य समझना चाहिए; कम से कम वा० सं० के शब्दों के अनुसार तो ऐसा ही मानना पड़ेगा। 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' में 'काम्पील्य' को मध्यदेश की पूर्वी सीमा बताया गया है, देखिए मेरा 'प्रतिज्ञासूत्र', पृ० १०१-१०५।

[4]देखिए वाज० सं० १०।११, तै० सं० १.८.१५, तै० ब्रा० १.७.९.१, काठक १.५.८ के समानान्तर अंशों में इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं है।

विशेष के रूप में लेना चाहिए, व्यक्तिवाचक नाम के रूप में नहीं, (देखिए इं० स्टू० १।१९०), फिर भी किसी भी दशा में इस प्रयोग तथा परवर्ती काल के प्रयोग में, जिसमें वे नाम पाण्डवों (पञ्चालों ?) के प्रमुख वीर के नामों के रूप में आये हैं, कुछ संबन्ध माना जा सकता है। और यह संबन्ध इस तथ्य में है कि आख्यान में इन्द्र[1] के इन नामों का प्रयोग पाण्डवों (पंचालों ?) के प्रधान वीर के लिये किया गया है, जिसे प्रमुख रूप में इन्द्र का अंश माना गया है।

अन्त में, जहाँ तक यजुस् में आनेवाली ऋचाओं के आलोचनात्मक संबन्ध का प्रश्न है, मुझे यह कहना है कि सामान्यतः काण्व और माध्यंदिन के दोनों पाठ इस विवरण में समान हैं, और उनके अन्तर केवल यजुस् अंशों का निर्देश करते हैं। वाजसनेयिसंहिता के आधे भाग में ऋचाएं या मन्त्र हैं, आधे में यजूंषि या गद्यात्मक मन्त्र हैं। इस गद्य की भी मात्रा नपी-तुली है, जो स्थान-स्थान पर वास्तविक छन्दोबद्ध रचना का रूप धारण कर लेता है। इसमें आई हुई ऋचाओं का अधिकांश भाग ऋक्-संहिता में मिल जाता है और प्रायः पर्याप्त पाठ-भेदों के साथ, जिनकी उत्पत्ति और कारण के विषय में मैंने पहले ही भूमिका में विचार किया है। ऋग्वेद के पाठों से अधिक प्राचीन पाठ यजुस् में नहीं मिलते अथवा कहीं एकाध जगह आ जाते हैं जिसका कारण यह है कि अधिकांशतः ऋक् और यजुस् साम्य रखते हैं और इस प्रकार सामन् से विपर्यास प्रदर्शित करते हैं। फिर भी हम यह तो पाते ही हैं कि यज्ञ के अर्थ के साथ मेल खाने के लिए मन्त्रों में बाद के समय में कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं। अन्त में हम ऐसे अनेक पाठ पाते हैं जो ऋक् के पाठों के समान ही प्रामाणिक हैं; विशेषतः उन मन्त्रों में जो ऋक्-संहिता के ऐसे अंशों में भी आते हैं, जिन्हें सबसे बाद के समय का माना जाता है। दोनों पाठों में वाजसनेयिसंहिता का सम्पादन महीधर[2] भाष्य के साथ मैंने किया है (बर्लिन १८४९-५२)। इसे सोलहवीं शताब्दी के अन्त में लेखबद्ध किया गया है; और अगले वर्ष इसका एक अनुवाद निकलने वाला है, जिसमें प्रत्येक मन्त्र से संबद्ध यज्ञ क्रिया का निर्देश होगा और एक पूरी टीका होगी।[3]

---

[1]इसके अतिरिक्त 'ब्राह्मण ने अर्जुन' को इन्द्र का गुप्त नाम (गुह्यं नाम) बताया है (२.१.२.११; ५.४.३.७) इसका अर्थ क्या लगाया जाय ? इस पर भाष्य में कहा गया है: अर्जुन इति हीन्द्रस्य रहस्यं नाम। अतएव खलु तत्पुत्रे पाण्डवमध्यमे प्रवृत्तिः [इन अंशों में काण्वपाठ में क्या कहा गया है ? क्या संहिता के समान उसमें भी फाल्गुन ही है अर्जुन नहीं ?]

[2]इसके लिए दुर्भाग्यवश मेरे पास पर्याप्त पाण्डुलिपियाँ नहीं थीं। देखिए म्यूल्लेर का ऋक्० के भाग ६ के विस्तृत संस्करण का आमुख पृ० ४६; और लिटेरारिशेष सेन्ट्राल्ब्लाट' १८७५ पृ० ५१९, ५२० में मेरा उत्तर।

[3][अन्य कार्यों में उलझ जाने के कारण यह कार्य पूरा नहीं हो सका है] चालीसवें

महीधर के पूर्ववर्ती ऊअट की रचना के केवल कुछ अंश ही सुरक्षित हैं तथा काण्वपाठ का माधवरचित भाष्य पूर्णतः नष्ट प्रतीत होता है।[1] इन दोनों का स्थान महीधर की रचना ने ले लिया और इस प्रकार वे दोनों लुप्त हो गईं। इस प्रकार की घटना भारतीय साहित्य की प्रायः सभी शाखाओं में समान रूप से हुई है, जो बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण है।

अब मैं शुक्ल यजुस् के ब्राह्मण 'शतपथ-ब्राह्मण' पर आता हूँ, जो अपने विस्तार और वर्ण्यविषयों की दृष्टि से निःसन्देह सभी ब्राह्मणों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रमुख स्थान रखता है। सर्वप्रथम जहाँ तक इसके आकार का प्रश्न है—इसके नाम से ही इसका पर्याप्त संकेत मिलता है, जिसके अनुसार इसमें १०० पथ (मार्ग) या अध्याय कहे गये हैं। इस नाम का सबसे प्राचीन उल्लेख पाणिनि ४।२।६० के वार्तिक और पाणिनि ५।३।१०० के गणसूत्र में मिलता है; किन्तु इन दोनों की प्राचीनता के विषय में पर्याप्त सन्देह है।[2] यही बात नैगेय-दैवत के विषय में भी कही जा सकती है, जिसमें यह नाम आया है (देखिए बेनफी का सामवेद; पृ० २७७)। महाभारत के बारहवें पर्व में आनेवाले एक अंश के, जिस पर हम आगे विचार करेंगे, एकमात्र अपवाद को छोड़कर मैंने यह नाम अन्यत्र केवल भाष्यों में और स्वयं इस ब्राह्मण की पाण्डुलिपि के परिचयात्मक वाक्य में पाया है। माध्यंदिन शाखा के 'शतपथ-ब्राह्मण' में चौदह काण्ड हैं, जिनमें प्रत्येक का भाष्यों में और पाण्डुलिपियों के समाप्ति-वाक्य में एक विशेष नाम है; ये नाम प्रायः वर्ण्यविषय से लिये गये हैं। फिर भी दूसरे काण्डों के नाम मुझे स्पष्ट नहीं लगते।[3] चौदह काण्डों का कुल मिलाकर १०० अध्यायों और सातवें

अध्याय ईशोपनिषद के काण्व पाठ पर शंकर ने भाष्य लिखा है; अनेक बार भाष्य के साथ इसका सम्पादन और अनुवाद हुआ है (हाल ही में रोइर ने पुनः बिब्लि इं० भाग ८ में इसका प्रकाशन किया है) [भाग १५-में वाज० सं० की एक लिथो कापी है, जिसमें महीधर के भाष्य का हिन्दी अनुवाद है; इसका प्रकाशन बेस्मा के राजा गिरिप्रसाद वर्मन ने (१८७०० -७४ में बेस्मा में) किया है।

[1]यह विशिष्ट कथन किस तथ्य पर आधारित है, मैं सम्प्रति प्रदर्शित करने में असमर्थ हूँ; किन्तु माधव ने वा० सं० पर भी भाष्य लिखा था यह महीधर के १३.४५ के भाष्य के उद्धरण से प्रकट है।

[2]'गण' एक 'आकृतिगण' है और यह जिस सूत्र का है, कलकत्ता संस्करण के अनुसार, उसकी व्याख्या महाभाष्य में नहीं की गई है; संभवतः यह पाणिनि के मौलिक पाठ में नहीं है! [इस वार्त्तिक की व्याख्या महाभाष्य में की गई है और इस प्रकार 'शतपथ' और 'षष्टिपथ' नामों की स्थिति की पुष्टि की गई है (देखिए पृ० १०६) कम से कम जिस समय इस ग्रंथ की रचना हुई थी उस समय ये दोनों नाम प्रचलित थे; देखिए इं० स्टू० १३. ४४३]

[3]दूसरे काण्ड का नाम 'एकपादिका' है और सातवें का 'हस्तिघट'।

(या ६८ प्रपाठकों), ४३८ ब्राह्मणों तथा ७६२४ कण्डिकाओं[1] में विभाजन किया गया है। काण्व पाठ में इसमें सत्रह काण्ड हैं; पहले, पाँचवें और चौदहवें काण्डों को प्रत्येक दो-दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। इसमें प्रथम काण्ड के स्थान पर द्वितीय काण्ड पहले आया है, और इस प्रकार प्रथम काण्ड ही द्वितीय और तृतीय काण्ड है। काण्डों के नाम वे ही हैं, किन्तु प्रपाठकों का विभाजन इसमें बिल्कुल नहीं मिलता। तेरह अध्यायों और एक चौदहवें के आधे भाग तक जो अंश अभी उपलब्ध है,[2] अध्यायों की संख्या ८५ है और ३६० ब्राह्मण एवं ४९६५ कण्डिकाएँ है। एक पाण्डुलिपि में पाई जानेवाली विषय-सूची के अनुसार इसमें १०४ अध्याय, ४४६ ब्राह्मण तथा ५८६६ कण्डिकायें थीं। यदि इससे काण्व शाखा का पाठ माध्यंदिन शाखा के पाठ से पर्याप्त छोटा प्रतीत होता है, तो ऐसा केवल बाह्यतः ही है। इस असमानता का कारण संभवतः यह है कि काण्वीय 'शतपथ-ब्राह्मण' में कण्डिकाएँ अधिक लम्बी हैं। निश्चय ही, स्थान-स्थान पर प्रायः कुछ अंश छोड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त मेरे पास कोई ऐसा साधन नहीं है, जिससे मैं ठीक-ठीक काण्वीय और माध्यंदिनीय 'शतपथ ब्राह्मण' के संबन्ध का निर्धारण कर सकूं। आगे केवल उन स्थलों को छोड़कर जहाँ काण्वीय शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, अन्यत्र जो कुछ भी कहा जायगा उसे माध्यंदिनीय शतपथ ब्राह्मण के विषय में ही समझना चाहिए।

जैसा कि पहले ही संहिता पर विचार करते समय कह चुका हूँ, ब्राह्मण के प्रथम नौ काण्ड संहिता के प्रथम अठारह काण्डों से संबन्ध रखते हैं। वे पृथक् मन्त्रों को ठीक उसी क्रम में[3] उद्धृत करते हैं, उनकी शब्दशः व्याख्या करते हैं और उनका संबन्ध यज्ञ से स्थापित करते हैं। दसवें काण्ड में, जिसका नाम 'अग्निरहस्य' है, पवित्र अग्निचयन से संबद्ध विविध याज्ञिक क्रियाओं के महत्त्व आदि के विषय में गूढ आख्यान और विवेचन हैं, और इनमें संहिता के किन्हीं विशिष्ट अंगों का निर्देश नहीं किया गया है। यही बात 'अष्टाध्यायी' नाम के ग्यारहवें काण्ड के विषय में भी है, जिनमें पहले वर्णित सभी यज्ञों की संक्षेप में पुनरावृत्ति है और उसमें कुछ और विषय, विशेषतः उस पर प्रकाश डालने वाले आख्यान जोड़ दिये गये हैं और इस प्रयोजन के लिए निर्दिष्ट पवित्र रचनाओं आदि के अध्ययन के

---

[1]इसके विरोधी उक्तियों के लिये जो पाण्डुलिपि में पाई जाती है पृ० १०७ की टिप्पणियाँ देखिए।

[2]चतुर्थ काण्ड का केवल पूर्वार्द्ध है और तीसरे, तेरहवें और सोलहवें काण्ड का पूर्णतः अभाव है।

[3]केवल भूमिका में ही अन्तर पाया जाता है; कारण ब्राह्मण सर्वप्रथम प्रातः एवं सायं सवन का विवेचन करते हैं और आगे दर्श पौर्णमास्य यज्ञों के वर्णन तक कोई अन्तर नहीं मिलता; इन यज्ञों के वर्णन स्पष्टतः अधिक क्रमबद्ध हैं।

विषय में विशेष विवरण भी दिये गये हैं। मध्यम अर्थात् 'मध्यवर्ती' नाम वाले बारहवें काण्ड में यज्ञ के पूर्व, यज्ञकाल में या उसके उपरान्त होनेवाली अशुभ घटनाओं के लिए प्रायश्चित्त कर्म हैं। इसके अन्तिम भाग में सौत्रामणी का विवेचन किया गया है और संहिता में पाये जाने वाले (१९-२१) एवं इस कर्म से संबद्ध यजुस् मन्त्रों का निर्देश किया गया है। अश्वमेध नाम का तेरहवाँ काण्ड कुछ विस्तार के साथ अश्वमेध का वर्णन करता है; और उसके उपरान्त अत्यन्त संक्षेप में पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृमेध का परिचय दिया गया है। इनके साथ संहिता के संबद्ध अंशों (२२-३५) का संकेत भी किया गया है, किन्तु संहिता के ये उद्धरण बहुत कम और अत्यन्त सूक्ष्म रूप में आते हैं। चौदहवें काण्ड को "आरण्यक" कहा जाता है; इसके प्रथम तीन अध्यायों में अग्नि-चयन करने का वर्णन है[1] और इस विवेचन में संहिता के अन्तिम अध्याय के पहले के तीन अध्यायों (३७-३९) का प्रायः समग्र रूप में उद्धरण दिया गया है। अन्तिम छः अध्याय दार्शनिक तथा आख्यानात्मक स्वरूप वाले हैं और स्वयं एक पृथक् रचना है, जिसे 'बृहदारण्यक' नाम दिया गया है। विभिन्न काण्डों के वर्ण्यविषय का यह संक्षेप स्वयं ही इस अनुमान को बल देता है कि प्रथम नौ काण्ड ब्राह्मण के सर्वाधिक प्राचीन भाग हैं; और इसके विपरीत, अन्तिम पाँच काण्डों की उत्पत्ति बाद के समय की है। इस अनुमान पर जब हम और निकट से दृष्टिपात करते हैं तो बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रमाणों से वह निश्चित तथ्य के रूप में परिणत हो जाता है। सर्वप्रथम, जहाँ तक बाह्य प्रमाण का प्रश्न है, हम महाभारत के उपर्युल्लिखित अनुच्छेद (१२।११७३४) में यह स्पष्ट उल्लेख पाते हैं कि सम्पूर्ण शतपथ में एक रहस्य (दसवाँ काण्ड), एक संग्रह (ग्यारहवाँ काण्ड) और एक परिशेष (बारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ काण्ड) है। 'शतपथ' नाम के संबन्ध में ऊपर उद्धृत वार्तिक में भी हम एक रचना का नाम 'षष्टिपथ'[2] पाते हैं; और मुझे इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि यह नाम प्रथम नौ काण्डों के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिनमें कुल मिलाकर ६० अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त इस विचार की पुष्टि में कि अन्तिम पाँच काण्ड पहले के नौ काण्डों में बाद में जोड़े गये हैं, मैं "मध्यम" (मध्यवर्ती) नाम का प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ, जो बारहवें काण्ड का नाम है। इसका "मध्यम" नाम तभी सार्थक कहा जा सकता है, जब हम इसे अन्तिम काण्ड के पहले के तीन काण्डों का या सभी पाँचों काण्डों का मध्यवर्ती मानें।[3]

---

[1]प्रवर्ग्य स्वयं यज्ञकर्ता की शुद्धि से सम्बन्ध रखता है; देखिए टिप्पणी ४ पृ० ९७

[2]यह 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' में भी पाया जाता है, और इसके साथ अशीतिपथ(!) नाम भी आया है; इसके विपरीत, उसमें 'शतपथ' का नाम नहीं है 'प्रतिज्ञासूत्र' पर मेरा लेख पृ० १०४, १०५ देखिए।

[3]यदि पाँचों का मध्यवर्ती माना जाय तो काण्व पाठ के कारण एक कठिनाई उठ खड़ी होती है; काण्व पाठ में अन्तिम काण्ड के दो भाग कर दिये गये हैं (१६,१७); यह

ये अन्तिम पाँच काण्ड प्रायः उसी क्रम में अवस्थित प्रतीत होते हैं, जिस क्रम में वे वस्तुतः रचे गये थे। इस प्रकार प्रत्येक काण्ड क्रमानुसार अपने पूर्ववर्ती काण्ड से कम प्राचीन है। यह अनुमान इनमें पाये जाने वाले तथ्यों के आन्तरिक प्रमाण पर आधृत हैं। यह प्रमाण साथ ही साथ इन काण्डों के प्रथम नौ काण्डों के बाद का होने के प्रश्न का भी निर्णय कर देता है। प्रथमतः, दसवाँ काण्ड अब भी अपने पूर्ववर्ती काण्डों से घनिष्ठ संबन्ध रखता है; विशेषतः इसलिये कि इसमें अग्निचयन कर्म के प्रमुख मान्य आचार्य शाण्डिल्य के प्रति बहुत सम्मान दिखाया गया है। निम्नलिखित प्रमाण इस विचार की पुष्टि करने वाले प्रतीत होते हैं कि यह प्रथम नौ काण्डों के समय से भिन्न समय का है। १।५।१ इत्यादि में इसके पूर्व के काण्डों में विवेचित सभी यज्ञों को उनके उचित क्रम में गिनाया गया है और उन्हें अग्निचयन की अनेक क्रियाओं के अनुरूप बताया गया है। इसमें जिन आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है, उनमें अनेक नामों के अन्त में 'आयन' आता है। इस प्रकार के प्रत्यय का उदाहरण हम सातवें, आठवें और नवें काण्डों में क्रमशः केवल एक बार पाते हैं। इस प्रकार हमें इसमें एक रौहिणायन, सायकायन, वामकक्षायण (७वें में भी) राजस्तम्बायन, शाण्डिल्यायन (९वें में भी), शाट्यायनि (८वें में भी) तथा शाकायनिन् (नवें में भी) मिलते हैं; अन्त में दिया गया अंश (अर्थात् इस काण्ड के आचार्यों की सूची) भी

विभाजन सामान्यतः मान्य नहीं प्रतीत होता; कारण, कम से कम शांकर भाष्य की पाण्डुलिपि में उपनिषद्, (१७) का आरम्भ तीसरे अध्याय (अर्थात् काण्ड के आरम्भ) से माना गया है, जिससे काण्ड १६ और १७ में साम्य होता है। माध्यंदिन पाठ की पाण्डुलिपि में ५. ३.१.१४ में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उक्ति यह मिलती है कि यह स्थल (५.३.१.१४) जहाँ तक २३६ कण्डिकाएँ हैं, न केवल 'काण्डस्यार्धम्' है अपितु एक टिप्पणी के अनुसार यह 'शतपथस्यार्धम्' भी है, जहाँ तक सम्पूर्ण २१३९ कण्डिकाएँ होती हैं; देखिए मेरे संस्करण का पृ० ४९७; वस्तुतः पहले की कण्डिकाएँ २१३९ संख्या तक पहुँचती हैं; किन्तु यदि हम इसे उत्तरार्द्ध के लिये निर्णायक तथ्य मानें तो हम केवल १२.७.३.१८ तक पहुँचते हैं तेरहवें काण्ड के अन्त तक भी हम नहीं पहुँचते। सम्पूर्ण विद्यमान ग्रन्थ का ठीक मध्यस्थल (३८१२ कण्डिकाएँ) ६.७.१.१९ होगा, इस स्थल पर भी पाण्डुलिपि में उपर्युक्त कथन आया है (पृ० ५५५)- यह भी विशेषतः उल्लेखनीय है कि स्वरप्रक्रिया कण्डिकाओं की सीमा का भी उल्लंघन करती है और कण्डिका के अन्त में आने वाला स्वर दूसरी कण्डिका के प्रथम शब्द के स्वर से प्रभावित होता है। इससे हम संभवतः यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ग्रंथ के कण्डिकाओं में विभाजन के समय से पूर्व के समय में ही इन पर स्वरांकन हुआ था। इसी प्रकार की बात हम ब्राह्मणों के आरम्भिक और अन्तिम शब्दों के विषय में भी पाते हैं (देखिए 'येनाएर् लिटेराटुरत्साइटुंग, १८७५, पृ० ३१४), हमें ब्राह्मण का विभाजन भी बाद के समय का मानना होगा, जो संभव नहीं है।

सम्पूर्ण ब्राह्मण के सामान्य वंश से (जो चौदहवें काण्ड के अन्त में आता है) यह भेद रखता है कि इसमें इस ग्रन्थ का संबन्ध याज्ञवल्क्य से न जोड़कर शाण्डिल्य और तुरकावषेय से जोड़ा गया है (जिसके पूर्वज कवष को हम ऐतरेय-ब्राह्मण में सरस्वती के तट पर यज्ञ करते हुए उल्लिखित पाते हैं)। एकमात्र जिन जातियों का उल्लेख किया गया है वे हैं सल्व और केकय (विशेषतः उनके राजा अश्वपति कैकेय)। ये दोनों ऐसी पश्चिमी जातियाँ हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र ब्राह्मणों में नहीं हुआ है। इस काण्ड में तथा आगे के चार काण्डों में आख्यान प्रायः अधिकांशतः ऐतिहासिक हैं और इसके अतिरिक्त ऐसे आचार्यों से सम्बद्ध हैं जो स्वयं आख्यानों के समय से बहुत पहले नहीं हुए होंगे। इसके विपरीत इसके पहले के काण्डों में आख्यान अधिकांशतः कल्पनाप्रधान पुराकथा के रूप के हैं, या यदि ऐतिहासिक हैं तो वे प्रमुख रूप से बहुत प्राचीनकाल की घटना का संकेत करते हैं, जिससे यहाँ एक स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है। 'त्रयीविद्या' (तीन वेद) का अनेकशः विशेष ढंग से विवेचन किया गया है और ऋचाओं की संख्या १२०००, यजुस् मन्त्रों की संख्या ८००० और सामन् की संख्या ४००० बताई गई है। इसी में सर्वप्रथम अध्वर्यु, बह्वृच और छन्दोग नाम एक साथ आते हैं[1] और उपनिषद् (वेद के 'सार' रूप में) उपनिषदाम् आदेशाः, मीमांसा (निश्चय ही यह एक बार पहले प्रथम काण्ड में ही आया है), अधिदेवतम्, अधियज्ञम्, अध्यात्मम्[2] शब्द भी सर्वप्रथम इसमें पाये जाते हैं; और अन्ततः पहली बार इसमें ही 'भवान्' (पहले के 'भगवान्' के स्थान पर) सम्बोधन का भी प्रयोग मिलता है। स्थान-स्थान पर पुष्टि के लिये श्लोक का भी उद्धरण दिया गया है, ऐसी बात पहले के काण्डों में शायद ही देखने में आती है। अपरंच, सामन् और शस्त्रों के अनेक पारिभाषिक नामों का उल्लेख भी है। ऐसी बात पहले भी आ चुकी है और संहिता के दसवें अध्याय में भी पायी जाती है); और सामान्यतः ऋचाओं और सामन् के बीच संबन्ध का भी बार-बार निर्देश किया गया है; यह कार्य समूचे काण्ड के विशिष्ट रहस्यमय एवं व्यवस्थापक स्वरूप से मेल खाता है।

ग्यारहवाँ काण्ड प्रथम नौ काण्डों का परिशिष्ट है, यह बात इसके वर्ण्यविषय से पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है। इसके प्रथम दो अध्याय दर्श और पौर्णमास्य यज्ञों का विवेचन करते हैं; इसके आगे के चार अध्याय प्रातः एवं सायं होम, चातुर्मास्य यज्ञ, आचार्य द्वारा शिष्य की दीक्षा, श्रुति के उचित अध्ययन इत्यादि का तथा अन्तिम दो अध्याय पशुयज्ञों का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, अथर्वांगिरसस्, अनुशासनस्, विद्या,

---

[1]'यातुविदस्' (जादू में प्रवीण व्यक्तियों) के साथ-साथ सर्पविदस्, (सपेरा) 'देवजनविदस्' इत्यादि।

[2]'मीमांसा', 'अभिदैवतं' और 'अध्यात्मम्' आरम्भिक काण्डों में अनेक बार आया है।

वाकोवाक्य, इतिहासपुराण, नाराशंसीः और गाथा अध्यवसाय के विषय बताये गये हैं। तैत्तिरीय-आरण्यक के दूसरे अध्याय में हम पहले ही इस गणना से परिचित हो चुके हैं; यद्यपि 'तैत्तिरीय-आरण्यक' में इसका रूप पर्याप्त अर्वाचीन है।[1] इसी प्रकार की परिगणना चौदहवें काण्ड में भी मिलती है। इन सभी अंशों के भाष्यों में[2] संभवतः उचित ढंग से ही इन नामों की इस प्रकार व्याख्या की गई है; पहले संहिताओं का निर्देश किया गया है और तब ब्राह्मणों के विभिन्न अंगों का; इस प्रकार दूसरे वर्ग के नामों से हमें पृथक् रचनाएँ नहीं समझनी चाहिए, अपितु तत्तत् नामों से अभिहित उन अंशों को समझना चाहिए जो ब्राह्मणों में एक साथ घुल-मिल गये हैं, और जिनसे समय बीतने पर शनैः शनैः साहित्य की अनेक शाखाएँ फूट निकलीं। 'अनुशासन' (सायण के अनुसार, याज्ञिक विधि 'बृहदारण्यक' २.५.१९; ४.३.२५, कठो० ६.१५ के अनुसार "अध्यात्म विद्या") "विद्या या अध्यात्म ज्ञान" तथा "गाथा" या गान ("श्लोक" के साथ) नामों का (तथा "गाथा" का प्रायशः) इसी रूप में इसके अन्तिम पाँच काण्डों में और 'ऋक्' तथा 'सामन्' के ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में भी प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार शास्त्रीय विवाद के अर्थ में 'वाकोवाक्य' सातवें काण्ड में आया है और इतिहास शब्द कम से कम एक बार स्वयं ग्यारहवें काण्ड में आया है (१।६।९)। पुराण और नाराशंसी शब्द नहीं मिलते हैं; उनके स्थान पर कथा के अर्थ में आख्यान, व्याख्यान, अनुवाख्यान, उपाख्यान शब्द आये हैं। अनुव्याख्यान और उपव्याख्यान शब्दों के साथ व्याख्यान "व्याख्या" के अर्थ में भी आता है। इन कथनों से हमें यह प्रमाण मिलता है कि इस ग्यारहवें काण्ड की रचना के समय विविध वेदों की कतिपय संहिताएँ और ब्राह्मण तथा स्वयं अथर्वसंहिता भी विद्यमान थी। किन्तु इस विषय पर प्रकाश डालने वाले ऋक् सूक्तों के अकेले मन्त्रों के अतिरिक्त, जो यहाँ भी पहले के काण्डों के समान ही कई बार ('तद् एतद् ऋषिणाऽभ्यनुक्तम्" द्वारा) उद्धृत किये गये हैं, ग्यारहवें काण्ड में एक विशिष्ट उद्धरण भी मिलता है। यह उद्धरण एक दूसरे सूक्त का है और इन शब्दों से प्रारम्भ होता है: "तद् एतद् उक्तप्रत्युक्तम् पञ्चदशर्चम् बह्वृचा प्राहुः।" आलोचक के लिये यह एक रोचक तथ्य है कि हमारे ऋग्वेद के पाठ में इस सूक्त (१०।५) में पन्द्रह नहीं अपितु अठारह मन्त्र हैं; पुष्टि के लिये अकेले श्लोकों का भी प्रायः उद्धरण दिया गया है। इनमें एक श्लोक से यह पता चलता है कि जनमेजय के प्रासाद में घोड़ों पर जो विशेष ध्यान दिया जाता था वह एक लोकोक्ति बन गया था। इस राजा का सर्वप्रथम उल्लेख भी यहीं पाया जाता है। इसी में रुद्र को सर्वप्रथम महादेव नाम दिया

---

[1]इससे याज्ञवल्क्यस्मृति में एक अंश (१।४५) की उत्पत्ति हुई है जिसका उस ग्रन्थ के शेष भाग से साम्य नहीं बैठता।

[2]यहाँ सायण ने एक अपवाद प्रस्तुत किया है; क्योंकि उन्होंने दूसरी व्याख्या भी दी है।

गया है (५.३.५)।[1] ३.३.२ आदि में पहली बार 'ब्रह्मचारिन्' आदि की भिक्षा के विषय में विशेष नियम दिये गये हैं। इस प्रथा का उल्लेख अतिरिक्त संहिता के ३०वें अध्याय में किया गया है (५।१८)। किन्तु ग्यारहवें काण्ड के समय पर जो बात विशेष प्रकाश डालती है वह है पहली बार और अनेक बार विदेह के सम्राट जनक का याज्ञवल्क्य के आश्रयदाता के रूप में उल्लेख। याज्ञवल्क्य, कौरुपञ्चाल उद्दालक आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु (बृहदारण्यक के समान ही) इन आख्यानों के प्रमुख पात्र हैं।

बारहवें काण्ड में सृञ्जयों के राज्य के विनाश का उल्लेख किया गया है। दूसरे काण्ड में सृञ्जयों को समृद्धि की चोटी पर तथा कुरुओं से संबद्ध बताया गया है। यह संबन्ध यहाँ भी देखा जा सकता है; क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि कौरव्य वल्हीक प्रातिपीय ने उनका पक्ष उनके शत्रु चरक के विरुद्ध लेना चाहा था जो रेवा के उत्तर के देश का निवासी और दशपुरुषंराज्य के राजा दुष्टरीतु का पुरोहित था; किन्तु उनके प्रयत्न विफल हो गये थे। वार्कलि (अर्थात् वाष्कलि) और नाक मौद्गल्य नाम भी संभवतः एक बाद के समय की ओर संकेत करते हैं। नाक मौद्गल्य नाम बृहदारण्यक और तैत्तिरीयोपनिषद् के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का उल्लेख किया गया है और हम वैदिक साहित्य के पूर्व अस्तित्व का प्रमाण सामान्यतः इस कथन में पाते हैं कि इन्द्र द्वारा एक बार वसिष्ठों को बताई गई एक क्रिया पहले केवल वासिष्ठों को ज्ञात थी जिस कारण पहले इस यज्ञ क्रिया के सम्पादन के समय केवल वासिष्ठ ही ब्रह्मन् हो सकता था—अब इच्छानुसार कोई भी इसका अध्ययन कर सकता था और उसके सम्पादन के समय 'ब्रह्मन्' ऋत्विज का कार्य कर सकता था।[2] ३.४.२ में 'पुरुष नारायण' का पहली बार नाम आया है। प्रीति कौशाम्बेय कौसुरुबिन्दि के नाम से भी संभवतः पञ्चालों की नगरी कौशाम्बी के इसके पहले बसे होने का संकेत मिलता है।

तेरहवाँ काण्ड 'पुरुष नारायण' का अनेकशः उल्लेख करता है। राक्षसों के राजा कुबेर वैश्रवण का नाम भी पहली बार इसी काण्ड में आया है। इसी प्रकार हम इसमें ऋक् के सूक्तों, यजुस् के अनुवाकों,[3] सामन् के दशतों और अथर्वाण तथा आङ्गिरसस् के 'पर्वों' का पहली बार नाम पाते हैं। पर्वों का विभाजन अथर्वन् के विद्यमान पाठ में नहीं मिलता। सर्पविद्या और देवजनविद्या के संबन्ध में भी पर्वों के विभाजन का वर्णन है; इसलिये किसी भी दशा में इन नामों द्वारा एक भिन्न रचना समझनी चाहिए। इतिहास और पुराण के विषय में नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिया गया है। उनके पर्वों में विभाजन की भी बात नहीं कही गई है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय भी

---

[1] छठे काण्ड में उन्हें 'महान् देवः' कहा गया है।

[2] इस विषय पर इं० स्टू० १०.३४, ३५ देखिए।

[3] यह पद पहले के काण्डों में भी आता है; उदाहरण के लिए ९.१.१.१५ में।

उन्हें केवल असंबद्ध कथाओं और आख्यानों के रूप में समझा जाता था, किसी भी प्रकार के पृथक् ग्रन्थों के रूप में नहीं।[1] प्रथम नौ काण्डों में इस कथन को कि विषय का विवेचन पहले विस्तारपूर्वक किया गया है, "तस्योक्तो बन्धुः" [या 'सोऽसाव् एव बन्धुः' तथा इसके समान] वाक्यों द्वारा व्यक्त किया गया है; किन्तु उसी कथन को इस काण्ड में 'तस्योक्तम् ब्राह्मणम्' द्वारा व्यक्त किया गया है। ५.१.१८ में एकवचन तथा बहुवचन शब्दों का प्रयोग ठीक उनके परवर्तीकाल के अर्थ में मिलता है। इस काण्ड की एक अनोखी विशेषता यह है कि इसमें ऐतिहासिक महत्त्व की गाथायें सबसे अधिक संख्या में आई हैं। ये गाथाएँ अश्वमेध वर्णन के अन्त में उद्धृत की गई हैं और इनमें उन राजाओं के नाम दिये गये हैं, जिन्होंने प्राचीन काल में अश्वमेध यज्ञ किया था। इनमें से केवल एक गाथा ऋक्-संहिता (४. ४२-८) में मिलती है; अधिकांश गाथाएँ 'ऐतरेय-ब्राह्मण' के अन्तिम ब्राह्मण में और महाभारत १२.९१० आदि में आई हुई हैं और दोनों स्थलों पर इनमें कई पाठान्तर हैं।[2] प्रश्न उठता है कि हम इन गाथाओं को अधिक लम्बे सूक्तों का अंश मानें या उन्हें केवल स्फुट स्मरणीय श्लोक मानें। यह तथ्य भी प्रथम मत का समर्थन करता है कि इनमें से कुछ नामों के संबन्ध में (यदि हम ऐतरेय-ब्राह्मण को भी सम्मिलित करें तो) दो, तीन, चार, पाँच और छः तक श्लोक दिये गये हैं और सर्वत्र छन्द एक ही है। इसका केवल एक ही अपवाद मिलता है जिसमें प्रथम और चतुर्थ छन्द तो श्लोक हैं, किन्तु दूसरा त्रिष्टुभ् है और तीसरे का उद्धरण ही नहीं दिया गया है। इस तीसरे पद्य को भाष्य के आधार पर परोक्ष रूप से समझ लिया जाता है। इस कारण, कदाचित् यह उदाहरण भी विशेष बल के साथ इसी मत का समर्थन करता है। अन्यत्र उद्धृत की गई अनैतिहासिक गाथाओं और श्लोकों में समानता की इन दोनों मतों में से किसी भी मत का समर्थन करनेवाला प्रमाण नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनके संबन्ध में भी इसी प्रकार अनिश्चितता है। अपरंच, इन श्लोकों में बार-बार बहुत प्राचीन वैदिक शब्दरूप आते हैं।[3] उनके प्रशस्तिसूचक वाक्य भी नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण हैं और इसलिए उन्हें एक नयी कृतज्ञता की भावना की

---

[1]इसका समर्थन इस तथ्य द्वारा भी होता है कि वे यहाँ मछुओं और शिकारियों से संबद्ध किये गये हैं। इसके साथ महाभारत में व्यास की माता के मछुए की लड़की होने की कथा की तुलना हो सकती है। यह सम्पूर्ण वर्णन प्रायः समान शब्दों में शांख० श्रौ० १६.२. आश्व० श्रौ० १०.७ में आया है।

[2]महाभारत में आए हुए अंशों का स्पष्टतः संबन्ध 'शतपथ ब्राह्मण' के अंशों से है; शतपथब्राह्मण, उसके रचयिता याज्ञवल्क्य एवं उनके आश्रयदाता जनक के प्रति महाभारत के इस पर्व में विशेष सम्मान प्रकट किया गया है [देखिए शाङ्ख १६.८. २५-२९, ३२]

[3]और नाम भी; इस प्रकार, पंचालों के राजा को क्रैव्य कहा गया है; ब्राह्मण ने इसकी व्याख्या यह की है कि पंचालों को पहले क्रैव्य कहा जाता था।

अभिव्यक्ति माना जा सकता है; अतएव हमें अंशतः उनकी उत्पत्ति उनमें वर्णित राजाओं के समय में माननी होगी; अन्यथा इस स्थिति की सरलता से व्याख्या नहीं की जा सकती।[1] स्वयं तेरहवें काण्ड में एक अनुच्छेद सीधे इस मत का समर्थन करता है (दे० इं० स्टू० १.१८७)। इसमें जिन राजाओं के नाम आये हैं उनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं :—दु:षन्त और अप्सरस् शकुन्तला के पुत्र तथा सुद्युम्न के वंशज भरत; भरतों के राजा काशिराज धृतराष्ट्र के शत्रु शतानीक[2] सात्राजित; पुरुकुत्स[3] ऐक्ष्वाक, पर आट्णार हैरण्य-नाभ कौसल्य; किन्तु सबसे अधिक उल्लेखनीय है जनमेजय का नाम, जो परिक्षितियों (उनके तीन भाई), भीमसेन, उग्रसेन और श्रुतसेन के नामों के साथ आया है। जनमेजय के ये भाई अश्वमेध यज्ञ द्वारा 'ब्रह्महत्या' के पापों से मुक्त हुए थे। इन चारों का जीवन काल स्वयं काण्डों के समय से बहुत पहले का नहीं रहा होगा; क्योंकि उनके पुरोहित इन्द्रोत दैवाप शौनक (जिसे महाभारत १२।५५९५ में भी इनका पुरोहित कहा गया था) के इसमें एक स्थान पर भाल्लवेय का विरोध करने का वर्णन है; और स्वयं उनके भाल्लवेय विरोधी मत को याज्ञवल्क्य अस्वीकृत कर देते हैं। इस विषय के रोचक होने के कारण यहाँ चौदहवें काण्ड का एक अंश उद्धृत करूँगा, जिसके आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस अंश में याज्ञवल्क्य के एक प्रतिद्वन्द्वी उनसे एक प्रश्न पूछकर उनकी योग्यता की परीक्षा लेते हैं। उस प्रश्न के समाधान का ज्ञान याज्ञवल्क्य ने एक गन्धर्व से प्राप्त किया था, जिसने मद्र देश के राजा काप्य पतंचल की पुत्री का अपहरण कर लिया था; प्रश्न था : "परीक्षित लोग कहाँ चले गये ?" इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक परि-क्षितियों का पूर्ण लोप हो गया था, फिर भी उनके जीवन और अन्तकाल की स्मृति लोगों के मस्तिष्क में ताजी रही होगी और वे सामान्यतः जिज्ञासा के विषय बने रहे होंगे।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि उनका 'ब्रह्महत्या का पाप' इतना घोर था कि उससे उन्हें यज्ञों द्वारा मुक्ति नहीं मिल सकती थी; या उन्होंने इन साधनों से अन्य अल्प पाप करने वालों के लिये निर्धारित फल को प्राप्त किया होगा। ऐसा भी प्रतीत होता है मानों ब्राह्मणों ने उनकी

---

[1]जब तक कि हम यह न मान लें कि इन श्लोकों की रचना पुरोहित ने राजाओं को पूर्वजों की दानशीलता का अनुकरण करने के लिए प्रेरित करने के ध्येय से की थी। फिर भी यह व्याख्या स्वाभाविक व्याख्या नहीं लगती; अपरंच, इनमें से अनेक श्लोक ऐति-हासिक महत्व के हैं, और पुरोहितों को दी गई दक्षिणाओं का वर्णन नहीं करते।

[2]देखिए वाज० सं० ३४.५२ (ऋक् में)।

[3]देखिए ऋक्० मण्डल ४.४२.८.

[4]मद्र देश उत्तरपश्चिम में है और इस कारण कुरुओं के देश से दूर था। महाभारत के अनुसार, पाण्डु की द्वितीय पत्नी और दो कनिष्ठ पाण्डवों नकुल और सहदेव की माता माद्री इसी देश की थी और परीक्षित की भी पत्नी का नाम माद्रवती ही था।

स्मृति को बनाये रखने के लिए विशेष श्रम किया और इस कार्य में वे निःसन्देह पूर्ण सफल भी हुए। अथवा, इसके विपरीत, ऐसा भी हो सकता है कि पारिक्षितों की प्रभुता और शक्ति इतनी महान् और गौरवपूर्ण थी कि लोगों को उनके विनाश पर सरलता से विश्वास नहीं होता था। मैं पहली व्याख्या को अधिक संगत मानता हूँ।

चौदहवें काण्ड के प्रथम भाग के आरंभ में (जो यज्ञ-क्रियाओं से संबद्ध है) देवताओं के पारस्परिक संघर्ष का एक आख्यान है, जिसमें विष्णु विजयी होते हैं; इस कारण ऐसा कहा जाता है "विष्णु देवताओं में श्रेष्ठ (सर्वाधिक सौभाग्यशाली) हैं।" विष्णु को पहली बार इसी स्थल पर इतनी प्रधानता दी गई है। वस्तुतः इसके पहले वे केवल तीन पग वाले आख्यान में तथा स्वयं यज्ञ के प्रतिनिधि के रूप में दिखाई पड़ते हैं; यह स्थान तो उन्हें यहाँ भी दिया गया है। इसमें जैसा वर्णन किया गया है उसके अनुसार इन्द्र ईर्ष्यावश विष्णु का सिर काट लेते हैं।[1] इस काण्ड का दूसरा भाग बृहदारण्यक है, जिसमें पाँच प्रपाठक या छः अध्याय हैं। इसका विभाजन भी तीन काण्डों में किया गया है: मधुकाण्ड अध्याय १.२ (प्रपा० १.१-२.५); याज्ञवल्कीय काण्ड अध्याय ३.४ (प्रपा० २.६-४.३) और खिलकाण्ड अध्याय ५, ६ (प्रपा० ४.४-५.६)। इन तीन काण्डों में प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती काण्ड के बाद के समय का लगता है; और प्रत्येक के अन्त में एक वंश या आचार्यों की सूची है, जो आदिस्रोत ब्रह्मा तक जा पहुँचती है। मधुकाण्ड का तीसरा ब्राह्मण एक प्रकार से आरम्भ में आए हुए तीन श्लोकों की व्याख्या है; इस प्रकार का कोई उदाहरण पहले नहीं मिलता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसके पाँचवें काण्ड में "कौषीतक्युपनिषद्' के चौथे अध्याय में कही गई काशि के राजा अजातशत्रु की कथा का रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। अजातशत्रु विद्वानों के आश्रयदाता जनक के यश से ईर्ष्या रखते थे। आठवें काण्ड में याज्ञवल्कीय काण्ड के अन्त में आनेवाले याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों मैत्रेयी और कात्यायनी की कथा का दूसरा रूप है। मैत्रेयी और कात्यायनी नामों का सर्वप्रथम इसी स्थल पर उल्लेख मिलता है। ग्यारहवें काण्ड के समान इसमें भी हम वैदिक अध्ययन के विषयों की परिगणना पाते हैं, ये हैं: ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,

---

[1]यह ग़लत है। देवताओं ने चीटियों को विष्णु के धनुष की डोरी काटने के लिए भेजा; विष्णु चढ़ाये हुए धनुष के सहारे झुककर खड़े थे; कटी हुई धनुष की डोरी उछलकर विष्णु का सिर काट देती है। यही आख्यान न केवल तैत्ति० आर० (५।१) के समान अनुच्छेद में आता है अपितु पंच० ब्रा० ७.५.६ में भी आता है; शतपथब्राह्मण में तो यह कथा विष्णु के संबन्ध में कही गई है; किन्तु तैत्ति० आर० में मख वैष्णव के संबन्ध में और पंच० ब्रा० में केवल मख के संबन्ध में कही गई है (तुलना तै०सं० ३.२.४.१)। शतपथ में मख उन देवताओं में एक देवता बताया गया है जो एकत्र हुए थे; यद्यपि उसका नाम ठीक विष्णु के पहले आता है।

अथर्वाङ्गिरसस्, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान।[1] इसी प्रकार की गणना याज्ञवल्कीय काण्ड (अध्याय ६।१०) में भी मिलती है। 'बृहदारण्यक' के भाष्यकारों शंकर और द्विवेदगंग दोनों ने ही, सायण (ग्यारहवें काण्ड पर) के अनुसार 'इतिहास' आदि को ब्राह्मणों का अंश माना है। जैसा मैंने पहले संकेत किया है, उनका इस अर्थ में प्रयोग वस्तुतः स्वयं ब्राह्मणों में ही हुआ है। केवल सूत्र[2] के संबन्ध में ही मैं इस प्रकार के प्रयोग का प्रमाण देने में असमर्थ हूँ (यद्यपि द्विवेदगङ्ग ने कतिपय वाक्यों को अनेक बार सूत्र नाम से अभिहित किया है, जैसे १।२।१८, २२; ३.१, इत्यादि)। इस सूत्र पद से यह सन्देह उठता है कि इन अनुच्छेदों और इनके समय के संबन्ध में भाष्यकारों का मत लागू होता है या नहीं। नवाँ काण्ड (जो अन्तिम है) वह काण्ड है जिसके आधार पर मधुकाण्ड नाम पड़ा है। यह एक ओर तो चार भौतिक तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) के, सूर्य, दिशाओं, चन्द्रमा, विद्युत्, वज्र, आकाश के, और दूसरी ओर सभी जीवों के घनिष्ठ संबन्ध का विवेचन करता है। इस संबन्ध में एक को दूसरे का मधु कहा गया है। इस विद्या के जन्मदाता दध्यञ्च आथर्वण बताये गये हैं। स्वयं ऋक्-संहिता में भी ऐसा कथन मिलता है (१।११६, १२; ११७।२२)। 'शतपथ-ब्राह्मण' के चतुर्थ काण्ड के आरम्भ में भी (४।१।५।१६) हम इस संबन्ध में स्पष्टतः उल्लिखित "मधुनाम ब्राह्मणम्" पाते हैं। सायण ने भी इसकी पुष्टि के लिए शाट्यायन (-वाजसनेयौ) का उद्धरण दिया है। कम से कम इस नाम के लिए और संभवतः इस अध्याय के लिए भी एक प्राचीन समय निश्चित ठहरता है; यद्यपि यह सच है कि इसका स्वरूप अधिक प्राचीनता का दिखावा नहीं कर सकता। अन्य स्थानों के समान यहाँ भी अन्त में आने वाला वंश, जहाँ तक यास्क और आसुरायण के पहले के बीस नामों का प्रश्न है, अन्य दो शाखाओं में बहुत भिन्न है; किन्तु इनके ऊपर इसकी दैवी उत्पत्ति तक दोनों शाखाओं के पाठों में सामान्यतः समानता है। स्वयं आसुरायण को (और यास्क को भी जिन्हें उनका समकालीन बताया गया है) आसुरि से दो पीढ़ी बाद में रखा गया है। खिलकाण्ड के अन्त में उन्हें आसुरि का और आसुरि को याज्ञवल्क्य का शिष्य बताया गया है। अतएव यह वंश याज्ञवल्क्य के बाद प्रायः पच्चीसवें व्यक्ति के साथ समाप्त होता है। इस कारण मधुकाण्ड की यह वंशसूची अन्तिम रूप में आ जाने के बहुत दिनों तक चलती रही होगी; कारण, खिलकाण्ड के अन्तिम ब्राह्मण के पहले वाले ब्राह्मण में पाये जाने वाले वंश की समानता और इस उदाहरण के

---

[1]अन्तिम पाँच के स्थान पर ग्यारहवें काण्ड में अनुशासन, वाकोवाक्य, नाराशंसी, और गाथा शब्द आये हैं; बाद वाले ही स्पष्टतः अधिक प्राचीन हैं।

[2]इसमें 'सूत्र' शब्द का अनेक बार प्रयोग पाया जाता है, किन्तु वह केवल 'सूत' या 'धागा' के अर्थ में है और स्वयं परब्रह्म को द्योतित करता है जो एक धागे के समान सभी वस्तुओं को एक साथ बाँधकर नियन्त्रित करता है।

स्वरूप से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इसका संकलन याज्ञवल्क्य की पच्चीसवीं पीढी में हुआ है, जो बहुत बाद का समय ठहरता है। भाष्यकारों ने कहीं भी इन वंशों की व्याख्या नहीं की है; निःसन्देह वे भी उसे परवर्तीकाल का जोड़ मानते थे। स्वयं नाम भी स्वाभाविक रूप में अत्यधिक रोचक हैं और जहाँ तक बाद की पीढ़ियों का प्रश्न है, ये संभवतः प्रामाणिक भी हैं। याज्ञवल्क्यीय काण्ड का उद्देश्य याज्ञवल्क्य की प्रशस्ति है और इसमें यह वर्णन दिया गया है कि किस प्रकार अपने आश्रयदाता विदेहराज जनक की सभा में उन्होंने कुरुपञ्चाल जनपद के ब्राह्मणों को शान्त कर दिया था[1] और अपने आश्रयदाता का पूर्ण विश्वास प्राप्त किया (इसी प्रकार का वर्णन महाभारत के बारहवें पर्व में भी इसकी समकक्ष कथा में मिलता है)। ग्यारहवें काण्ड (६.३.१) के आरम्भ में कही गई कथा शायद इसका मूल आधार रही हो। कम से कम, यहाँ याज्ञवल्कीय ठीक उसी प्रकार प्रारम्भ होता है और प्रायः उन्हीं शब्दों में विदग्ध शाकल्य के कष्ट एवं दण्ड की कथा इसमें कही गई है। ग्यारहवें काण्ड में केवल यही कथा है। इसका अन्त मधुकाण्ड में पहले ही दी गई कथा के साथ होता है, यद्यपि इसमें कुछ अन्तर भी है। 'पाण्डित्य' 'मुनि' और 'मौन' शब्द जो इस काण्ड में आते हैं नवीन होने के कारण विशेष ध्यान देने योग्य हैं[2] (३.२.१; ४.२. २५)। इसके अतिरिक्त एकहंस, श्रमण, तापस (४.१.१२.२ २) प्रव्राजिन् (४.२. २५) जहाँ भिक्षाचार्य का विधान किया गया है) और प्रतिबुद्ध (४.२.१७ इस अर्थ में 'प्रतिबुध्' क्रिया १.२.२१ में आयी है) और अन्ततः चाण्डाल और पौल्कस (४.१.२२) नाम भी इसमें आते हैं। मेरा ऐसा विचार है कि[3] पाणिनि ४.३.१०५ के वार्त्तिक में, जहाँ "याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि" को "पुराणप्रोक्त" के स्थान पर "तुल्यकाल" अर्थात् पाणिनि का समकालीन कहा गया है, इसी याज्ञवल्कीय-काण्ड का निर्देश किया गया है। वार्त्तिक के शब्दों से यह अनिवार्यतः अर्थ नहीं निकलता की इन ब्राह्मणों की रचना स्वयं

---

[1]उनमें अश्वल, राजा के होतर् विदग्धशाकल्य जिन्हें अपनी उद्दण्डता के कारण जीवन से हाथ धोना पड़ा, [कहोल कौषीतकेय, और गार्गी वाचक्नवी चारों (और गृह्य सूत्र के अनुसार कम से कम अन्तिम) ऋक् के प्रतिनिधि माने जाने चाहिए, जिनके प्रति एक प्रकार की ईर्ष्या स्पष्टतः व्यक्त की गई है।

[2]"मुनि शब्द ऋकसंहिता के बाद के अंशों यथा ८.१७.१४ और १०.१३६. २-५ में आता है"—प्रथम जर्मन संस्करण का शुद्धिपत्र। पौल्कस भी वा० सं० ३०.१७ में मिलता है।

[3]पहले मेरा विचार कुछ दूसरा था; देखिए इं० स्टू० १.५७; उसमें व्यक्त किये गये अनेक विचारों का विशेषतः पृ० १६१-२३२ आये हुए विचारों का या तो यहाँ विकास कर दिया गया है या विविध अंशों का सावधानी के साथ पर्यवेक्षण करके उनमें संशोधन किया गया है, जो तुलना द्वारा देखा जा सकता है।

याज्ञवल्क्य ने की थी। उनका यह नाम इसलिये पड़ा होगा कि वे याज्ञवल्क्य का वर्णन करते हैं। मैं दूसरे मत को अधिक ठीक समझता हूँ, क्योंकि यह स्वीकार करना कठिन है कि सम्पूर्ण 'शतपथ-ब्राह्मण' का या केवल इसके अन्तिम काण्डों का नाम सीधे याज्ञवल्क्य के नाम से पड़ा है—चाहे इसमें उनके सिद्धान्त का कितना भी पूर्ण विवरण क्यों न हो। इसे पाणिनि का समकालीन या कुछ ही समय पहले का मानना भी कठिन है। याज्ञवल्कीय काण्ड के विषय में तो दूसरे विचारों को मानने में मुझे कोई सन्देह नहीं है।[1] अन्ततः खिल-काण्ड या 'बृहदारण्यक' के अन्तिम काण्ड को सभी भाष्यकारों ने खिल या परिशिष्ट कहा है और वस्तुतः यह अन्य काण्डों से स्पष्टतः पर्याप्त भेद रखता है। इसका प्रथम अध्याय-'बृहदारण्यक' का पाँचवाँ अध्याय—अनेक छोटे-छोटे अंशों से निर्मित है, जिनमें अधिकांशतः अत्यन्त भोंड़े स्वरूप की रहस्यमयी शाब्दी क्रीडा है। दूसरे अध्याय में दो ब्राह्मण हैं जिसके अंशों का विवेचन, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, ठीक उसी रूप में 'छान्दोग्योपनिषद्' ७.१.३ में मिलते हैं। तीसरे अध्याय का भी, जिसमें याज्ञिक विधियाँ हैं, हम एक दूसरा पाठ पाते हैं (वही ७।२)। इसके अंत में भी एक वंश आता है जो एक सूची के रूप में नहीं अपितु एक विस्तृत वर्णन के रूप में है। इसके अनुसार इस विद्या के जिन प्रथम आचार्यों को यहाँ शिक्षा दी गई है वे उद्दालक आरुणि हैं, जिन्होंने इसकी शिक्षा याज्ञवल्क्य को दी। याज्ञवल्क्य को यहाँ पहली बार 'वाजसनेय'[2] कहा गया है; उनके शिष्य मधूक पैङ्ग्य थे, जिनसे यह विद्या चूड भागवित्ति को मिली थी, तब जानकि अयःस्थूण को और अन्त में सत्यकाम जाबाल को। वस्तुतः सत्यकाम जाबाल का नाम (जो 'छान्दोग्योपनिषद्' में प्रायः उल्लिखित है) परवर्ती रचनाओं में एक शुक्लयजुस् की शाखा में मिलता है, जिससे हम उन्हें इस सिद्धान्त को विद्यमान रूप प्रदान करने का श्रेय दे सकते हैं। इस अध्याय का चौथा और अन्तिम ब्राह्मण अपने वर्ण्यविषय के स्वभाव के कारण आश्चर्य-

---

[1]इस विषय पर गोल्डस्टयूकेर द्वारा पाणिनि पृ० १३२-१४० में दिये गये विस्तृत विवेचन और इं० स्टू० ५।६५-७५; १३।४४३, ४४४, इं० स्ट्रा० २।२१४ में मेरे द्वारा लिखे गये उत्तर की तुलना कीजिए। इन व्याख्याओं के अनुसार वार्तिककार ने एक ओर तो 'याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि' को मूलतः याज्ञवल्क्य द्वारा 'प्रोक्त' समझा होगा, किन्तु दूसरी ओर उस समय विद्यमान पाठ को पाणिनि के समकालीन भी माना होगा। यद्यपि यहाँ उन्होंने याज्ञवल्क्य की गणना पुराने आचार्यों 'पुराण' में की है—और वार्तिक के शब्दों के आधार पर यह व्याख्या आवश्यक भी है—फिर भी काशिका ने उन्हें स्पष्ट रूप से "चिरकाल नहीं" घोषित किया है।

[2]याज्ञवल्कीय काण्ड में अन्य ब्राह्मणों के समान ही उद्दालक आरुणि को याज्ञवल्क्य पराजित करते हैं; उनके उद्दालक आरुणि के याज्ञवल्क्य का गुरु होने का कोई उल्लेख नहीं है।

जनक रूप में एक गृह्यसूत्र से अधिक संबद्ध दिखाई पड़ता है; कारण इसमें गर्भाधान के पूर्व और उसके समय के तथा पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त किये जाने वाले कर्मों का वर्णन है। यह भी एक वंश[१] से समाप्त होता है; इस बार इस वंश का विस्तार सामान्य से भिन्न है, और जहाँ तक इसके बाद के सदस्यों का संबन्ध है, इसमें यह विशिष्टता पाई जाती है कि उनके नाम माता के नाम के साथ 'पुत्र' जोड़कर बनाये गये हैं, तथा नाम के दोनों पदों पर उदात्त स्वर हैं। इसमें आसुरि को याज्ञवल्क्य का शिष्य तथा याज्ञवल्क्य को उद्दालक का शिष्य बताया गया है। तब दस और पीढ़ियों को पारकर तथा आदित्य अर्थात् सूर्य देवता पर पहुँचकर, जो मूल रचयिता हैं, हम सम्पूर्ण ब्राह्मण के अन्त में ये शब्द पाते हैं: "आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते" 'इन आदित्य से उत्पन्न[२] हुए शुक्ल यजुस् मन्त्रों का उपदेश वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने किया है।' शंकर और द्विवेदगंग के अनुसार यह वंश खिलकाण्डों का उल्लेख नहीं करता, अपितु सम्पूर्ण प्रवचन सम्पूर्ण वेद (शुक्ल यजुस्) का निर्देश करता है। इस विचार को किसी भी दशा में इस तथ्य का समर्थन प्राप्त है कि दसवें काण्ड के अन्त में आनेवाला वंश (जो सम्पूर्ण शतपथ-ब्राह्मण में आनेवाले मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्य-काण्ड और खिलकाण्ड के वंशों के अतिरिक्त एकमात्र वंश है)[३] स्पष्टतः इस वंश की ओर संकेत करता है और इस वंश की पूर्वस्थिति आरम्भ में आनेवाली इस सूक्ति से सूचित होती है कि: 'समानम् आ सांजीवीपुत्रात्' सांजीवीपुत्र तक आचार्य पहले के समान हैं। कारण, इस सांजीवीपुत्र से ऊपर जाने पर इस वंश में याज्ञवल्क्य तीन पीढ़ी पहले पड़ते हैं, जबकि दसवें काण्ड में इस विद्या का संबन्ध याज्ञवल्क्य से नहीं जोड़ा गया है, अपितु उसे सांजीवीपुत्र से पाँच पीढ़ी पहले होनेवाले शाण्डिल्य से और उनसे भी दो पीढ़ी पहले के तुर कावषेय[४] से संबद्ध किया गया है। इस स्थिति से विभिन्न काण्डों की उत्पत्ति की दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण का एक तीसरा विभाजन भी संभवतः हो सकता है। कारण, प्रथम पाँच और अन्तिम चार काण्डों में याज्ञवल्क्य का नाम बहुशः आया है और जिन-जिन स्थलों पर उनका नाम आया है, वहाँ उनके मतों को निर्णयात्मक माना गया है और इस कारण उन्हीं के विचारों का विवेचन किया गया है।[५] अपरंच, यदि हम याज्ञ-

---

[१]काण्व पाठ में वंश सर्वत्र अलग अध्याय है।

[२]अथवा: 'इन शुक्ल यजुषों को वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने आदित्य से उत्पन्न बताया है' (?)

[३]काण्व पाठ में यहाँ भी यह वंश अन्त में इन शब्दों के साथ दिया गया है: 'याज्ञवल्क्येनाऽख्यायन्ते'।

[४]जिनका उद्धरण ऐतरेय-ब्राह्मण में जनमेजय के समकालीन (उसके यज्ञ के ऋत्विज) के रूप में किया दिया है; देखिए इं० स्टू० १.२०३ टिप्पणी।

[५]इसके इतना स्पष्ट होने के कारण ही पुराणों के कथन एक बार तथ्य से सामंजस्य

वल्कीय-काण्ड और तेरहवें काण्ड की गाथाओं को छोड़ दें तो इन काण्डों में जिन जातियों का उल्लेख किया गया है वे पूर्वीय एवं मध्य हिन्दुस्तान में निवास करनेवाली जातियाँ हैं; वे हैं: कुरुपञ्चाल, कोसलविदेह, श्विक्न तथा सृञ्जय। केवल एक बार प्राच्य (पूर्वीय जातियाँ) वाहीकों (पश्चिमी जातियों) के विरोधी दिखाए गये हैं; पुनः एक बार उदीच्यों (उत्तर के निवासियों) का उल्लेख किया गया है और अन्त में (दक्षिणी) निषधों का नाम उनके राजा नल नैषध के (जिन्हें यहाँ नैषिध कहा गया है) साथ आया है। इससे शेष काण्ड अर्थात् छठें से दसवें तक के काण्ड स्पष्टतः पर्याप्त भेद रखते हैं। वे याज्ञवल्क्य के स्थान पर शाण्डिल्य[1] के विचारों को मान्यता देते हैं और याज्ञवल्क्य का नाम तक नहीं लेते। वे उत्तर-पश्चिमी जातियों, यथा राजा नग्नजित् के साथ गन्धारों, साल्वों और कैकयों के अतिरिक्त किसी दूसरी जाति का कहीं उल्लेख भी नहीं करते।[2] क्या यह संभव नहीं है कि उपर्युल्लिखित वंश केवल दसवें काण्ड का नहीं है अपितु इन पाँच काण्डों से संबद्ध है? चूँकि इन पाँच काण्डों में यज्ञवेदि-निर्माण और अग्निचयन की विधियों का विशेष रूप से वर्णन है, अतः उनकी संभावित उत्तरपश्चिमी क्षेत्र की उत्पत्ति इस तथ्य द्वारा स्पष्ट होती है कि यद्यपि इस विषय की विद्या 'पेर्सा-आर्यनों' की विद्या से भिन्न थी, फिर भी इन लोगों के सान्निध्य के कारण यह उत्तर-पश्चिम में विशेष रूप से अक्षुण्ण बनी रही।[3]

रखते हैं; क्योंकि वे याज्ञवल्क्य को शुक्ल यजुस् का रचयिता बताते हैं। हम यहाँ यह उल्लेख कर सकते हैं कि याज्ञवल्क्य का नाम वैदिक साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता; इसका कारण अंशतः यह हो सकता है कि अन्य वैदिक ग्रंथों से इसकी उत्पत्ति का देश भिन्न था और अंशतः यह भी कारण हो सकता है कि सभी दूसरे वेदों के पाठों के निर्धारण हो चुकने पर याज्ञवल्क्य ने शुक्लयजुस का संपादन किया होगा; दूसरा कारण उतना संगत नहीं दिखाई देता, क्योंकि बाद के समय की वैदिक रचनाओं में शुक्लयजुस् के अन्य आचार्यों जैसे आरुणि श्वेतकेतु, सत्यकाम जाबाल आदि का उल्लेख किया गया है, जो उनके समकालीन हैं या उनसे भी बाद के समय के हैं। इसके अतिरिक्त उनके आश्रयदाता जनक का उल्लेख कौषीतक्युपनिषद में हुआ है [कौषीतकि, या शांखायन-आरण्यक के दो काण्डों में,] जो स्पष्टतः बहुत बाद के हैं, स्वयं याज्ञवल्क्य का उद्धरण दिया गया है (९।७ और १३।१) किन्तु ये अंश सीधे शत० ब्रा० १४ से लिये गये हैं—गोपथ-ब्राह्मण में, जिसका शतपथ के साथ अनेक प्रकार का संबन्ध दिखाई पड़ता है, कहीं भी याज्ञवल्क्य का नाम नहीं आया है।

[1]इसी प्रकार साम-सूत्रों में भी। इसके अतिरिक्त शाण्डिल्य का नाम केवल छान्दोग्योप० में आता है।

[2]इनसे संबद्ध आख्यान छान्दोग्योप० में भी आते हैं।

[3]क्या हमें शाकायनिन् का सीधा संबंध पेर्साआयनों से जोड़ना चाहिए? तब (मैत्रायणि-उपनिषद में आये हुए) शाकायन्य और शाक्यों के संबन्ध का क्या होगा?

चाहें जो कुछ भी हो, इन पाँच काण्डों की उत्तर-पश्चिमी उत्पत्ति सुदृढ़ आधार पर आधृत हो या नहीं,[१] वे अपने वर्तमान रूप में किसी भी दशा में उसी काल के हैं जिस काल के प्रथम पाँच काण्ड (दसवाँ काण्ड संभवतः कुछ बाद के समय का है)। इस विषय पर अरुण औपवेशि, आरुणि, श्वेतकेतु आरुणेय, और इन्द्रद्युम्न (दसवें काण्ड में) का उल्लेख तथा चरकाध्वर्युओं की बार-बार निन्दा निर्णयात्मक तथ्य हैं। ब्राह्मण के विभिन्न भाग एक साथ एक ही व्यक्ति द्वारा व्यवस्थित किये गये थे,[२] यह बात विशेषतः उन वाक्यों के बहुशः प्रयुक्त होने से प्रकट है, जो किसी विषय के पहले ही विवेचित हो चुकने की अथवा आगे के अंश में विस्तार के साथ वर्णित होने की सूचना देते हैं। जहाँ-जहाँ इस प्रकार की उक्ति आई है उन सबका सूक्ष्म निरीक्षण कर सकने में मैं अभी असमर्थ हूँ।

ब्राह्मण में उद्धृत यज्ञ की विधियों और पाठों में पाठान्तर बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं। स्वयं संहिता में भी कभी-कभी पाठान्तर पर भी ध्यान दिया गया है और दो विभिन्न मन्त्रों को साथ-साथ उद्धृत कर उन्हें एक समान शुद्ध बताया गया है। प्रायशः इस प्रकार के उद्धरणों के साथ 'इत्य् एके' या 'तद् आहुः' पद आये हैं; फिर भी बहुत से स्थलों पर आचार्यों के नाम भी दिये गये हैं। इन आचार्यों को कम से कम कुछ अंश तक अपने नाम की शाखाओं का प्रतिनिधि मानना चाहिए। इस प्रकार पहले जिन आचार्यों का नाम दिया गया है उनके अतिरिक्त निम्नलिखित आचार्यों के नाम आये हैं: अषाढ सावयवस, बर्कु वार्षण, औपोदितेय, पाञ्चि, तक्षन्, जीवल, चैलकि, आसुरि, माधुकि, कहोड कौषीतकि, वाष्णर्य सात्ययज्ञ, सात्ययज्ञि, ताण्ड्य, बुडिल अश्वतराश्वि, राम औपतस्विनि, कौकूस्त माहित्थि, मुडिम्भ[३] औदन्य, सौमापौ मानुतन्तव्यौ, सत्यकाम जाबाल, शैलालि इत्यादि। चरकाध्वर्युओं के अतिरिक्त विशेषतः भाल्लवेय की सभी जगह निन्दा की गई है, जिससे मैं ऐसा अनुमान लगाता हूँ कि 'भाल्लवि-ब्राह्मण' कृष्णयजुस् का ब्राह्मण है। जहाँ "एके" कह कर इनका

---

[१]इस पर इं० स्टू० १३।२६५-२६९ में मेरा विस्तृत विवेचन देखिए। इसमें मैंने काण्ड १-५ तथा ६-९ में पाये जाने वाली अनेक भाषागत विषमताओं की ओर विशेषतः ध्यान आकृष्ट किया है।

[२]९.३.१.२४ में पश्चिम की सात नदियों के तट पर रहने वाले लोगों की जो निन्दा की गई है वह 'संकलनकर्ता' की ही करनी है; देखिए इं० स्टू० १३।२६७- शुक्लयजुस् का संकलन हिन्दुस्तान के पूर्वी भागों में हुआ, इसकी पुष्टि 'प्रतिज्ञा-परिशिष्ट' में मध्यदेश के विस्तार के संबन्ध में कही गई बातों से होती है; प्रतिज्ञासूत्र पर मेरा लेख, पृ० १०१, १०५ देखिए।

[३]एतरेय ब्रा० में आये हुए 'मुटिभस्' से तुलना कीजिए। ऊपर जिनका उल्लेख किया गया है उनमें केवल बुडिल, सौमापौ, सत्यकाम, माधूकि (या पैङ्ग्य) और कौषीतकि का नाम दूसरी जगह आया है।

खण्डन किया गया है, वहाँ हमें संभवतः कृष्णयजुस् के अनुयायियों से भी तात्पर्य लेना चाहिए (जैसा कि प्रथम काण्ड में एक बार ऐसा निश्चित रूप से है)। एक बार (आठवें काण्ड में) काण्व शाखा के एक पाठ को "एके" द्वारा उद्धृत करके उसका खण्डन किया गया है। काण्वीय ब्राह्मण में यह पाठ किस रूप में है, वह माध्यंदिन शाखा का खण्डन करता है या नहीं, यह कहने में मैं असमर्थ हूँ। इस प्रकार के अंशों का एक संग्रह स्वभावतः बड़ा रोचक होगा।

सम्पूर्ण ब्राह्मण में बहुत बड़ी संख्या में बिखरे हुए आख्यान विशेष महत्व के हैं। उनमें से कुछ आख्यानों में भाषा का रूप बहुत प्राचीन बना दिया गया है, अतएव यह संभव है कि इसमें उनको सम्मिलित करने के पूर्व उनका अपना स्वतन्त्र रूप था। निम्नलिखित आख्यानों का विस्तृत वर्णन है, अतएव वे विशेषतः उल्लेख्य हैं: जलप्लावन और मनु के बचने की कथा; विदेघ माथव का सरस्वती से कोसल-विदेह जनपद में सदानीरा की ओर विस्तार की कथा; अश्विनों द्वारा च्यवन को उनकी पत्नी शर्याति मानव की पुत्री सुकन्या की प्रार्थना पर युवावस्था प्रदान करने की कथा; कद्रू और सुपर्णी के संघर्ष की कथा; पुरुरवस् और उर्वशी के प्रेम और वियोग की कथा और अन्य कथाएँ। उनमें से अनेक कथाएँ छन्दों के परिवेश में महाकाव्य में भी आयी हैं, और प्रायः उनका रूप पर्याप्त परिवर्तित है। यह स्पष्ट है कि अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा इस ब्राह्मण से महाकाव्य का संबन्ध अधिक घनिष्ठ है। वल्हिक, जनमेजय और नग्नजित् नाम महाभारत के आख्यानों का बिल्कुल प्रत्यक्ष निर्देश करते हैं। इसी प्रकार संहिता के सन्दर्भ में उपर्युल्लिखित अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, सुभद्रा नामों तथा 'अर्जुन' और 'फल्गुन' का प्रयोग भी इस संबन्ध को प्रकट करता है। किसी भी स्थिति में इसका कारण यही है कि इस ब्राह्मण की उत्पत्ति कुरुपञ्चाल तथा उसके प्रतिवेशी कोसलविदेह जनपद में हुई और उन्हीं जनपदों में इसे अन्तिम आकार प्राप्त हुआ। कोसल-विदेह के राजा जनक का, जिन्हें इसमें इस ब्राह्मण की पवित्र विद्या के रक्षक के रूप में वर्णित किया गया है, वही नाम है जो रामायण में सीता के पिता और राम के श्वसुर का। रामायण के आख्यान के साथ एकमेव यही संबन्ध पाया जाता है, जो यहाँ देखने को मिलता है, और चूँकि जनक नाम सम्पूर्ण राजवंश का नाम प्रतीत होता है, अतः इस संबन्ध का भी वस्तुतः लोप हो जाता है। फिर भी मैं सीता के पिता और इस विशिष्ट धर्मात्मा जनक को अभिन्न समझता हूँ और मेरा यह विचार है कि सीता स्वयं एक कल्पना थी और उसे जनक जैसे प्रख्यात पिता से संबद्ध किया गया। जहाँ तक ब्राह्मण का महाभारत के आख्यान से विशेष संबन्ध का प्रश्न है, यह सुविदित है कि, लास्सेन महाभारत का मूल तत्त्व कुरु और पञ्चालों का वह संघर्ष मानते हैं, जिसका अन्त दोनों के विनाश से हुआ। पञ्चालों के नायक पाण्डु थे जो पश्चिम से आये थे। ब्राह्मण के समय में हम कुरुओं और पञ्चालों को अभी पूर्ण समृद्धि की दशा में[1] और एक जनता के रूप में

---

[1]**यद्यपि ब्रा० के अन्तिम भागों में कोसल विदेहों को कुछ प्राधान्य दिया गया**

परस्पर मित्रता के घनिष्ठ बन्धनों में बद्ध देखते हैं।[1] इस कारण, इस समय तक यह युद्ध नहीं हुआ होगा। इसके विपरीत, ब्राह्मण के सबसे बाद के अंशों में हम पाते हैं कि जनमेजय पारिक्षित और उसके भाई भीमसेन, उग्रसेन और श्रुतसेन तथा पारिक्षितों के वंश की समृद्धि, पापकर्म प्रायश्चित्त और पतन की स्मृति अब भी जनता के मस्तिष्क में ताजी है और विवाद का विषय है। महाभारत में इन नामों के संबन्ध में अनेक अस्तव्यस्त कथाएँ हैं। पूर्वोल्लिखित जनमेजय और उसके भाइयों को या तो कुरुओं का प्रपौत्र बताया गया है या पाण्डव अर्जुन का प्रपौत्र बताया गया है, इन्हीं जनमेजय के सर्पयज्ञ के समय में कुरुओं और पाण्डुओं के महायुद्ध की कथा वैशम्पायन ने कही है। दूसरा मत इस तथ्य के कारण अधिक प्रामाणिक लगता है कि महाभारत के जिस भाग में यह कथा आई है वह गद्य में है और उसे विलक्षण रूप से प्राचीन भाषा के परिधान में सजाया गया है। इस मत को मानने पर कुरु और पाञ्चालों के बीच का परस्पर-विनाशकारी युद्ध और पाण्डवों का राज्य ब्राह्मण के समय से बहुत पहले समाप्त हो गया था। फिर इस विषमता का क्या कारण हो सकता है? पारिक्षितों के वंश में कोई महान् घटना हुई थी और वह ब्राह्मण के काल में लोगों के लिये विस्मयजनक बनी हुई थी, यह पहले ही कहा जा चुका है। किन्तु यह कौन सी घटना थी यह हम नहीं जानते। ऊपर जो कुछ कहा गया है उसे ध्यान में रखा जाय तो यह घटना पाञ्चालों द्वारा कुरुओं का विनाश नहीं हो सकती; किन्तु किसी भी दशा में यह कोई पाप कर्म रहा होगा, और वस्तुतः अब भी मैं इस अज्ञात घटना को महाभारत की कथा का आधार मानता हूँ।[2] मैं लास्सेन के विचारों के साथ ही यह मानना अनिवार्य समझता

है, और संहिता के काल में भी कुरुओं और पंचालों के बीच एक प्रकार की शत्रुता थी।

[1]कम से कम 'कुरुपंचाल' शब्द की कोई दूसरी व्याख्या मैं नहीं दे सकता; यह भी उल्लेखनीय है कि कुरुपंचालों के किसी राजा के नाम का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है; सर्वप्रथम केवल कौरव या पंचाल राजाओं के ही इस प्रकार के नाम उद्धृत किये गये है।

[2]इण्डियन एण्टिक्वेरी २।५८ (१८७३) देखिए। मैं निम्नलिखित बातों को विषय से संबद्ध होने के कारण यहाँ दे सकता हूँ। वृद्धद्युम्न आभिप्रतारिण (देखिए ऐत० ब्रा० ३।४८) को अनुचित यज्ञ करने के कारण एक ब्राह्मण ने यह शाप दिया कि :'इमम् एव प्रति समरम् कुरवः कुरुक्षेत्राच् च्योष्यन्त इति', शाखा १५.१६.१२ (और ऐसा ही हुआ भी)। कौरव्य राजा परिक्षित् की प्रशंसा में चार श्लोक शांखा० श्रौ० १२.१७.१-४ (अथ० २०.१२७.७-१०) दिये गये हैं; यद्यपि ऐत० ब्रा० ६।२२ (शांखा० ब्रा० ३०.५) में उनका संबन्ध 'अग्नि' या 'वर्ष' से बताया गया है, किन्तु गोपथब्राह्मण ११।१२ में ऐसी बात नहीं। जनमेजय पारिक्षित के विषय में दूसरा आख्यान गोपथ ब्रा० २।५ में मिलता है।

हूँ कि पाण्डवों का इस आख्यान से मौलिक संबन्ध नहीं था, किन्तु वे बाद के काल में ही इससे संबद्ध हुए;[1] क्योंकि न केवल ब्राह्मणों या सूत्रों में उनके चिह्न का अभाव है, अपितु उनके प्रमुख वीर अर्जुन (फल्गुन) का नाम भी यहाँ शतपथ-ब्राह्मण (और संहिता में) इन्द्र के नाम के रूपमें आया है। वस्तुतः उन्हें मौलिक रूप में इन्द्र से अभिन्न मानना चाहिए; अतएव उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं माना जा सकता। मेगस्थनीज़ ने (एरियन में) भारतीय हेराक्लीज़ तथा उसके पुत्रों और पुत्री 'पण्डाइआ' के विषय में जो कुछ कहा है, उससे और कुर्टिअस, प्लिनी (Pliny) तथा टोलेमी[2] के दूसरे विवरणों से लास्सेन ने (इं० अल्ट० १.६४७) आगे निष्कर्ष निकाला है कि जिस समय मेगस्थनीज़ ने अपना विवरण लिखा उस समय कृष्ण का पाण्डवों के साथ कथा-शास्त्रीय संबन्ध स्थापित हो चुका था। किन्तु यद्यपि इस प्रकार का निष्कर्ष संभव है, किन्तु निश्चित नहीं है[3] और यदि यह निश्चित भी हो तो इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि पाण्डव उस समय कुरुओं की कथा से संबद्ध थे; और यदि हम माध्यंदिन पाठ को निबद्ध किये जाने का समय मेगस्थनीज के समय के आसपास मानें तो इसमें पाण्डवों के उल्लेख का अभाव होने से ऐसा निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि उस समय तक उनका सम्पर्क कुरुओं से स्थापित नहीं हुआ था। सच तो यह है कि यह इस ग्रन्थ को व्यवस्थित रूप दिये जाने के समय के विषय में यह निष्कर्ष उतना लागू नहीं होता जितना कि इसमें निबद्ध विभिन्न अंशों के समय के विषय में।

महाकाव्यीय आख्यानों के समान ही हम 'शतपथ-ब्राह्मण' में एक ओर तो बौद्धों से और दूसरी ओर सांख्यदर्शन की उत्पत्ति-विषयक परवर्ती परम्पराओं से संबन्ध के अनेक सूत्र पाते हैं। सर्वप्रथम, जहाँ तक सांख्यदर्शन-संबन्धी परम्परा का प्रश्न है, सांख्य के एक प्रमुख आचार्य आसुरि के नाम के ही एक आचार्य का 'शतपथ ब्राह्मण' में बहुशः उल्लेख है। हम मद्र देश के एक काप्य पतंजल का उल्लेख पाते हैं, जो ब्राह्मणीय तत्त्वज्ञान में अपने प्रयत्नों द्वारा विशेष रूप से बढ़े-चढ़े थे, हालाँकि यह उल्लेख केवल याज्ञवल्कीय काण्ड में आया है। उनके नाम में हम कपिल और पतंजलि के नामों की झलक पाते हैं, जो परम्परया सांख्य और योगदर्शनों के प्रवर्तक कहे जाते हैं। जहाँ तक बौद्ध कथाओं का सम्बन्ध है,

---

[1] इं० स्टू० ।२४०२-४०४ में इस विषय का मेरे द्वारा किया गया विस्तृत विवेचन देखिए।

[2] कर्टिअस और प्लिनी ने प्रथम शताब्दी ई० में और एरियन तथा टोलेमी ने द्वितीय शताब्दी ई० में लिखा था।

[3] हेरक्यूलीज के 'पण्डाइआ' के साथ निषिद्ध मैथुन का संबन्ध प्रजापति और उनकी पुत्री के यौन सम्पर्क के साथ जोड़ा जा सकता है, जिसका ब्राह्मणों में प्रायः वर्णन मिलता है। [वासुदेव और अर्जुन का नाम पाणि० ४.३.९८ में एक साथ आया है, इसे उनके परस्पर संबद्ध होने का प्रमाण नहीं माना जा सकता; देखिए इं० स्टू० १३।३४९]

कपिलवस्तु के शाक्य (जिनके नाम का संबन्ध संभवतः दसवें काण्ड के 'शाकायनिन्' और 'मैत्रायण-उपनिषद्' के शाकायन से जोड़ा जा सकता है) अपने को गौतम कहा करते थे। यह उनका वंश नाम था और यह नाम विशेषतः ब्राह्मणों में आने वाले आचार्यों में और आचार्यों की सूचियों में प्रायः देखने में आता है। अपरंच, कोसलों और विदेहों के देश को ही बौद्धधर्म के जन्म और फलने-फूलने का स्थान मानना चाहिए। श्वेतकेतु (आरुणि के पुत्र) जो शतपथ-ब्राह्मण में प्रायः उल्लिखित आचार्यों में एक का नाम है, बौद्धों में शाक्य-मुनि के पूर्वकालीन जन्म का नाम है (देखिए इण्ड० स्टू० २.७६ टिप्पणी)। संहिता के मागध का भी इस संबद्ध में उदाहरण दिया जा सकता है; इस विषय पर पहले ही विचार किया जा चुका है। यद्यपि 'अर्हन्त्' (३.४.१.३), 'श्रमण' (बृहद० आर० ४.१.२२ तथा तैत्ति० आर० २।७ 'तापस' के अतिरिक्त) 'महाब्राह्मण'[१] (बृहदा० २.१.१९, २२) तथा 'प्रतिबुद्ध' शब्दों का प्रयोग उनके बौद्ध धर्मवाले पारिभाषिक अर्थ में नहीं हुआ है तथापि वे यह संकेत देते हैं कि उनके इस अर्थ का विकास किस प्रकार हुआ। ब्राह्मणों में पाये जाने वाले 'चेलक' शब्द का भी संभवतः 'चेल' के विशिष्ट बौद्ध अर्थ से भी कुछ संबन्ध रहा होगा। इसके विपरीत, अजातशत्रु और ब्रह्मदत्त[२] इस नाम से बौद्धों द्वारा अभिहित बुद्ध के समकालीन व्यक्तियों के नामाराशि हैं (?) यही बात संभवतः बौद्धों के वात्सी-पुत्रीय और बृहदा० (५।५।३१) के वास्तीपुत्र के संबन्ध में भी है, यद्यपि इस प्रकार के नाम रूप के अप्रचलित होने के कारण संभवतः उनमें कुछ अधिक घनिष्ठ संबन्ध का संकेत मिलता है। कात्यायनों, कात्यायनीपुत्रों के वंश का हम बौद्धों और ब्राह्मणों दोनों में (यद्यपि ब्राह्मण के केवल अधिक अर्वाचीन अंशों में) विशेष रूप से कई बार उल्लेख पाते हैं। इस नाम का सर्वप्रथम संकेत[३] हमें याज्ञवल्क्य की एक पत्नी कात्यायनी के नाम में मिलता है,

---

[१] महाराज के अतिरिक्त, जो इसके पहले १.५.३.२१; २.५.४.९ में आया है।

[२] चैकितानेय उपाधि के साथ बृह० आर० माध्यं० १.१.२६ में; महाभारत १२.५१३६, ८६०३ एक 'पांचाल्यो राजा' ब्रह्मदत्त का उल्लेख है, जिन्होंने काम्पील्य पर राज्य किया था। चैकितानेय को छान्दोग्य ३।८ में उल्लिखित चैकितानेय से भिन्न समझना चाहिए। बृह० आर० की एक कथा के एक बौद्ध कथा के साथ विलक्षण समानता के संबन्ध में इं० स्टू० ३।१५६, १५७ देखिए]

[३] तैत्ति० आर० के दसवें स्थान में कात्यायन (कात्यायनी के स्थान पर) दुर्गा का एक नाम है; इस प्रयोग के विषय में इं० स्टू० २।१९२ (१३।४२२) देखिए। पाणिनि के 'गणपाठ' में कात्यायन का नाम नहीं है [किन्तु कात्यायनी नाम पाणिनि ४.१.१८ से प्राप्त हो सकता है, देखिए इं० स्टू० ५।६१, ६३, ६४। एक कात्यायनी पुत्र जातूकर्ण्य का उल्लेख शांखा० आर० ८।१० में आया है। महाभाष्य में पतंजलि ने अनेक कात्यों का उल्लेख किया है (इं० स्टू० १३।३९९, ४०७) और वस्तुतः वार्त्तिककार सीधे इसी

जो मधुकाण्ड और याज्ञवल्कीय काण्ड दोनों में ही आया है। कात्यायन नाम प्रायः आचार्यों की सूची में भी आता है और शुक्लयजुस् के सम्पूर्ण सूत्र के साथ रचयिता के रूप में भी कात्यायन का ही नाम संबद्ध है। माध्यंदिन पाठ में 'शतपथब्राह्मण' का भाष्य हरिस्वामी और सायण ने लिखा है, किन्तु अब तक उनके भाष्य केवल खण्डित रूप में विद्यमान हैं।[1] बृहदारण्यक की व्याख्या (गुजरात के) द्विवेदगङ्ग ने की है और काण्वीय पाठ का भाष्य शंकर ने लिखा है, जिनके भाष्य के साथ उनके अनेक शिष्यों की रचनायें भी जुड़ी हैं। अब तक भाष्यों के उद्धरण के साथ केवल प्रथम काण्ड प्रकाशित हुआ है, जिसका सम्पादन मैंने किया है। अगले तीनवर्षों में यह ग्रन्थ पूरा छप जायगा।[2] काण्वीय 'बृहदा-रण्यक' का संपादन पोली (Poley) ने किया है और हाल ही में डा० रोइर ने शांकर भाष्य तथा उसकी टीका के साथ इसका सम्पादन किया है।[3]

अब मैं शुक्लयजुस् के सूत्रों पर आता हूँ। इनमें से पहला कात्यायन का श्रौतसूत्र छब्बीस अध्यायों का है जो कुल मिलाकर ब्राह्मण के क्रम का कठोरता के साथ पालन करता है। प्रथम अठारह अध्याय इसके नौ काण्डों से मिलते हैं; सौत्रामणी का उन्नीसवें में और अश्वमेध का बीसवें अध्याय में वर्णन किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृमेध का विवेचन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसके आगे के तीन अध्याय सामवेद के यज्ञों, विविध 'एकाह' 'अहीन' और सत्र यज्ञों का वर्णन करते हैं, किन्तु इनका विस्तृत वर्णन करने की अपेक्षा वे एक प्रकार से इनकी सूची प्रस्तुत करते हैं; जब कि अन्य अध्याय सम्पूर्ण याज्ञिक क्रियाओं का स्पष्ट चित्र देते हैं। पच्चीसवें अध्याय में प्रायश्चित्तों का वर्णन है, जो बारहवें काण्ड के प्रथम भाग के समरूप है और अन्ततः छब्बीसवें अध्याय में प्रवर्ग्य यज्ञ है जो चौदहवें काण्ड के प्रथम भाग के अनुरूप हैं। केवल कुछ ही आचार्यों का नाम लेकर उल्लेख किया गया है और इनमें से दो कृष्णयजुस् सूत्रों के रचयिताओं के नाम है लौगाक्षि और भारद्वाज, इनके अतिरिक्त केवल जातूकर्ण्य,

---

वंश के हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र के अन्त में १२।१३-१५ आये हुए 'प्रवरं काण्ड' को छोड़कर जिसमें कत और पैतृक नाम कात्य का अनेक बार उल्लेख है, वैदिक साहित्य के किसी भी दूसरे ग्रंथ में कत या कात्य, कात्यायन शब्द मुझे नहीं मिले हैं। गण 'गर्ग' में कुरु-कतों का नाम आया है और कतों की शाखा विशेष रूप से कुरुओं से संबद्ध प्रतीत होती है देखिए इं० स्टू० १।२२७, २२८]

[1] और वह भी बहुत निकृष्ट पाण्डुलिपियों में।

[2] अन्तिम जिल्द १८८५ में निकली है; प्रथम काण्ड का तथा ऊपर निर्दिष्ट आख्यानों का अनुवाद मेरे इण्ड० स्ट्रा० के भाग १ (१८६८) में प्रकाशित हुआ है।

[3] रोइर के अनुवाद (१८५६) में प्रथम अध्याय का भाष्य भी है; आगे के अध्यायों में भी उन्होंने इससे अनेक उद्धरण दिये हैं।

वात्स्य, बादरि, काशकृत्स्न और कार्ष्णाजिनि के नाम लिये गये हैं। अन्तिम तीन नाम हमें दूसरी जगह[1] केवल बादरायण के वेदान्तसूत्र में मिलते हैं किन्तु बादरी का नाम जैमिनि के मीमांसा सूत्र में भी आया है। वात्स्य नाम समय-समय पर 'शतपथब्राह्मण'[2] के अंशों में आता है और यही बात जातूकर्ण्य के विषय में भी है, जो मधुकाण्ड और याज्ञ-वल्कीय काण्डों के काण्वीय पाठ में आसुरायण और यास्क के शिष्य के रूप में आते हैं; (माध्यंदिन पाठ में अन्तिम आचार्य और जातूकर्ण्य के बीच एक और आचार्य आते हैं: भारद्वाज)। उनका उल्लेख 'ऐतरेय-आरण्यक' में और अनेक बार शुक्लयजुस् के 'प्राति-शाख्यसूत्र' में हुआ है। इसके अतिरिक्त "एके" पद देकर भी दूसरी शाखाओं का निर्देश किया गया है। एक अनुच्छेद में अत्रि की पुत्री के वंशजों (हालेय, वालेय, कौद्रेय, शौभ्रेय, वामरथ्य, गोपवन) के प्रति कुछ आक्रोश व्यक्त करता है; जब कि स्वयं अत्रि के वंशजों को विशेष सम्मान प्रदान किया गया है। अन्य अंशों में इसी प्रकार का द्रोह, कण्व, कश्यप और कौत्स के वंशजों के प्रति प्रकट किया गया है; फिर भी, भाष्यों के अनुसार इन तीन नामों को विशेषण पदों के रूप में लिया जा सकता है; 'काण्व' का अर्थ 'बहरा' और 'काश्यप' का अर्थ "काले दाँतों वाला" भी लगाया गया है। प्रथम अध्याय विशेष रूप से रोचक है, क्योंकि उसमें यज्ञ के सामान्य नियम या परिभाषाएँ दी गई हैं। इसके अतिरिक्त यह ग्रंथ पूर्णतः ब्राह्मण पर आधृत होने के कारण और किसी भी प्रकार स्वतन्त्र रचना न होने से अपने संभावित काल पर प्रकाश डालनेवाले स्वल्प विवरण ही प्रस्तुत करते हैं; ऐसे ही विवरणों में विशेषतः[3] यह बात पाई जाती है कि "विजय" शब्द जो दिशाओं के लिये भी आता है[4] एक बार स्वयं दिशाओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[4] (२०।४।४६); इससे यह संकेत मिलता है

---

[1]काशकृत्स्न एक वैयाकरण भी प्रतीत होते हैं; वे संभवतः पाणिनि से भी पहले के हैं; देखिए इं० स्टू० १३.३९८, ४१३; एक वैदिक भाष्यकार काशकृत्स्न के विषय में ऊपर पृ० ३६, ८१ देखिए।

[2]इसके अतिरिक्त ९.५.१.६२ में इस नाम के एक आचार्य का मत भी उद्-धृत किया गया है; ऐत० आर० और शाङ्खा० आर० में एक वात्स का नाम आया है।

[3]२०.७.१ में १०१ संख्या को व्यक्त करने के लिए 'मणि' का प्रयोग भी बाद के समय की ओर संकेत करता है; यह उसी वर्ग का है जिस वर्ग को अग्नि=३, भू=१ इत्यादि हैं [यह ग़लत है; कुछ ही पहले २०.५.१६ में १०१ मणियों का उल्लेख है और २०.७.१ में केवल इसी का निर्देश किया गया है। हम २४ इत्यादि के अर्थ में 'गायत्रीसम्पन्ना' आदि का उदाहरण दे सकते हैं २०.११.२१ आदि। किन्तु इसमें बाद के प्रयोग से यह ठोस अन्तर पाया जाता है कि केवल गायत्री का अर्थ २४ नहीं है अपितु 'गायत्रीसम्पन्न' का अर्थ २४ होता है]।

[4][लास्सेन का इं० अल्ट० १।५४२ देखिए] सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी के अनुसार

कि दिग्विजय की प्रथा इसके पहले विद्यमान थी और उनके काव्यीय वर्णन भी संभवत. होते थे (?)। सामयज्ञ से संबद्ध अध्यायों (२२-२४) में इस प्रकार के विवरण सर्वाधिक प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए सामसूत्रों के समान ही सरस्वतीतट के यज्ञ और व्रात्य-यज्ञों का वर्णन है, जिसमें मागधदेशीय ब्रह्मबन्धु (२२.४.२२) को वही स्थान दिया गया है जो लाट्यायनसूत्र में।

'कात्यायन-सूत्र' के अनेक भाष्यकार हुए हैं, यथा यशोग,[1] पितृभूति, कर्क (सायण द्वारा उद्धृत और इसलिये उनसे प्राक्कालीन[2]), भर्तृयज्ञ, श्री अनन्त, देवयाज्ञिक (या याज्ञिकदेव) और महादेव। अन्तिम तीन[3] भाष्यकारों की तथा कर्क की रचनाएँ ही केवल इस समय उपलब्ध हैं। इन भाष्यों के उद्धरण के साथ मूल पाठ मेरे शुक्ल[4] यजुस् के

उपर्युक्त अनुच्छेद में इस शब्द का अर्थ 'जीती गई वस्तु, लूट के धन को प्राप्त करना' होना चाहिए; किन्तु समानान्तर अंशों द्वारा स्थान का निर्देश निश्चित ठहरता है; लाट्या० ९।१०।१७ : 'विजितस्य वा मध्ये यजेत् (यो यस्य देशो विजिताः स्यात्, स तस्य म् य्); वस्तुतः इस अनुच्छेद से दिग्विजयस् के विषय में कोई विशेष बात नहीं ज्ञात होती।

[1]इस नाम को यशोगोपि पढ़ना चाहिए; देखिए मेरे संस्करण की भूमिका पृ० ७

[2]एक 'धूम्रायणसगोत्र कर्काध्यापक' का नाम डावसन द्वारा जर्नल रा० ए० सो० १।२८३ (१८६५) में प्रकाशित श्रीदत्तकुशीलन् (प्रशान्तराग) के तिथि सं० ३८० के एक शिलालेख में आया है।

[3][वे अपूर्ण हैं; कुछ अंशों में तो बिल्कुल ही अधूरे हैं] याज्ञिकदेव की व्याख्या की प्राचीनतम ज्ञात पाण्डुलिपि का समय १६३९ सं० है—मैंने इन भाष्यकारों का नाम उसी क्रम में दिया है, जिस क्रम में एक दूसरे ने उद्धरण दिये हैं : इसमें सन्देह नहीं कि यशोग [यशो-गोपि] के पहले भी दूसरे भाष्यकार थे। फोर्टविलियम केटलाग सं० ७४२ में महीधर के एक भाष्य का उल्लेख किया गया है; किन्तु मुझे इस कथन की सत्यता पर सन्देह है। [सही क्रम इस प्रकार है : कर्क पितृभूति, यशोगोपि, भर्तृयज्ञ; अनन्त ने इसी प्रकार उनका नामोल्लेख किया है; यदि अनन्त वस्तुतः श्रीमदनन्ताख्यचातुर्मास्ययाजिन् ही हों; तो इनका समय भी सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रतीत होता है; श्रीमदनन्ताख्यचातुर्मास्य-याजिन् को 'मुहूर्तमार्त्तण्ड' के रचयिता नारायण ने अपना पिता बताया है; देखिए मेरा बर्लीन मैन्यु० का केटलाग, सं० ८७९; १।१०।१३ के भाष्य में देव ने एक नारायण-भाष्य का उद्धरण दिया है; क्या अनन्त के पुत्र नारायण इसके रचयिता नहीं माने जा सकते?

[4]इस भाग का प्रकाशन १८५६-५९ में हुआ था अध्याय १-५ पर देव की पद्धति इसमें सम्पूर्ण रूप में दी गई है, साथ ही अध्याय १ का उनका भाष्य भी दिया गया है; अध्याय २-११ के भाष्य के उद्धरण देव के भाष्य से लिये गये हैं; अध्याय २-५ के भाष्य

संस्करण का तीसरा भाग होगा। इस सूत्र के साथ अनेक पद्धतियाँ, उद्धरण और इस प्रकार की रचनाएँ संबद्ध हैं;[१] और बहुत बड़ी संख्या में परिशिष्ट भी जुड़े हुए हैं, जिन सबका रचयिता कात्यायन को बताया जाता है और जिन पर अनेक भाष्यकारों ने भाष्य लिखे हैं। इनमें विशेषतः हमें निगम-परिशिष्ट का भी उल्लेख कर देना चाहिए, जो शुक्ल यजुस् के पर्यायवाची शब्दों की सूची है; तथा 'प्रवराध्याय'[२] का भी उल्लेख किया जा सकता है जो पुरोहित के योग्य वरण की एवं उनमें विहित या निषिद्ध अन्तर्विवाहों के विधान की दृष्टि से अनेक ब्राह्मणवंशों की परिगणना है। विभिन्न वेदों की शाखाओं का एक विवरण 'चरणव्यूह' अल्प महत्त्व का है। इसके कथन अधिकांशतः सही हो सकते हैं, किन्तु यह बहुत अधूरा है और आद्योपान्त नितान्त अर्वाचीन संग्रह है।[३]

'वैजवापसूत्र' को, जिसके उल्लेख मुझे स्थान-स्थान पर 'कातीयसूत्र' के भाष्यों में मिले हैं, मैं शुक्लयजुस् सूत्रों के वर्ग का मानता हूँ; क्योंकि शतपथब्राह्मण के वंशों के अतिरिक्त अन्यत्र मुझे यह नाम नहीं मिलता। इसमें वैजवाप और वैजवापायन दोनों ही नाम आये हैं और दोनों इस सूची के नितान्त अर्वाचीन सदस्यों में हैं (काण्व पाठ में केवल वैजवापायन नाम है और वे यास्क से केवल पाँच पीढ़ी के अन्तर पर हैं)। इस नाम के एक गृह्यसूत्र का भी उद्धरण दिया गया है।[४]

में शैली-विषयक कुछ अन्तर मौलिक शब्दों में पाया जाता है, जो संक्षिप्त रूप देने के कारण है; अध्याय १२-२६ के उद्धरण कर्क के भाष्य और देव के एक अज्ञातनामा 'संक्षिप्तसार' से दिये गये हैं, जिसकी पाण्डुलिपि का समय १६०९ सं० है। इनमें से कोई भी भाष्य पूरा नहीं है।

[१]गदाधर, हरिहर मिश्र, रेणुदीक्षित, गंगाधर आदि द्वारा।

[२]मेरे बेर्लिन मैन्यु० के केटलाग पृ० ५४-६२ में प्रकाशित; किन्तु दुर्भाग्यवश यह एक बहुत बुरी प्रति से छपी है; (इं० स्टू० १०।८८ देखिए)

[३]इं० स्टू० ३:२४७-२८३ (१८५४) में प्रकाशित; देखिए म्यूल्लेरः एं० स० लि० पृ० ३६८, राजेन्द्र लाल मित्र 'छान्दोग्योपनिषद्' के अनुवाद का आमुख पृ० ३ विष्णुपुराण ३।४ में और विशेषतः वायुपुराण अध्याय ६० में देखिए आउफ्रेष्ट का केटलागस् पृ० ५४) वैदिक शाखाओं की गणना में बहुत प्रचुर सामग्री है। यदि ये सभी शाखाएँ वस्तुतः विद्यमान थीं तो सचमुच खेद की बात है कि हमें बहुत कम उपलब्ध हो सका है, किन्तु निश्चय ही इस गणना में अनेक भूलें हैं और बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया है।

[४]स्टेंजलेर द्वारा त्स० डा० मो० गे० भाग ७ (१८५३) में इसके वर्ण्यविषय का विवेचन तथा अर्घदान (पार० १।८ ब्रेसलाउ १८५५) पर उनका लेख देखिए। विवाह संस्कार से संबद्ध अंशों को हास ने इं० स्टू० ५।२८३ में प्रकाशित किया है, जातकर्म से संबद्ध

तीन काण्डों का 'कातीयगृह्यसूत्र'[1] पारस्कर का कहा जाता है, जिनके नाम से ('चरण-व्यूह' के अनुसार) शुक्ल यजुस् की एक शाखा का भी नाम पड़ा है। पारस्कर शब्द का प्रयोग पाणिनि के सूत्र में संज्ञा या व्यक्तिवाचक नाम के रूप में हुआ है—किन्तु, गण के अनुसार यह एक जनपद का द्योतक है; वैदिक साहित्य में यह मुझे नहीं मिल पाया है। इस गृह्यसूत्र से संबद्ध वासुदेव की एक पद्धति है और जयराम का एक भाष्य है, और सबसे बढ़कर तो रामकृष्ण की 'संस्कारगणपति' नाम की टीका है जो प्रचुर उद्धरणों, विस्तृत वर्णनों और विविध विषयों के विवेचन के कारण इस प्रकार की सभी रचनाओं में श्रेष्ठ है। भूमिका में, जो सामान्यतः वेद का और विशेषतः यजुर्वेद का विवेचन करती है, राम कृष्ण कहते हैं कि काण्वशाखा यजुस् की शाखाओं में सर्वोत्तम है। पारस्कर के नाम से एक स्मृतिशास्त्र भी है जो निश्चय ही गृह्यसूत्र पर आधृत है। शेष स्मृतिशास्त्रों में भी अनेक ऐसे हैं, जिनके नाम शुक्ल यजुस् के आचार्यों के नामों से संबद्ध हैं; उदाहरण के लिये—याज्ञवल्क्य, जो मनु से वैसे ही परवर्तीकाल के हैं जैसे शुक्लयजुस् कृष्णयजुस् के बाद का और जैसे कातीयसूत्र मानवसूत्र के बाद का है; कात्यायन (जिंनकी रचना स्वयं को सामवेद से संबद्ध करती है), कण्व, गौतम, शाण्डिल्य, जाबालि और पराशर अन्तिम दो नाम चरणव्यूह में निर्दिष्ट शुक्लयजुस् की शाखाओं के नाम के रूप में आते हैं, और हम उनके वंश के व्यक्तियों का उल्लेख 'शतपथ-ब्राह्मण' के वंशों में भी पाते हैं, जिसमें विशेष रूप से पराशर के वंश को प्रायः प्रस्तुत किया गया है।

'शुक्ल-यजुस्' के प्रातिशाख्य-सूत्र तथा अनुक्रमणी दोनों ही के अन्त में रचयिता का नाम कात्यायन बताया गया है। रचना के कार्य में सर्वप्रथम तीन वैयाकरणों का नाम लिया गया है जिनके उद्धरण हमें ऋक्-प्रातिशाख्य, यास्क और पाणिनि में भी मिलते हैं; ये हैं शाकटायन, शाकल्य और गार्ग्य; फिर काश्यप का उल्लेख पाणिनि ने किया है; अन्ततः, दाल्भ्य, जातूकर्ण्य, शौनक (ऋक्-प्रातिशाख्य के रचयिता?) औपशिवि, काण्व और माध्यंदिन के भी उल्लेख हुए हैं। १.१.१८.२९ में निर्दिष्ट वेद और भाष्य अर्थात् भाषा में रचना का भेद—जो पाणिनि में आए हुए 'भाषा' शब्द के प्रयोग से साम्य रखता है—पहले ही (पृ० ४९) बताया जा चुका है। आठ अध्यायों में प्रथम अध्याय

खण्ड का संपादन स्पाइजेर (१८७२) ने किया है और स्टेन्जलेर द्वारा आश्रित पाण्डुलिपि के पाठभेदों को आलोचनात्मक विवेचन के साथ प्रस्तुत किया है (पृ० १७-२३)।

[1] [इं० स्टू० १.१५६ देखिए] पाणिनि ४.३.११० में (जो संभवतः पाणिनि का नियम नहीं है) एक पाराशर्य द्वारा लिखित 'भिक्षुसूत्र' का उल्लेख है, यह धार्मिक प्रयोजन से भिक्षाचरण करने वाले व्यक्तियों का एक ग्रन्थ है। ['पाराशरिणो भिक्षवः' का उल्लेख 'महाभाष्य' में भी मिलता है और पराशर कृत एक कल्प का भी निर्देश आया है; इं० स्टू० १३।३४०, ४५५ देखिए]।

के अन्तर्गत संज्ञाएँ और परिभाषाएँ अर्थात् पारिभाषिक शब्द[1] तथा सामान्य उक्तियाँ हैं। दूसरे अध्याय में स्वरों का विवेचन है; तीसरे, चौथे और पाँचवें में 'संस्कार' अर्थात् वर्णों के लोप, आगम, परिवर्तन एवं द्वित्व का वर्णन सन्धि-नियमों के सन्दर्भ में किया गया है; छठें में वाक्य में आए हुए क्रियापद के स्वर पर विचार हैं; आठवें अध्याय में स्वरों और व्यञ्जनों की सूची है; पाठ (स्वाध्याय)[2] की विधि के नियम हैं और यास्क के विभाजन से मिलता-जुलता शब्दों का एक वर्गीकरण है। इसमें अक्षरों और शब्दों के विविध देवताओं का निर्देश करने वाले अनेक श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं, जिससे मैं इस अन्तिम अध्याय को (जो प्रथम अध्याय में भी आ जाता है) बाद के समय का एक जोड़ मानता हूँ।[3] इस ग्रन्थ पर ऊअट का एक सुन्दर भाष्य भी है, जिनके नाम का उल्लेख 'मातृमोदक' उपाधि से बार-बार किया गया है।[4]

कात्यायन की अनुक्रमणी में सबसे पहले चार अध्यायों में (४।९ तक) "माध्यंदिनीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे [?] सखिले सशुक्रिये" में, जिसे ऋषि याज्ञवल्क्य ने विवस्वत् सूर्य देवता से प्राप्त किया था, आने वाले "शुक्लानि यंजूंषि" शुक्लयजुस् के मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्दों की सूची है। उनके 'विनियोग' या याज्ञिक प्रयोग के लिए कल्पकार का निर्देश किया गया है। जहाँ तक इसमें उल्लिखित आचार्यों के नामों का प्रश्न है, हमें अनेक उल्लेखनीय बातें मिलती हैं। ऋचाओं के जो ऋषि बताये गये हैं उनके नाम ऋगनुक्रमणी में उन्हीं मन्त्रों के लिये बताये गये ऋषियों के नामों से प्रायः मिलते हैं; फिर भी इसके कई अपवाद हैं। प्रायः कोई विशिष्ट नाम मन्त्र में आनेवाले किसी शब्द के आधार पर रखा गया प्रतीत होता है (जैसा कि ऋगनुक्रमणी में भी पाया जाता है) जहाँ पर एक अंश की दूसरे स्थल पर आवृत्ति की गई है, जैसा कि प्रायः होता है, वहाँ दोनों स्थलों पर उस अंश के ऋषि का नाम भिन्न-भिन्न है। इसमें उल्लिखित अनेक ऋषि ऋक् के ऋषियों के अन्तर्गत नहीं आते और उनके बाद के काल के हैं; ऐसे ऋषियों में अनेक

---

[1]उनमें 'तिङ', 'कृत्' 'तद्धित' और 'उपधा' पद पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों के बिल्कुल समान [illegible]।

[2]अपितु '[illegible]न' कहना चाहिए; क्योंकि यहाँ भी लेखन और पठन को स्थान नहीं दिया जा सकता[illegible]

[3]ऐसी स्थिति में माध्यंदिन शाखा का उल्लेख व्यर्थ होगा।

[4]इं० स्टू० ४।६५-१६०, १७७-३३१ में प्रकाशित मूल अनुवाद आलोचनात्मक भूमिका तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियों सहित इस प्रातिशाख्य के मेरे संस्करण के विरुद्ध गोल्डस्टयूकेर ने अपने पाणिनि पृ० १८६-२०७ में एक आपत्ति उठाई है और अपने विवाद में ही वे यह प्रदर्शित करते हैं कि इस ग्रंथ के रचयिता वार्त्तिककार ही हैं; मेरा प्रतिवाद देखिए इं० स्टू० ५।९१-१२४।

ऐसे भी आचार्य हैं, जिनके नाम 'शतपथब्राह्मण' में आए हैं। चौथे अध्याय के अन्तिम[1] भाग में विशिष्ट यज्ञ क्रियाओं के समय गाये जाने वाले मन्त्रों को उनके अपने ऋषियों, देवताओं और छन्दों को अर्पित किया गया है और इसी प्रकार अन्य रहस्यमय विभाजन किये गये हैं। अन्ततः, पाँचवें अध्याय में इसके अन्तर्गत आने वाले छन्दों का एक संक्षिप्त विश्लेषण दिया गया है। इस अनुक्रमणी पर श्रीहल की सुन्दर 'पद्धति' है जो दुर्भाग्यवश अधूरी है। इस पद्धति में हम विस्तार में प्रत्येक मन्त्र के याज्ञिक प्रयोग का वर्णन पाते हैं।

वेदाङ्ग नाम की तीन रचनाओं, शिक्षा, छन्दस् और ज्योतिष के यजुस् पाठों पर पहिले ही विचार किया जा चुका है।[2]

---

[1]पाँचवें अध्याय और ग्रन्थ के आरम्भिक अंश के साथ मेरे वाजसनेयिसंहिता के संस्करण भूमिका पृ० ५५–५८ में प्रकाशित।

[2]विवरण के लिए मैं अपने बर्लीन मैन्युस्क्रिप्टस् के केटलाग पृ० ९६-१०० का [और इन तीन ग्रंथों के अपने पूर्वोल्लिखित संस्करण का] निर्देश करता हूँ।

५ : अथर्ववेद

अब हम अथर्ववेद पर आते हैं।

अथर्ववेद की संहिता में बीसकाण्ड,[1] अड़तीस प्रपाठक, लगभग ७६० सूक्त और प्रायः ६००० मन्त्र हैं। प्रपाठकों के विभाजन के अतिरिक्त अनुवाकों का विभाजन भी दिया गया है, जिनकी संख्या लगभग नब्बे है। 'शतपथ-ब्राह्मण' के तेरहवें काण्ड में जिस पर्वों के विभाजन का उल्लेख किया गया है वह पाण्डुलिपियों में नहीं मिलता, और न पाण्डु-लिपियाँ यह निर्देश करती हैं कि यह पाठ किस शाखा का है। चूंकि एक परिशिष्ट में जिस पर आगे विचार किया जायगा (सातवीं परिशिष्ट), एक यज्ञक्रिया के विवेचन में उससे संबद्ध ऋचाओं का उद्धरण 'पैप्पलादा मन्त्राः' नाम से किया गया है, अतः इतना तो निश्चित है कि पैप्पलाद शाखा की एक संहिता थी और संभवतः यही संहिता सम्प्रति विद्य-मान है।[2] इसके वर्ण्य विषयों एवं विभाजन के सिद्धान्तों का विस्तृत ज्ञान अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है।[3] हम केवल सामान्य रूप से यही जानते हैं कि "इसमें प्रमुख रूप से इस

---

[1]अथ० सं० का बीस काण्डों में विभाजन वार्त्तिककार के समय में भी पाया जाता है और इसकी पुष्टि गोपथ-ब्राह्मण १-८ भी करता है। देखिए इं० स्टू० १३।४३३; इसके विपरीत स्वयं अथर्वसंहिता (१९.२२,२३) और अर्थ० परि० ४८।४-६ में यह प्रत्यक्ष निर्देश किया गया है कि इसमें पहले केवल सोलह काण्ड थे। इं० स्टू० ४।४३२-४३४ देखिए।

[2]हाल ही में रोथ द्वारा प्रकाशित एक ग्रंथ 'डेर अथर्ववेद इन काश्मीर' (१८७५) के अनुसार ऐसी बात नहीं है। वर्तमान संहिता शौनक शाखा की प्रतीत होती है, जबकि पैप्पलाद शाखा एक दूसरे पाठ में अब भी काश्मीर में सुरक्षित है।

[3]१-७ काण्डों का विन्यास विभिन्न सूक्तों में मन्त्रों की संख्या के अनुसार है; इनमें काण्ड १ में चार मन्त्र, २ में पाँच, ३ में छः, ४ में सात, ५ में आठ से अठारह, ६ में तीन और ७ में केवल एक मन्त्र का औसत है। जहाँ तक वर्ण्यविषयों का प्रश्न है उन्हें बिना किसी वर्गीकरण के एक साथ मिला दिया गया है। इसके विपरीत काण्ड १४-१८ का वर्ण्य-विषय एक समान है; १४वें में विवाह का विवेचन है, १५वें में व्रात्यों की प्रशस्ति है; १६वें और १७वें में आभिचारिक क्रियाएँ हैं, १८वें में अन्त्येष्टि क्रिया और पितरों के लिये श्राद्धकर्म का वर्णन है। काण्ड १९ बाद में जोड़े गये अंशों को मिलाकर रचा गया है; इसके पाठ का एक अंश भ्रष्ट दशा में है; २०वें काण्ड में केवल एक सूक्त कुन्तापसूक्त

प्रकार के मन्त्र हैं जो दैवी शक्तियों[1] के अशुभ प्रभाव से तथा रोगों एवं विषधर जीवों से रक्षा करने के लिये रचे गये हैं और शत्रुओं के प्रति शाप एवं ओषधियों को प्रार्थना व्यक्त करते हैं।"[2] इसके साथ ही रोजमर्रा के जीवन की सभी प्रकार की घटनाओं के लिए मन्त्र, यात्रा में मङ्गल, खेल में विजय और इसी प्रकार के फलों की प्राप्ति के लिये प्रार्थनाएँ भी हैं। ये सभी ऐसे विषय हैं जिनके लिये पर्याप्त समता ऋक्-संहिता के सूक्तों में उपलब्ध होती है। किन्तु ऋक् में उदाहरण बहुत कम तो हैं ही, जैसा पहले विषय-प्रवेश में कहा जा चुका है उनका विवेचन भी नितान्त भिन्न स्वरूप में हुआ है, यद्यपि साथ ही साथ इन सूक्तों का बहुत बड़ा अंश सीधे ऋग्वेद में विशेषतः दसवें मण्डल में मिल जाता है।[1] जहाँ तक उन यज्ञों का प्रश्न है, जिनके लिये अथर्वन् के सूक्तों का प्रयोग होता था, इसका अन्य वेदों में जो साम्य मिलता है वह श्रौतसूत्र में नहीं अपितु कुछ अपवादों के साथ केवल गृह्य-सूत्र में ही मिलता है; और इसलिए ऐसा प्रतीत होता है (जैसा कि पहले मैं कह चुका हूँ) कि मूलतः ये क्रियाएँ पुरोहितों के परिवारों की अपेक्षा सामान्य जनता से संबद्ध हैं। 'षड्विंश-ब्राह्मण' और सामसूत्रों में हम एक ऐसा स्थल पाते हैं जिसमें एक आभिचारिक क्रिया व्रातीनों या ब्राह्मणीय व्यवस्था को न स्वीकार करने वाले आर्यों से ली गई है। इससे हम यह उचित रूप से अनुमान कर सकते हैं कि यह एकमेव उदाहरण नहीं; और इस प्रकार सामान्यतः यह मत उठ खड़ा होता है कि यद्यपि अधिकांश अथर्वसंहिता की उत्पत्ति ब्राह्मणीय युग में हुई थी, फिर भी इसमें इस प्रकार के सूक्त और मन्त्र सम्मिलित कर लिये गये होंगे, जो वस्तुतः इन पश्चिम के अब्राह्मणीय आर्यों से संबद्ध थे।[3] तथ्य तो यह है कि इन जातियों के साथ एक विशेष प्रकार का संबन्ध पन्द्रहवें काण्ड में नितान्त स्पष्ट रूप से प्रकट है। इसमें परमात्मा को स्पष्टतः व्रात्य[4] कहा गया है और उन विशेषताओं से संबद्ध किया गया है जो सामवेद में व्रात्य के लक्षण के रूप में दी गई हैं। इसी प्रकार, हम अथर्व-उपनि-

---

को छोड़कर इन्द्र के प्रति उक्त सूक्त हैं जो ज्यों के त्यों ऋग्वेद से ले लिये गये हैं। 'अथर्व-प्रातिशाख्य में इन अन्तिम दो काण्डों में किसी का भी उल्लेख नहीं है (देखिए टिप्पणी २ पृ० १३८) और इस कारण इस ग्रंथ के समय में वे मौलिक पाठ के अन्तर्गत नहीं थे।

[1]नक्षत्रों अर्थात् चान्द्र ग्रहों का भी।

[2]देखिए, रोथ : 'सुर लिट० उण्ड० गेशि० डेस् वेद', पृ० १२

[3]विष्णुपुराण में सैन्धव और सैन्धवायन को अथर्वन् की एक शाखा कहा गया है।

[4]इस काण्ड के वर्ण्यविषय तथा 'व्रात्य' शब्द के प्रयोग की व्याख्या प्रश्नोपनिषद् २।७ तथा चूलिकोपनिषद् ५।११ में इस शब्द के प्रयोग पर आधारित है (देखिए इं० स्टू० १.४४५, ४४६, ९।१५,१६) इसके विपरीत रोथ के अनुसार (देखिए ऊपर पृ० १०० टिप्पणी) इस काण्ड का उद्देश्य "भिक्षुकों या संन्यासियों को सम्मानित करने का है (परि-व्राजक इत्यादि)।"

षदों में इस 'व्रात्य' शब्द को "स्वयं में पवित्र" अर्थ में परमात्मा का बोध कराने के लिये प्रयुक्त पाते हैं। व्रात्य-काण्ड में 'मागध' के उल्लेख पर और इस संभावना पर की यह शब्द ब्राह्मणीय व्यवस्था के विरोधी बौद्ध आचार्यों की ओर संकेत करता है, पहले ही विचार किया गया है। रोथ (वही पृ० ३८) द्वारा निर्दिष्ट एक अनुच्छेद में पूर्व के अङ्गों और मगधों तथा पश्चिम के गन्धारि, मूजवन्त, शूद्र, महावृष एवं वल्हिक जनों का विशेष और द्रोहपूर्ण उल्लेख है, अतएव संभवतः इस सूक्त की रचना के समय इन्हीं जनपदों के बीच ब्राह्मण संस्कृति से प्रभावित जनपद आता था। पश्चिम से संबन्ध पूर्व की अपेक्षा अधिक बढ़ा-चढ़ा था; कारण, पश्चिम में बसी हुई जातियों में पाँच का और पूर्व की केवल दो जातियों का उल्लेख है। समय आने पर अथर्वसंहिता के भी अधिक प्राचीन और अधिक अर्वाचीन अंशों को पृथक् करना निश्चय ही संभव होगा, यद्यपि कुल मिलाकर भौगोलिक तथ्य बहुत कम मिलते हैं। इसकी भाषा में अनेक विलक्षण शब्द रूप आते हैं, और प्रायः उनका रूप प्राचीन और प्राकृत भाषा के शब्दरूपों से युक्त है। वस्तुतः इसमें सामान्य जनता द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द हैं, जिनको अवसर के अभाव से साहित्य के अन्य अंशों में स्थान नहीं मिला है। उन्नीसवें काण्डों में चान्द्रनक्षत्रों की गणना तैत्तिरीय-संहिता के समान कृत्तिका से ही आरम्भ होती है, किन्तु इसके अतिरिक्त इसमें तैत्तिरीय संहिता से अत्यन्त भेद मिलते हैं और अधिकांशतः बाद के समय में प्रयुक्त नामों के रूप में ही दिये गये हैं।[१] इसके काल का प्रत्यक्ष निर्धारण नहीं किया जा सकता, जैसा कि कोलब्रूक ने सोचा था। विशेषतः रोचक है असुर कृष्णकेशिन्[२] का उल्लेख, जिसका वध करने के कारण कृष्ण (आङ्गिरस? देवकीपुत्र) को महाकाव्य और पुराणों में केशिहन् और केशिसूदन विशेषण दिये गये हैं। उन सूक्तों में जो ऋक्-संहिता में (विशेषतः इसके अन्तिम मण्डल में) भी आते हैं, इस प्रकार के भेद पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं, और ये पाठ अधिकांशतः ऋक् के पाठों के तुल्य ही मान्य हैं। यजुस् से संबन्ध के भी अनेक सूत्र इसमें विद्यमान हैं।

सर्वप्रथम अथर्वन् सूक्तों का उल्लेख दो नामों से हुआ है, अथर्वाणः और आङ्गिरसस्ः, ये दोनों नाम दो प्राचीन ऋषिकुलों के हैं या 'इण्डो-आर्यन' (भारतीय आर्यों) तथा 'पेर्सो-आर्यन' (फारस के आर्यों) के सामान्य पूर्वजों के नाम हैं। इनका इन सूक्तों के साथ प्रयोग इनमें आए हुए अभिचारों आदि को नितान्त प्रामाणिकता और पवित्रता प्रदान करने के

---

[१]यह अंश विशेष कारणों से बाद के समय का सिद्ध होता है; देखिए इं० स्टू० ४।४३३ टि०।

[२]ऋक्-संहिता में भी हम एक असुर कृष्ण पाते हैं और बौद्ध कथाओं में वह एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है (तथा इनमें वह महाकाव्य के कृष्ण से अभिन्न प्रतीत होता है?)

लिये किया गया है।[1] प्रायः उनका संबन्ध प्राचीन भृगुओं[2] के वंश से भी जोड़ा जाता है। वाज० संहिता के तीसवें अध्याय में आये हुए 'अथर्वाणः' से अथर्वसूक्तों का अर्थ लिया जा सकता है या नहीं, यह अभी निश्चित नहीं है। किन्तु शतपथब्राह्मण का ग्यारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ काण्ड, छान्दोग्योपनिषद् तथा तैत्तिरीय-आरण्यक (२ और ८) जिस काल की रचना हैं उस समय तक अथर्वसूक्तों और अथर्ववेद का अस्तित्व पूर्णतः पुष्ट हो चुका था, जैसा कि इन रचनाओं में इनके उल्लेख से प्रकट है। 'शतपथब्राह्मण' के तेरहवें काण्ड में 'पर्वों' के एक विभाजन[3] का भी उल्लेख है जो, जैसा कि पहला कहा जा चुका है, पाण्डु-लिपियों में नहीं उपलब्ध होता। तैत्तिरीय-आरण्यक के आठवें अध्याय में तीन अन्य वेदों और 'अथर्वाङ्गिरस्' के बीच आदेश या ब्राह्मण को रखा गया है। इन बातों के अतिरिक्त अथर्ववेद या अधिक स्पष्ट रूप में अथर्वाङ्गिरस "आथर्वणिक" का उल्लेख सामवेद के 'निदानसूत्र' (और पाणिनि) में हुआ है। अथर्ववेद की शाखाओं के नाम भी वैदिक साहित्य[4] में अन्यत्र नहीं मिलते; हाँ, कौशिक नाम अपवाद है; फिर भी इस गोत्र नाम से अथर्वन् का कोई विशेष निर्देश नहीं है।[5] दूसरा नाम, जो अथर्ववेद के लिये केवल स्वयं

---

[1]देखिए इं० स्टू० १।२९५; ऐसा नहीं सोचा जा सकता कि ये नाम किसी पेर्सो-आर्यन प्रभाव को सूचित करते हैं; और यदि भविष्यपुराण (राइनाउड के मेम० सुर ला' इण्डे पृ० ३९४ में) के अनुसार पारसियों (मगों) के भी चार वेद वाद(! यश्न ?) विश्ववाद (विश्वेरेद) विद्रुत (वेण्डिदाद) और अंगिरस हैं तो यह भारतीय दृष्टिकोण है, हालाँकि अत्यन्त उल्लेखनीय है।

[2]मेरा लेख 'त्स्वाई वेदिश्श टेक्स्ट उइबेर ओमिना उण्ड पोर्टेण्टा' पृ० ३४६-३४८ देखिए।

[3]क्रमशः ऋक्, यजुस् और सामन् के सूक्तों, अनुवाकों और दशतों के अनुरूप।

[4]अथर्वन् शाखा के सदस्यों का यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है; विशेषतः दध्यंच आथ०, कबन्ध आथ० का उल्लेख आता है, जिन्हें विष्णुपुराण में सुमन्तु का शिष्य माना है (सुमन्तु का नाम ऋक् के गृह्यसूत्र में मिलता है, देखिए ऊपर पृ० ४९)

[5]ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के समय में भी अथर्वन् को वेद का स्थान देने में विवाद होता था। याज्ञवल्क्य (१।१०१) ने दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया है 'वेदाथर्वौ', यद्यपि दूसरे अंश (१।४४) में 'अथर्वांगिरसस्' नाम ऋच्, सामन् और यजुस् के साथ आया है। मनुस्मृति में केवल एक बार आभिचारिक मन्त्रों के रूप में 'श्रुतिर् अथर्वांगिरसीः' आया है; रामायण में भी केवल एक बार (२.२६.२० गोरे०में) 'मन्त्राश्चाथर्वणाः' आया है; रामायण के इस अनुच्छेद पर मैंने इं० स्टू० १।२९७ में ध्यान नहीं दिया था)। (पतंजलि के महाभाष्य में अथर्वन् को वेदों में शीर्षस्थ कहा गया है। इसी प्रकार ऋक्

परवर्तीकाल की अथर्ववेदीय रचनाओं यथा परिशिष्टों में प्रयुक्त हुआ है, "ब्रह्मवेद" है। इसका आधार यह है कि यह प्रमुख याज्ञिक ऋत्विज् ब्रह्मन्[१] का वेद होने का दावा करता था, जबकि अन्य वेदों को उसके सहायक ऋत्विजों होतर्, उद्गातर और अध्वर्यु का कहा गया है। अथर्ववेद के इस दावे का आधार बड़ी चतुराई के साथ यह बताया गया है कि ब्रह्मन् के लिए कोई विशिष्ट वेद नहीं था, अतएव उसे तीनों वेदों का ज्ञान रखना पड़ता था, जैसा कि कौषीतकि-ब्राह्मण (देखिए इं० स्ट० २.३०५) में स्पष्ट रूप से कहा गया है। इसके अतिरिक्त इस कथन का कोई आधार नहीं। ये धारणाएँ जितनी ही दुर्बल हैं उतने ही आडम्बर के साथ उन्हें अथर्वन् रचनाओं में प्रस्तुत किया गया है, जो स्पष्टतः अन्य वेदों के प्रति घोर वैमनस्य प्रकट करती हैं। वे एक दूसरे के प्रति भी पर्याप्त ईर्ष्या की भावना प्रकट करती हैं; उदाहरण के लिए, एक परिशिष्ट केवल भार्गव, पैप्पलाद और शौनक ब्राह्मण को ही राजा का पुरोहित[२] होने योग्य मानती है और मौद या जलद को विपत्ति ले आने वाला कहा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्वसंहिता पर भी सायण ने भाष्य लिखा था। इसकी पाण्डुलिपियाँ भारत में अपेक्षतया कम मिलती हैं। इनमें से अधिकांश पाण्डुलिपियों में स्वरांकन की विधि में विशेषताएँ पाई जाती हैं।[३] इस संहिता के लम्बे अंश की जानकारी हमें मूल और आउफ्रेष्ट के अनुवाद के साथ हुई है (इं० स्ट्० १.१२१-१४०)। इसके अतिरिक्त कुछ ही अंश अब तक प्रकाशित हुए हैं।[४]

के गृह्यों में, देखिए ऊपर पृ० ५०) कभी कभी वेदों के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में उल्लिखित किया गया है; देखिए इं० स्टू० १३।४३१-३२]

[१]यद्यपि इस नाम की यह व्याख्या परम्परानुगामिनी है फिर भी गलत है; ब्रह्मवेद नाम से (जो सर्वप्रथम शांखा० गृह्य १.१६ में आया है। हमें ब्रह्माणि या प्रार्थनाओं के वेद का अर्थ लेना चाहिए) यहाँ संकुचित अर्थ में आभिचारिक मन्त्र (सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी)।

[२]याज्ञवल्क्य भी यह विधान करते हैं (१।३१२) कि ऐसे व्यक्ति को 'अथर्वाङ्गिरसे' में पारंगत होना चाहिए।

[३]रेखाओं के स्थानों पर विन्दुओं का प्रयोग किया गया है; और स्वरित अक्षर के ऊपर नहीं अपितु उसके बाद में लगता है।

[४]सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन बहुत पहले (१८५५-५६) रोथ और ह्विटनी ने किया है। पहले दो काण्डों का अनुवाद मैंने इं० स्टू० ४।३९३-४३० तथा १३।१२९-२१६ में किया है; चौदहवें काण्ड के विवाह मन्त्र, तथा प्रेमसूक्तों और अन्य काण्डों के तत्सदृश अभिचारों के सूक्तों के साथ इं० स्टू० ५।२०४-२६६ में मूल पाठ की आलोचना के लिए रोथ की पुस्तक 'उइबेर डेन् अथर्ववेद' (१८५६) और 'डेर अथर्ववेद इन् काश्मीर' (१८७५)

ब्राह्मणयुग को अथर्ववेद में बहुत अल्प प्रतिनिधित्व मिला है; इसका ब्राह्मण 'गोपथ-ब्राह्मण' है। इसकी जिस पाण्डुलिपि से मैं अवगत हूँ (इ० आइ० एच० २१४२) उसमें दो भाग हैं: पूर्वभाग और उत्तर भाग; प्रत्येक में पाँच प्रपाठक हैं; छठें (ग्यारहवें) प्रपाठक के आरम्भ में ही पाण्डुलिपि खण्डित हो गई है। एक परिशिष्ट में कहा गया है कि इस ब्राह्मण में मौलिक रूप में १०० प्रपाठक थे। इसके वर्ण्यविषय मुझे पूर्णतः अज्ञात हैं। इस विषय पर, कोलब्रूक के कथन के अनुसार, इसमें अथर्वन् को ब्रह्मा द्वारा नियुक्त जगत्स्रष्टा प्रजापति बताया गया है; और वस्तुतः परिशिष्टों और कतिपय उपनिषदों में उन्हें यही स्थान दिया गया है। वर्ष का ३६० दिनों के बारह (या तेरह) मासों में और प्रत्येक दिन का तीस मुहूर्तों में विभाजन, जिसे कोलब्रूक ने इसमें उल्लेखनीय बताया है, यजुस् के ब्राह्मणों इत्यादि में भी समान रूप में पाया जाता है।[1]

अब तक मैंने जिस क्रम का अनुसरण किया है उसका परित्याग कर मैं यहाँ अथर्ववेद के सूत्रों के विषय में जो कुछ कहना है उसे प्रस्तुत करूँगा; कारण, केवल ये ही दूसरी रचनायें हैं जो संहिता से संबद्ध हैं, जबकि अथर्वन् साहित्य का शेषभाग, जो अन्य वेदों के आरण्यकों के समकक्ष है, संहिता से कोई संबन्ध नहीं रखता।

देखिए। गोपथ ब्राह्मण (१।२९) तथा पतंजलि के महाभाष्य में (इं० स्टू०) १३।४३३ में यद्यपि बर्नेल की 'वंश-ब्राह्मण' की भूमिका पृ० २२ के अनुसार साउथ इण्डियन मैन्युस्क्रिप्टस में अथर्ववेद से उद्धरण नहीं है) संहिता के आरम्भ के शब्द हमारे पाठ से भिन्न हैं, कारण यह १.१ के स्थान पर १.६ से प्रारम्भ होता है। भण्डारकरः इण्डियन एंटिक्वेरी ३।१३२ ने भी इसी प्रकार दिया है और हाग के पास जो दो पाण्डुलिपियाँ हैं उनमें भी ग्रन्थ इसी प्रकार प्रारम्भ होता है देखिए हाग 'ब्रह्मन् उण्ड डी ब्राह्मणेन, पृ० ४५। बर्नेल (वंश ब्रा० की भूमिका पृ० २१) इस पर सन्देह करते हैं कि सायण ने अथर्व सं० पर भाष्य लिखा था।

[1]गोपथ-ब्राह्मण के विषय में सर्वप्रथम मैक्स म्यूल्लेर ने कुछ विवरण अपने हिस्ट्री आफ एं० सं० लिट० पृ० ४४५-४५५ में दिये थे और अब इस ग्रंथ को ही राजेन्द्र लाल मित्र तथा हरचन्द्र विद्याभूषण ने बिल्लि० इं० (१८७०-७२) में प्रकाशित किया है। इसके अनुसार इसमें केवल ग्यारह (५+६) प्रपाठक हैं। इसमें विभिन्न नामों से अथर्वसंहिता के अनेक उल्लेखों के अतिरिक्त अथर्वसंहिता से कोई विशेष संबन्ध नहीं दृष्टिगोचर होता। वर्ण्यविषय अस्तव्यस्त है और अधिकांशतः दूसरी रचनाओं से उद्धृत हैं। पूर्वार्द्ध में दार्शनिक सृष्टि की उत्पत्ति विषयक विवेचन हैं और यह विशेषतः आख्यानों से परिपूर्ण है, जिनमें से अनेक उसी रूप में शतपथ-ब्राह्मण ११,१२ में आते हैं और इसलिए संभवतः शतपथ से ही नकल किये गये हैं। उत्तरार्द्ध में श्रौतयज्ञों से संबद्ध अनेक विषयों पर संक्षेप में विचार किया गया है जो विशेषतः ऐत० ब्रा० से लिया गया प्रतीत होता है। १.२८ में दोषपति या दुर्गुणों के स्वामी (!?) की कल्पना बड़ी उल्लेखनीय है, जो द्वापर (-युग) के आरम्भ

सर्वप्रथम मैं शौनकीय 'चतुरध्यायिका'[1] पर विचार करूँगा, जो अथर्वसंहिता का एक प्रकार का प्रातिशाख्य है और चार अध्यायों में है। यह संभवतः 'ऋक् प्रातिशाख्य' के रचयिता तक पहुँचती है जिसका नाम शुक्लयजुस् के प्रातिशाख्य में भी आया है। 'चरणव्यूह' में शौनक शाखा का नाम अथर्वन् की शाखा के रूप में लिया गया है और इस शाखा के सदस्यों का बार-बार उल्लेख उपनिषदों में भी हुआ है। यत्र-तत्र इस प्रातिशाख्य का स्वरूप अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा अधिक व्याकरणीय है। शाकटायन तथा अन्य वैयाकरणों का भी उल्लेख किया गया है। बर्लीन पाण्डुलिपि में—जो अबतक ज्ञात एकमेव प्रति है—प्रत्येक सूत्र के बाद उसकी व्याख्या आती है।[2]

अथर्वसंहिता की एक अनुक्रमणी भी उपलब्ध होती है। यह अधिकांशतः रचयिताओं के रूप में देवताओं का ही निर्देश करती है; केवल कहीं-कहीं ही ऋषियों का नाम लेती है।

'कौशिकसूत्र' अथर्ववेद का एकमात्र कल्पसूत्र है, यद्यपि उद्धरणों द्वारा मुझे एक आथर्वण-गृह्य की भी जानकारी मिली है।[3] 'कौशिकसूत्र' में चौदह अध्याय हैं और इसमें अनेक सिद्धान्तों को बार-बार कौशिक से संबद्ध किया गया है। भूमिका में मन्त्रों और

में 'ऋषीणाम् एकदेशः' के रूप में कार्य करते हैं। यह हमें बौद्धों के 'मार' की याद दिलाता है और निश्चय ही उसी पर आधृत भी है।

[1]पाण्डुलिपियों में यह नाम 'चतुराध्यायिका' है।

[2]इस प्रातिशाख्य का भी ह्विटनी ने ज० अमे० ओ० सो० ७ (१८६२), १०.१५६ आदि (१८७२ में परिशिष्ट) में एक सुन्दर संस्करण प्रस्तुत किया है। इं० स्टू० ७९-८२ में मेरी उक्ति देखिए। ह्विटनी के अनुसार इस ग्रंथ में विद्यमान अथर्वसंहिता के, जिसका निकट से अनुकरण किया गया है, अन्तिम दो काण्डों पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया है; चूंकि पतंजलि के समय में अथर्व सं० बीस काण्डों में आ चुकी थी, अतएव शौनकीय चतुर० को इसके पहले का मानना होगा; हाँ, यदि ऐसा माना जाय कि पतंजलि का उल्लेख प्रस्तुत संहिता के विषय में नहीं अपितु पैप्पलादि शाखा की संहिता के विषय में है तो बात दूसरी है। रोथ का 'डेर् अथर्ववेद इन काश्मीर' पृ० १५ देखिए। ब्यूह्लेर ने एक नितान्त भिन्न अथर्व० प्रातिशाख्य ढूंढ़ निकाला है; बर्लिन एकेडमी का 'मोनाट्सबेर०' १८७१, पृ० ७७ देखिए।

[3]जिससे निःसन्देह इसी 'कौशिकसूत्र' से तात्पर्य है। अथर्ववेद का एक श्रौतसूत्र हाल ही में प्रकाश में आया है और इसका नाम है 'वैतानसूत्र'। देखिए हॉग का इं० स्टू० ९।१७६; ब्यूह्लेरः केट० आफ मेंन्यु० फ्राम गुज० १।१९०, और मोनाट्स्बेरिष्ट, बर्लिन एकेडमी १८७१, पृ० ७६; और रोथ के 'अथर्ववेद इन काश्मीर' पृ० २२ में कुछ विस्तृत विवेचन।

ब्राह्मणों को और इनके असमर्थ होने पर सम्प्रदाय या परम्परा को प्रमाण ठहराया गया है। पुस्तक के काय में भी बार-बार ब्राह्मण का उद्धरण ('इति ब्राह्मणम्' द्वारा) दिया गया है; इससे 'गोपथ-ब्राह्मण' की ओर निर्देश किया गया है या नहीं, यह कहने में मैं असमर्थ हूँ। इस सूत्र की शैली अन्य सूत्रों से कम सूक्ष्म और अधिक वर्णनात्मक है। तीसरे अध्याय में निर्ऋति (दुर्भाग्य की देवी) के लिये यज्ञ का विधान है; चौथे में भैषज्य या रोग को दूर करनेवाली ओषधियाँ, छठें और उसके आगे के अध्यायों में अभिचार और जादू के मन्त्र हैं। दसवें में विवाह का और ग्यारहवें में पितृयज्ञ का वर्णन आता है। तेरहवाँ और चौदहवाँ अनेक अशुभ घटनाओं और उत्पातों के लिये विहित प्रायश्चित्त कर्मों का वर्णन करते हैं (जैसा कि सामवेद के 'अद्भुतब्राह्मण' में हुआ है)।[1]

इस सूत्र से पाँच कल्पसूत्र संबद्ध हैं:—'नक्षत्रकल्प', जो पच्चीस कण्डिकाओं में चान्द्र-नक्षत्रों के विषय में ज्योतिष का एक ग्रन्थ है; 'शान्तिकल्प' जो पच्चीस कण्डिकाओं में है और ग्रहों की शान्ति का वर्णन करता है, इसमें ग्रहों के प्रति प्रार्थनाएँ[2] भी हैं; 'वितान-कल्प', 'संहिताकल्प' और 'अभिचार-कल्प'। 'विष्णुपुराण' और 'चरणव्यूह', जिसका अभी विवेचन किया जायगा, 'अभिचारकल्प' के स्थान पर 'आङ्गिरस-कल्प' का नामोल्लेख करते हैं। इसके अतिरिक्त चौहत्तर छोटे परिशिष्ट[3] भी इससे संबद्ध हैं, जिनमें अधिकांशतः श्लोकों में और पुराणों के समान संवाद के रूप में हैं। इनके वर्ण्यविषय हैं सभी प्रकार के गृह्यकर्म। ज्योतिष,[4] जादू, शकुनों और उत्पातों से संबद्ध सिद्धान्त का सर्वाधिक वर्णन किया गया है। इसके कुछ खण्ड प्रायः शब्दशः ज्योतिष की संहिताओं में आये हुए समरूप अंशों मिलते-जुलते हैं। इन परिशिष्टों में एक 'चरणव्यूह' भी है जो अथर्व-

---

[1]इन दोनों काण्डों का प्रकाशन अनुवाद और टिप्पणियों के साथ मैंने अपने लेख 'त्स्वाई वेदिश्श टेक्स्ट उइबेर ओमिना उण्ड पोर्टेण्टा' (१८५९) में किया है; विवाह संस्कार से संबद्ध अंश को हास ने अपने लेख 'इउबेर डी हाइराटर-ग्रेबाउश डेर् अल्टेन इन्देर' इं० स्टू० ५।३७८।

[2]दोनों ग्रंथों के वर्ण्य विषय का विवरण मैंने नक्षत्रों पर अपने दूसरे लेख पृ० ३९०-३९३ (१८६२) में दिया है; हॉग ने इ० स्टू० ९।१७४ में एक 'आरण्यक-ज्योतिष' का उल्लेख किया है जो 'नक्षत्र-कल्प' से भिन्न है।

[3]हाग ने (वही) ७२ बताया है; उनमें एक निघण्टु भी मिलता है जो बर्लिन मैन्यु-स्क्रिप्ट्स में नहीं है। शुक्ल यजुस् की निगम-परिशिष्ट से तुलना कीजिए। इस प्रकार के ग्रंथों के उद्धरण महाभाष्य में भी आये हैं; इं० स्टू० १३।४६३ देखिए।

[4]इस विषय से संबद्ध एक परिशिष्ट का प्रकाशन मैंने इं० स्टू० १०.३१७ में किया है। उनमें नक्षत्रों के विषय में जो उक्तियाँ हैं उनसे ग्रीक प्रभाव के पहले पड़ चुके होने का संकेत मिलता है; तुलना वही पृ० ३१९, ८।४१३;

संहिता के ऋचाओं की संख्या २००० बताता है। किन्तु 'कौशिकोक्तानि परिशिष्टानि' की संख्या केवल ७० बताता है। जिन आचार्यों का उल्लेख किया गया है उनमें निम्न-लिखित मुख्य हैं: पहले बृहस्पति अथर्वन्, स्वयं भगवन्त अथर्वन्, भृगु, भार्गव, अङ्गिरस, आङ्गिरस, काव्य (या कवि) उशनस्; तब शौनक, नारद, गौतम, कांकायन, कर्मघ, पिप्पलाद, माहकि, गर्ग, गार्ग्य, वृद्धगर्ग, आत्रेय, पद्मयोनि, क्रोष्टुकि। इनमें से अनेक नाम हम ज्योतिष-साहित्य में भी पाते हैं।

अब मैं अथर्वन् साहित्य के सर्वाधिक विशिष्ट अंग उपनिषद् पर आता हूँ। अन्य वेदों के उपनिषद् तो उन वेदों के बाद के या सबसे बाद के अंश हैं; उनका विस्तार कम से कम एक निश्चित सीमा के भीतर होता है, जिसका वे कभी उल्लंघन नहीं करते हैं; कहने का तात्पर्य यह है कि वे किसी साम्प्रदायिक उद्देश्य को सिद्ध न करके परमात्मा के स्वरूप-विवेचन के क्षेत्र में ही रहते हैं। इसके विपरीत अथर्वन् उपनिषद् पुराणों के समय तक चले आते हैं और अपनी अन्तिम अवस्था में साम्प्रदायिक उद्देश्य को सिद्ध करने में लग जाते हैं। उनकी संख्या का निर्धारण अभी तक नहीं हो सका है। सामान्यतः केवल ५२ उपनिषदों को गिनाया जाता है। किन्तु चूँकि इनमें अनेक ऐसे हैं जो बिल्कुल आधुनिक समय के हैं अतएव मुझे इसका कारण नहीं दिखाई पड़ता कि हम इन बावन उपनिषदों को शेष समरूप रचनाओं से क्यों पृथक् करें, जो सामान्य सूची में नहीं हैं, फिर भी उपनिषद् या अथर्वोपनिषद् होने का दावा करती हैं। विशेषतया यह सूची अंशतः उन रचनाओं के अनुसार बदले हुए रूप में दिखाई पड़ती है, जिनमें यह आई हुई है; और पाण्डुलिपि में इन बावन उपनिषदों को शेष उपनिषदों के साथ बिना किसी भेदभाव के मिला दिया गया है। वस्तुतः उपनिषद् साहित्य के संबन्ध में हम यह विलक्षण बात पाते हैं कि यह बहुत अर्वाचीन समय तक आ जाता है और इस कारण इससे संबद्ध रचनाओं की संख्या भी काफी बड़ी है। दो वर्ष हुए 'इण्डिश्श स्टूडिएन' के दूसरे भाग में मैंने पुराने वेदों में आए हुए उपनिषदों को मिलाकर उनकी संख्या ९५ बताई थी।[1] मसुलिपटम में तेलिंगाना ब्राह्मणों के बीच वाल्टर इलियट

[1]यह संख्या गलत है। यह ९३ होनी चाहिए। मैंने आनन्दवल्ली और भृगुवल्ली को दो बार गिन लिया था, पहले एंक्वटिल द्वारा छोड़ दिये गये तेईस उपनिषदों में और दूसरी बार अन्य वेदों से उद्धृत उन नौ उपनिषदों में जो एंक्वेटिल में पाये जाते हैं। इस संख्या को ९२ कर देना पड़ेगा क्योंकि मैंने कोलब्रूक के 'अमृतबिन्दु' और एंक्वेटिल के 'अमृतनाद' को दो भिन्न उपनिषदों के रूप में गिनाया है जबकि वस्तुतः वे एक ही हैं; तब दो अन्य उपनिषदों को, जिन्हें मैंने एक मान लिया है अलग-अलग रखना होगा ये हैं कोलब्रूक का 'प्राणाग्निहोत्र' और एंक्वेटिल का 'प्रनाऊ'; दूसरा (प्रणवोपनिषद) प्राणाग्निहोत्र से भिन्न है। अन्त में हम ९६ की संख्या तक पहुँचते हैं (१) छः नये उपनिषदों को जोड़ देने पर भाल्लविउपनिषद, संवर्तोप०, दूसरा महोपनिषद, अथर्वशिरस् में आये हुए तीन उपनिषद

ने जो खोज की है उनसे, जैसा कि डॉ० रोइर ने मुझे बताया है, यह परिणाम निकला है कि इन तेलिंगाना ब्राह्मणों में १२३ उपनिषद् वस्तुतः विद्यमान हैं और यदि हम उन उपनिषदों को भी जोड़ें जो उनके पास नहीं हैं, किन्तु जो मेरी उपर्युल्लिखित सूची में हैं तो यह संख्या १४७[1] तक जा पहुँचती है। इन १२३ उपनिषदों की सूची उनमें से दो उपनिषदों 'महावाक्यमुक्तावली' और 'मुक्तिकोपनिषद्' में दी गई है और दोनों में ठीक एक समान है। ऊपर दिये गये विवरण के अनुसार इन १२३ उपनिषदों में ५२ उपनिषद[2] ऐसे हैं जिनके नाम मेरी सूची में नहीं हैं और ऐसे ही उपनिषदों में 'महावाक्य-मुक्तावली' और 'मुक्तिकोपनिषद्' भी हैं। पचास उपनिषदों का १६५६ में किया गया फारसी अनुवाद भी एंक्वेटिल डूपेरोन के लैटिन रूपान्तर में विद्यमान है।

यदि हम अब तक के ज्ञात उपनिषदों का वर्गीकरण करें तो स्वभावतः सबसे प्राचीन वे (१-१२) हैं जो केवल तीन अधिक पुराने वेदों में मिलते हैं।[3] मैं पहले कह चुका हूँ कि ये उपनिषद् कभी साम्प्रदायिक उद्देश्य लेकर नहीं चलते। इसका एक प्रतीयमान—और केवल प्रतीयमान—अपवाद 'शतरुद्रिय' है; कारण, यद्यपि इस रचना का साम्प्रदायिक उद्देश्य से उपयोग किया गया है, फिर भी मौलिक रूप में इसका अर्थ नितान्त भिन्न है,

---

(गणपति, सूर्य, देवी); (२) दो उपनिषदों रुद्रोपनिषद और आथर्वणीय-रुद्रोपनिषद् को निकाल देने पर जो संभवतः अन्य उल्लिखित उपनिषदों से अभिन्न हैं; और (३) 'महानारायणोपनिषद्' को एक उपनिषद् गिनने पर, जिसे कोलब्रूक ने दो माना है।

[1]पहले आई हुई टिप्पणी के अनुसार केवल १४५।

[2]अन्तिम से पहले वाली टिप्पणी के अनुसार केवल पचास। [डब्ल्यू० इलियट द्वारा प्रकाशित मुक्तिकोप० में उपनिषदों की सूची में, देखिए ज रा सो बेंगाल १८५१, पृ० ६०७ प्रत्यक्षतः १०८ नाम गिनाये गये हैं (और इनमें से ९८ का एक एक कर टेलर के 'केटलाग (१८६०) आफ दि ओरिएण्टल मैन्युस्क्रिप्टस आफ फोर्ट सेंट जार्ज' २।४५७-४७४ में विवेचन किया गया है)। इनके साथ अन्य नामों को भी जोड़ना चाहिए जिसे इसमें छोड़ दिया गया है। इं० स्टू० २।३२४-३२६ देखिए। मैक्स म्यूल्लेर ने त्सा० दा० मो० गे० १९।१३७-१५८ (१८६५) में जो वर्णक्रमानुसार सूची प्रकाशित की है, उसमें यह संख्या १४९ तक पहुँचती है (बर्नेल-इण्डियन एण्टिक्वेरी २।२६७ में १७० तक) उस समय से अनेक नये नामों की जानकारी हमें बर्नेल, ब्यूहलेर, कीलहोर्न, राजेन्द्र लाल मित्र, हाग (ब्रह्मन् उण्ड दी ब्रह्मनेन, पृ० २९-३१) इत्यादि द्वारा प्रकाशित की गई पाण्डुलिपियों की सूचियों से हुई है; इनमें से अनेक संभवतः परस्पर एक से हैं; कारण अनेक उपनिषदों के केवल नाम का ही हमें ज्ञान है]

[3]नामतः—ऐतरेय, कौषीतकि, वाष्कल, छान्दोग्य, शतरुद्रिय, शिक्षावल्ली, या तैत्ति० संहितोपनिषद, छागलेय (?) तदेव, शिवसंकल्प, पुरुषसूक्त, ईशा, वृहद्-आरण्यक।

जिसका बाद में किये गये दुरुपयोग से कोई संबन्ध नहीं है; मूलतः यह उपनिषद् था भी नहीं।[1] इसका एक वास्तविक अपवाद 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (१३) है, जिसे ग़लती से कृष्णयजुस् के साथ संबद्ध कर दिया गया है; केवल इसमें कृष्णयजुस् के अनेक मन्त्रों का समावेश होने के कारण ही इसे उससे जोड़ दिया गया है। यह उसी कोटि और समय का है जिस कोटि और समय का 'कैवल्योपनिषद्' है। मैत्रायण-उपनिषद् को भी कृष्णयजुस् के साथ रखना तर्कसंगत नहीं होगा। अपितु यह 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के समान योग के काल का है, फिर भी कम से कम जितने अंशों का मुझे ज्ञान है[2] उतने में साम्प्रदायिक उद्देश्य नहीं दिखाई पड़ता। (दे० पृ० ८६-८९)

इन अन्तिम दो उपनिषदों के अतिरिक्त अथर्वोपनिषदों तथा प्राचीन वेदों के उपनिषद् के बीच सन्धिकाल एक ओर तो वे उपनिषद् उपस्थित करते हैं जो अन्य तीन वेदों में से एक में पाये जाते हैं और कुछ परिवर्तित रूप में अथर्वन् पाठ में भी पाये जाते हैं और दूसरी ओर वे उपनिषद् उपस्थित करते हैं जिनका केवल अथर्वन् पाठ ही उपलब्ध है, यद्यपि यह संभव है कि वे पहले अन्य वेदों में भी रहे होंगे। दूसरे प्रकार के उपनिषदों में केवल एक उपनिषद् है काठक उपनिषद् (१५, १६)। इसके विपरीत पहले प्रकार के उपनिषदों के अनेक उदाहरण हैं (१७-२०) अर्थात् केन (सामवेद से) भृगुवल्ली, आनन्दवल्ली और बृहन्नारायण (तैत्ति० आर० ८-९)।

अथर्वोपनिषद् की बाह्य विशेषता यह है कि अधिकांशतः उनकी रचना श्लोकों में हुई है। इन उपनिषदों को तीन पृथक् वर्गों में बांटा जा सकता है, जो आरम्भ में पूर्वकालीन उपनिषदों का एक समान घनिष्ठता के साथ अनुसरण करते हैं। प्रथम वर्ग के उपनिषद् प्रत्यक्षतः आत्मा या परमात्मा के स्वरूप के विवेचन में रत हैं; दूसरे वर्ग के उपनिषद् योग और समाधि का वर्णन करते हैं और इस संसार में रहते हुए भी मनुष्य जिन साधनों द्वारा और जिस अवस्था में पहुँचकर आत्मा से सायुज्य प्राप्त कर सकता है उनका विवेचन करते हैं। अन्ततः, तीसरे वर्ग के उपनिषद् आत्मा के स्थान पर शिव और विष्णु के अनेक रूपों में किसी रूप को ला बैठाते हैं। इस प्रकार इन दोनों प्रमुख देवताओं की पूजा चल पड़ी।

इन तीनों वर्गों का उचित क्रम में विवेचन करने के पूर्व मुझे उन उपनिषदों के अथर्वन् पाठ पर कुछ कह देना है, जो या तो साथ ही साथ दूसरे वेदों से भी संबद्ध है, अथवा मौलिक रूप में उनसे संबद्ध थीं।

सर्वप्रथम, **केनोपनिषद्** का अथर्वन् पाठ सामवेदीय पाठ से बहुत थोड़ा अन्तर रखता है। इस उपनिषद् को अथर्वन् साहित्य के संग्रह में क्यों सम्मिलित कर लिया गया है। इसका यही कारण यही प्रतीत होता है कि इसमें उमा हैमवती का (पहली बार) उल्लेख उसी

---

[1] इस पर इं० स्टू० २।१४-४७ देखिए।

[2] शेष अंशों में भी इस प्रकार की कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती।

अर्थ में हुआ है जिस अर्थ में उन्हें शैवमत में समझा जाता था। आनन्दवल्ली और भृगुवल्ली[1] दोनों के अथर्वन् पाठ से मैं अपरिचित हूँ। बृहन्नारायणोप०[2] के भी स्वल्प विवरण मुझे ज्ञात हैं। यह तैत्तिरीय आरण्यक के समरूप है। इनमें यह पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि अधिक प्राचीन और दुर्बोधगम्य उपनिषदों का स्थान उनके समकक्ष परवर्तीकाल के और नियन्त्रित उपनिषदों ने ले लिया है।[3] दो कठवल्लियाँ जो अधिकांशतः छन्दोबद्ध हैं केवल अथर्वन् पाठ में ही मिलती है।[4] दूसरी पहली का परिशिष्ट मात्र है, इसमें प्रायः आद्योपान्त वेदों के उद्धरण भरे हैं जो इसमें विवेचित सिद्धान्त की पुष्टि करने के विचार से दिये गये हैं। प्रथम कठवल्ली एक आख्यान पर (दे० पृ० ८२, ८३) आधृत है जो तैत्ति० ब्रा० (३.११.८) में आया हुआ है। आरुणि[5] के पुत्र नचिकेतस् मृत्यु से यह प्रश्न पूछते हैं कि मृत्यु के उपरान्त मनुष्य का अस्तित्व रहता है या नहीं। यम की बहुत आनाकानी के बाद और अनेक प्रलोभन दिखाने पर भी नचिकेतस् अपने वचन पर अड़े रहते हैं, तब अन्त में यम उन्हें आत्मा के अस्तित्व का रहस्य बताते हैं। वे कहते हैं कि जीवन और मृत्यु दो स्वाभाविक अवस्थाएँ हैं; परमात्मा के साथ तादात्म्य का ज्ञान ही परमार्थ ज्ञान है; इस ज्ञान से मनुष्य जीवन और मृत्यु से परे हो जाता है। इस प्रथम भाग का विवेचन वस्तुतः प्रभावोत्पादक है; और भाषा भी अधिकांशतः प्राचीन है। कतिपय अनुच्छेद जिनका मेल शेष अंशों से नहीं है,

---

[1]चैम्बर्स कलेक्शन में आये हुए अथर्वोपनिषदों की सूची में (देखिए मेरी सूची पृ० ९५) इनके बाद दो वल्लियाँ (३९, ४०) दी गई है और एक 'मध्यवल्ली' तथा एक 'उत्तरवल्ली' (४१, ४२) भी आई है!

[2]कोलब्रूक ने इसे दो उपनिषद गिना है।

[3]'व्य-च-सर्ज के 'स्थान पर 'विससर्ज' है; 'कन्याकुमारी' के स्थान पर 'कन्या कुमारीम्' है 'कात्यायनाय' के स्थान पर 'कात्यायन्यै' है; आदि।

[4]इं० स्टू० २।१९५ देखिए; जिसमें विविध अनुवादों एवं संस्करणों का उल्लेख है। इस बीच इस उपनिषद का नया संस्करण शांकर भाष्य का नया संस्करण भाग ८ में निकला है, जिसका सम्पादन डॉ रोइर ने किया है [बिब्लि० ई० भाग के १५ में उसका अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है]

[5]नचिकेतस् के पिता के दो और नाम भी आये हैं औद्दालकि और वाजश्रवस, ये दोनों सामान्यतः पाये जाने वाले विवरणों से विरोध प्रकट करते हैं। वाजश्रवस् उपर्युल्लिखित तैत्तिरीय-ब्राह्मण के अनुच्छेद में भी आया है; औद्दालकि नाम आया है या नहीं, मैं नहीं कह सकता]तै० ब्रा० में औद्दालकि नाम नहीं है और न यह सम्पूर्ण अनुच्छेद ही है] बेनफी ने (गेंटिगेर गेलेर्टे अनत्साइगेन', जनवरी १८५२, पृ० १२९ में) यह सुझाया है कि औद्दालकि आरुणि से 'नचिकेतस्' समझना चाहिए किन्तु इससे इन दो नामों की असंगति दूर नहीं होती। आरुणि उद्दालक हैं और औद्दालकि आरुणेय हैं।

या तो बाद के समय में बीच-बीच में जोड़े गये प्रतीत होते हैं अथवा एक पूर्ववर्ती विवेचन से लिये गये हैं जो याज्ञिक उद्देश्य के लिये प्रस्तुत किया गया है। इसमें भिन्न मतावलम्बियों का खण्डन बहुत तीव्र और कटु है। ये विवाद 'तर्क' या सन्देह का खण्डन करते हैं, जिनसे संभवतः सांख्यों और बौद्धों को इङ्गित किया गया है। वस्तुओं की अनन्तता को व्यक्त करनेवाले शब्द 'ओम्' पर विशेष रूप से बल दिया गया है; ऐसी बात पहले देखने में नहीं आती है। मूल तत्त्वों का तारतम्य भी ईश्वरवादी योग दर्शन से मिलता है, जबकि इसके अतिरिक्त यह विवेचन विशुद्ध वेदान्तीय स्वरूपवाला है।

अथर्वोपनिषदों में **मुण्डक—और प्रश्न उपनिषद्** (२१. २२) प्राचीन वेदों के उपनिषदों एवं वेदान्त दर्शन से अधिक संबद्ध है।[1] वस्तुतः बादरायण के 'वेदान्तसूत्र' में उनके उद्धरण उसी प्रकार मिलते हैं जिस प्रकार दूसरे उपनिषदों में। मुण्डकोपनिषद् अधिकांशतः छन्दोबद्ध है और सम्पूर्ण अज्ञान का मुण्डन करने अर्थात् उससे मुक्त करने के कारण इस नाम से पुकारा जाता है। यह सिद्धान्त और शैली की दृष्टि से 'कठोपनिषद्' से बहुत साम्य रखता है। सच तो यह है कि इन दोनों में अनेक अनुच्छेद एक समान ही हैं। इसके आरम्भ में इसे स्वयं ब्रह्मन् से सीधे प्राप्त हुआ ज्ञान कहा गया है। आङ्गिरस् यह ज्ञान शौनक को प्रदान करते हैं और स्वयं उन्होंने इसका उपदेश भारद्वाज सत्यवाह से प्राप्त किया था; भारद्वाज सत्यवाह ने आङ्गिर[2] से प्राप्त किया जो अथर्वन् के शिष्य थे, जिन्हें स्वयं ब्रह्मा ने यह विद्या प्रदान की थी। कुछ ही काल के उपरान्त वैदिक साहित्य अवर कोटि

---

[1]अथर्वोपनिषदों की सूची नियमतः 'मुण्डकोपनिषद्' से प्रारम्भ होती है; लघु अथर्वोपनिषदों पर, जिनका सम्पादन इस समय (१८७२ से) बिल्लि० इं० में राममय तर्करत्न कर रहे हैं, नारायणभट्ट के एक भाष्य के कथन के अनुसार नारायण भट्ट के समय में इन उपनिषदों का एक निश्चित क्रम था; क्योंकि वे उपनिषदों को व्यक्तिगत रूप में सातवाँ, आठवाँ आदि नाम से मुण्डक से प्रारम्भ कर उल्लेख करते हैं। इस क्रम को वे कभी-कभी शौनकशाखा का बताते हैं। इस विषय पर कोलेब्रूक के कथन मिस० एसे० १।९३ की तुलना कीजिए, जिनके अनुसार प्रथम पन्द्रह उपनिषद् ही शौनकीय शाखा के हैं और अन्य उपनिषद दूसरी शाखाओं के हैं। किन्तु नारायण ने भी जिनसे कोलब्रूक प्रथम अट्ठाइस उपनिषदों के क्रम के विषय में सहमत है, (इसके आगे उनकी उक्तियों में अन्तर है) ब्रह्मविन्दु सं० १८ के लिए 'शौनकग्रन्थविस्तर' को और 'आत्मोपनिषद्' के लिए 'शौनकर्वातिता' को इन दोनों उपनिषदों की संख्याओं या स्थानों के विषय में प्रमाण माना है। 'गोपालतापनी' को उन्होंने छियालीसवाँ माना है 'अथर्व-पैप्पले' और 'वासुदेवोपनिषद' को उनचासवाँ 'क्षुद्रग्रन्थगणे' माना है; देखिए राजेन्द्र लाल मित्र—नोटिसेज आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्टस १।१८ (१८७०)।

[2]आङ्गिर् नाम अन्यत्र नहीं आता है।

की विद्या के रूप में योगदर्शन के विपरीत जा ठहरता है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत चार वेद और छः वेदाङ्ग माने गये हैं जिनका एक-एक कर नामोल्लेख किया गया है। कुछ पाण्डुलिपियों में इस गणना में 'इतिहास-पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राणि' भी जोड़ दिये गये हैं; किन्तु ये स्पष्टतः बाद में जोड़े गये हैं। इस प्रकार के प्रक्षेप इस उपनिषद् के अन्य अंशों में भी पाण्डुलिपि में मिलते हैं। विभिन्न वेदाङ्गों की गणना जो यहाँ पहली बार आई है, स्वयं यह प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त है कि उस समय वेद के सम्पूर्ण विषयों को क्रमबद्ध रूप दे दिया गया था और इससे एक नये साहित्य का उदय हो चुका था, जो वैदिक युग से संबद्ध न होकर उसके बाद के युग से संबद्ध हुआ। इस रचना में त्रेता के उल्लेख से हम यह भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि योगदर्शन ने भी अपना अन्तिम रूप प्राप्त कर लिया था। इसके विपरीत, हम इसमें काली (श्यामवर्णा) और कराली (भयंकर) शब्द भी पाते हैं, जिन्हें अग्नि की सात जिह्वाओं में माना गया है, जबकि नाटककार भवभूति (आठवीं शताब्दी) के समय में उन्हें दुर्गा का नाम बताया गया है, जो शिव की पत्नी हैं। शिव अग्नि और रुद्र से विकसित देवता हैं। दुर्गा काली नाम से पशुबलि की पूजा का पात्र रही हैं। चूंकि पहले अर्थ के दूसरे अर्थ में आने के संक्रमण काल के लिये पर्याप्त समय का विस्तार आवश्यक है, अतएव मुण्डकोपनिषद् भवभूति के काल से बहुत पहले का होना चाहिए। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस कारण भी होती है कि अनेक स्थलों पर यह वेदान्तसूत्र की ओर मुड़ता है और इस प्रकार इस पर शंकर ने टीका की है। 'प्रश्नोपनिषद्' जो गद्य में है, एक अथर्व ब्राह्मण से—यथा पिप्पलाद शाखा के ब्राह्मण से—उद्धृत किया गया प्रतीत होता है।[1] इसमें छः भिन्न आचार्यों को दिया गया पिप्पलाद का उपदेश है जिनमें निम्नलिखित नाम उपनिषद् के समय के सन्दर्भ में विशेष महत्त्व के हैं: कौशल्य आश्वलायन, वैदर्भि भार्गव और कबन्धिन् कात्यायन। ग्रन्थ में कोशल जनपद के राजा हिरण्यगर्भ का भी उल्लेख किया गया है; ये निःसन्देह वे ही राजा हैं जिनकी प्रशंसा पुराणों में की गई है। मुण्डको० के समान ही इसमें भी कुछ प्रक्षिप्त शब्द मिलते हैं, जिनका प्रक्षिप्त होना इस तथ्य से प्रकट है कि शंकर ने अपने भाष्य में उन्हें नहीं दिया है। वे स्वयं अथर्वन् का और 'ओम्' शब्द की जिसे यहाँ सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है, तीन मात्राओं (अ, उ, म्) के अतिरिक्त आधी मात्रा का विवेचन करते हैं। ये स्पष्टतः ऐसे व्यक्ति द्वारा बाद में

---

[1]कम से कम ग्रन्थ के परिचयात्मक वाक्यों में इसे एक बार ऐसा ही कहा गया है; शंकर ने भी अपने भाष्य के आरम्भ में इसे 'ब्राह्मण' कहा है; कारण उनके समय में जिन-जिन उपनिषदों पर उन्होंने भाष्य लिखे हैं वे सभी 'श्रुति' और 'ब्राह्मण' नाम से प्रचलित थे। पिप्पलाद नाम संभवतः मुण्डक ३।१ के आधार पर पड़ा होगा (जो ऋक० मण्डल १.१६४ २० से उद्धृत है)? वही मन्त्र श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।६ एवं निरुक्त १४।३० में भी आया है।

जोड़ दिये गये हैं, जिसने एक अथर्वोपनिषद् में इन दोनों विषयों का उल्लेख न होना उचित नहीं समझा, क्योंकि वे अन्यथा सभी अथर्वोपनिषदों में आते हैं। मण्डूक और प्रश्न दोनों ही उपनिषदों के अनेक बार अनुवाद और संस्करण निकले हैं (देखिए इं० स्टू० १.२८० आदि, ४३९ आदि)। हाल ही में डा० रोइर ने 'बिब्लिओथेका इण्डिका' के ८वें भाग में शांकर भाष्य के साथ इसका सम्पादन किया है।[१] पिप्पलाद का नाम एक दूसरे उपनिषद् **'गर्भ उपनिषद्'** (२३) में भी पाया जाता है; इसी कारण मैं इसका विवेचन इस स्थान पर करता हूँ, अन्यथा दूसरी दृष्टियों से यह इसका उपयुक्त स्थान नहीं है। इसके वर्ण्यविषय सभी दूसरे उपनिषदों के वर्ण्य विषयों से भिन्न हैं और यह मानव शरीर, गर्भ का विकास, उसके विविध अवयवों तथा उनकी संख्या और परिमाण का वर्णन करता है। सम्पूर्ण उपनिषद् आरम्भ में आए त्रिष्टुभ् छन्दों के समूह की व्याख्या है, जिसके प्रत्येक शब्द की समीक्षा की गई है और अतिरिक्त टीकाएँ भी साथ में दी गई हैं। संगीत के आधुनिक सप्तस्वरों का उल्लेख तथा इस समय प्रयुक्त मापों (बाँटों) का उल्लेख (जो वराहमिहिर द्वारा भी उल्लिखित है) हमें अत्यन्त अर्वाचीन काल में ला देना है इसी प्रकार Caius के अर्थ में देवदत्त के प्रयोग के विषय में भी है। कुछ ऐसे अंश, जिनमें अन्य विषयों के साथ नारायण को परमेश्वर, तथा सांख्य और योग को उनका ज्ञान प्राप्त करने का साधन कहा गया है, यास्क के निरुक्ति के चौदहवें अध्याय में भी आता है, जो बाद में जोड़ा गया है। शंकर ने इस उपनिषद् पर भाष्य लिखा था या नहीं, यह अभी अनिश्चित है। इसका अनुवाद इण्डिश्श स्टू० २.६५-७१[२] में हुआ है। **'ब्रह्मोपनिषद्'** (८४) में भी पिप्पलाद का नाम आता है और इस स्थल पर उनके नाम के साथ 'भगवान् अङ्गिरा' की उपाधि भी लगी है। इस प्रकार उन्हें भगवान् अङ्गिरा से अभिन्न ठहराया गया है; और इसमें विवेचित विशिष्ट मत का उन्हें प्रमाण ठहराया गया है, जिसकी शिक्षा वे ठीक मुण्डको० में आए हुए वर्णन के समान ही शौनक (महाशाल) को देते हैं। इसके अतिरिक्त इस उपनिषद्[३] तथा मुण्डक और प्रश्नोपनिषद् के बीच पर्याप्त अन्तर है। इसका संबन्ध योग उपनिषदों से अधिक है। इसमें दो खण्ड हैं; पहला गद्य में है और सबसे पहले आत्मा की महानता का वर्णन करता है; आगे अन्तिम भाग में ब्रह्मन्, विष्णु, रुद्र और अक्षर को 'निर्वाणम् ब्रह्म' का चार पाद बताया गया है। दूसरे खण्ड के प्रथम उन्नीस श्लोक योगी के यज्ञोपवीत

---

[१]रोइर का अनुवाद बिब्लि० इं० के भाग १५ (१८५३) में प्रकाशित हुआ है।

[२]नारायण के भाष्य के साथ बिब्लि० इं० (१८७२) में संपादित; उनकी भूमिका में इसे 'पंचखण्डाऽष्टमात् (-मी ! पढ़ें) मण्डात् पैप्पलादाभिधा तथा' कहा गया है।

[३]नारायण के भाष्य के साथ बिब्लि० इं० १८७३ में संपादित; भूमिका में इसे 'चतुष्खण्डादशमी' कहा गया है; इस पाठ के दो खण्डों का कुछ पाण्डुलिपियों में क्रम परिवर्तित किया गया प्रतीत होता है।

धारण करने के विषय पर विचार करते हैं, क्योंकि योगी का सूत्र से घनिष्ठ संबन्ध है। यह सम्पूर्ण विवेचन शाब्दी क्रीडा का रूप धारण कर लेता है। अन्तिम आठ श्लोक 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' 'मुण्डकोपनिषद्' और उनके समान दूसरे उपनिषदों से लिये गये हैं और अद्वैत की महत्ता का वर्णन करते हैं। **'माण्डूक्योपनिषद्'** (२५-२८) में चार उपनिषद् माने जाते हैं, परन्तु इनमें से केवल प्रथम का गद्यभाग जो 'ओम्' की साढ़े तीन मात्रा का विवेचन करता है वास्तविक 'माण्डूक्योपनिषद्' समझा जाना चाहिए; शेष अंश गौडपाद[1] की रचना है, जिनके शिष्य गोविन्दशंकर के गुरु थे। इस कारण इसका समय सातवीं शताब्दी के लगभग है। इसी प्रकार स्वयं शंकर की दो रचनायें हैं, जिन्हें उपनिषद् के अन्तर्गत माना जाता है, वे हैं **'आप्तवज्रशुचि'** (२९) जो गद्य में है और **त्रिपुरी** (३०) जो गद्य में ही हैं; दोनों की रचना वेदान्त मत का प्रतिपादन करने के लिये की गई है। इसमें प्रथम उपनिषद् आरम्भ में इस बात का वर्णन करता है कि कौन सी वस्तुएँ एक ब्राह्मण को ब्राह्मण बनाती हैं; वे वस्तुएँ जाति, वर्ण, पाण्डित्य नहीं हैं, अपितु 'ब्रह्मविद्' (ब्रह्मन् का ज्ञाता) ही ब्राह्मण है।[2] इसके उपरान्त इसमें मोक्ष की विभिन्न परिभाषाओं पर विचार किया गया है। इन परिभाषाओं में उस परिभाषा को शुद्ध बताया गया है जिसके अनुसार जीव और परमेश्वर के ऐक्यज्ञान को मोक्ष कहा गया है। अन्ततः स्पष्ट रूप से सभी मतों का खण्डन करते हुए यह दो नितान्त महत्त्वपूर्ण शब्दों 'तत्' (ब्रह्म) और 'त्वम्' (विषयी) का विवेचन करता है। त्रिपुरी आत्मा और विश्व के संबन्ध पर विचार करता है और शंकर रचित सात लघु वेदान्त-रचनाओं में चौथे प्रकरण के रूप में आता है।[3] गद्य में लिखित **'सर्वोपनिषत्सारोपनिषद्'** (३१) इन मतों की एक प्रश्नोत्तरी मानी जा सकती है; इसका उद्देश्य आरम्भ में भूमिका के रूप में दिये गये अनेक प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत

---

[1] इस कारण इस पर शंकर ने 'आगम-शास्त्र' नाम से भाष्य लिखा है। विवरण के लिए इं० स्टू० २।१००-१०९ देखिए [रोइर ने सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषद् को शांकर भाष्य के साथ बिब्लि० इं० भाग ८ में प्रकाशित किया है; प्रथम काण्ड का अनुवाद भी भाग १५ में निकला है]

[2] इस अंश को प्रायः शब्दशः एक बौद्ध (अश्वघोष) ने वर्णव्यवस्था का खण्डन करने के लिए इसी नाम के ग्रंथ में उपयोग किया है, जिसे गिल्डमाइस्टेर ने बिब्लि० इं० आमुख ६ टिप्पणी में दिया है; बरनाऊफ का 'इण्ट्रो० एला हिस्ट डू बुद्ध इण्ड० पृ० २१५ भी देखिए इसका मूल तथा अनुवाद मेरे लेख 'डी वज्रसूची डेस अश्वघोष' (१८६०) में देखिए। हाग ने (ब्रह्मन उण्ड डी ब्राह्मनेन पृ० २९) इस उपनिषद को 'सामवेदोक्त' कहा है।]

[3] बर्लिन मैन्युस्क्रिप्ट्स का मेरा केटलाग देखिए, पृ० १८०। राजेन्द्र लाल मित्र ने एक दूसरे ग्रन्थ को 'श्रीमच्छंकराचार्यविरचिता त्रिपुर्युपनिषद्' नाम से उद्धृत किया है (नोटिसेज आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स १।१०,११)।

करना है।[1] **'निरालम्बोपनिषद्'** (३२)[2] के विषय में भी यही बात है, जो स्पष्ट रूप से योगदर्शन के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। **'आत्मोपनिषद्'** (३३) गद्य में है; इसमें शरीर, आत्मा तथा परमात्मा[3] इन तीन तत्त्वों (पुरुषों) के विषय में अङ्गिरस द्वारा किया गया एक विवेचन है। **'प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्'** (३४) जो गद्य में है, शरीर के अवयवों एवं क्रियाओं का यज्ञ के अवयवों एवं क्रियाओं से संबन्ध प्रदर्शित करता है और इस प्रकार इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यज्ञकर्म व्यर्थ है। अन्त में इस उपनिषद् का अध्ययन करने वालों के लिये वही फल बताया गया है जो वाराणसी में मरनेवाले व्यक्ति को मिलता है अर्थात् पुनर्जन्म से मुक्ति।[4] **'आर्षिकोपनिषद्'** (३५) में आत्मा के स्वरूप के विषय पर विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम तथा वसिष्ठ का परिसंवाद दिया गया है, जिनमें वसिष्ठ, क' हक (एंक्वेटिल की दूसरी पाण्डुलिपि में कप्ल=कपिल ?) के मत का प्रमाण देते हैं और अन्य सभी आचार्य उनसे सहमत हो जाते हैं।[5]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, द्वितीय वर्ग के अथर्वोपनिषदों में वे उपनिषद् आते हैं जिनके विषय हैं योग या आत्मा में विलयन, इसकी अवस्थाएँ तथा उनकी प्राप्ति के बाह्य साधन। योग-प्राप्ति के बाह्य साधनों में मुख्य हैं सांसारिक संबन्धों का त्याग और 'ओम्' शब्द का जप, जो नितान्त महत्वपूर्ण है और इस कारण स्वयं गहन अध्ययन का विषय है। इस वर्ग के उपनिषदों में प्रायः याज्ञवल्क्य का नाम इनमें विवेचित मतों के प्रवर्त्तक आचार्य के रूप में आया है, और निश्चय ही ऐसा प्रतीत होता है कि हमें उन्हें साधुओं के भिक्षाचरण की प्रथा या परिव्राजक जीवन को बढ़ावा देने वाला मानना चाहिए; इन जीवनवृत्तियों का योग दर्शन से घनिष्ठ संबन्ध है। इस प्रकार **'तारकोपनिषद्'** (३६) में वे भारद्वाज को 'ओम्' शब्द की रक्षाकारिणी तथा पाप-विनाशिनी शक्ति के विषय में

---

[1]देखिए इं० स्टू० १.३०१; नारायण के भाष्य के साथ बिब्लि० इण्डिका १८७४; में सम्पादित; भूमिका में इसे "तैत्तिरीयके। सर्वोपनिषदां सारः सप्तत्रिंशे चतुर्दशे (!?) कहा गया है।

[2]देखिए राजेन्द्र लाल मित्र २।९५; टेलर—केटलाग आफ ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स आफ द कालेज फोर्ट सेंट जार्ज, २।४६२।

[3]इसका अनुवाद इं० स्टू० २।५६, ५७ में किया गया है [मूल और नारायण का भाष्य बिब्लि० इं० में १८७३ में प्रकाशित हुआ है; भूमिका में इसे "खण्डत्रयान्विता। अष्टाविंशी ग्रन्थसंघे शाखा शौनकवर्त्तिता:" कहा गया है]

[4]मूल तथा नारायण भाष्य का प्रकाशन बिब्लि० इं० १८७३ में; भूमिका में 'एकादशी शौनकीये' रूप में वर्णित; देखिए टेलर २।४७२; राजेन्द्र लाल मित्र १।४९, बर्नल कैटलाग, पृ० ६३।

[5]इं० स्टू० ९।४८-५२ देखिए। उपनिषद् का नाम अभी निश्चित नहीं है।

उपदेश देते हैं; इसी प्रकार शाकल्योपनिषद् (३७)[1] में शाकल्य[2] को वास्तविक मोक्ष की शिक्षा देते हैं।[3] जिस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करते हैं वह है 'जाबालोपनिषद्' (३८) जो गद्य में है और जिसके साथ शुक्लयजुस् की एक शाखा का नाम जुड़ा है, यद्यपि ऐसा संबन्ध गलत है, क्योंकि किसी भी प्रकार इसे वेद के आरण्यक की अनुकृतिमात्र मानना होगा (इं० स्टू० २.७२-७७)। फिर भी इसकी रचना बादरायण-सूत्र के पूर्व हुई होगी,[4] क्योंकि इसके अनेक अंश (यदि उन्हें समान स्रोत से उद्धृत न माना जाय तो ?) बादरायण-सूत्र से लिये गये हैं। परमहंस या धर्मकार्य के रूप में भिक्षाचरण करने वाले साधुओं की जीवनदशा के संबन्ध में इन उपनिषदों के अतिरिक्त विशेष महत्त्व का उपनिषद् है 'कठश्रुति' (३९); कोलब्रूक ने इसका गलत नाम कण्ठश्रुति दिया है)। यह गद्य में है और इसी प्रकार 'आरुणिकोपनिषद्' (४०) भी गद्य में है।[5] इन दोनों उपनिषदों को कृष्णयजुस् के आरण्यक का परिशिष्ट मानना चाहिए जिस प्रकार 'जाबालोपनिषद्' शुक्लयजुस् के आरण्यक का परिशिष्ट है। यदि 'भाल्लवि-उपनिषद्' (४१) पर उसके उद्धरणों की दृष्टि से विचार किया जाय तो वह भी इसी वर्ग का उपनिषद् ठहरता है और यही बात 'संवर्तश्रुति' (४२) के विषय में भी है; इसी प्रकार 'संन्यासोपनिषद्'

---

[1]इं० स्टू० ९।४६-४८ देखिए।

[2]एंक्वेटिल में आये हुए पाठ-भेदों की तुलना करने पर यह नाम सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

[3]इं० स्टू० २।१७० देखिए।

[4]इसमें बनारस के लिए वाराणसी नाम प्रचलित होने का निर्देश मिलता है [नारायण के भाष्य के साथ जाबालोपनिषद् बिब्लि० इण्डि० १८७४ में प्रकाशित हुआ है; भूमिका में इसे 'याजुषी' और 'एकचत्वारिंशत्तमी' कहा गया है (दूसरा नाम 'कैवल्योपनिषद्' के लिये भी आया है।); देखिए बर्नेल पृ० ६१, टेलर २।४७४; राजेन्द्र लाल मित्र १।९२ (शंकरानन्द का भाष्य)। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे उपनिषद् हैं जिनमें 'जाबाल' नाम आता है, जैसे—बृहज्जाबाल, महाजाबाल, लघुजाबाल, भस्म०, रुद्र०, रुद्राक्ष०]।

[5]इं० स्टू० २।१७६-१८१ में अनूदित मूल तथा नारायण का भाष्य बिब्लि० इं० १८७२ में प्रकाशित; भूमिका में इसे 'पंचविंशो' कहा गया है; इस पर शंकरानन्द का भाष्य भी है; देखिए राजेन्द्र लाल मित्र १।९२, कठश्रुति का भी सम्पादन बिब्लि० इं० (१८७३) में नारायण के भाष्य के साथ हुआ है; यद्यपि यह कण्ठश्रुति नाम से सम्पादित है फिर भी भूमिका में नारायण के इन शब्दों से यह स्पष्ट है : 'यजुर्वेदे तु चरका द्वादशैषां कण्ठाश्रयः (!)। संन्यासोपनिषत्तुल्या चतुःखण्डा कृता (!) श्रुतिः॥ इस प्रकार का लेखन यहाँ और बर्नेल के कैटलाग पृ० ६० में अशुद्ध है; स्वयं नारायण ने इस उपनिषद् का संबन्ध कठों से जोड़ा; देखिए ब्यूहलेर; केटलाग आफ मैन्यु० फ्राम गुजरात १।५८]।

(४३) तथा 'परमहंसोपनिषद् (४४) दोनों गद्य में हैं।[1] 'हंसोपनिषद्' (४५) अभी मुझे नहीं मिला है; किन्तु इसके नाम से पता चलता है कि संभवतः यह भी इसी वर्ग का है।[2] 'आश्रमोपनिषद्' (४६) गद्य में है और हिन्दुओं के चार आश्रमों–ब्रह्मचारिन्, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक का वर्णन करता है। इसका उद्धरण शंकर ने भी दिया है, ़ा में वभिन्न वर्गों के लिये जो शब्द आये हैं वे अब अप्रचलित हो गये हैं। 'श्रीमद्दत्तोपनिषद् (४७) में बारह श्लोक हैं, जो एक संन्यासी के वचन हैं और इन सबके अन्त में यह पंक्ति आती है 'तस्याऽहं पंचमाश्रमम्' मैं उस अर्थात् ब्राह्मण का पाँचवाँ आश्रम हूँ।" पूर्वोल्लिखित दो उपनिषदों माण्डूक्य और तारक के अतिरिक्त पवित्र शब्द 'ओम्' का विवेचन मुख्य रूप से 'अथर्वशिखा' (४८) में हुआ है, जो गद्य में है (शांकर भाष्य से युक्त है) इसमें इस विषय पर अथर्वन् ने पिप्पलाद, सनत्कुमार और अंगिरस् को[3] उपदेश दिया है।[4] 'ब्रह्मविद्या' (४०) में तेरह श्लोक हैं, जिन्हें यत्र-तत्र शंकर ने उद्धृत किये हैं और अन्ततः 'शौनक' (५०) तथा 'प्रणव' (५१) उपनिषदों में इस विषय का उपदेश दिया गया है।[5] ये दो उपनिषद् केवल एंक्वेटिल में ही उपलब्ध होते हैं। आत्मा में क्रमिक योग की विविध अवस्थाएँ निम्नलिखित (५२-५९) उपनिषदों का वर्ण्य-विषय हैं: 'हंसनाद' (गद्य में); क्षुरिका (२४ श्लोकों में); नादबिन्दु (२० श्लोक) ब्रह्मबिन्दु (२२ श्लोक, इसे अमृत-

---

[1] 'परमहंसोपनिषद्' का अनुवाद इं० स्टू० २।१७३-१७६ में हुआ है [नारायण के भाष्य के साथ मूल का प्रकाशन बिब्लि० इं० १८७४ में हुआ है भूमिका में इसे 'त्रिखण्डा अथर्वशिखरे चत्त्वारिंशत्तमी' कहा गया है—'संन्यासोपनिषद्' भी 'बिब्लि० इं० १८७२ में प्रकाशित हुआ है; उसमें अथर्व संहिता (१८) के चार अनुवाकों का प्रत्यक्षतः निर्देश है; अतएव संपादक ने भाष्य में उनके पाठ को उद्धृत किया है और उसे भी दो पाण्डुलिपियों के अनुसार (१३१-१७५) दो रूपों में दिया है; देखिए राजेन्द्र लाल मित्र १।५४, टेलर २।४६९]।

[2] इसके मूल और नारायण के भाष्य का प्रकाशन बिब्लि० इं० १८७४ में हुआ है; भूमिका में इसे 'अष्टत्रिंशत्तमी। आथर्वणे,' कहा गया है; राजेन्द्र० १।९० ने शंकरानन्द के एक भाष्य का उल्लेख किया है; देखिए बर्नेल पृ० ६५।

[3] इं० स्टू० २।५५ देखिए। इसमें पिप्पलाद और अङ्गिरस् साथ-साथ आते हैं, (ऊपर पृ० १६० देखिए) मूल तथा नारायण का भाष्य बिब्लि० इं० १८७३ में प्रकाशित भूमिका के अनुसार 'सप्तमी मुण्डात्'।

[4] इं० स्टू० २।५८ में अनूदित। [मूल तथा नारायण का भाष्य बिब्लि० इं० १८७३ में प्रकाशित]।

[5] इं० स्टू० ९।५२-५३ और ४९-५२ देखिए; 'प्रश्नोपनिषद्' का उल्लेख टेलर ने किया है। २।३२८।

विन्दु भी कहते हैं); अमृतविन्दु (३८ श्लोक, 'अमृतनाद' भी कहते हैं); ध्यानविन्दु (२३ श्लोक) योगशिख (१० श्लोक) और योगतत्व (१५ श्लोक)। स्वयं आत्मा के माहात्म्य का चित्रण 'चूलिका' (६०, २१ श्लोक) और 'तेजोविन्दु' (६१, १४ श्लोक)[1] में किया गया है। इनमें प्रथम में अथर्वन् मतों का सीधा निर्देश किया गया है। जिन उपनिषदों का अभी तक उल्लेख किया गया है उन सवमें विचारों का क्षेत्र और शैली एक समान ही है। अन्तिम वर्ग के उपनिषद् में अनेक गूढ़ अंश हैं; इसका कारण यह है कि इसमें स्पष्ट व्याकरणीय असंगतियाँ मिलती हैं और अंशतः यह भी कारण है कि रचना प्रायः खण्डित है और उसमें एकता का अभाव है। अनेक श्लोक उनमें से कई उपनिषदों में आते हैं और अनेक 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' या 'मैत्रायणोपनिषद्' से उद्धृत किये गये हैं। जाति और लेखन (ग्रन्थ) के प्रति घृणा की भावना एक ऐसी विशेषता है जो प्रायः इन सभी उपनिषदों में वार-वार पायी जाती है, और यदि वे बौद्ध मतों से बिल्कुल मुक्त न होते तो कोई भी व्यक्ति उन्हें सीधा बौद्ध धर्म का मान सकता था। इस साम्य का कारण यही हो सकता है कि स्वयं बौद्ध धर्म को मूलतः सांख्य दर्शन का एक रूप मानना चाहिए।

साम्प्रदायिक उपनिषदों को तीसरे वर्ग का उपनिषद् माना गया है। वे आत्मा के स्थान पर विष्णु या शिव के किसी रूप की प्रतिष्ठा करते हैं। इनमें जो पूर्ववर्ती काल के हैं वे योगदर्शन का अनुसरण करते हैं, जबकि अर्वाचीन काल के उपनिषदों में विशिष्ट देवताओं का वैयक्तिक तत्त्व अधिकाधिक महत्व का स्थान प्राप्त करता है। इस वर्ग के उपनिषदों की एक अनोखी विशेषता यह है कि ग्रन्थ के आरम्भ में उस व्यक्ति को असीमित पुण्यफल का अधिकारी बताया गया है जो इसका अध्ययन करता है। इसी प्रकार विशिष्ट देवताओं के नाम वाले पवित्र मन्त्रों का उद्धरण किया गया है और उनके माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

सर्वप्रथम, जहाँ तक विष्णुमत के उपनिषदों का प्रश्न है, विष्णु के जिस प्राचीनतम

---

[1]हंसनाद के लिए इं० स्टू० १।३८५-३८७ देखिए; 'क्षुरिका' का अनुवाद हो चुका है; वही २।१७१-१७३; इसी प्रकार 'अमृतविन्दु' का २।५९-६२ में, तेजोविन्दु का २।६२-६४ में 'ध्यानविन्दु' का २।१-५ में; योगशिखा [ऐसा ही पढ़ना चाहिए] और 'योगतत्व का २।४७-५० में, अमृतनाद का ९।२३-२८ में, चूलिका का ९।१०-२१ में अनुवाद हो चुका है। इन सभी उपनिषदों का बिब्ल० इं० (१८७२-७३) में नारायण के भाष्य के साथ हो चुका है; 'हंसनादोपनिषद्' का नहीं हुआ है, जो उसी में प्रकाशित 'हंसोपनिषद्' ही प्रतीत होता है। भाष्य की भूमिका में 'चलिका' को 'पंचमी' कहा गया है; 'ब्रह्मविन्दु' को 'अष्टादशी शौनकग्रन्थविस्तरे' कहा गया है; 'ध्यानबिन्दु' को विंशा (विंशी!) कहा गया है; 'तेजोविन्दु' को 'एकविंशम्'; 'योगशिखा' को 'ग्रन्थसन्दोहे (!), द्वात्रिंशतितमी (संभवतः द्वाविंश! के लिये) और योगतत्त्व को 'त्रयोविंशा' ('शी') कहा गया है।

रूप की पूजा की गई है वह है उनका नारायण रूप। हम इस नाम को सर्वप्रथम 'शतपथ ब्राह्मण' के उत्तरार्द्ध में पाते हैं, जहाँ यह नाम किसी भी प्रकार विष्णु से संबद्ध नहीं है। मनु के आरम्भ तथा विष्णुपुराण के समान ही यह ब्रह्मन् (पुल्लिग) के अर्थ में आया है। तैत्तिरीय आरण्यक के 'नारायणोपनिषद्' में और 'बृहन्नारायणोपनिषद्' नाम से इसके अथर्वन् पाठ में भी यही अर्थ है, यद्यपि बृहन्नारा० में उन्हें हरि कहा गया है और एक अंश में उनका सीधा संबन्ध वासुदेव और विष्णु से जोड़ा गया है। 'महाउपनिषद्' (६२) नाम की गद्यबद्ध रचना में,[1] जिसके प्रथम भाग में नारायण से विश्व की उत्पत्ति का वर्णन है, और दूसरे भाग में 'नारायणोपनिषद्' का संक्षेप दिया गया है, नारायण पहली बार स्पष्टतः विष्णु के प्रतिनिधि रूप में प्रस्तुत किये गये हैं; क्योंकि शूलपाणि (शिव) और ब्रह्मन् उनसे उत्पन्न बताए गये हैं और विष्णु का नाम नहीं लिया गया है। इसके विपरीत 'नारायणोपनिषद्' (६४, गद्यमय) में[2] उनसे विष्णु ठीक उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार 'महाभारत' के बारहवें पर्व में[3] (दूसरी दृष्टियों से भी सांख्य और योगदर्शन के संबन्ध में 'महोप० का यह 'पर्व' विशेष महत्व का है) उनकी उत्पत्ति का वर्णन है। यहाँ जिस मन्त्र की शिक्षा दी गई है वह है 'ॐ नमो नारायणाय। इस उपनिषद् का एक दूसरा और संभवतः परवर्ती काल का भी पाठ है जो आगे वर्णित होने वाले अथर्वशिरस् का अंग है और जिसमें देवकीपुत्र मधुसूदन को विशेष रूप से 'ब्रह्मण्य' अर्थात् पवित्र कहा गया है; यही बात 'आत्मप्रबोध उपनिषद्' (६५) के विषय में भी है जो नारायण की परमात्मा[4] के रूप में स्तुति करता है (इं० स्टू० २।८.९)। उसी रूप में उनका (नारायण का) नाम 'गर्भोपनिषद्' में (एक ऐसे अंश में जो 'निरुक्ति' १४ में भी आया है) तथा 'शाकल्योपनिषद्' में भी लिया गया है।

विष्णु की जिस दूसरे रूप की पूजा पाई जाती है वह है उनका नृसिंह रूप। उनका सबसे प्राचीन उल्लेख जो अब तक ज्ञात है तैत्ति० आर० १०.१.८ (नारायणोप०) में नारसिंह नाम से आया है। और उसके साथ 'वज्रनख' तथा 'तीक्ष्णदंष्ट्र' विशेषण आये हैं। जिस एकमात्र उपनिषद् में उनकी पूजा की गई है वह है 'नृसिंहतापनीयोपनिषद्'

---

[1]इं० स्टू० २।५-८ में अनूदित [देखिए टेलर २।४६८, राजेन्द्र लाल मित्र १।२५] इसके अतिरिक्त एक दूसरा महाउपनि० (६३) भी रहा होगा जिसे माधव सम्प्रदाय वालों ने मनुष्य की आत्मा से भिन्न एक विश्वात्मा के सिद्धान्त के समर्थन में उद्धृत किया है।

[2]देखिए राजेन्द्र लाल मित्र १।१२, ९१ (शांकर भाष्य के साथ)।

[3]महाभारत के वर्तमान ग्रंथ के (अन्तिम ?) संकलन के समय नारायण की पूजा विशेषतः व्याप्त हो चली होगी।

[4]देखिए राजेन्द्र लाल मित्र ३।३६; टेलर २।३२८।

(गद्य में) यह अपेक्षतया अधिक विस्तृत है, और इसकी गणना छः पृथक् उपनिषदों (६६-७१) के रूप में भी होती है, कारण इसके दो भाग हैं,[1] जिनमें प्रथम भाग तीन उपनिषदों में विभक्त है। प्रथम भाग अनुष्टुभ् मन्त्र[2] पर विचार करता है जो नृसिंह का मन्त्र है 'मन्त्र-राज नारसिंह अनुष्टुभ्'। इसके साथ अत्यन्त अद्भुत चमत्कार दिखाये जाते हैं; इसमें हम परवर्तीकाल के मालामन्त्रों का तन्त्रयज्ञों के साथ प्रथम उद्भव देख सकते हैं। 'माण्डूक्योपनिषद्' का एक बृहत् अंश इसमें मिला लिया गया और 'अथर्वशिखा' की पूर्वस्थिति का संकेत किया गया है; कारण, उसके उद्धरण इसमें दिये गये हैं। दूसरे भाग का वर्ण्य-विषय अधिक दार्शनिक स्वभाव का है, किन्तु रहस्यमय वर्णनों में यह प्रथम भाग से कम नहीं है। दोनों भागों में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति का बार-बार उल्लेख किया गया है। जहाँ तक भाषा का संबन्ध है, परमात्मा के लिये 'बुद्ध' शब्द, जो (नित्य, शुद्ध, सत्य, मुक्त आदि शब्दों के साथ दूसरे भाग में आया है, विशेषतः उल्लेखनीय है। यह शब्द गौड-पाद तथा शंकर के भाष्य में भी है; यह स्पष्ट है कि मूलतः यह शब्द सांख्य दर्शन का है (देखिए ऊपर पृ० २०, ११६)।

इस उपनिषद् के भाष्य गौडपाद और शंकर ने लिखे हैं। अनेक नितान्त अर्वाचीन विषयों के साथ-साथ इसमें प्राचीन विषयों का भी समावेश है। इसका समय संभवतः ईसा की चौथी शताब्दी है, क्योंकि उस समय नृसिंह की पूजा भारत के पश्चिमी भाग में होती थी; इसके अतिरिक्त इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।[3]

'रामतापनीयोपनिषद्' (७२,७३) जिसमें राम की परमेश्वर के रूप में पूजा की गई है, नृसिंहताप० से बहुत साम्य रखता है, विशेषतः दूसरे भाग में। दूसरा भाग, जो गद्य में है, वस्तुतः 'तारकोपनिषद्', 'माण्डूक्योपनिषद्', 'जाबालोपनिषद्' और 'नृसिंहतापनीयो-पनिषद्' के अंशों के संकलन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसमें स्वभावतः आवश्यक

---

[1]चैम्बर्स कलेक्शन के उपर्युक्त उपनिषदों की सूची में एक 'मध्यतापिनी' का भी उल्लेख है [मेरा केटलाग देखिए, पृ० ९५]

[2]यह इस प्रकार है : "उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्।" मैं भयंकर, शक्तिशाली वीर विष्णु को नमस्कार करता हूँ, जो अग्नि के समान प्रज्वलित, सर्वशक्तिशाली, नृसिंहरूपधारी, भीषण, पवित्र और मृत्यु के भी मृत्यु हैं।

[3]इस उपनिषद् का मूल और अनुवाद इं० स्टू० ९।५३-१७३ में देखिये और इसके समय के विषय में विशेषतः पृ० ६२. ६३ देखिये। बिब्लि० इं० में भी इस उपनिषद् को राममय तर्करत्न (१८७०-७१) ने शंकर के भाष्य के साथ प्रकाशित किया है (इसमें सन्देह है कि इसके द्वितीय भाग का भाष्य शंकर का है या नहीं। इसके साथ ही लघु (नार-सिंह) षड्चक्रोपनिषद् भी नारायण के भाष्य मे साथ प्रकाशित हुआ है।

पाठभेद हैं। इसमें याज्ञवल्क्य राम की दैवी महत्ता का उद्‌घाटन करते हैं। एक लन्दन पाण्डुलिपि के अन्त में एक ऐसा अंश है जो भाष्यकार आनन्दवन (कुण्डिनपुर के निवासी) को अज्ञात है। इस उपनिषद् में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्प्रदायवादी तत्त्व यह है कि राम की पूजा स्वयं शिव इसलिए करते हैं कि वे मणिकर्णिका या गंगा इन दो शिवपूजा के स्थानों में मरनेवालों को पुनर्जन्म से मुक्त करें। प्रथम भाग में, जो ९५ श्लोकों में है, आरम्भ में राम का संक्षिप्त जीवनचरित है, जो अध्यात्मरामायण के आरम्भ में आने वाले वर्णन से मिलता-जुलता है (ब्रह्माण्ड-पुराण में)। मन्त्रराज की शिक्षा रहस्यमय वर्णमाला द्वारा दी गई है जो इसी उद्देश्य के लिये गढ़ी गई है।[1] यह उपनिषद् स्पष्टतः रामानुज सम्प्रदाय और संभवतः स्वयं रामानुज की रचना है।[2] इस कारण इसका प्राचीनतम समय ग्यारहवीं शताब्दी ई० होगा।

विष्णु, पुरुषोत्तम और वासुदेव नामों से विष्णु का परमात्मा के रूप में उल्लेख अनेक उपनिषदों में हुआ है। इसी प्रकार उनमें से कुछ उपनिषदों (आत्मप्रबोध और नारायण) में[3] कृष्ण देवकीपुत्र परमात्मा के साथ नहीं आते, अपितु छान्दोग्योपनिषद् के समान ही विशेष रूप से पवित्र ऋषि के रूप में आते हैं। 'गोपालतापनीयोपनिषद्' (७४, ७५) में पहली बार हम उन्हें देवता के पद पर प्रतिष्ठित पाते हैं। इस उपनिषद् का कम से कम दूसरा भाग, जो गद्य है, मुझे ज्ञात है।[4] सर्वप्रथम इसमें मथुरा और व्रज की गोपियों के विषय में विचार किया गया है, तब यह मथुरा और ब्रह्मपुर की एकता दिखाता है। निःसन्देह यह बहुत अर्वाचीन काल का है, क्योंकि भाषा या वर्ण्यविषय की दृष्टि से इसमें दूसरे उपनिषदों के साथ संबन्ध के

---

[1] नारसिंह और वाराह-मन्त्र का भी उल्लेख किया गया है।

[2] इसका मूल और अनुवाद मेरे लेख 'डी राम-तापनीयोपनिषद्' (१८६४) में देखिए; मूल तथा नारायण का भाष्य बिब्लि० इं० (१८७३) में भी प्रकाशित हुआ है; भूमिका में दोनों खण्डों को 'पंचत्रिंशत्तम' और 'षट्त्रिंश' कहा गया है। इसकी रचना का समय ऊपर जिस समय की कल्पना की गई है उससे भी बाद का है। प्रथमतः, 'स्मृत्यर्थसार' (आउफ्रेष्ट, केटलोगस पृ० २८५ ब, २८६ अ देखें) में आये हुए नृसिंह के कथनों के अनुसार रामानुज बारहवीं शताब्दी (शक १०४९ = ११२७ ई०) में हुए थे। किन्तु 'रामतापनीय' का अधिक घनिष्ठ संबन्ध रामानन्द से प्रतीत होता है, जो चौदहवीं शताब्दी के अन्त के माने जाते हैं; देखिए मेरा लेख पृ० ३८२।

[3] और विशेषतः वासुदेव ने उन रचनाओं में जिन्हें शंकर-रचित बताया जाता है।

[4] चैम्बर्स कलेक्शन की सूची में 'गोपालतापिनी'. 'मध्यतापिनी'. 'उत्तरतापिनी'. और 'बृहदुत्तरतापिनी' का भी उल्लेख है।

सूत्र नहीं मिलते।[1] 'गोपीचन्दनोपनिषद्' (७६) भी संभवत: इसी से संबद्ध है।[2] मुझे केवल इसका नाम ज्ञात है।

शैवमत के उपनिषदों में उपयोग के आधार पर 'शतरुद्रिय' शीर्षस्थ है। मैं यह पहले कह चुका हूँ कि यह दुरुपयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शिव की पूजा के अंकुर यजुस् के अंशों में भी ढूँढे जा सकते हैं।[3] नारायणीयोपनिषद् के एक अंश में महादेव के रूप में उन्हें प्रमुख स्थान दिया गया है, और यहाँ वे अपनी पत्नी के साथ दिखाई पड़ते हैं। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में भी उनके प्रति भक्ति प्रकट की गई है। अथर्वोपनिषदों में इस दृष्टि से सबसे प्राचीन है 'कैवल्योपनिषद्' (७७) जिसमें गद्य और श्लोकों का मिश्रण है। इसमें स्वयं भगवान् महादेव : आश्वलायन को अपनी गरिमा के विषय में उपदेश देते हैं; इसी प्रकार अथर्वशिरस्[4] में भी (७८) जो गद्य में है, वे अपनी महानता का स्वयं वर्णन करते हैं। 'अथर्वशिरस्' उपनिषद् की व्याख्या शंकर ने की है। इसी नाम—अथर्वशिरस्—से जो नाम स्वयं ब्रह्म को एक दूसरे प्रसंग में दिया गया है एक दूसरा उपनिषद् भी है, जो पाँच देवताओं से संबद्ध पाँच उपनिषदों का संग्रह है। ये देवता हैं: गणपति (७९),

---

[1]इस उपनिषद् का पाठ विश्वेश्वर के भाष्य के साथ बिब्लि० इं० (१८७०) में हरचन्द्र विद्याभूषण और विश्वनाथ शास्त्री ने निकाला था। स्थान-स्थान पर नारायण और जीवगोस्वामी के भाष्यों से उद्धरण दिये गये हैं। राजेन्द्र० १।१८ के अनुसार इसके प्रथम खण्ड को नारायण ने अपनी भूमिका में 'षट्चत्वारिंशती च पूर्णा चाऽथर्वपैप्पले' कहा है। द्वितीय खण्ड का विवेचन टेलर २।४७२ में देखिए।

[2]इसी प्रकार राजेन्द्रलाल १।२० (नारायण भाष्य), ६० के अनुसार यह विशेष-रूप में "गोपीचन्दन नाम की मिट्टी से ललाट पर साम्प्रदायिक तिलक लगाने के फल का वर्णन करने वाली पुस्तिका है।"

[3]जैसा कि अथर्व-संहिता और शांखायन-ब्राह्मण में (देखिए पृ० ३८, ९९)।

[4]जैसे भगवद्गीता में कृष्ण। 'कैवल्योपनिषद्' का अनुवाद इं० स्टू० २।९-१४ में हुआ है। 'अथर्वशिरस्' पर देखिए वही १, पृ० ३८२-३८५ [कैवल्योपनिषद् का मूल तथा दो भाष्य बिब्लि० इं० १८७४ में प्रकाशित हुए हैं] प्रथम भाष्य नारायण का है; दूसरे भाष्य को संपादक ने शंकर का बताया है और परिचयात्मक वाक्य में शंकरानन्द का कहा गया है ; राजेन्द्र लाल मित्र के केटलाग १।३२ से यह निकर्ष निकलता है कि यह शंकरा-नन्द के भाष्य से भिन्न है; और उन्हीं के २।२४७ अनुसार, यह विद्यारण्य के भाष्य के अनु-रूप है। नारायण की भूमिका में इस उपनिषद् को (ठीक 'जाबालोप०' के समान!) 'एकचत्वारिंशत्तमी' कहा गया है। 'शिरस्' या अथर्वशिरस्-उपनिषद् भी बिब्लि० इं० (१८७२) में नारायण के भाष्य के साथ प्रकाशित हुआ है; इस भाष्य में इसे 'रुद्राध्यायः सप्तखण्डः' कहा गया है। देखिए राजेन्द्र० १।३२ (शंकरानन्द का भाष्य), ४८]।

नारायण, रुद्र, सूर्य (८०) और देवी (८१)।[1] इसके नारायण खण्ड 'नारायणोपनिषद्' (६४)का परवर्ती काल का रूपान्तर है और रुद्रखण्ड यथार्थ 'अथर्वशिरस्' के प्रथम अध्याय के बाद आता है। इन पाँचों का अनुवाद वंस केन्नेडी (Vans Kennedy) ने किया है। महाभारत (१.२८८२) तथा विष्णुस्मृति में, जिनमें अथर्वशिरस् का उल्लेख 'भाण्डानि सामानि' के साथ किया गया है, तथा विष्णु पु० में, जहाँ शतरुद्रिय के साथ (प्रायश्चित्त के प्रधान साधन के रूप में) आया है, संभवतः उस उपनिषद् की ओर निर्देश किया गया है, जिसका भाष्य शंकर ने लिखा है। रुद्रोप० और आथर्वणीय रुद्रोप० का ज्ञान मुझे इण्डिया आफिस लायब्रेरी के केटलाग से हुआ है। संभवतः वे पूर्वोल्लिखित उपनिषदों के समरूप ही हैं, अतएव मैं उन्हें अपनी सूची में स्थान नहीं देता। 'मृत्युलाङ्घनोपनिषद् (८२)[2] बिल्कुल अर्वाचीन है, और इसके साथ 'कालाग्निरुद्रोपनिषद्' (८३) का संबन्ध समीचीन है। 'कालाग्निरुद्रोपनिषद्' गद्य में है और इसके[3] कम से कम तीन विभिन्न पाठ उपलब्ध हैं, उनमें से एक पाठ नन्दिकेश्वर-उपपुराण का है। त्रिपुरोपनिषद् (८४) का भी नाम आता है; और यह इसी वर्ग का उपनिषद् प्रतीत होता है, इसके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं।[4] इस पर भट्ट भास्कर मिश्र ने भाष्य लिखा है। 'स्कन्दोपनिषद्' (८५) भी,

---

[1]देखिए इं० स्टू० २।५३ तथा वंस केन्नेडी का 'रीसर्चेज इन टु द नेचर एण्ड एफिनिटी आफ हिन्दू एण्ड एंशियण्ट माइथोलोजी', पृ० ४४२, [टेलर २।४६९-४७१', राजेन्द्र० १।६१ ने एक 'गाणपत्यपूर्वतापनीयोपनिषद' का भी उल्लेख किया है; ब्यूहलेर ने केट० मन्यु० फ्राम गुज० १।७० में एक 'गणपतिपूर्वतापिनी' तथा 'गणेशतापिनी' का उल्लेख किया है; कीलहोर्न ने 'संस्कृते मन्यु० इन द सदर्न डिवीजन आफ द बाम्बे प्रेसि० (१८६९) पृ० १४ में एक 'गणपतिपूर्वतापनीयोपनिषद्' का उल्लेख किया है।

[2]इससे संभवतः हमें एंक्वटिल के 'अम्रत् लंकोल' का अर्थ लेना होगा, क्योंकि उसमें भी इसका दूसरा रूप 'म्रट लंकोन' मिलता है; 'हालिट्स मोर्टिस' के स्थान पर हमें 'सलिट्स मोर्टिस' पढ़ना चाहिए। इं० स्टू० ९।२१-२३ देखिए; इसके अनुसार यह सन्देहपूर्ण लगता है कि इस नाम को 'मृत्युलाङ्गूल' (?) तो नहीं लिखा जा सकता। 'मृत्युलङ्घन' नाम के एक उपनिषद् का उल्लेख ब्यूहलेर ने 'केट० आफ मन्यु० फ्राम गुज०' १।१२० में किया है; पण्डित राधाकृष्ण के पुस्तकालय की सूची में 'मृत्युलाङ्गूल' नाम का उपनिषद् ८२ वें नम्बर पर आता है। अन्ततः इस ग्रंथ को इण्डियन एण्टिक्वेरी २।२६६ में प्रकाशित करते समय बर्नेल ने 'मृत्युलाङ्गल' नाम रखा है]।

[3]इसमें 'त्रिपुण्डविधि' का विशेष वर्णन है; देखिए टेलर १.४६१, राजेन्द्र० १।५९; बर्नेल पृ० ६१।

[4]इस पर टेलर २।४७०; बर्नेल पृ० ६२ देखिए;

जो पन्द्रह श्लोकों में है, शैवमत[1] का है (इसी प्रकार 'अमृतनादोपनिषद्')। शिव की पत्नी शक्ति की पूजा, जिसकी उत्पत्ति केनोपनिषद् और नारायणीयोपनिषद् में देखी जा सकती है—'सुन्दरीतापनीयोपनिषद्' का विषय है, (जिसके नाममात्र का मुझे ज्ञान है)—यह पाँच भागों में है (८६-९०)। यही विषय 'देवीउपनिषद्' (९१) का भी है, जो गद्य में है और शाक्तमत का है।[2]

अन्त में कुछ उपनिषदों (९२-९५) का वर्णन कर देना आवश्यक है। इनका ज्ञान मुझे केवल नाम द्वारा ही है; इनके नामों से वर्ण्यविषय के संबन्ध में कोई निष्कर्ष निकालने में हम असमर्थ हैं; ये हैं: 'पिण्डोपनिषद्', 'नीलरुद्रोपनिषद्' (कोलब्रूक के अनुसार नीलरुद्र) पैङ्गलोपनिषद् और दर्शनोपनिषद्।[3] 'गरुडोपनिषद्' (९६) जिसके दो नितान्त भिन्न पाठों का मुझे ज्ञान है, सर्पों का नाश करने वाले गरुड[4] की स्तुति करता है और इसमें प्राचीन तत्त्वों की दृष्टि से रोचकता का अभाव नहीं है।

---

[1]"शिव का विष्णु के साथ तादात्म्य प्रदर्शित करता है और अद्वैत मत के दर्शन की शिक्षा देता है।" टेलर २।४६७; बर्नेल, पृ० ६५।

[2]'तेजोविन्दु' (६१) में भी 'ब्रह्मन्' को 'आणव', 'शंभव' और 'शाक्त' कहा गया है।

[3]पिण्डोप० और 'नीलरुद्रोप०'—यही इसका उचित नाम है—नारायण के भाष्य के साथ बिब्लि० इं० (१८७३) में प्रकाशित हैं; इसमें प्रथम प्रेतों को दिये जाने वाले पिण्ड का वर्णन करता है; इसे नारायण ने 'सप्तविंशतिपूरणी' कहा है; और दूसरे को 'षोडशी' कहा है; यह रुद्र के प्रति है (देखिए राजेन्द्र० १।५१)। इसमें केवल श्लोक हैं जो वाज० सं० १६ में आये हुए मन्त्रों का अनुकरण करते हैं। पैङ्गलो० तथा दर्शनोप० पर टेलर २।४६८-४७१ देखिए।

[4]जैसा कि 'नारायणीयोपनिषद्' तथा विशेष रूप से 'सुपर्णाध्याय' में किया गया है। 'सुपर्णाध्याय' को ऋक् से संबद्ध मानते हैं [इसका संपादन एलिमर ग्रब ने १८७५ में किया है] इं० स्ट० १४.१ भी देखिए—'गरुडोपनिषद्' का प्रकाशन बिब्लि० इं० (१८७४) में नारायण भाष्य के साथ हो चुका है; भूमिका में इसे 'चतुश्चत्वारिंशत्तमी' कहा गया है]।

द्वितीय युग

संस्कृत साहित्य

६. पर्यवेक्षण
७. महाकाव्य
८. नाटक
९. भाषाशास्त्र एवं अलंकार
१०. दर्शनशास्त्र
११. ज्योतिष एवं गणित
१२. चिकित्साशास्त्र एवं युद्ध-विद्या
१३. ललित कलाएँ
१४. धर्मशास्त्र
१५. बौद्ध साहित्य

६ : पर्यवेक्षण,

इस प्रकार भारतीय साहित्य के प्रथम युग के विविध विभागों का उस युग के पर्यवसान तक अनुशीलन करने के उपरान्त अब हम इसके दूसरे युग संस्कृत साहित्य पर आते हैं। समय सीमित होने के कारण हम इस युग का उस प्रकार विस्तार के साथ विवेचन न कर सकेंगे, जैसा कि हम पहले कर चुके हैं; अतएव हमें एक सामान्य पर्यवेक्षण से ही सन्तोष कर लेना होगा। वैदिक साहित्य के संबन्ध में विस्तृत विवरणों की विशेष रूप से आवश्यकता थी; कारण, इसका पूर्ण विवेचन अभी तक नहीं हुआ है और अनेक रचनाएँ अभी तक अधिकांशतः पाण्डुलिपियों के रूप में पड़ी हुई हैं। इसके विपरीत, संस्कृत साहित्य पर अनेक बार कम से कम आंशिक रूप में हाथ लगाया गया है, और इसकी प्रमुख रचनाएँ सामान्यतः उपलब्ध हैं।

स्वभावतः सर्वप्रथम हमारे समक्ष दूसरे युग को पहले युग से अलग करने की समस्या आती है। यह भेद अंशतः तो युग का है और अंशतः वर्ण्यविषय का। युग का अन्तर भाषा और प्रत्यक्ष उपलब्धियों द्वारा प्रकट होता है; दूसरे प्रकार का अन्तर वर्णित विषयों के स्वरूप और उनकी वर्णनशैली द्वारा प्रदर्शित होता है।

सबसे पहले, जहाँ तक उस भाषा का प्रश्न है, जो भारतीय साहित्य के दो युगों के कालगत विभाग का आधार प्रस्तुत करती है, दूसरे युग में इसकी अपनी विशेषताएँ यद्यपि स्वल्प हैं, फिर भी वस्तुतः इतनी महत्वपूर्ण हैं कि स्पष्ट रूप से भाषा ही इस युग को एक नया नाम प्रदान करती है, जबकि इसके पूर्ववर्ती युग का नामकरण उस युग की रचनाओं के आधार पर हुआ है।

विभिन्न इण्डो-आर्यन जातियों की विविध विभाषाओं में कालान्तर में उनके भारत में प्रवेश करने के उपरान्त अधिक ऐक्य स्थापित हो गया, जो नयी निवासभूमि में उनके पारस्परिक सम्पर्कों की वृद्धि और बृहत्तर समुदायों में संगठित होने का स्वाभाविक परिणाम था। अपरंच, व्याकरणीय[1] अध्ययन ने, जो शनैः-शनैः प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्या के

---

[1]"'व्याकृ' धातु के व्याकरण के अर्थ में प्रयोग के संबन्ध में सायण ने अपनी 'ऋग्वेद भाष्यभूमिका' में (म्यूल्लेर पृ० ३५.२२) एक ब्राह्मण से एक कथा उद्धृत की है, जिसमें इन्द्र को प्राचीनतम वैयाकरण कहा गया है। (देखिए लास्सेन, इं० अल्ट० २।४७५) [आख्यान तै० सं० ६।४।७।३ से लिया गया है। वहाँ जो कुछ कहा गया है उसका अर्थ यह है कि 'वाच' को इन्द्र ने 'व्याकृता' की। परवर्ती काल की कथाएँ,

लिए आवश्यक होता गया और इस प्रयोजन के लिए विकसित हुआ, प्रयोग के निर्धारण पर ठोस प्रभाव डाला। फलतः 'भाषा' नाम की एक सामान्यतः प्रचलित भाषा का उदय हुआ; यह वही भाषा है, जिसमें ब्राह्मणों और सूत्रों की रचना हुई है।[1] व्याकरण के अध्ययन में जितनी ही अधिक प्रगति हुई, इसके नियम एवं निर्देश उतने ही अधिक गूढ़ और संक्षिप्त तथा उन लोगों के लिए दुर्बोध होते गये जिन्होंने व्याकरणीय शुद्धता के साथ विशेष रूप से संगति नहीं बनाये रखी। व्याकरण के माध्यम से शिक्षित व्यक्तियों की भाषा में एक ओर जैसे-जैसे परिष्कार आता गया और आरम्भ में जैसे-जैसे ऐसी सभी बातों से उसका नाता टूटता गया जो नियमित नहीं थीं, वैसे-वैसे दूसरी ओर यह भाषा व्याकरणीय शिक्षा से अनभ्यस्त बहुसंख्यक जनसमुदाय की समझ के परे : होती गयी। इस प्रकार शनैः-शनै एक परिष्कृत भाषा ने जनभाषा से अपना अलग अस्तित्व बना लिया और वह उत्तरोत्तर जनता के उच्च वर्गों की विशिष्ट भाषा बनती गई।[2] दोनों के बीच की खाईं अधिकाधिक चौड़ी होती गई और जनभाषा का भी आगे विकास हुआ। यह सब मुख्यतः उन मूल निवासियों से हुआ, जिन्हें ब्राह्मणीय समाज में प्रवेश मिल गया था; और जिन्होंने वस्तुतः शनैः-शनैः अपने विजेताओं की भाषा के स्थान पर अपनी भाषा की प्रतिष्ठा की, किन्तु

जिनमें इन्द्र को प्राचीनतम वैयाकरण कहा गया है, इस अंश से अपना संबन्ध प्रकट करती हैं।]

[1]'कात्यायन-श्रौत-सूत्र' १।८।१७ में 'भाषिक-स्वर' की व्याख्या स्पष्टतः 'ब्राह्मण-स्वर' की गई है, देखिए, वाज० सं० 'स्पेसिमेन' २।१९६, १९७ [इं० स्टू० २०।४२८-४२९, ४३७]। यास्क ने अनेक बार 'भाषायाम्' और 'अन्वध्यायम्' (अर्थात् 'वेद के पाठ में' 'सूक्तों के पाठ में') का परस्पर विरोध दिखाया है; इसी प्रकार प्रातिशाख्य सूत्रों में भाषा और भाष्य को छन्दस् और वेद अर्थात् संहिता (देखिए ऊपर पृ० ४९, ९३, १३०) के विरोध में प्रयुक्त किया है। शांख्यायन के गृह्यसूत्र में जिस प्रकार 'भाष्य' शब्द का प्रयोग 'सूत्र' के विपर्यास में किया गया है उससे यह प्रकट होता है कि इसका अर्थ इस समय तक बहुत बदल चुका था और पाणिनि के प्रयोग के समान ही एकमात्र अवैदिक या गँवारू भाषा तक ही सीमित रह गया था (समान अंश में आश्वलायन गृह्य में 'भारत-महाभारतधर्म' दिया गया है) [यह गलत है; अपितु इस अंश में यह शब्द 'भाष्य' शब्द के बाद आता है; इस विषय पर पृ० ४९ को टिप्पणी देखिए] इसी प्रकार निरु० १३।९ मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और व्यावहारिकी (भाषा) एक दूसरे के विरोधी हैं (और ऋक्, यजुस्, सामन तथा व्यावहारिकी भी)।

[2]ब्राह्मण देव तथा मनुष्य दोनों की भाषा बोलते थे इस संबन्ध में निरु० १३।९ में एक ब्राह्मण से उद्धृत किये गये अंश को इस सन्दर्भ में लेना चाहिए या नहीं। अथवा यह कल्पना होमर की कल्पना से समानता मात्र प्रदर्शित करती है?

विजेताओं की भाषा को उन्होंने अनेक नये शब्द प्रदान किये, ध्वनिविषयक परिवर्तन किये और विशेषतः उच्चारण में ठोस परिमार्जन किये। अन्तिम क्रिया नितान्त अनिवार्य थी; कारण, आर्यों की भाषा के संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण करने में आदिमवासी बड़ी कठिनाई का अनुभव करते थे; और साथ ही यह कार्य अधिक सरल भी था; क्योंकि स्वयं इस भाषा में ही बोलने में होनेवाले कष्टकर एवं अनावश्यक श्रम को दूर करने की प्रवृत्ति बहुत पहले से ही प्रचलित थी—इस प्रवृत्ति के ऊपर व्याकरण के अध्ययन ने, जहाँ तक आर्यों के शिक्षित वर्ग का प्रश्न था, एक प्रतिबन्ध लगा दिया; किन्तु फिर भी यह प्रवृत्ति बनी रही और अपने स्वभाववश ही सामान्य जनता में चलती रही। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक रूप में आगे विकास आदिवासियों ने किया, क्योंकि उन्होंने उन लोगों से भाषा अर्जित नहीं की जो व्याकरण के ज्ञाता थे; अपितु साधारण जनता के साथ संबन्ध एवं सम्पर्क के माध्यम से साधारण जनता की ही भाषा उन्होंने अपनायी। इस प्रकार धीरे-धीरे नई बोलियों का उद्भव हुआ जो सीधे सामान्य भाषा[1] से निकलती थीं और व्यंजनों के एकीकरण एवं प्रत्ययों की संक्षिप्तता या लोप की विशेषताओं से युक्त थीं। प्रायः इनमें लिखित भाषा के रूपों की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूप मिलते हैं; इसका एक कारण तो यह है कि लिखित भाषा ने सभी ऐसे रूपों का कठोरता के साथ बहिष्कार कर दिया है जो किसी भी प्रकार अनियमित या अप्रचलित थे; और दूसरा कारण यह है कि व्याकरण का अध्ययन

---

[1]अतएव इन्हें आज तक इसी नाम से पुकारा जाता है; व्याकरण की दृष्टि से परिष्कृत की गई भाषा के लिए इस नाम का प्रयोग आगे चलकर समाप्त हो गया; और इसके स्थान पर 'संस्कृत भाषा' या परिष्कृत भाषा नाम पड़ा। 'प्राकृत भाषा' नाम जो जनप्रचलित बोलियों के लिए प्रयुक्त हुआ है 'प्रकृति' 'स्वभाव' या 'मूल' से हुआ है और वह संभवतः इन भाषाओं को प्राचीन भाषा का 'स्वाभाविक' या 'मौलिक' विस्तार बताता है; अथवा इसका अर्थ 'प्रकृतियुक्त' या मूलयुक्त अर्थात् 'उत्पन्न' है? ['मौलिक' 'मूल में स्थित' (प्रकृति-भूत) 'अपरिष्कृत' अर्थ से 'सामान्य' का अर्थ व्युत्पन्न हुआ तब 'साधारण' या सामूहिक अर्थ निकला और अन्त में 'सामान्य रूप से उत्पन्न' अर्थ हुआ। इसका ठीक विरोधी अर्थ 'संस्कृत' नहीं अपितु 'वैकृत' है; देखिए उदाहरण के लिए अथ० परि० ४९।१, "वर्णान् पूर्वं व्याख्यास्यामः प्राकृता ये च वैकृताः"] भाषा के अभिधान के रूप में 'संस्कृत' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग जो अभी तक ज्ञात है 'मृच्छकटी' में (स्टेंजलेर का संस्करण पृ० ४४२) तथा वराहमिहिर की बृहत्-संहिता ८५।३ में आया है। रामायण के निम्नलिखित अंशों को भी निःसन्देह इसी अर्थ में लेना चाहिए ५-१८.१९.२९.१७, ३४ (८२.३), ५.१०४.२. पाणिनि 'संस्कृत' शब्द से परिचित हैं परन्तु वे इसका प्रयोग इस अर्थ में नहीं करते; यद्यपि पाणिनीय शिक्षा में (५।१३) इसका प्रयोग प्राकृत के साथ विपर्यास दिखाते हुए किया गया है।

मुख्य रूप में भारत के उत्तर या उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में होता था और एतदर्थ वहाँ प्रचलित प्रयोग के अनुकूल ही व्याकरण का निर्माण हुआ था। कुछ दृष्टिकोणों से (जैसे अकारान्त शब्दों के तृतीया विभक्ति के बहुवचन के रूप में) इस प्रयोग ने मुख्य भारत में[1] प्रचलित रूप से अधिक विकसित रूप प्राप्त कर लिया था, क्योंकि इस प्रदेश में भाषा का स्वतन्त्र विकास किसी बाह्य प्रभाव से अवरुद्ध नहीं हुआ था। इसके विपरीत, जो आर्य भारत में[2]

---

[1]यह उदाहरण पूर्णतः संगत नहीं है क्योंकि 'ऐस्' लगाकर बने हुए तृतीया बहुवचन के रूप बहुत प्राचीन काल के हैं; ऐसे रूप न केवल जेण्ड में प्रतिबिम्बित हैं अपितु स्लावोनिक और लिथूनिअन साहित्य में भी पाये जाते हैं; देखिए बोप्प, फेर्ग्ला, ग्राम १। १५६ (१५९)।

[2]पूर्वीय और पश्चिमी भाषारूपों के व्यवहार के अन्तर का केवल एक बार शुक्ल यजुस् के ब्राह्मण में उल्लेख किया गया है; इसमें यह कहा गया है की वाहीक लोग अग्नि को 'भव' कहते हैं और प्राच्य 'शर्व' कहते हैं। यास्क (२।२) कम्बोज (पेसा-आर्य ?) का आर्यों (इण्डो-आर्य ?) से यह कहकर भेद दिखाया है कि आर्यों में केवल 'शु' धातु से व्युत्पन्न शब्द मिलते हैं जबकि कम्बोजों में 'शु' धातु एक क्रिया के रूप में भी व्यवहृत होती है। (यहाँ कम्बोज के वैयाकरणों से तात्पर्य नहीं लगाया जा सकता जैसा कि रोथ 'त्सुर लिट० प० ६७, ने सोचा है)। यास्क ने प्राच्यों और उदीच्यों का भेद दिखाया है और इसी प्रकार पाणिनि ने भी। ब्राह्मण के अनुसार, उदीच्य लोग व्याकरण के श्रेष्ठ ज्ञाता थे दे० इं० स्टू० १:१५३, २।३०९, ३१०; १३।३६३, बनल ने इस अंश में तथा अन्यत्र भी कम्बोज' को बृहत्तर भारत का कम्बोडिया माना है; उनका 'एलिमेण्ट्स आफ साउथ इण्डियन पेलिओग्राफी' पृ० ३१, ३२, ९४ देखिए; किन्तु यह स्पष्टतः भ्रम है। पालि अभिधानप्पदीपिका के (चाइल्डर्स पाली डिक्श०) के लिये उपर्युक्त तादात्म्य सही हो सकता है; किन्तु अधिक प्राचीन पालि ग्रंथ तथा पियदसि के शिलालेखों में भी, (विशेषतः कनिंघम के आर्कआलाजिकल सर्वे १।२४७, प्लेट ४१, पंक्ति ७ में खाल्सी शिलालेख की प्रतिलिपि में) कम्बोजों का यवनों के साथ उल्लेख किया गया है; और इससे यह स्वयं सिद्ध है कि ये दोनों भौगोलिक दृष्टि से उत्तर पश्चिमी भारत में एक ही क्षेत्र के थे; दे० इं० स्ट्रा० २।३२१ इसके अतिरिक्त हमें कबुजियः 'कम्बसीज' (ग्री०) नाम भी मिलता है; और इसके साथ ही इसके समूचे ईरान में फैलाव की ओर संकेत करने वाले विविध निर्देश भी प्राप्त होते हैं, दे० इं० स्ट्रा० २।४९३; बहत्तर भारत में कम्बोज नाम बहुत ही काल में प्रचलित हुआ, जिस प्रकार अयोध्या, इन्द्रप्रस्थ, इरावती, चम्पा नाम प्रचलित हुए; यद्यपि यह निश्चय ही विलक्षण लगता है कि इस नाम के साथ भी ठीक यही बात हुई। संभवतः बौद्धधर्म से संबद्ध कारणों से यह नाम व्यवहार में आया हो। इस विषय पर 'येनेअर लिटराटुरत्साइटुंग १८७५, पृ० ४१८; इंडियन एण्टिक्वेरी ४·२४४ देखिए।

आगे बढ़ आये थे उन्होंने अपनी भाषा को उसी आन्तरिक धरातल पर अवस्थित रखा जिस धरातल पर वह उनके आगमन के समय थी,[1] चाहे इसमें बाह्य परिवर्तनों का कितना भी अधिक प्रभाव क्यों न पड़ा।

इस प्रकार भारतीय साहित्य का दूसरा युग उस समय से प्रारम्भ होता है, जब शिक्षित वर्गों की भाषा या लिखित भाषा का जनप्रचलित बोली से पूर्णतः अलगाव हो चुका था। केवल शिक्षित वर्ग की लिखित भाषा में ही साहित्य का सृजन हुआ है। कालान्तर में इन विभाषाओं के भी अपने साहित्य की रचना हुई, जिसका कारण बौद्धधर्म का प्रभाव था। बौद्धधर्म ने सामान्य जनता से संबन्ध रखा और इसके धार्मिक ग्रन्थों की रचना अधिकांशतः जनप्रचलित भाषा में हुई। इस समय इस काल का निश्चित रूप से निर्धारण नहीं किया जा सकता; फिर भी हमें इस काल में जब प्रचलित जनभाषाओं का अस्तित्व निश्चित रूप से ज्ञात है, तब हम लिखित भाषा के अस्तित्व का भी अनुमान निश्चय के साथ लगा सकते हैं। इस संबन्ध में समान अर्थवाले उन शिलालेखों में हमें स्वल्प प्रमाण भी मिल जाते हैं जो गुजरात के अन्तर्गत गिरनार में, उड़ीसा के अन्तर्गत धौली में और काबुल के अन्तर्गत कपूर्दिगिरि[2] में उपलब्ध हुए हैं। जे० प्रिन्सेप ने जिन्होंने इन्हें पहली बार पढ़ा था, तथा लास्सेन ने इन्हें बौद्ध राजा अशोक के समय का बताया है, जिसका शासनकाल २५९ ई० पू० से आरम्भ होता है। किन्तु इस विषय पर अत्यन्त अर्वाचीन अन्वेषणों—'जर्नल आफ़ द रायल एशियाटिक सोसाइटी' भाग १२; १८५० (पृथक् मुद्रित प्रति का पृ० ९५)—के अनुसार वे शिलालेख "२०५ ई० पू० के बाद के किसी समय में अंकित किये गये थे।"[3] अतएव अब भी इनकी तिथि अनिश्चित है। यदि इस प्रश्न का समाधान हो भी जाय तो भी यह निश्चित रूप से निष्कर्ष निकलता है कि ये प्रचलित बोलियाँ तीसरी शताब्दी ई०

---

[1]जर्मनों के समान ही, जो मध्ययुग में ट्रान्सिल्वानिया को गये थे।

[2]इस नाम को संभवतः कपर्दिगिरि लिखना चाहिए। शत्रुञ्जय-माहात्म्य पर मेरा लेख देखिए, पृ० ११८, इन शिलालेखों में हमें एक ऐसा लेख मिलता है जो अर्थ में समान है और तीन विभिन्न विभाषाओं में है। इस विषय पर आगे देखिए बर्नाउफ के 'लोटस डि ला बोन्ने लोई' पृ० ६५२ (१८५२) में इन शिलालेखों पर सुन्दर विवेचन; इं० स्टू० ३। ४६७ आदि (१८५५); केर्न: डि गेडेकस्टुक्केन फोन अशोक डेन बुद्धिस्ट (१८७३, विशेषतः पृ० ३२ आदि, ४५ आदि)।

[3]और वह भी बहुत बाद के समय में नहीं, जैसा कि उसमें आए हुए अलेक्जेण्डर, एण्टिगोनस, मगस्, प्टोलेमी, एण्टिओकस यूनानी राजाओं के नामों के उल्लेख से प्रमाणित है। यह सत्य है कि इन्हें शिलालेखों के समकालीन नहीं माना जा सकता किन्तु भारत में उनकी प्रसिद्धि इतने दिनों तक नहीं बनी रही होगी जिससे शिलालेखों को उनके समय से बहुत बाद का माना जा सके; देखिए विल्सन, वही।

पू० में अस्तित्व में थीं। किन्तु इसे उनके विकास के आरम्भ की सीमा नहीं माना जा सकता; इसके विपरीत जिस रूप में वे हमारे सामने आती हैं उससे यह पर्याप्त स्पष्ट होता है कि प्राचीन 'भाषा' से इनके पृथक् होने के बाद काफी लम्बी अवधि बीत चुकी होगी। अतएव यह अलगाव अपेक्षतया बहुत पहले हो चुका होगा और वस्तुतः स्वयं ब्राह्मणों में भी हम यत्र-तत्र इन विभाषाओं का उल्लेख पाते हैं।[१]

भारतीय साहित्य की उत्तरकालीनता की पुष्टि करने वाले सीधे तथ्य ये हैं: प्रथम, इसकी आरम्भिक अवस्था सर्वत्र वैदिक युग के अवसान हो चुकने की सूचना देती है; दूसरे, इसके प्राचीनतम अंश, नियमतः वैदिक साहित्य पर आधृत हैं; अन्ततः, जीवन के सभी संबन्ध विकास की एक ऐसी अवस्था में पहुँच गये हैं, जिनके केवल अंकुर और बीज ही प्रथम युग में दृष्टिगोचर हो सकते हैं। इस प्रकार विशेषतः दैवीपूजा का केन्द्र ब्रह्मन्, विष्णु और शिव देवताओं की त्रिमूर्ति बन गयी है। इनमें विष्णु और शिव को आगे चल-कर पृथक्-पृथक् अनेक रूपों में इस विशेष ध्येय से विकसित विभिन्न सम्प्रदायों में सर्वो-परि स्थान दिया गया है। इससे यह कदापि अर्थ नहीं निकलता कि प्रथम युग के कुछ अंश दूसरे युग में आ ही नहीं सकते; अपितु पिछले पृष्ठों में मैंने प्रायः यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि वस्तुतः प्रथम युग के अंश दूसरे युग के साहित्य में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, कुल मिलाकर दोनों युगों का पारस्परिक संबन्ध बहुत कुछ शिथिल-सा है। यह संबन्ध साहित्य की उन शाखाओं में अधिक घनिष्ठ दिखाई पड़ता है, जो प्रथम युग में प्रगति की एक निश्चित अवस्था तक पहुँच चुकी थीं और जिनका विकासमात्र ही दूसरे युग में चलता रहा। साहित्य की ऐसी शाखाएँ हैं व्याकरण और दर्शनशास्त्र। इसके विपरीत जहाँ तक उन शाखाओं का प्रश्न है, जो द्वितीय युग में अधिक स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न हुई हैं, उनका संबन्ध पूर्ववर्ती युग से जोड़ना कठिन है। यहाँ एक स्पष्ट खाई दिखाई पड़ती है, जिसे पाट सकना असंभव है। इसका कारण यह है कि साहित्यिक रचनाओं की सुरक्षा की कठिनाई से जो रचना प्रभाव में आने में सफल हुई उसने अपनी पूर्ववर्ती रचना का स्थान पूर्ण रूप से ले लिया। इस प्रकार जो रचना फीकी पड़ गई वह व्यर्थ हो गई और उसे धता

---

[१] 'ऐतरेय-ब्राह्मण' के दूसरे भाग में पश्चिमी सल्व जाति की एक शाखा श्यापर्ण का उल्लेख "पूतायै वाचो वदित्राः" भ्रष्ट भाषा बोलने वाले; और 'पंचविंश-ब्राह्मण' में व्रात्यों की गँवारू भाषा के लिए निन्दा की गई है। इसी प्रकार शतपथ-ब्राह्मण (३।२।१।२४) में असुरों की निन्दा की गई है और ब्राह्मणों को इस प्रकार की भाषा का प्रयोग न करने की चेतावनी दी गई है: "तस्माद् ब्राह्मणो न म्लेच्छेत्"। मैं यहाँ यह निर्देश कर देना चाहता हूँ कि मैं म्यूल्लेर ने ऋक् के संस्करण में सायण की भूमिका, पृ० ३६.२१ 'हेलयो' को गलती से एक शब्द लिखा है, यह 'हेऽलयो" है—जो युद्ध की ध्वनि का हेऽरयो (अरयो) का असुर द्वारा प्रयुक्त भ्रष्ट रूप है; शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार इसका रूप 'हेऽलवो' भी है।

बता दिया गया। उसे फिर याद करने की या उसकी प्रतिलिपि करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। अतएव इन सभी शाखाओं में—जब तक कि किसी दूसरे प्रभाव ने प्रतिरोध नहीं किया—हमें केवल वे ही उत्कृष्ट ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिस ग्रंथ द्वारा प्रत्येक शाखा ने चरमोत्कर्ष प्राप्त किया। ये ही ग्रंथ आगे चलकर ऐसे प्रामाणिक आदर्श बने जिन पर आधुनिक साहित्य का निर्माण हुआ, जिसमें स्वयं सहज रचनात्मक क्षमता का अभाव था। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि यह तथ्य प्राचीन ब्राह्मण साहित्य के संबन्ध में भी समान रूप से घातक सिद्ध हुआ था। इस तथ्य ने अपना शोचनीय किन्तु स्वाभाविक प्रभाव डाला। कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक साहित्य में भी इसकी शाखाओं में हम दूसरे समान तथ्य की अनुरूपता पाते हैं; वह यह कि इस युग की कतिपय प्रमुख रचनाएँ अनेक, सामान्यतः, दो पाठों में मिलती हैं, किन्तु इसके साथ ही साथ एक और बात भी उल्लेखनीय है, जिसका, धार्मिक साहित्य की ओर अधिक सावधानी बरतने के कारण, इस युग में बहुत कम उपयोग हुआ है; वह यह कि पाण्डुलिपियों का पारस्परिक संबन्ध ऐसा है कि किसी मौलिक पाठ को खोज निकालने में प्रायः निराशा ही हाथ लगती है। केवल ऐसी अवस्थाओं में ही जब प्राचीन भाष्य मिलते हैं, कम से कम जिस समय के भाष्य हैं उस समय के मूल पाठ का कुछ सीमा तक निश्चित रूप में निर्धारण संभव हो पाता है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि इन रचनाओं को मूल रूप में मौखिक परम्परा द्वारा सुरक्षित रखा गया; उनके लेखबद्ध करने का कार्य बहुत बाद के समय में हुआ और संभवतः एक ही समय में भिन्न-भिन्न स्थानों पर उन्हें लिपिबद्ध किया गया, जिससे सभी प्रकार की असंगतियाँ स्वाभाविक थीं। किन्तु इन पाठभेदों के अतिरिक्त अनेक ऐसे परवर्ती अंश और क्षेपक हैं जो स्पष्टतः अत्यन्त स्वच्छन्द स्वभाव के हैं। इनमें से कुछ तो सोद्देश्य किये गये हैं और कुछ प्रतिलिपि करने वालों की भूल के कारण आ गये हैं। विशेषतः दूसरी बात के सन्दर्भ में इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि वातावरण के हानिकारक प्रभाव के कारण अनेकशः प्रतिलिपियों को नवीन रूप देने की आवश्यकता बनी रहती थी। नियमतः अधिक प्राचीन भारतीय पाण्डुलिपियाँ तीन सौ से चार सौ वर्ष तक ही पुरानी हैं। उनमें शायद ही कोई पाण्डुलिपि पाँच सौ वर्ष पहले की हो सकती है।[1] अतएव तथाकथित कूटनीतिक आलोचना

---

[1]भारतीय पाण्डुलिपियों की अवधि एवं उनकी रचना-विधि के विषय में राजेन्द्र लाल मित्र का १५ फरवरी १८७५ को दिया गया सुन्दर विवरण देखिए जो उनके द्वारा देशीय पुस्तकालयों में किये गये अन्वेषण पर आधृत है, और पिछले वर्ष के अन्त तक के अन्वेषणों के परिणाम दिये गये हैं। यह उनके 'नोटिसेज आफ संस्कृत' मैन्यु० भाग ९ से संबद्ध है। हाल ही में जैन ग्रंथों की कुछ देवनागरी पाण्डुलिपियाँ, जो चौड़े तालपत्र पर हैं, ब्यूह्लेर ने खोज निकाली हैं, इनका समय पहले किसी भी ज्ञात पाण्डुलिपि से दो सौ वर्ष पूर्व का है। इनमें से एक पाण्डुलिपि की नकल जो ब्यूह्लेर के पास है, 'आवश्यक सूत्र' है,

से कोई परिणाम नहीं निकल सकता। किन्तु किसी रचना के उद्धरणों के आधार पर हम उसके पाठ पर भरोसा नहीं कर सकते; कारण, इस प्रकार के उद्धरण प्रायः स्मृति से दिये गये हैं। इस प्रकार की क्रिया में अनिवार्य रूप से अशुद्धियाँ और विकृतियाँ आ जाती हैं।

प्रथम और द्वितीय युगों में वर्ण्यविषय की दृष्टि से भेद मुख्यतः यह है कि प्रथम युग में विविध विषयों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है और प्रायः उन पर पूर्णरूपेण याज्ञिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है; जबकि दूसरे युग में उन पर उनके सामान्य संबन्धों की दृष्टि से ही विचार किया गया है। संक्षेप में, इस युग में व्यावहारिक अभाव की नहीं, अपितु एक वैज्ञानिक, काव्यीय और कलात्मक अभाव की पूर्ति की गई है। जिन रूपों में ये दोनों युग सम्मुख आते हैं उन रूपों का अन्तर भी इस भेद के अनुकूल ही है। पहले में एक सरल और सौष्ठवयुक्त गद्य का धीरे-धीरे विकास हुआ है, किन्तु दूसरे युग में इस रूप का परित्याग कर दिया गया है, और इसके स्थान पर एक लयात्मक भाषा-रूप को अपनाया गया है जिसका ऐकान्तिक प्रयोग हुआ है; यहाँ तक कि विशुद्ध वैज्ञानिक स्वरूप की व्याख्याओं के लिये भी इसी भाषारूप का उपयोग किया गया है। इसका एकमात्र अपवाद व्याकरण और दर्शनशास्त्र के सूत्रों में मिलता है; और इन सूत्रों की विशेषता एक इस प्रकार की अभिव्यक्ति की शैली है, जो इतनी संक्षिप्त तथा पारिभाषिक शब्दावली से युक्त है कि उसे गद्य कहना उचित नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त हमें कथाओं में केवल गद्यांश मिलते हैं, जिनका यत्र-तत्र महाकाव्य में उद्धरण दिया गया है; और कथा साहित्य तथा नाटकों में भी हमें गद्य उपलब्ध होते हैं; किन्तु वे समान रूप से छन्दों के साथ मिश्रित हैं। केवल बौद्ध आख्यानों में ही गद्य की एक विशिष्ट शैली का निर्वाह किया गया है और इन आख्यानों की भाषा भी बड़े विलक्षण रूप वाली है तथा एक निश्चित क्षेत्र में सीमित है। वस्तुतः इस उपेक्षा के फलस्वरूप गद्यलेखन की प्रगति पूर्ण रूप से अवरुद्ध हो गई और उसका ह्रास भी हो गया। बाद के समय के भारतीय प्रेमाख्यानों एवं भारतीय भाष्यों के गद्य से अधिक भोंडा शायद ही कुछ और हो और यही बात शिलालेखों के गद्य के विषय में भी कही जा सकती है।

जब हम संस्कृत साहित्य को काव्य, विज्ञान और कला, विधि, रीति-रिवाज और देवपूजन से संबद्ध रचनाओं के वर्गों में विभक्त करने के लिए अग्रसर होते हैं तो हमें उपर्युक्त

जिसका समय संवत् ११८९ (११३२ ई०) है; और यह उपर्युल्लिखित विवरण के साथ जोड़ा गया है "यह प्राप्त संस्कृत पाण्डुलिपियों में प्राचीनतम है" राजेन्द्र लाल मित्र, नोटिसेज ३।६८ (१८७४)। डा० रोस्ट ने एक पत्र द्वारा (१९ अक्टूबर १८७५) सूचित किया है कि एक संस्कृत पाण्डुलिपि में, जो हाल ही में नेपाल से कैम्ब्रिज लायी गई है, नेपाली सं० १२८ पड़ा है अर्थात १००८ ई०। इसकी आगे पुष्टि होने की आवश्यकता है।

तथ्य को कभी भूलना नहीं चाहिए। ये सभी रचनाएँ एक समान काव्यीय रूप में सम्मुख आती हैं और इस वर्गीकरण में 'काव्य' से हमें केवल उसी साहित्यिक विधा का अर्थ लेना चाहिए, जिसे सामान्यतः 'बेलेस लेट्रेस' या प्रेमकाव्य कहा जा सकता है, यद्यपि इस अर्थ का थोड़ा परिमार्जन करना भी अपेक्षित है। एक ओर तो काव्यीय रूप साहित्य के सभी विभागों में व्याप्त है और दूसरी ओर मानों इससे विश्राम प्रदान करने वाले, पर्याप्त व्यावहारिक गद्य ने स्वयं काव्य में प्रवेश किया और उसने इस काव्य को 'सोद्देश्य' कविता का रूप प्रदान किया। महाकाव्यीय कविता के विषय में यह बात विशेष रूप से सत्य है।

७ : महाकाव्य

महाकाव्य को संस्कृत साहित्य के आरम्भ में रखने की प्रचलन बहुत पहले से ही चली आ रही है; हम भी यहाँ इस प्रथा का अनुशीलन करते हैं, यद्यपि इसका विद्यमान रूप पाणिनि के व्याकरण या मनु के नाम से ख्यात धर्मशास्त्र जैसी रचनाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन होने का दावा नहीं कर सकता। महाकाव्यीय कविता को हमें दो पृथक् भागों में बाँटना चाहिए: इतिहास-पुराण और काव्य। बाद के समय के ब्राह्मणों में, यथा 'शतपथ-ब्राह्मण' के उत्तरार्द्ध, 'तैत्तिरीय आरण्यक' और 'छान्दोग्योपनिषद्' में हम पहले ही कई बार 'इतिहासपुराण' नाम से अवगत हो चुके हैं। हमने यह देखा है कि इन शब्दों से भाष्य-कार सर्वत्र उन्हीं आख्यानात्मक अंशों से अर्थ लेते हैं जो स्वयं ब्राह्मण में आये हैं और इन्हें वे पृथक् रचनाएँ नहीं बताते हैं। 'शतपथ-ब्राह्मण' के तेरहवें काण्ड में आए हुए एक अंश से यह निश्चित रूप से निष्कर्ष निकलता है कि उस समय इस नाम की पृथक् रचनाओं का अस्तित्व नहीं था; कारण, 'पर्वों' का विभाजन, जो इस वर्ग की रचनाओं में सामान्यत: पाया जाता है, 'शतपथ' के उपर्युक्त अंश में स्पष्टरूपेण दूसरी रचना के संबन्ध में उल्लिखित है, और उसका उल्लेख स्वयं इन इतिहास-पुराणों के सन्दर्भ में नहीं हुआ है। दूसरी ओर, 'सर्पविद्या' (साँपों का ज्ञान) और 'देवजन विद्या' (देवताओं की वंशावली) से—जिसके 'पर्वों' में विभाजन का, किंवा पृथक् रचनाओं के रूप में अस्तित्व का 'शतपथ-ब्राह्मण' के उपर्युक्त अंश में उल्लेख किया गया है—हमें निश्चय ही ऐसे पुराकथाशास्त्रीय विवरणों को समझना चाहिए जो अपने स्वभाव के कारण महाकाव्य के पूर्वगामी माने जा सकते हैं। महाकाव्यीय कविता के ठीक पहले आने वाली रचनाओं के रूप में हमने पहले ही उन कथाओं और आख्यानों का उल्लेख किया है, जो ब्राह्मणों में बिखरे पड़े हैं और कभी-कभी लयात्मक परिवेश[1] में दिखाई पड़ते हैं अथवा जो अन्यत्र ऋक् के गीतों की उत्पत्तिपरम्परा में पुष्ट हुए थे। वस्तुत:, इस प्रकार के कुछ गद्यात्मक आख्यान सचमुच ही यत्र-तत्र स्वयं महाकाव्य में सुरक्षित हैं। गाथाओं का भी—जो व्यक्तिविशेष की वीरता का गान करने वाले श्लोक हैं—इसी प्रकार के सन्दर्भ में उल्लेख किया जा चुका है; उनका गान वीणा-वादन के साथ-साथ होता था, और उनकी रचना तत्कालीन राजा के या प्राचीनकाल के धर्मात्मा राजाओं की प्रशस्ति के लिए की जाती थी (दे० इं० स्टू० १।१८७)। जहाँ तक विशेषत: विद्यमान महाकाव्य—'महाभारत'—का प्रश्न है, हमने पहले ही 'तैत्तिरीय

---

[1] **उदाहरण के लिए 'ऐतरेय-ब्राह्मण' के उत्तरार्द्ध में आई हुई हरिश्चन्द्र की कथा।**

आरण्यक' में व्यास पाराशर्य[1] और वैशम्पायन[2] के उल्लेखों का निर्देश किया है, जिन्हें स्वयं इस काव्य में इसका मौलिक रचयिता बताया गया है। हम यह भी कह आये हैं कि पराशरों के वंश का शुक्लयजुस् के वंशों में विशेष रूप से अनेक बार उल्लेख हुआ है।[3] ब्राह्मणों में हम अनेक बार एक नैमिषीय यज्ञ का भी उल्लेख पाते हैं और स्वयं 'महाभारत' के अनुसार ऐसे ही यज्ञ के अवसर पर इस महाकाव्य की कथा शौनक की उपस्थिति में दूसरी बार कही गई थी। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है (पृ० २७, ३८) इन दोनों यज्ञों को दो अलग यज्ञ समझने चाहिए और वस्तुतः ब्राह्मणों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि शौनक ने प्रथम यज्ञ में भाग लिया था। यही नहीं इस प्रकार के अनेक यज्ञ नैमिष वन में हुए होंगे (देखिए पृ० ३७) या यह भी संभव है कि इस कथा के कहे जाने के विषय में इस उक्ति के मूल में इस ग्रन्थ को एक विलक्षण पवित्रता का रूप प्रदान करने की इच्छा के अतिरिक्त और कोई तथ्य नहीं रहा होगा। कारण, ऐसी कल्पना हास्यास्पद ही होगी कि व्यास पाराशर्य और वैशम्पायन—जिन आचार्यों का सर्वप्रथम 'तैत्तिरीय आरण्यक' में उल्लेख हुआ है—ब्राह्मणों में निर्दिष्ट यज्ञ के समय से पहले रहे होंगे। आश्वलायन [और शाङ्ख-

---

[1]व्यास पाराशर्य का भी सामविधान-ब्राह्मण के वंश में विष्वक्सेन के शिष्य और जैमिनि के गुरु के रूप में उल्लेख किया गया है, इं० स्टू० ४।३७७ महाभाष्य में न केवल 'महाभारत' की कथा के प्रायिक उल्लेख इससे संबद्ध श्लोकों के उद्धरण हैं अपितु इसमें शुक वैयासकि का भी नाम आता है; और इससे यह स्पष्ट है कि उस समय महाभारत की कथा का एक काव्यमय पाठ विद्यमान था। देखिए इं० स्टू० १३।३५७ बुद्ध के पहले के जन्मों में एक जन्म (वेस्टरगार्ड का 'केटलोगस' पृ० ४० सं० ४३६) कण्हदीपायन अर्थात् कृष्ण द्वैपायन नाम का है।

[2]अन्यत्र वैशम्पायन का बहुशः नाम आया है, किन्तु सदैव उनका विशेष संबन्ध यजुर्वेद के अध्यापन से दिखाई पड़ता है। यह सत्य है कि पाणिनि (४।३।१०४) ने उन्हें केवल एक वैदिक आचार्य के रूप में उल्लिखित किया है, किन्तु इस अंश की व्याख्या में 'महाभाष्य' उन्हें कठ और कलापिन् का गुरु बताता है। कलकत्ता भाष्य में हम अन्य विवरण पाते हैं। (जिनके स्रोत का ज्ञान नहीं है, तु० कौ० सिद्धा० कौ० १।५९० पर तारानाथ की व्याख्या) जिनके अनुसार (इं० स्टू० १३।४४०) नौ वैदिक शाखाएँ, जिनमें दो शाखाएँ सामवेद की हैं, उन्हीं से अपनी उत्पत्ति बताती हैं। ऋग्वेद के गह्य में उन्हें स्पष्टतः (देखिए पर पृ० ४९, ५०) 'विष्णुपुराण' के आधार पर यजुर्वेद का प्रतिनिधि माना गया है और इसी प्रकार वे आत्रेयी शाखा की अनुक्रमणी में आचार्यों की सूची के आरम्भ में यास्क पैङ्ग के गुरु के रूप में आते हैं।

[3]इस कारण, लास्सेन ने (इं० अल्ट० १।६२९) जो पाराशर्य नाम पराशर ज्योतिषी या कथाकार का बताया है वह अत्यन्त सन्दिग्ध दिखाई पड़ता है।

खायन] के गृह्यसूत्रों में आए हुए "भारत" और स्वयं "महाभारत" के उल्लेख को हमने क्षेपक या इस बात का संकेत माना है कि ये सूत्र बहुत बाद के समय के हैं (पृ० ३१)। पाणिनि व्याकरण में 'महाभारत' शब्द आता तो है, किन्तु इससे इस नाम के महाकाव्य का संकेत नहीं मिलता, अपितु यह शब्द भारतों में एक विशिष्ट व्यक्ति की उपाधि के रूप में आया है; जैसे महाजाबाल, महाहैलिहिल (देखिए इं० स्टू० २।७३)। फिर भी, पाणिनि में हम ऐसे नामों का उल्लेख पाते हैं जो विशेष रूप से 'महाभारत' की कथा से संबद्ध हैं—यथा:—युधिष्ठिर, हास्तिनपुर, वासुदेव, अर्जुन[1] अन्धक-वृष्णयस्, द्रोण। (?) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कथा उनके समय में प्रचलित थी और वह संभवत: काव्य के रूप में थी; यद्यपि यह आश्चर्यजनक है कि पाण्डु[2] के नाम का उन्होंने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। महाभारत के वर्ण्यविषयों से युक्त एक महाकाव्य के अस्तित्व का सबसे प्राचीनतम प्रमाण हमें 'रेटोर डिआन क्रिसोस्टोम (Rhetor Dion Chrysostom) से मिलता है, जो प्रथम शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में हुआ था; और यह नितान्त संभव प्रतीत होता है कि यह सूचना उस समय बिल्कुल नयी रही होगी और इसकी जानकारी उन समुद्रयात्रियों से प्राप्त हुई होगी जो भारत के सुदूर दक्षिण तक पहुँच गये थे; इसका निर्देश मैंने 'इण्डिश्श स्टूडिएन' २।१६१-१६५ में किया है।[3] चूँकि मेगास्थनीज़ ने इस महाकाव्य के विषय में कुछ भी नहीं कहा है, अत: यह असंभव कल्पना नहीं कही जा सकती कि इसकी उत्पत्ति मेगास्थनीज के समय और क्रिसोस्टोम के समय के व्यवधान के काल की है; कारण, अज्ञान नाविकों[4] ने जिस बात पर विशेष ध्यान दिया उस पर वह दृष्टि दौड़ाने में नहीं चूका होगा; विशेषत: ऐसी स्थिति में, जब कि उसने हेराक्लीज़ और उसकी पुत्री

---

[1]वासुदेव या अर्जुन के भक्त को 'वासुदेवक' 'अर्जुनक' कहते हैं। अथवा यहाँ भी अर्जुन नाम इन्द्र के लिए आया है [सन्दर्भ के अनुसार उन्हें एक क्षत्रिय समझना चाहिए; इस विषय पर देखिए इं० स्टू० १३।३४९; इण्ड० एण्टि० ४।२४६]

[2]यह नाम केवल महाभारत में और उस पर आश्रित रचनाओं में आता है। फिर भी बौद्धों ने पाण्डव नाम से पर्वतीय जातियों को शाक्यों (अर्थात् कोशलों) की तरह उज्जयिनी के निवासियों का शत्रु बताया है; देखिए शीफनेर, लेबेन डेस शाक्यमुनि, पृ० ४।४० (दूसरे अंश में वे तक्षशिला से संबद्ध दिखाई पड़ते हैं?) लास्सेन, इं० अल्ट० २।१०० आदि फाउकाक्स, रिग्या चेर रोल पा, पृ० २२८, २२९ (२५; २६)

[3]यह मानना आवश्यक नहीं है, जैसा कि मैंने माना था कि वे इस ज्ञान को स्वयं भारत के दक्षिण से ले आये थे, उन्होंने इसे अपनी समुद्रयात्रा में किसी अन्य प्रदेश से ग्रहण किया होगा।

[4]वे इसी प्रकार के थे यह बात उनके Great Bear के उल्लेख से प्रकट होती है। (वही)

'पण्डाइआ' के विषय में जो कथा कही है उसको वस्तुतः कृष्ण और उनकी भगिनी से, जो अर्जुन की पत्नी थी, संबद्ध माना जाय, अर्थात् प ण्डु की कथा को उसके समय में वस्तुतः प्रचलित माना जाय। पाण्डु के आख्यान के विषय में, जो महाभारत का वर्ण्यविषय है, हम पहले ही कह आये हैं कि यद्यपि यजुस् में विशेष रूप से ऐसे नाम और वर्ण आये हैं जिनका इस कथा से घनिष्ठ संबन्ध है, फिर भी इन्हें नैतान्त भिन्न सन्दर्भों में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार विशेषतः कुरुपंचाल, जिनके उभयपक्षविध्वंसक युद्ध को लास्सेन ने महाभारत का प्रमुख और अग्रणी तत्त्व माना है, यजुस् में सौहार्द्र और शान्ति की अवस्था में दिखाई पड़ते हैं। पाण्डुवों के प्रमुख वीर अर्जुन का नाम 'वाजसनेयि-संहिता' और 'शतपथ-ब्राह्मण' में इन्द्र का नाम है[1] और अन्त में जनमेजय परीक्षित, जो 'महाभारत' में अर्जुन के प्रपौत्र हैं, 'शतपथ-ब्राह्मण' के अन्तिम भाग में जनता की स्मृति में बने हुए हैं और उनके तथा उनके वंश के उत्थान और पतन की याद भी जनता के मस्तिष्क में ताज़ी है। मैंने पहले ही यह अनुमान किया है कि इस जनमेजय के कर्म और पतन को ही 'महाभारत' की कथा की मौलिक विषयवस्तु माननी चाहिए।[2] दूसरी ओर, अन्य देशों के महाकाव्यों तथा विशेषतः फ़ारसी महाकाव्यों के समान 'महाभारत' में भी देवताओं से संबद्ध कथाएँ प्रचलित आख्यानों से संबद्ध हो गईं। किन्तु इन दोनों का परस्पर इस प्रकार गठबन्धन हुआ है कि इनके अलग-अलग तत्त्वों को प्रदर्शित कर सकना सदैव असंभव बना रहा है। फिर भी एक बात 'महाभारत' में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है; वह यह कि इसके मूल में एक ऐसा युद्ध है जो हिन्दुस्तान की भूमि पर आर्य जातियों के बीच हुआ था और अतएव वह उस समय की घटना है जब वे भारत में बस चुके थे, मूल निवासी पराजित हो चुके थे तथा उन पर ब्राह्मणीय संस्कृति का सिक्का जम चुका था। किन्तु इस सघर्ष का क्या कारण था: भूमि पर अधिकार की प्रतिद्वन्द्विता या धार्मिक मतभेद ? इसका निर्धारण इस समय नहीं किया जा सकता। जिस रूप में 'महाभारत' इस समय उपलब्ध है उसका लगभग एक चौथाई (प्रायः २०,००० श्लोक) ही इस युद्ध का तथा इससे संबद्ध कथाओं का वर्णन करते हैं;[3] शेष तीन चौथाई भाग में जो विषय आते हैं वे इससे

---

[1] 'शतपथ-ब्राह्मण' के तेरहवें काण्ड में इन्द्र का भी नाम धर्म है; यह नाम महाभारत में विशेषतः युधिष्ठिर से संबद्ध है; यद्यपि 'धर्मराज' या 'धर्मपुत्र' नाम ही उनके लिये आये हैं।

[2] यह इस कथन से कि महाभारत की कथा उनकी उपस्थिति में सुनाई गई थी स्पष्ट विपर्यास प्रदर्शित करता है।

[3] इनमें भी दो-तिहाई अंश को मौलिक नहीं मानना होगा; कारण, इस ग्रन्थ की भूमिका (१।८१) में यह स्पष्ट निर्देश अब भी पाया जाता है कि इसमें पहले केवल ८८०० श्लोक थे।

बिल्कुल संबन्ध नहीं रखते और उनका इसके साथ तथा परस्पर यथासंभव शिथिल सबन्ध है। ये जोड़े गये विषय दो प्रकार के हैं। कुछ तो महाकाव्यीय स्वभाव वाले हैं और ये जिन प्राचीन कथाओं को यहाँ प्रस्तुत कर सकना संभव था उनको एक मेल में संयुक्त करने के परिणाम हैं। उनमें ऐसी कथाएँ स्वल्प भी नहीं हैं जो कम से कम स्वरूप की दृष्टि से भी अधिक प्राचीन हों। दूसरे प्रकार की कथाएँ विशुद्ध शिक्षाप्रद कथाएँ हैं और इनका सन्निवेश क्षत्रिय वर्ण को, जिसके लिए इस ग्रंथ की मुख्य रूप से रचना हुई थी, कर्तव्यों के विषय में और विशेषतः पुरोहितों के प्रति सम्मान व्यक्त करने के कर्तव्य की शिक्षा देने के लिए किया गया था। जिस—युद्ध से संबद्ध—अंश को मूल आधार माना जाता है, उसे भी प्रायः निश्चित स्वरूप प्रदान करने के लिए अनेक पीढ़ियों ने श्रम किया होगा। यह ध्यान देने योग्य है कि ठीक इसी अंश में ही यवनों, शकों, पह्लवों[1] और अन्य जातियों के उल्लेख आये हैं और वे युद्ध में वस्तुतः भाग लेते हैं। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि जिस समय इन अनुच्छेदों की रचना हुई थी उस समय तक यूनानियों आदि से संघर्ष हो चुके थे।[2]

---

[1]पह्लव शब्द के संबन्ध में थि० नेल्डेके ने अपने ३ नवम्बर १८७५ के पत्र में एक विषय का उल्लेख किया है, जिसकी यदि पुष्टि हो जाय तो यह महाभारत और रामायण की रचना के (देखिए इस विषय पर मेरा निबन्ध, पृ० २२, २५) तथा मनु की (द्र० १०।४४) रचना के काल निर्धारण का महत्त्व प्रमाणित करेगा। इसके अनुसार इस विषय में पर्याप्त सन्देह है कि 'पह्लव' शब्द, जो 'पहल्व' का मूल रूप है और जिसे ओल्सहाउजेन ने 'पार्थक्स्' या पार्थियन नाम से उत्पन्न माना है, मूलतः प्रथम शताब्दी ई० से पहले का हो सकता है या नहीं। 'थ्' का 'ह्' उदाहरण के लिये 'मिथ' शब्द में ईसवी संवत् के आरम्भ होने के पूर्व (MHPO) में इण्डोसिथियन सिक्कों पर; लास्सेन, इं० अल्ट ०२।८३७, और टैसिटस में 'मेहेरडेटीज') नहीं पाया जाता। एक जनवर्ग के नाम के रूप में पहलव शब्द फारसवासियों के लिये यत्नकृत स्मृतिचिह्नों के अपवाद को छोड़कर बहुत पहले ही विदेशी बन गया। उदाहरण के लिये स्वयं पहलवी ग्रन्थों में यह शब्द नहीं आता है। अतएव, जिस समय यह नाम भारतवासियों में आया वह समय दूसरी से चौथी शताब्दी ई० का ठहरता है; और इससे हमें सीधे फारसियों का अर्थ नहीं लेना चाहिए, जिन्हें पारसिक कहा गया है, अपितु असंसिडन (Arsacidan) पार्थियन का तात्पर्य लेना चाहिए।

[2]इस संबन्ध में विशेष रूप से रोचक २।५७८, ५७९ के कथन हैं, जिसमें यवन राजा भगदत्त (फोन गुटस्मिट के अनुमान के अनुसार अपोल्लोडोट्स (?) राज्य० १६० ई० पू० के उपरान्त) मरु (मारवार) और नरक के सम्राट् को वरुण के समान और युधिष्ठिर के पिता के मित्र के रूप में पश्चिम में राज्य करता हुआ बताया गया है। देखिए इं० स्टू० ५।१५२—यवन राजा कसेरुमन्त के नाम भी रोम के सीजर राजाओं की उपाधि की झलक

किन्तु जिस युग में इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का वर्तमान रूप में संकलन हुआ उसके विषय में सीधे अनुमान द्वारा भी कुछ कह सकना संभव नहीं है[१]; जो कुछ भी हो, इसका संकलन ईस्वी संवत् के आरम्भ होने के कुछ शताब्दी बाद के समय में हुआ होगा।[२] हाल ही में जावा के निकट बाली द्वीप में महाभारत के अनेक पर्वों के कवि भाषा में अनुवाद का एक रोचक अन्वेषण हुआ है। इस अनुवाद के 'पर्व' भारतीय स्वरूप से विस्तार में पर्याप्त अन्तर रखते हैं।[३] 'महाभारत' की आलोचना के लिए इन दोनों की विशेष तुलना कम महत्वपूर्ण नहीं सिद्ध होगी। शेष अंशों में विषय के अस्त-व्यस्त होने से इसमें अत्यन्त भिन्न-भिन्न कालों के अंश आते हैं। इस रचना का उपयोग बड़ी सावधानी के साथ ही किया जा सकता है। इसका प्रकाशन कलकत्ता[४] में 'हरिवंश' के साथ हुआ है। 'हरिवंश' एक काव्य है जिसे

मिलती है; द्र० इण्डि० स्किल्स०, पृ० ८८,९१, तु० की०-एल० फीअर, सीआन्सेज डि ल' एकड० डेस् इन्सक्र० (१८७१) पृ० ४७, ५६, ६० में 'अवदान शतक' के 'केसरी-नाम-संग्रामः' पर विवेचन।

[१]महाभाष्य के समय जितने प्राचीन काल में महाभारत कथा के पद्यबद्ध रूप के संबन्ध में इं० स्टू० १३।३५६ देखिए "फिर भी यह स्वल्प भी नहीं प्रमाणित करता कि जिस रूप में यह ग्रंथ इस समय उपलब्ध है उसी रूप में उस समय भी विद्यमान था; अन्तिम निष्कर्ष के रूप में हम 'इण्डियन होमर' के विषय में डिआन क्रिसोस्टोम (इं० स्टू० २। १६१) के अंश से अधिक आगे नहीं पहुँच पाते। कारण, स्वयं यूनानी लेखकों के विवरण बहुत पहले के समय के हैं; और यद्यपि वे आवश्यक रूप में स्वयं मेगास्थनीज से नहीं उपलब्ध हैं, जैसा कि लास्सेन का विचार है, तथापि वे हमें किसी भी दशा में ऐसे प्राचीन काल में पहुँचाते हैं जो प्रायः भाष्य के समय से मिलता है।"

[२]महाभारत के क्रमिक विकास का नितान्त महत्त्वपूर्ण विवरण हम एक कथा में पाते हैं, जिस पर शंकर ने भाष्य लिखा है और जो नीलकण्ठ के समय में (अर्थात् ६ठीं या ७वीं शताब्दियों में) ४५ श्लोकों के एक पूरे अध्याय के रूप में आ गया था; मेरा 'केट० आफ संस्कृत मै०न्यु० इन द बर्लिन लाइब्रेरी, पृ० १०८ देखिए।

[३]आर० फ्रीडेरिश के विवरण के बाद आने वाला विवेचन इं० स्टू० २।१३६ में देखिए।

[४]१८३४-३९, चार भागों में; हाल ही में बम्बई (१८६३) में नीलकण्ठ के भाष्य के साथ प्रकाशित। हिप्पोलिटे फाउशे के अपूर्ण फ्रांसीसी अनुवाद को (१८६३-७२, दस भाग) अत्यन्त उत्तम अनुवाद मात्र कहा जा सकता है; इस विषय पर इं० स्ट्रा० २।४१० आदि देखिए। इस ग्रन्थ के स्फुट अंशों पर भी प्रायः हाथ लगाया गया है; उदाहरण के लिये पेवी ने नौ अंशों का अनुवाद किया है (पेरिस १८४४ और फाउकाक्स ने ग्यारह अंशों का (पेरिस १८६२)। यह सर्वविदित है कि बोप ने सर्वप्रथम नलोपाख्यान से प्रारम्भ होने वाली कथाओं को प्राप्य बनाया (लन्दन १८१९) जिनके द्वारा उन्होंने यूरोप में

इसका परिशिष्ट कहा जाता है।[1] 'जैमिनि भारत' के विषय में, जो व्यास और वैशम्पायन का नहीं अपितु जैमिनि का बताया जाता है, अभी तक हमें स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त है; इसके जिस एक 'पर्व' से मैं परिचित हूँ वह सामान्य 'महाभारत' के समकक्ष पर्व से बिलकुल भिन्न है।[2]

ब्राह्मणों में 'इतिहास' के साथ ही साथ 'पुराण' का उल्लेख हम इस प्रकार के वर्णनों के लिए पाते हैं जो इसमें प्रायः स्थान-स्थान पर आते हैं, और विश्व के अग्र या आरम्भ का

संस्कृत भाषाविज्ञान की नींव रखी। महाभारत की आलोचना के लिये लास्सेन ने अपने इण्डिश्श अल्टेरथुम्सकुण्डे (भाग १, १८४७) में पहला कदम उठाया और उसके महत्त्वपूर्ण परिणाम भी निकले। इस ग्रंथ के वर्ण्यविषय के लिये मोनिअर विलिअम्स का 'इण्डियन एपिक पोइट्री' (१८६३) और 'इण्डियन विज्डम' (१८७५) देखिए।

[1] अल्बीरूनी के समय अर्थात् ११वीं शताब्दी में यह प्रमुख प्रमाण था, द्र० जर्न० एशि० अगस्त १८४४, पृ० १३० [वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु के समय सातवीं शताब्दी में यह पहले से विद्यमान था; दे० इं० स्ट्रा० १।३८०; ए० लंग्लोइस का फ्रांसीसी अनुवाद १८३४ में प्रकाशित हुआ था।]

[2] मेरा केट० आफ द सं० मैन्यु० इन द बर्लिन लाइ० पृ० ११९-११८ देखिए, विल्सन (मैक० काल० २।१) के अनुसार केवल यही पर्व अस्तित्व में रहा होगा, वाइग्ले का लेख त्सा० डा० मो० गे० २।२७८ में देखिए [इस पर्व अर्थात् अश्वमेधिक पर्व का मुद्रण बम्बई में १८६३ में हुआ था; इस संस्करण में आए हुए इसके अन्तिम वाक्यों के अनुसार जैमिनि की रचना में सम्पूर्ण महाकाव्य आता था, किन्तु वर्तमान काल तक १३वें पर्व के अतिरिक्त और कुछ ज्ञात नहीं है; इस विषय पर 'मोनाट्स्बेरिष्टे डेर बेर्लिन एके० १८६९, पृ० १० में मेरा लेख देखिए। इस पर्व के कन्नड भाषा में किये गये एक अनुवाद को तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ का माना जाता है।।(वही, पृ० १३, ३५)। हाल ही में किस्तेल ने नागवर्मा के छन्दःशास्त्र के प्राक्कथन पृ० ६-७१, में इसे १८वीं (!) शताब्दी के मध्य का माना है। कृष्णपूजा सम्प्रदाय का विशिष्ट रूप जो सम्पूर्ण ग्रन्थ में व्याप्त है, उल्लेखनीय है; ईसाई पुराकथा और अन्य पश्चिमी प्रभाव को द्योतित करने वाले तथ्य स्पष्टतः विद्यमान हैं; 'मोनाट्स्ब'० वही पृ० ३७; इसके वर्ण्यविषय के अधिकांश की जानकारी टैल्बायस् ह्वीलर के 'हिस्ट्री आफ इण्डिया' भाग १ (१८६७) से मिलती है, जिसमें स्वयं महाभारत के वर्ण्यविषयों की स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। द्र० इं० स्ट्रा० २।२९२ जैन अमरचन्द्र द्वारा किया गया महाभारत का रूपान्तर भी उल्लेखनीय है, जिसे 'बाल भारत' नाम दिया गया है—यह ४४ सर्गों और ६५५० अनुष्टुभ छन्दों में है। इसका प्रकाशन बनारस के 'पण्डित' (१८६९ आदि) में हुआ और बेचनरामशास्त्री ने इसका संपादन किया है। यह ग्रन्थ संभवतः ११वीं शताब्दी का है, देखिए त्सा० डा० मो० गे० २७।१७०।

विवेचन करते हैं। जब कालान्तर में इस नाम की पृथक् रचनाओं का जन्म हुआ, तब इस शब्द के अर्थ में विस्तार हुआ। इन रचनाओं के अन्तर्गत संसार का, इसके देवताओं और वीरों के वंश का इतिहास, युगों के सिद्धान्त के अनुसार इस संसार का विनाश और प्रति-सर्ग विषय भी आ गये हैं। नियमतः पाँच प्रकार के विषयों को पुराणों का वर्ण्य विषय बताया गया है (देखिए लास्सेन इं० अल्ट० १।४७९)। इस कारण 'पंचलक्षण' नाम पड़ा है जिसे 'अमरकोश' में पुराण का पर्यायवाची बताया गया है। ये रचनाएँ नष्ट हो गईं हैं और उनके स्थान पर जो रचनाएँ पुराण नाम से उपलब्ध होती हैं वे परवर्तीकाल की रचनाएँ हैं तथा पिछले लगभग एक हजार वर्ष से संबन्ध रखती हैं। ये पुराण (देखिए लास्सेन, वही) शिव तथा विष्णु सम्प्रदाय के हित के लिए एवं इनका प्रचार करने के लिए रचे गये हैं; और उन प्राचीन पुराणों के वर्णनों के साथ, जो अमर के भाष्यों में और यत्र-तत्र स्वयं इन्हीं रचनाओं में मिलते हैं, उनमें से कोई पूर्ण संगति नहीं रखता, कुछ अल्प साम्य प्रदर्शित करते हैं और कुछ तो बिल्कुल ही साम्य नहीं रखते। "कारण प्राचीन कथाओं का स्थान, जो अंशतः संक्षिप्त कर दी गई हैं और अंशतः पूर्ण रूप से छोड़ दी गई हैं, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों, याज्ञिक और तपस्विजन के उपदेशों तथा विशेषतः किसी देवता या मन्दिर की प्रशस्ति में कही गई कथाओं ने ले लिया है।" (लास्सेन, इं० स्टू० १।४८१) फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इन प्राचीन रचनाओं की पर्याप्त सामग्री अब भी इनमें सुरक्षित है; और इस कारण यदि हम उनमें से अनेक में समान शब्दावली वाले लम्बे अंश पाते हैं तो इसमें कोई विशेष बात नहीं है। सामान्यतः जहाँ तक आदिकालीन परम्पराओं का प्रश्न है, वे महाभारत को प्रमाण मानते हुए उसका निकट से अनुसरण करती हैं; किन्तु वे एक समान ही भविष्यवक्ता की शैली में राजाओं की ऐतिहासिक वंशावलियों की ओर मुड़ती हैं। यहाँ वे न केवल परस्पर उग्र विरोध प्रदर्शित करती हैं, अपितु सामान्य कालक्रम से भी विरोध प्रकट करती हैं; इस कारण इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व अत्यन्त न्यून है। उनकी संख्या काफी है; पुराण अठारह हैं और यदि हम उपपुराणों को भी गिनें तो यह संख्या दूनी हो जाती है। उपपुराणों में महाकाव्यीय स्वरूप और भी अधिक मन्द पड़ गया है और याज्ञिक तत्व को सर्वाधिक प्रधानता प्राप्त हो गई है। इस समय तक केवल एक पुराण 'भागवत-पुराण' प्रकाशित हुआ है; इसके एक बृहत् अंश का सम्पादन [और अनुवाद] बर्नाउफ ने भी किया है। अन्य पुराणों के विषय में विल्सन ने अपने 'विष्णु-पुराण' के अनुवाद में बहुमूल्य सूचनाएँ प्रदान की हैं।[1]

---

[1] विविध पुराणों के पृथक् विश्लेषणों में भी जो विल्सन के 'एसेज आन संस्कृत लिटरेचर' (संपादक, रोस्ट १८६४) के भाग १ में संकलित हैं। यहां हम आऊफ्रेष्ट द्वारा केट० कोड० संस्कृ० बिब्लि० बोड० पृ० ७-८७ में दिये गये पुराणों के सूक्ष्म विवरण का भी उल्लेख कर सकते हैं। विष्णुपुराण का प्रकाशन हाल ही में बम्बई में रत्नगर्भभट्ट के भाष्य के साथ हुआ है।

महाकाव्य के दूसरे वर्ग में हम उन काव्यों को रखते हैं जो कतिपय निश्चित कवियों की रचनाएँ हैं; जबकि इतिहासों और पुराणों को पुराकथाशास्त्रीय व्यक्ति व्यास की रचना बताया जाता है, जो केवल 'डी आसकेउइ' (ग्रीक) अर्थात् 'संकलन' के मूर्त रूप हैं।[1] इन काव्यों में मूर्धन्य है वाल्मीकि का 'रामायण' जिनका नाम 'तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य'[2] के आचार्यों में आया है। भाषा की दृष्टि से इस रचना का 'महाभारत' के युद्ध से संबद्ध अंशों की भाषा से घनिष्ठ संबन्ध है, यद्यपि कुछ स्थलों पर, जहाँ कवि ने अपनी कला को पूरा निखार दिया है, वहाँ लय और छन्द की दृष्टि से परवर्ती काल के चिह्न इस पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं; इसके विपरीत, जहाँ तक वर्ण्य विषय का प्रश्न है, इसमें और 'महाभारत' के इस अंश के बीच का भेद महत्त्वपूर्ण है। 'महाभारत' के युद्ध से संबद्ध अंश में मानव हित को सर्वत्र प्राधान्य मिला है; और अनेक स्पष्ट रूप वाले पात्रों को उपस्थित किया गया है, जिनके ऐतिहासिक अस्तित्व की संभावना अस्वीकार नहीं की जा सकती। इन्हें बाद के समय में ही देवताओं की कथाओं से संबद्ध कर दिया गया था। किन्तु रामायण में हम आरम्भ से ही अपने को रूपकों के देश में पाते हैं और केवल जिस सीमा तक इस रूपक का संबन्ध ऐतिहासिक तथ्य से है वहीं तक हम ऐतिहासिक धरातल पर विचरण करते हैं; वह ऐतिहासिक तथ्य है आर्य सभ्यता का दक्षिण की ओर ओर विशेषतः लंका में विस्तार। इसके पात्र वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं, अपितु कतिपय घटनाओं और दशाओं के मूर्तरूप हैं। सबसे पहले, सीता, जिसका राक्षस रावण द्वारा अपहरण एवं उसके बाद

(१८६७); इसका विल्सन द्वारा किया गया अनुवाद पुनः प्रकाशित किया गया है; इसका सम्पादन फिट्ज एडवर्ड हाल ने पाँच भागों में किया है (१८६४-१८७०) इसमें ठोस परिवर्द्धन और संशोधन किये गये हैं। 'भागवत-पुराण' के भी अनेक संस्करण हैं, उनमें एक संस्करण में श्रीधरस्वामी का भाष्य है (बम्बई १८६०)। मार्कण्डेय-पुराण का संपादन बिब्लि० इण्डिका में के० एम० बनर्जी ने किया है (१८६२) और 'अग्निपुराण' का प्रकाशन भी उसी प्रकाशन माला के अन्तर्गत हो रहा है (१८७० से प्रारम्भ हुआ है। अब तक १-२१४ अध्याय प्रकाशित हैं)। 'कल्किपुराण' कलकत्ता में १८७३ में प्रकाशित हुआ है; और 'लिंग पुराण' का लिथोमुद्रित संस्करण (१८५८) तथा पद्म, स्कन्द, गरुड़, ब्रह्मवैवर्त एवं अन्य पुराणों के अंशों का संस्करण बम्बई से प्रकाशित हुआ है; देखिए इं० स्ट्रा० २।२४५ आदि; ३०१ आदि।

[1] गायक, काव्यरचयिता के अर्थ में 'कवि' शब्द और कवि की रचना या गीत के अर्थ में काव्य शब्द अनेकशः वेद में प्रयुक्त है, किन्तु इसका व्यवहार पारिभाषिक नहीं है। द्र०-वाज० सं० स्पेसि० २।१८७ [त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दस, शत० ८।५।२।४]

[2] इस नाम से उसी व्यक्ति का तात्पर्य लेना चाहिए या नहीं यह निश्चित नहीं है; किन्तु इस नाम की विचित्रता को देखकर यह असंभव नहीं है।

उसके पति राम द्वारा पुनर्प्राप्ति सम्पूर्ण काव्य का कथानक है, हल द्वारा जोतने पर खेत में बनी हुई कूड़ है जिसे ऋक् के सूक्तों में और विशेष रूप में गृह्ययज्ञों में अलौकिक सम्मान प्रदान किया गया है। वह आर्यों के कृषिकर्म का प्रतिनिधित्व करती है, जिसकी रक्षा प्रतिशोधपूर्ण आदिम जातियों के आक्रमण से राम को करनी पड़ती है। राम को मैं मूलतः बलराम "हलभृत" हल ढोने वाले से अभिन्न मानता हूँ, यद्यपि कालान्तर में इन दोनों को पृथक् कर दिया गया है : ये आदिमवासी दैत्यों और राक्षसों के रूप में उपस्थित किये गये हैं; जबकि वे मूल निवासी जो आर्यों के प्रति सौहार्द्र रखते थे वानरों के रूप में दिखाये गये हैं—इस प्रकार की तुलना निश्चय ही उनकी प्रशंसा के लिये नहीं की गई थी और आर्य जाति के मनुष्यों की तुलना में आदिमवासियों की कुरूपता के तथ्य पर आधृत थी। रामायण का यह रूपकात्मक स्वरूप बाह्यतः निश्चित रूप से संकेत देता है कि यह काव्य 'महाभारत' के युद्धविषयक अंश से बाद के समय का है; और हम यह मान सकते हैं कि जिन ऐतिहासिक घटनाओं पर ये दोनों रचनाएँ क्रमशः आधारित हैं, वे परस्पर समान संबन्ध में अवस्थित हैं। दक्षिण भारत में उपनिवेशवाद उस समय तक प्रारम्भ न हो सका होगा, जब तक कि हिन्दुस्तान में आर्य पूरी तरह से बस नहीं गये थे, और वहाँ जो युद्ध उठ खड़े हुए थे, वे लड़े नहीं जा चुके थे। फिर भी इस दूसरे विचार को मानना नितान्त आवश्यक नहीं है। कम से कम जो युद्ध महाभारत का वर्ण्य विषय है, वह उस समय हुआ होगा जब दूसरी आर्य जातियाँ दक्षिण की ओर अभियान करने में लगी हुई थीं। वस्तुतः कोसल जनपद ने ही, जिसके राजा के रूप में राम प्रस्तुत किये गये हैं, महाकाव्य के वर्णन के अनुसार दक्षिण में उपनिवेशों की स्थापना की, अथवा स्वयं कवि ही कोशल देश का वासी[1] था जिसने यह सम्मान अपनी जाति और अपने राजा को प्रदान किया। यह एक ऐसा विषय है, जिस पर किसी प्रकार का निर्णय दे सकना संभव नहीं है। कवि ने सीता को विदेह के राजा जनक की पुत्री बताया है; विदेह जन कोशल के पड़ोस में बसा हुआ जन है और राजा जनक अपनी धार्मिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। 'रामायण' में दक्षिण भारत के विषय में जो अल्प ज्ञान प्राप्त होता है उसे इसकी प्राचीनता को सिद्ध करने वाला तथ्य बताया गया है; कारण, 'महाभारत' में इस क्षेत्र में सभ्यता का अधिक विकास और इसका शेष भारतवर्ष से सीधा सम्पर्क दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इस स्थिति में केवल इन दो बातों में से किसी एक का ही प्रमाण मुझे दिखाई पड़ता है : पहला यह कि रामायण के कवि को भौगोलिक तथ्यों की उत्तम जानकारी नहीं थी, जबकि महाभारत में कई पीढ़ियों ने लगकर इस युद्ध को यथासम्भव अनेक प्रकार के तथ्यों से संबद्ध कर इसके महत्त्व को बढ़ाने का ध्येय बना रखा था। अथवा दूसरी बात, जिस पर मैं अधिक बल देना चाहता हूँ, यह हो सकती है

---

[1] रामायण के अनुसार, उन्होंने ही अर्थात् भगीरथ ने, गंगा के उद्गम का अन्वेषण किया। वस्तुतः वे आर्यों के पश्चिमी केन्द्र थे न कि दक्षिणी।

कि कवि ने जो कार्य हाथ में लिया था, उसे उसने ठीक तरह से समझा और सम्पन्न किया; अतएव उसने पूर्वकालीन वस्तुस्थिति के साथ परवर्ती दशाओं का मिश्रण नहीं किया। 'रामायण' की सम्पूर्ण योजना हमारी इस धारणा को पुष्ट करती है कि यह एक व्यक्ति की कृति या काव्यीय रचना है। इस रचना के विस्तार को देखते हुए, जिसमें प्रायः २४,००० श्लोक हैं, उपर्युक्त कथन अत्युक्तिपूर्ण लगता है; महाकाव्यीय कविता इस प्रकार की पूर्णता की अवस्था में आने के पूर्व विकास की अनेक अवस्थाओं से होकर गुजर चुकी होगी[1]। तथापि इसका यह अर्थ कदापि नहीं निकलता कि यह काव्य आरम्भ से ही इतना बड़ा था; इसमें भी अनेक अंश बाद में जोड़े गये हैं; उदाहरण के लिये, वे सभी अंश जिनमें राम को विष्णु का अवतार बताया गया है, प्रथम काण्ड की सभी कथाएँ, सम्पूर्ण सातवाँ काण्ड, इत्यादि। यह काव्य मूलतः मौखिक संक्रमित होता था और ठीक 'महाभारत' के समान बाद के समय में ही इसे एक निश्चित लिखित रूप मिला। किन्तु यहाँ एक और विलक्षण बात सामने आती है—जो उसी रूप में बाद की रचनाओं में देखने में नहीं आती; वह यह कि इस काव्य के अनेक पाठ उपलब्ध होते हैं। वर्ण्य विषय की दृष्टि से ये पाठ अधिकांशतः साम्य रखते हुए भी या तो एक भिन्न क्रमविन्यास का अनुसरण करते हैं अथवा प्रायः अभिव्यक्ति की दृष्टि से आपाततः ठोस अन्तर रखते हैं। इसका कारण एकमात्र यही प्रतीत होता है कि लेखबद्ध करके इस काव्य को निश्चित स्वरूप प्रदान करने का कार्य भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्वतन्त्र रूप से हुआ। सम्पूर्ण काव्य का जी० गोरेसिओ का एक संस्करण है। इसके अन्तर्गत तथाकथित बंगाली पाठ और पहले के वे दो संस्करण भी हैं जो द्वितीय काण्ड के बाद खण्डित हैं; इनमें से एक का प्रकाशन सेरामपुर में कैरी (Carey) और मार्शमैन (Marshman) ने किया था, दूसरे को बोन में ए० डब्ल्यू० फोन स्लेगेल ने

---

[1] इन अवस्थाओं का चिह्न संभवतः हम 'ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयः' में पाते हैं [इस पर आपने 'पाणिनि' पृ० २८ में गोल्डस्ट्यूकर ने अपवाद प्रदर्शित किया है, जो निःसन्देह सही है; देखिए इं० स्टू० ५।२७] 'यमसभीयः इन्द्रजननीयः' का उल्लेख पाणिनि ४।३।८८ में किया है; और आख्यानों तथा छानराट् में भी हम इनके चिह्न पाते हैं, जिनको पाणिनि ६।२। १०३ के अनुसार विभिन्न दिशाओं के अनुसार विभिन्न नाम दिये जाने चाहिए। छानराट् शब्द अब भी मेरी समझ में नहीं आया है, देखिए, इं० स्टू० १।१५३ (शेष के लिए, जैसा कि कलकत्ता के भाष्यकार ने कहा है, इस नियम की पतंजलि के भाष्य में व्याख्या नहीं की गई है; संभवतः यह सूत्र पाणिनि का न हो, अपितु उनके बाद का हो) 'ग्रन्थ' शब्द संभवतः बाहरी बन्धन के लिये (जर्मन शब्द हेफ्ट, बाण्ड) प्रयुक्त हो सकता है या बीच की रचना के लिये, इन दोनों में किसे मान्यता दी जाय इसका निर्धारण अभी नहीं किया जा सकता, किन्तु मैं प्रथम विचार को सही मानता हूँ [देखिए ऊपर, पृ० १५, ९९, १६५]

प्रकाशित किया था। बर्लिन पुस्तकालय की पाण्डुलिपि में एक चौथा पाठ भी देखने में आता है।[1]

रामायण और अन्य काव्यों के बीच उसी प्रकार का एक व्यवधान है जैसा महाभारत और विद्यमान पुराणों के बीच। इस व्यवधान को पूरा करने के लिये संभवतः हमें उन काव्यों के नाम देने होंगे, जो बाली द्वीप[2] की कवि भाषा में पाये गये हैं। इनमें से अधिकांश

---

[1] इन पाण्डुलिपियों की मेरी सूची पृ० ११९ देखिए [राम के भाष्य के साथ मूल के दो संस्करण भारत में प्रकाशित हुए हैं; एक कलकत्ता में १८५९-६० में और दूसरा बम्बई में १८५९ में। दूसरे संस्करण के विषय में इं० स्ट्रा० २।२३५-२४५ में मेरी टिप्पणी देखिए। १८६७ में उत्तरकाण्ड के मूल के प्रकाशन तथा १८७० में उसके अनुवाद के प्रकाशन के साथ गोरेंसिओ का संस्करण पूरा हुआ है। हिप्पोलिटे फाउसे का फ्रांसीसी अनुवाद गोरेंसिओ के मूल का अनुसरण करता है; जबकि ग्रिफिथ का पद्यबद्ध अंग्रेजी रूपान्तर (बनारस, १८७०-७४) पाँच भाग बम्बई संस्करण के अनुसार है। अपने लेख 'उइबेर डस् रामायणम्' १८७०। जिसका अंग्रेजी अनुवाद इण्डियन एण्टिक्वेरी, १८७२ में तथा पृथक् रूप में बम्बई से १८७३ में प्रकाशित हुआ है) 'मैंने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध कथाओं में मौलिक रूप में पाई जाने वाली इस कथा में वाल्मीकि के हाथों जो परिवर्तन हुए वे ट्रोजन आख्यानचक्र के परिचय पर आधारित हैं और मैंने इसी प्रकार इस ग्रन्थ का साहित्य के इतिहास में स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इसमें जो निष्कर्ष निकाला गया है वह यह है कि इसकी रचना का काल ईस्वी संवत् का आरम्भ काल मानना चाहिए और किसी भी दशा में यह उस युग की रचना है जब भारत पर यूनानी प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। इस पर काशीनाथ त्रिम्बक तेलंग (१८७३) ने एक प्रतिलेख लिखा 'वाज द रामायण कॉपीड फ्राम होमर' इस विषय में इण्ड० एण्टि० २।२०९, इं० स्टू० १३।३३६, ४८० देखिए। उसी लेखक ने बाद में इं० एण्टि० ३।१२४, २६७ में एक श्लोकार्ध का निर्देश किया है जो युद्धकाण्ड में आता है और दो बार पतंजलि के 'महाभाष्य' में भी आया है। किन्तु इस श्लोक में अधिक सामान्य विचार दृष्टिगोचर होता है (एति जीवन्तम् आनन्दो नरं वर्षशताद् अपि) अतएव यह आवश्यक नहीं कि यह रामायण का ही हो।

फलतः अपने आप में यह इस काव्य की पतंजलि से पूर्वकालीनता के विषय में कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत करता और वाल्मीकि ने इसका केवल उद्धरण के रूप में उल्लेख किया है। इस विषय पर तथा इसी के समान कुछ अन्य विषयों पर इण्ड० एण्टि० ४।२४७ (१८७५) में मेरा पत्र देखिए।

[2] देखिए, फ्रीडेरिश, वही, इं० स्टू० २।१३९; पतंजलि के महाभाष्य में तत्कालीन महाकाव्य या वर्णनात्मक काव्य के जो अनेक चिह्न उपलब्ध होते हैं और जो उस ग्रंथ में

मूल संस्कृत रचनाओं से उत्पन्न हुए हैं। जो भी हो हिन्दुओं का जावा को विस्तार, जहाँ से वे बाद में बाली तक जा पहुँचे, ऐसे समय में हुआ होगा, जब काव्यसाहित्य विशेष रूप से समृद्धिशाली हो रहा था; अन्यथा हम इनमें पाये जाने वाले 'कवि' और 'काव्य' के प्रयोगों की व्याख्या उचित रूप से नहीं कर सकते। अवशिष्ट काव्यों में सर्वाधिक स्वतन्त्र रूप वाले और स्वरूपतः रामायण के बाद के तथा संभवतः आकार की दृष्टि से सुगम और विशुद्ध हैं, वे हैं, कालिदास के नाम से दो रचनाएँ[1] 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' (दोनों ही कवि-भाषा में भी पायी जाती हैं।) इसके अतिरिक्त अन्य काव्य समान रूप से विषय की दृष्टि से 'महाभारत' या 'रामायण' का अनुसरण करते हैं; और भाषा तथा शैली में वे उपर्युक्त दो काव्यों से स्पष्टतः पर्याप्त अन्तर प्रदर्शित करते हैं। ये परवर्ती रचनाएँ उत्तरोत्तर महा काव्य के क्षेत्र का त्याग करती जाती हैं, और श्रृंगारिक, गीतात्मक या शिक्षाप्रद-वर्णनात्मक क्षेत्र में प्रवेश करती जाती हैं, जबकि भाषा अधिकाधिक दुरूह शब्दावलियों के बोझ से लदती जाती है; अन्ततोगत्वा अपनी अन्तिम अवस्था में आकर यह कृत्रिम काव्य एक भोंडी शाब्दी क्रीडा के रूप में परिणत हो जाता है। काव्यरूप का एक आडम्बरयुक्त चमत्कार, अभिव्यक्ति की दुरूह क्रीड़ाएँ तथा विचित्रताएँ ही कवि का मुख्य ध्येय बन जाती हैं; विषय नितान्त गौण हो जाता है और वह कवि को भाषा की तोड़-मरोड़ की दक्षता प्रदर्शित करने की सामग्री मात्र ही प्रस्तुत करता है।[2]

सीधे लिये गये उद्धरणों के रूप में दिखाई पड़ते हैं हमें बहुत पहले के समय में पहुँचाते हैं; देखिए, इं० स्टू० १३।४६३ आदि।

[1] उनका मूल और अनुवाद के साथ स्टेंजलेर ने संपादन किया है [उस समय से मल्लिनाथ के भाष्य सहित या बिना भाष्य के भी इसके अनेक संस्करण भारत में निकल चुके हैं। 'कुमारसंभवम्' के प्रथम सात सर्गों के साथ जितने की पहले जानकारी थी, हाल ही में दस और सर्ग जुड़ गये हैं; इनसे संबद्ध आलोचनात्मक प्रश्नों पर त्सा० डा० मो० गें०भाग २७, १७४-१८२ (१८७३) देखिए। दोनों रचनाओं में पाये जाने वाले नाक्षत्रिक तथ्यों के आधार पर एच० याकोबी ने 'मोनाट्सबेर डेर बर्लि० एकेड०' १८७३ पृ० ५५६ में यह प्रदर्शित किया है कि उनकी रचना का समय चौथी शताब्दी ई० के मध्य से पहले का नहीं रखा जा सकता। संभवतः 'रघुवंश' की रचना एक भोज राजा के सम्मान में की गई थी; राम० ताप० उप० पर मेरा लेख देखिए पृ० २७९; इं० स्ट्रा० १।३१२]।

[2] इन कलावादी काव्यों में छः को विशेष रूप से महाकाव्य कहा गया है 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' के अतिरिक्त अन्य हैं :(१) 'भट्टिकाव्य' २२ सर्गों में, वलभी में श्रीधरसेन राजा (२२।३५) के आश्रय में ६ठीं या ७वीं शताब्दी में रचित; यह राम की कथा का वर्णन करता है और व्याकरण से विशेषतः संबद्ध है। (२) 'माघकाव्य' या दत्तक के पुत्र माघरचित 'शिशुपालवध', २२ सर्गों में (कवि के पितामह सुप्रभदेव को श्री धर्मनाभ

राजा का मन्त्री बताया गया है और (३) भारवि का 'किरातार्जुनीय' १८ सर्गों में-दोनों हलायुध (१०वीं शताब्दी के अन्त) से पूर्व के समय के हैं, देखिए इं० स्टू० ८।१९३, १९५, १९६; (४) श्रीहर्ष का नैषधीय, २२ सर्गों में बारहवीं शताब्दी की रचना (देखिए जर्नल बाम्बे ब्रांच रा० ए० सो० १०।३५ में ब्यूहलेर की उक्ति)। कविराज का 'राघव-पाण्डवीय' किसी भी अवस्था में १०वीं शताब्दी के बाद का है (दे० इं० स्टू० १।३७१) इसका बहुत सम्मान है; इसमें एक ही शब्दों में रामायण और महाभारत की कथा कही गई है और नलोदय के समान ही ४ सर्गों में है, जिसे कालिदास की रचना भी बताया जाता है (१८३० में फेर्ड० बेनारी ने इसका संपादन किया है) यह इस वर्ग के काव्य में सर्वाधिक कृत्रिम काव्यों में एक है। इन सभी रचनाओं का भारत में अनेक बार प्रकाशन हुआ है और इनके साथ इस प्रकार की अनेक रचनाओं को भी गिना जा सकता है। प्राकृत काव्य 'सेतु-बन्ध' या 'रावणवध' जो राम की कथा से संबद्ध है तथा कालिदास की रचना के रूप में ख्यात है विशेषतः उल्लेखनीय है। इसके दो सर्गों का प्रकाशन पाल गोल्डस्मिट ने किया है (गोटिंगेन, १८७३) और सीगफ्रीड गोल्डस्मिडट् सम्पूर्ण ग्रंथ का संस्करण निकालने में लगे हैं।

८ : नाटक

महाकाव्य के बाद संस्कृत काव्य के विकास की दूसरी श्रेणी के रूप में नाटक आता है। इस साहित्यिक विधा का नाम 'नाटक' है और इसके पात्र को 'नट' कहा गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'नाचनेवाला'। इस प्रकार शब्दव्युत्पत्ति इस तथ्य का निर्देश करती है कि नाटक का उद्भव नृत्य से हुआ है, जिसके साथ आरम्भ में केवल संगीत और गान होता था, किन्तु कालान्तर में अभिनय, सामूहिक प्रदर्शन और कथोपकथन भी होने लगे। ऋक् सूक्तों में नृत्य का अनेक बार उल्लेख है (यथा १।१०।१, ९२,४ इत्यादि में) किन्तु 'अथर्वसंहिता' और यजुस्[1] में इसका विशेषतः बार-बार प्रयोग किया गया है, यद्यपि सर्वत्र 'नृत्' धातु के रूप में प्रयोग हुआ है। प्राकृत भाषा का रूप 'नट्' सर्वप्रथम पाणिनि में आता है, जिन्होंने इसके अतिरिक्त पृथक् नटसूत्रों[2] के अस्तित्व की सूचना भी दी है, जो नटों के व्यवहार के लिये विशिष्ट ग्रन्थ होते थे। इनमें से एक नटसूत्र 'शिलालिन्' का और दूसरा 'कृशाश्व' का बताया गया है, और इनके अनुयायियों को क्रमशः शैलालिन् और कृशाश्विन् नामों से अभिहित किया गया है। इनमें से प्रथम नाम का समरूप नाम कम से कम शैलालि में मिलता है जो 'शतपथ-ब्राह्मण' के तेरहवें काण्ड में आया है; और संभवतः इसका संबन्ध 'शैलूष' और 'कुशीलव' शब्दों से भी जोड़ा जा सकता है, जो दोनों ही नाम

---

[1] वाजसनेयि-सं० ३० के अनुसार अनेक प्रकार के वाद्ययन्त्रों के साथ। वा० सं० के उपर्युक्त अंश में हम अनेक गायकों और नर्तकों का उल्लेख पाते हैं तथा स्वयं शैलूष शब्द भी आया है जो आगे चलकर नटों या अभिनेताओं के लिये विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ, देखिए, इं० १।७६,८३। कात्य० २२।४३ के भाष्य के अनुसार उन "व्रात्यगणस्य ये सम्पादयेयुः' से, जैसा कि ग्रंथ में आया है, हमें नृत्य, संगीत और गानविद्या के आचार्यों से अर्थ लेना चाहिए "जो व्यक्ति नाचता और गाता है, उससे स्त्रियाँ प्रसन्न रहती हैं" शत० ३।२।४।६१।

[2] कलकत्ता के भाष्यकार के अनुसार, इन दो नियमों की व्याख्या पतंजलि के भाष्य में नहीं की गई है; संभवतः इस कारण वे पाणिनि की रचना न रहे हों, अपितु पतंजलि के समय के बाद के हों ['शैलालिनो नटाः' का उल्लेख ४।२।६६ के भाष्य में किया गया है; 'अनुपद-सूत्र' में शैलालिनः को कर्मकाण्डियों की शाखा बताया गया है, देखिए, इं० स्टू० १३।४२९]।

'अभिनेता' (?)[१] को द्योतित करते हैं। इसके विपरीत, 'कुशीलव' नाम इस सन्दर्भ में अधिक आश्चर्यजनक लगता है; कारण, इसके अतिरिक्त यह नाम एक ऐसे प्राचीन वीर का है जो हिन्दुओं और पारसियों से समान रूप से संबन्ध रखता है।[२] इस उल्लेख के अतिरिक्त इनमें से किसी भी रचना का कोई और विवरण हमें नहीं मिलता। पाणिनि[३] ने 'नाट्यम्' शब्द को 'नटानां धर्म आम्नायो वा' के अर्थ में दिया है। दोनों ही स्थलों पर संभवतः हमें इस शब्द से नृत्यकला का अर्थ लेना चाहिए, न कि अभिनयकला का। अब तक यह एकमत से माना जाता रहा है कि भारतीय नाटक का उद्भव उसी प्रकार धार्मिक उत्सवों एवं अनुष्ठानों (तथाकथित 'रहस्यों') से हुआ, जिस प्रकार मध्ययुग में हमारे (पश्चिमी) आधुनिक नाटक का जन्म हुआ था; और नृत्य भी मौलिक रूप में धार्मिक प्रयोजनों का साधक था। किन्तु इस अन्तिम कल्पना के समर्थन में मुझे उन श्रौत या गृह्यसूत्रों में एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं हो सका है, जिनसे मैं परिचित हूँ (हालाँकि मैं यह स्वीकार करता हूँ कि गृह्यसूत्रों के विषय में मेरी जानकारी सुलझी हुई नहीं है।[४] इस प्रकार कम से कम प्राचीन काल में नृत्य का धार्मिक महत्व था, यह सन्देहास्पद है; चूँकि स्पष्टतः नृत्य से ही नाटक का जन्म हुआ है, अतएव नाटक का भी धार्मिक उत्सवों एवं अनुष्ठानों से मौलिक संबन्ध सन्देहपूर्ण दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त, यह तथ्य भी मिलता है कि अधिक प्राचीन नाटकों का विषय ही नागरिक जीवन से संबद्ध है, जबकि इसके विपरीत, अधिक अर्वाचीन नाटकों में प्रायः एकमेव धार्मिक प्रयोजनों को

---

[१] ये शब्द संभवतः 'शील' से व्युत्पन्न हैं और इन नामों से ख्यात व्यक्तियों की चारित्रिक भ्रष्टता का संकेत करते हैं। और यदि शिलाल शब्द भी शील से व्युत्पन्न हो तो उसके संबन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। रामायण के आरम्भ में राम के दो पुत्रों कुश और लव के नामों से व्युत्पन्न शब्द का प्रयोग स्पष्टतः 'कु-शीलव' नाम की कुत्सा को दूर करने के लिये किया गया है।

[२] क्या यहाँ हमें इस शब्द को दरिद्रता का उपहास करनेवाले नाम के रूप में लेना चाहिए जो प्राचीन काल के प्रसिद्ध कृशाश्व का भी व्यंग्यात्मक निर्देश करता है?

[३] ४।३।१२९; इस सूत्र की भी व्याख्या 'महाभाष्य' में नहीं की गई है; अतएव संभवतः यह पाणिनि का नहीं है और पतंजलि के बाद का है।

[४] इस विषय पर मुझे इन साधनों से अब भी स्वल्प सूचनाएँ ही प्राप्त हैं। अन्य बातों के साथ-साथ 'पितृमेधयज्ञ' में हम नृत्य संगीत और गान का उल्लेख पाते हैं जो 'शिल्प' या कला के तीन रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं और सम्पूर्ण दिन के लिये विदित हैं; कात्य० २१।३।११; किन्तु एक स्नातक इनमें से किसी में भाग नहीं ले सकता न तो सक्रिय रूप में और न ही द्रष्टा के रूप में, पार० २।७; वधू की विदाई के दिन के पूर्व के दिन चार या आठ विवाहित स्त्रियाँ उसके घर में नृत्य करती थीं; शांख० गृ० १।११।

सम्मुख रखा गया है। अतएव धार्मिक उत्सवों पर नृत्य[1] और नाटक का प्रयोग केवल बाद के समय में होना सिद्ध होता है।[2] इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि उन याज्ञिक उत्सवों पर, जिन्हें समय-समय पर राजा आयोजित किया करते थे, नृत्य होता ही नहीं था। किन्तु इससे केवल इतना ही समझना चाहिए कि यह स्वयं धार्मिक कृत्य या समारोह का अंग नहीं था, अपितु इसे केवल इन कार्यों से विश्राम के समय ही स्थान मिल सका था और मिलता था। रंगमंचनिदेशक को स्वयं नाटकों में जो 'सूत्रधार' नाम दिया गया है उसका सम्बन्ध ठीक ही 'नापने वाले' डोरे को पकड़ने वाले 'बढ़ई'[3] के मौलिक अर्थ के साथ जोड़ा गया है। कारण, इन याज्ञिक अनुष्ठानों में यज्ञ में भाग लेने वालों के लिये मण्डप बनाने वाले निर्माता का एक यह भी कार्य था कि वह उनके मनोरंजन के लिये अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ करता था (देखिए लास्सेन, इं० स्टू० २।५०३)। ऐसे अवसरों पर उल्लिखित नटों और नर्तकों को नाचने वाले और अभिनय करने वाले माना जाय या नहीं, यह सन्देहपूर्ण है; किन्तु इनसे इस प्रकार के अर्थ का निश्चित संकेत न मिलने के कारण मैं इस शब्द के व्युत्पत्ति-

---

[1] मेघदूत श्लोक ३५, ३६ में इसका उल्लेख है।

[2] पतंजलि के महाभाष्य ने तत्कालीन रंगमंचीय प्रदर्शन के ऊपर जो आशातीत प्रकाश डाला है उससे इस प्रश्न को एक ऐसा रूप मिला है जो लास्सेन द्वारा मुख्य रूप में प्रतिपादित मत के अनुकूल है। लास्सेन नाटक को हमारे 'मिस्टरीज' के समान धार्मिक उत्सवों एवं क्रियाओं से उत्पन्न मानते हैं। तथाकथित सैभिकों द्वारा 'कंसवध' और 'वलिवध' के अभिनय के जो उल्लेख इसमें आये हैं (तु० की० हारावली, १५१, में 'सौभिक', यद्यपि इन्हें सोभ, या सोभनगरक 'इन्द्रजालिक' या जादूगर बताया गया है, इं० स्टू० ३।१५३) वे हमें सीधे इसी निकर्ष पर पहुँचाते हैं; देखिए; इं० स्टू० १३।३५४, ४८७, "किन्तु भाष्य में उल्लिखित नाट्यप्रदर्शन के जो अल्पाधिक धार्मिक उत्सवों के समय के अभिनयों के स्वरूप-वाला है, तथा इस समय वस्तुतः उपलब्ध प्राचीन यथार्थ नाटकों के बीच हमें निस्सन्देह समय का पर्याप्त व्यवधान मानना पड़ेगा, जिस बीच नाटक को इन विद्यमान नाटकों में पाया जाने वाला विकसित स्वरूप क्रमशः प्राप्त हुआ; और इस संबन्ध में भी मैं ग्रीक नाटकों के अवलोकन का कुछ प्रभाव मानता हूँ। भारतीय नाटक विविध क्षेत्रों में उत्कृष्ट रूप में विभक्त होकर—विशेष रूप से नागरिक जीवन से संबद्ध नाटक के रूप में—अपने पर्य-वसान की अवस्था में अन्ततोगत्वा उसी वर्ग के विषयों पर लौट आया, जिनसे इसका आरम्भ हुआ था अर्थात् देवताओं की कथा को प्रस्तुत करना"— वही, पृ० ४९१, ४९२।

[3] अतएव संभवतः उपर्युक्त नटसूत्रों से इसका कोई संबन्ध नहीं है। बौद्धों द्वारा इस शब्द के दूसरे प्रयोग के लिये लास्सेन का इं० अल्ट० २।८१ देखिए। कठपुतली रंगमंच के विषय में तो हमें सोचना ही नहीं चाहिए; हालाँकि जावा के कठपुतली-प्रदर्शन से ऐसी संभावना उठती है।

परक अर्थ का ही आश्रय लेता हूँ; जहाँ ये दोनों शब्द (जैसे रामा० १.१२.७ गोरें०) एक साथ आये हैं, वहाँ 'नट' का निश्चय ही 'अभिनेता' अर्थ लेना होगा। वस्तुतः बौद्ध-जातक एक स्थान पर बुद्ध के दो शिष्यों मौद्गल्यायन और उपतिष्य के जीवन की कथा में इन व्यक्तियों के सम्मुख नाटक का अभिनय होने का उल्लेख करता है।[1] किन्तु यहाँ तत्काल उस रचना के समय के विषय में जिसमें यह उल्लेख आया है, एक प्रश्न उठता है; इस पर कोई निर्णय देने के पूर्व इस मुख्य विषय का समाधान कर लेना आवश्यक है। सचमुच ही लास्सेन का कथन है कि "प्राचीन बौद्ध रचनाओं में नाटक देखना एक प्रकार का सामान्य कार्य बताया गया है।" किन्तु इसके लिये वे जो एकमात्र प्रमाण देते हैं वह है टिप्पणी में निर्दिष्ट दुल्व का एक अंश। दुल्व अर्थात् 'विनयपिटक' को, जैसा कि सुविदित है, प्राचीन-तम बौद्ध रचनाओं के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इसमें विभिन्न समयों के अंश हैं; कुछ की प्राचीनता तो नितान्त सन्दिग्ध है। 'ललितविस्तर' में, जिसमें बुद्ध की अनेक कलाओं और विज्ञानों में परीक्षा ली जाने का वर्णन है (फाउकाक्स, पृ० १५०) 'नाट्य' को निश्चय ही अभिनयकला के अर्थ में लेना चाहिए और इसलिए फाउकाक्स (Foucaux) ने इसका अनुवाद इसी अर्थ में किया है; किन्तु इससे पृथक् नाटकों के अस्तित्व का संकेत नहीं मिलता। इस रचना ('ललितविस्तर') का समय भी निश्चित नहीं माना जा सकता; और किसी भी स्थिति में बुद्ध के समय के लिये यह परीक्षा की कथा सारहीन है।

अवशिष्ट नाटकों के संबन्ध में अब तक तथाकथित परम्परा का अनुसरण कर तथा उनमें से प्राचीनतम नाटकों 'मृच्छकटी' और कालिदास की रचनाओं को प्रथम शताब्दी ई० पू० का माना जाता रहा है—जबकि इसके बाद आने वाली रचनाएँ यथा भवभूति के नाटक को आठवीं शताब्दी ई० जितने अर्वाचीन समय का बताया जाता है। इस प्रकार कालिदास और भवभूति के बीच प्रायः आठ या नौ शताब्दियों का अन्तर ठहरता है। इस मत के अनुसार, इस युग की एक भी रचना इस समय उपलब्ध नहीं है। किन्तु यह धारणा स्वतः ही नितान्त असंभव प्रतीत होती है; और यदि ऐसी बात होती तो नये युग के नाटकों में ही, उनसे आठ या नौ सौ वर्ष पूर्ववर्ती रचनाओं से कम से कम एक भिन्न प्रवृत्ति और

---

[1] सोमा कोरोसी (Csoma Korosi) जिन्होंने इसका विवरण एस० रिस० २०।५० में दिया है, इन शब्दों का प्रयोग किया है: "वे राजगृह में एक उत्सव के अवसर पर मिलते हैं.... दृश्यों के प्रदर्शन के समय उनका व्यवहार और प्रदर्शन समाप्त होने पर उनके पारस्परिक संलाप।" 'दृश्य' (Spectacle) से क्या हमें नाटकीय दृश्य, या नाटक अर्थ लेना चाहिए ? [ठीक यही बात वीसूक के संबन्ध में भी लागू होती है जो दक्षिणी बौद्धों के सुत्तों में 'मनोरंजन' का अर्थ रखता है, इनमें इस प्रकार के प्रदर्शनों (वीसूक-दस्सन) को देखने की भगवन्त द्वारा ब्राह्मणों की सांसारिकता की निन्दा में उल्लेख किया गया है; द्र०-बर्नाउफ, लोट्स डि ला बोन्ने लोई, प० ४६५; इं० स्टू० ३।१५२-१५४]।

पृथक् वर्णनशैली दृष्टिगोचर होती,[१] किन्तु ऐसी स्थिति बिल्कुल नहीं है और इस प्रकार हम इस तथाकथित परंपरा को अस्वीकार कर देने के लिये बाध्य हैं और हमें बहुत प्राचीन रचनाओं को भवभूति के समय के आसपास का ही मानना पड़ता है। अपरंच, जब हम इस विषय पर अधिक निकट से दृष्टिपात करते हैं, तो हम पाते हैं कि जहाँ तक कालिदास का संबन्ध है, भारतीय परम्परा अब तक मान्य मत का कोई भी आधार प्रस्तुत नहीं करती। हम केवल यही देखते हैं कि परम्परा का आपाततः दुरुपयोग किया गया है। परम्परा यह कहती है कि कालिदास विक्रमादित्य की सभा में थे और यह बात एक स्मरणीय श्लोक में कही गई है, जिसके अनुसार धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि[२] विक्रम की सभा के नवरत्न थे। इस एक श्लोक पर ही—जो असंबद्ध और भ्रष्ट है तथा जिसके स्रोत का शिल्लेर के 'मेड्शेन आउसडेर् फ्रेम्डे' के समान किसी को ज्ञान नहीं है[३] और जिसकी प्रामाणिकता अत्यन्त सन्दिग्ध है—यह विचार आधृत है कि कालिदास ५६ ई० पू० में उत्पन्न हुए थे। कारण, लोग यहाँ उपस्थित की गई परम्परा को प्रामाणिक मानने के लिये सरलता से प्रस्तुत नहीं थे—और इस तथ्य के बावजूद भी कि इस परम्परा को अभिव्यक्त करने वाले श्लोक की विश्वसनीयता को भी चुनौती थी[४]—उन्होंने बिना सोचे-विचारे यह तत्काल निर्णय कर लिया

---

[१] यहाँ मैंने होल्टजमन्न के 'उइबेर डेन् ग्रीशिश्शेन उर्संप्रुंग डेस् इण्डिश्शेन थिर्क्राइसेस', कार्लस्रूह, १८४१, पृ० २६ में अमर के संबन्ध में दिये गये उल्लेख के शब्दों की नकल की है।

[२] स्पष्टतः ये व्रिरच है, जिनका उल्लेख हिन्दुस्तानी इतिहासकारों ने 'विक्रमचरित्र' के लेखक के रूप में किया है (जर्न० एशि० मई १८४४, पृ० ३५६) [वररुचि रचित बताया जाने वाला 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' का यह पाठ वस्तुतः उपलब्ध होता है; देखिए आऊफ्रेष्ट, केट० आफ संस्कृ० मैन्यु० लाइब्र० त्रि० कालेज कैम्ब्रिज, पृ० ११, और वेस्टेरगार्ड केटल० कोड० ओरि० बिब्लि० रिग्० हाउनीन्सिस, पृ० १००]

[३] इसे 'विक्रमचरित' से भी उद्धृत बताया जाता है; किन्तु जन० एसि० अक्टू० १८४५, पृ० २७८ आदि में इस ग्रंथ के विश्लेषण के अन्तर्गत रोथ ने इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा है। [और वस्तुतः न तो यह उसमें और न 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' के किसी भी पाठ में, जिसकी मुझे जानकारी है, मिलता है। यह लगभग सोलहवीं शताब्दी के 'ज्योतिर्विदाभरण' . (२२,१०, देखिए त्सा० डा० मो० गे० २२।७२३, १८६४) और तथाकथित 'नवरत्न' के एक सिंहली पाण्डुलिपि में मिलता है (इसके साथ सिंहली भाष्य भी है) जो वेस्टेरगार्ड के कोड० ओरि० बिब्लि० रेग० हाउन्० पृ० १४(१८४६) में उल्लिखित है।]

[४] अंशतः यह एक भ्रम पर आधृत है। यह कहा गया था कि इस श्लोक में

कि इसमें उल्लिखित विक्रम वे ही विक्रमादित्य हैं, जिनका संवत् जो अब भी प्रचलित है, ५६ ई० पू० से आरम्भ होता है। किन्तु हम यह भी जानते हैं कि अनेक विभिन्न विक्रम और विक्रमादित्य[1] हो चुके हैं और कतिपय आधुनिक रचनाओं[2] में पायी जाने वाली परम्परा, जो पहले इस प्रकार के निर्णय को स्वीकार करने के पूर्व निश्चय ही निराधार समझी जाती होगी, यह स्पष्टतः (सही रूप में या नहीं, यह स्वतः एक प्रश्न है) उल्लेख करती है कि मालव के राजा भोज जो धारा और उज्जयिनी में निवास करते थे विक्रम थे और उन्हीं की सभा में ये नवरत्न हुए थे तथा एक शिलालेख के अनुसार[3] यह राजा भोज १०४०—

आने वाला घटकर्पर नाम किसी ग्रंथ का नाम है व्यक्ति का नहीं; किन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है; कारण, उनके नाम से अनेक काव्य हैं।

[1] 'प्रताप का सूर्य' यह एक सामान्य उपाधि है, नाम नहीं।

[2] उदाहरण के लिए हेबेंलिन का 'संस्कृत एंथोलोजी, पृ० ४८३, ४८४ देखिए।

[3] लास्सेन का त्साइट० फ्यूर डी कुण्डे डेस् मोर्गं० ७।२९४ आदि कोलब्रूक २।४६२ देखिए। राइनाउड के अनुसार जर्न० एसि० सितम्बर १८४४, पृ० २५० भोज का समय अल्बीरूनी से कुछ समय पहले का बताया गया है, जिसने १०३१ ई० में अपने विवरण उसके समकालीन के रूप में लिखे थे। और ओतबी ने १०१८ में भी उनके शासन का उल्लेख किया है, देखिए राइनाऊ मेम० सुर ल० इण्डे पृ० २६१ बाद के समय के एक हिन्दुस्तानी इतिहासकार के अनुसार वे विक्रमादित्य से ५४२ वर्ष बाद हुए थे (देखिए जन० एसि० माई, १८४४, पृ० ३५४) इससे विक्रमादित्य का समय ४७६ ई० ठहरता है। यह स्पष्ट उक्ति किस तथ्य पर आधारित है यह निश्चित नहीं है; विक्रमचरित निश्चित रूप से भोज और विक्रम के बीच के समय का निर्धारण नहीं करता। जो कुछ भी हो, रोथ ने अपने इस ग्रंथ के विश्लेषण में (जन०, एसि० सितं० १८५४, पृ० २८१) केवल यही कहा है; "bien des annees apres (la mort de Vikramaditya) Bhoja parvint au sovrerain powoir" [मूल में केवल "बहूनि वर्षाणि गतानि" 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' के विविध संस्करणों में किसी में भी इस प्रकार का निश्चित उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि अवन्ति में विक्रम के राज्य और धारा में भोज के राज्य के बीच पर्याप्त अवधि बीतने की बात नियमित रूप में मान्य है] राइनाऊ की तरह दो भोज नामधारी राजाओं की कल्पना करना (वही और मेम० सुर्, ल' इण्डे, पृ० ११३, ११४) दुराग्रह मात्र है। हम विक्रमादित्य की अनिश्चित तिथि का निर्धारण भोज की निश्चित तिथि के आधार पर कर सकते हैं किन्तु इसके विपरीत बात नहीं की जा सकती। विक्रमादित्य के राज्यारोहण का समय युधिष्ठिर संवत् का ३०४४वाँ वर्ष माना गया है; वही पृ० ३५७; किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह भारतीय इतिहासकारों की वास्तविक परम्परा है या केवल अनुवादक ने अपनी ओर से जोड़ दिया है। यदि पहली बात मान भी ली जाय

१०९० ई० में हुए थे। इसके विपरीत, इस मत के पक्ष में कोई और प्रमाण नहीं है कि इस श्लोक में उल्लिखित विक्रम वे ही विक्रमादित्य हैं जिनका संवत् ५६ ई० पू० से प्रारम्भ होता है। यही नहीं, यह बात और भी पुष्ट है, क्योंकि यह प्रदर्शित करने के लिये हमारे पास कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है[1] कि विक्रमादित्य का संवत् उनके जन्म से, उनके किसी विजय या मृत्यु के समय से प्रारम्भ होता है, अथवा अन्ततः, उन्होंने इसका प्रचलन ज्योतिष संबन्धी किसी कारणवश किया था।[2] "उन्हें उनके संवत् के प्रथम वर्ष का मानना उतना

तब भी इससे इतना ही सिद्ध होगा कि इतिहासकार ने या जिस परम्परा का उसने अनुसरण किया उस परम्परा ने विक्रम के समय के विषय में प्रचलित उक्ति को उपर्युक्त विशेष उक्ति के साथ मिला दिया है। [हिन्दुस्तानी इतिहासकार मीर शेर-इ-अली के वाक्यों पर संभवतः अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। वे ठोसरूप में वररुचि के सिंहासनद्वात्रिंशिका के पाठ पर आधृत हैं; इसकी जो पाण्डुलिपि मुझे उपलब्ध है उसमें कालविषयक कोई तथ्य नहीं मिलते।—जो कुछ भी हो इस बीच अनेक भोज होने की कल्पना पूर्णतः पुष्ट हुई है; उदाहरण के लिए राजेन्द्रलाल मित्र ज० ए० सो० बेंगाल १८६३, पृ० ९१ आदि और मेरा इं० स्ट्रा० १।३१२ देखिए]।

[1] द्र० कोलब्रूक २।४७५; लास्सेन, इं० अल्ट० २।४९, ५०, ३९८; राइनाऊ-मेम० सुर ल' इण्डे पृ० ६८ आदि, ७९ आदि; बेंट्रेण्ड, जर्नल एसिआट्० मई, १८४४, पृ० ३५७।

[2] हम इसे सर्वप्रथम पाँचवीं या छठवीं शताब्दी के ज्योतिषी वराहमिहिर में पाते हैं; यद्यपि यह पूर्णतः निश्चित नहीं है, और सातवीं शताब्दी के ब्रह्मगुप्त के समान ही यह शालिवाहन संवत् हो सकता है (जो ७८ ई० से आरम्भ होता है) लास्सेन ने वस्तुतः इसी मत को माना है (इं० अल्ट० १।५०८) किन्तु कोलब्रूक २।४७५ देखिए। अल्बीरूनी ने (द्र० राइनाउड, जर्न० एसिआट० सित० १८४४, पृ० २८२-२८४) शक संवत् के आरम्भ के विषय में विवरण दिये हैं; किन्तु विक्रम के संवत् के विषय में वह अधिक नहीं कहता। [ये दोनों प्रश्न भी, जो भारतीय कालनिर्धारण की दृष्टि से इतने महत्वपूर्ण हैं, अभी सन्तोषपूर्ण ढंग से हल नहीं किये गये हैं। केर्न, वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' की भूमिका पृ० ५ आदि (१८६६), के अनुसार तथाकथित संवत् वर्ष का प्रयोग प्राचीन काल का कथमपि नहीं है; जबकि ज्योतिषी इसका प्रयोग १,००० वर्षों के उपरान्त ही करते हैं। वेस्टगार्ड, 'ओम डि इण्डिस्के केजसेरहाउसे (१८६७) पृ० १६४ के अनुसार दन्तिदुर्ग का दानपत्र, जिस पर शक ६७४, संवत् ८११ (७५४ ई०) तिथि पड़ी है, संवत् के प्रयोग का प्राचीनतम उदाहरण है। बर्नेल का 'एलि० आफ सा० इं० पेलिओ० पृ० ५५ भी देखिए। इसके विपरीत दूसरे लोग, जहाँ कहीं भी संवत्-या संवत्सरे-तिथि वाले मिलते हैं उससे 'संवत्' वर्ष का तात्पर्य लेने में नहीं हिचकते। इस प्रकार उदाहरण के लिए, कनिंघम ने अपने 'आर्कि०

ही बड़ा भ्रम होगा जितना कि पोप ग्रिगोरी त्रयोदश को ग्रिगोरिअन कलेण्डर के वर्ष में या जूलियस सीज़र को उस जूलियन काल का स्वीकार करना, जो उसके नाम से ख्यात है अर्थात् ४७१३ ई० पू०" (होल्टज़मन्न, वही पृ० १९)।

नवरत्नों में यहाँ हमारा तात्कालिक संबन्ध कालिदास से है। उनके नाटकों की कथावस्तु में ऐसी कोई बात नहीं मिलती जो उनके कालनिर्धारण में हमें प्रत्यक्ष सहायता प्रदान कर सके। फिर भी राजा की परिचारिकाओं में यूनानी दासियों का उल्लेख एक ऐसे समय की ओर संकेत करता है, जो बहुत पहले का नहीं हो सकता, जबकि प्रचलित जनभाषा, जो पियदसि के शिलालेखों की भाषा की तुलना में अधिक भ्रष्ट है, और प्राय: इन विभाषाओं के वर्तमान रूपों से साम्य रखती है, जिस रूप में सम्मुख आती है, वह हमें ऐसे समय में पहुँचाती है जो ईसा के कई शताब्दी बाद का है। किन्तु कालिदास को ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में हुए राजा भोज की सभा में विद्यमान बताने वाली परम्परा की सत्यता पर मुझे गम्भीर सन्देह है। इसका एक विशेष कारण यह है कि यह परम्परा उसी सभा में अन्य ऐसे कवियों के होने का उल्लेख करती है, जिनकी रचनाएँ कालिदास की रचनाओं की तुलना में इतनी अवर कोटि की सिद्ध होती हैं कि वे निश्चय ही उनके समय के बाद के युग में हुए होंगे; उदाहरणार्थ एक ऐसे ही कवि 'हनुमन्नाटक' के रचयिता दामोदर मिश्र हैं। अपरंच, कालिदास के नाम से इतनी अधिक रचनाएँ हैं और उनमें कुछ इतने विभिन्न स्वरूप वाली हैं कि हमें इस नाम के अनेक कवियों का अस्तित्व मानना पड़ता है; और वस्तुत: इस नाम का वर्तमान समय तक निरन्तर प्रयोग होता रहा है। यही नहीं, कालिदास रचित कहे जाने वाले तीन नाटकों में से एक नाटक भी शैली की दृष्टि से अन्य दो नाटकों के रचयिता से भिन्न किसी दूसरे कवि की रचना प्रतीत होता है।[1] और इस मत की पुष्टि

सर्वे आफ़ इण्डिया' में ५ संवत् तिथि वाले एक शिलालेख को ५२ई० पू० का माना है; हाल ही में डाउसन ने भी इसी मत को अपनाया है ज रा ए सो ७।३८२ (१८७५)। इग्गेलिंग (ट्रयूब्नेर का अमे० एण्ड ओ० लिट्० रिस०, विशेष अंक १८७५, पृ० ३८) के अनुसार, सर वाल्टर इलिअट के दानपत्रों की सूची में पाया जाने वाला एक शिलालेख शक १६९ (२४७ ई०) का है। बर्नेल ने इसे दसवीं शताब्दी में रचा गया एक झूठा लेख बताया है। 'आनन्दशक, संवत् एण्ड गुप्त एराज़' पृ० ११-१६ में फेरग्यूसन का भी यही मत है कि तथाकथित संवत् वर्ष दसवीं शताब्दी से पहले के समय का नहीं मिलता; अतएव सम्प्रति, दुर्भाग्यवश कोई और साधन न होने के कारण यह एक सामान्य प्रश्न बना हुआ है कि किसी शिलालेख में हमें कौन सा वर्ष लेना चाहिए और उस शिलालेख की तिथि किस समय की माननी चाहिए।]

[1] इस नाटक 'मालविकाग्निमित्र' के अपने अनुवाद की भूमिका में मैंने विशेष रूप से न केवल इसकी प्रामाणिकता के प्रश्न पर अपितु कालिदास के समय के संबन्ध में भी

इस तथ्य से होता है कि इस नाटक की प्रस्तावना में धावक, सौमिल्ल और कविपुत्र को इसके रचयिता का पूर्ववर्ती बताया जाता है। धावक एक ऐसे कवि का नाम है जो काश्मीर के राजा श्री हर्ष के समकालीन थे, अर्थात्, विल्सन के अनुसार बारहवीं शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में हुए थे।[1] यह सच है कि अनेक धावक भी हुए। दूसरी पाण्डुलिपि में भासक

विचार किया है। जो निष्कर्ष निकला है वह सर्वप्रथम तो यह है कि यह नाटक भी वस्तुतः कालिदास का ही है—और शंकर पण्डित भी इस नाटक के अपने संस्करण में इससे सहमत हैं। जहाँ तक दूसरे प्रश्न का संबन्ध है, अंशतः भाषाविषयक एवं अंशतः इसमें चित्रित सभ्यता की अवस्था के आधार पर लिये गये आन्तरिक प्रमाणों से मैं कालिदास के तीन नाटकों को दूसरी से चौथी शताब्दी का अर्थात् गुप्तवंशीय राजा चन्द्रगुप्त के शासन काल का मानता हूँ "जिसका राज्यकाल विक्रम की समृद्धि की आख्यानात्मक परम्परा के समय से सर्वाधिक समानता रखता है और संभवतः उसे इसके साथ ऐक्य प्रदान किया जा सकता है।" लास्सेन ने भी अपना इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है (इं० अल्ट० २।४५७, ११५८-११६०); देखिए इं० स्टू० २।१४८, ४१५-४१७. केर्न ने कालिदास और वराह-मिहिर को समकालीन मानने वाली परम्परा का विशेष निर्देश करते हुए वराह की 'बृहत्संहिता' के अपने प्राक्कथन पृ० २० में नवरत्नों को छठीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में मानने वाले मत का समर्थन किया है। 'कुमारसंभव' तथा 'रघुवंश' के ज्योतिषसंबन्धी तथ्यों के आधार पर याकोबी (मोनाट्स्बेर, डेर्, बेलि० एकेड० १८७३, पृ० ५५६) इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन दोनों काव्यों का रचयिता ३५० ई० के पूर्व नहीं हुआ होगा, किन्तु यहाँ भी आरम्भिक प्रश्न यह है कि उसे नाटककार से अभिन्न माना जाय या नहीं। ट्रियूबनेर के 'अमे० एण्ड ओ० लिट्० रिस्० १८७५, विशेष अंक पृ० ३५ में शंकर पण्डित ने इसे माना है और किसी भी दशा में कालिदास का समय आठवीं शताब्दी के मध्य से पहले का ठहराया है। एक निश्चित कालक्रम-विषयक विवरण के लिये जो संभवतः 'मेघदूत' में प्राप्त होता है, आगे पृ० १९७ टिप्पणी २ देखिए। दक्षिणी बौद्धों ने कालिदास को छठीं शताब्दी का माना है नाइटन 'हिस्ट० आफ० सीलोन, १०५; त्सा० डा० मो० गे० २२।७३०; आधुनिक ज्योतिर्विदों में इस नाम के तीन कवियों की धारणा इतनी प्रबल है कि, वे तीन संख्या का बोध कराने के लिये 'कालिदास' शब्द का भी व्यवहार करते हैं। देखिए त्सा० डा० मो० गे० २२।७१३।

[1] श्रीहर्ष का काल, जिसके आश्रयस्थ 'काव्यप्रकाश' में धावक बताये गये हैं—यहाँ काश्मीरी पाठ पर विचार नहीं किया जा रहा है—इस बीच हाल ने ('वासवदत्ता' की भूमिका) सातवीं शताब्दी बताई है; हाल ने तो धावक नाम के व्यक्ति के अस्तित्व में भी सन्देह प्रकट किया है (पृ० १७) और यह विचार व्यक्त किया है कि "एक पाठभेद के अतिरिक्त उनका कभी भी वास्तविक अस्तित्व नहीं था।" 'रत्नावली' के रचयिता

आया है,[1] और इसके अतिरिक्त ये प्रस्तावनाएँ संभवतः आंशिक रूप में बाद में जोड़ी गई है। कम से कम 'मृच्छकटी' की प्रस्तावना के विषय में तो यह निश्चित ही है; कारण, इसमें स्वयं कवि की मृत्यु का उल्लेख किया गया है।[2] मृच्छकटी, जिसके रचयिता शूद्रक को, विल्सन के अनुसार, विक्रमादित्य[3] के पहले रखने की परम्परा है (वे ही विक्रम जिनके राज्य में 'नवरत्न' हुए थे ?)—किसी भी दशा में द्वितीय शताब्दी (ई० पू०) के पहले नहीं रचा गया होगा। कारण, इसमें 'नाणक' शब्द का एक मुद्रा के रूप में प्रयोग है;[4]

के नाम के विषय में हाल का यह अनुमान, जिसे ब्यूहलेर ने भी माना है, इस बीच पर्याप्त रूप में समर्थित हुआ है। श्रीनगर से लिखे गये ब्यूहलेर के पत्र के अनुसार (इं० स्टू० १४। ४०२ आदि में प्रकाशित) 'काव्यप्रकाश' की सभी काश्मीरी पाण्डुलिपियों में धावक नाम नहीं है अपितु 'बाण' नाम है; धावक का नाम वहाँ के पण्डितों को पूर्णतः अज्ञात है, "चूंकि मम्मट काश्मीर के निवासी थे अतः यह पाठ निश्चय ही शुद्ध है।"—तु० की० आगे की टिप्पणी २१८।

[1]इस अंश में विविध प्रकार के पाठभेद हैं; देखिए हाग 'त्सुर टेक्टस्क्रिटिक उ० एर्कलेरुंग फोन कालिदासाज मालविकाग्निमित्र (१८७२), पृ० ७, ८। हाल, वही, 'भासक' 'रामिल' और 'सौमिल' पाठ को ठीक मानते हैं; इसके विपरीत हॉस, भास, सौमिल्ल और कविपुत्र को मानते हैं। बाण के 'हर्षचरित' भूमिका ५।१५ में भास के नाटकों के लिए प्रशंसा की गई है; वस्तुतः उनके नाम को कालिदास के नाम से भी पहले रखा गया है।

[2]जब तक यह न मान लिया जाय कि प्रख्यात रचयिता शूद्रकराज केवल कवि के आश्रयदाता थे ? भारत में यह बात सामान्यतः पाई जाती है कि वास्तविक रचयिता अपने नाम के स्थान पर अपने आश्रयदाता का नाम रखते हैं।

[3]उदाहरणार्थ, स्कन्दपुराण के भविष्य-काण्ड में उन्हें कलि ३२९० (अर्थात् १८९ ई०) में रखा गया है किन्तु इसके साथ ही उन्हें नन्दों से केवल बीस वर्ष पहले रखा गया, जिन्हें आगे चाणक्य नष्ट करेंगे। दूसरी ओर, विक्रमादित्य का समय, कलि ४००० अर्थात् ८९९ ई० (!) बताया गया है, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का 'मैरिज आफ हिन्दू विडोज', पृ० ६३ (कल० १८५६) और रामायण पर मेरे लेख पृ० ४३ में आए हुए अंश देखिए।

[4]वाज० सं० २५.९ पर महीधर भाष्य में उद्धृत विश्वकोश के अनुसार यह रूप (रुपया ?) का पर्यायवाची है। याज्ञवल्क्य (स्टेजलेर, भूमिका पृ० ११) और वृद्ध गौतम (द्र० दत्तकमीमांसा, पृ० ३४) भी मुद्रा के अर्थ में 'नाणक' शब्द से परिचित हैं [लास्सेन, इ० अल्ट० २।५७५ और म्यूल्लेर, एं० स० लि० पृ० ३३१ नाणक शब्द के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों के विषय में विवाद करते हैं; किन्तु उनकी आपत्तियाँ मुझे ठीक नहीं जँचतीं।

और विल्सन (एरियना एंटिका, पृ० ३६४) के अनुसार, यह शब्द कनेर्कि नाम के राजा के सिक्कों के नाम से लिया गया है, जिसका राज्यकाल इन सिक्कों के प्रमाण के आधार पर, लगभग ४० ई० तक माना जाता है (लास्सेन, इं० अल्ट० २।४१३)। किन्तु मृच्छकटी का समय इससे बहुत बाद का मानना होगा, क्योंकि इसमें जिस विभाषा का प्रयोग किया गया है, वह नितान्त भ्रष्ट अवस्था में दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त इसमें हमें बौद्धधर्म के उत्कर्ष की वही अवस्था दृष्टिगोचर होती है, जो भवभूति के एक नाटक में पायी जाती है, जिसका समय निश्चित रूप से आठवीं शताब्दी ई० है। 'रामायण' और 'महाभारत' का युद्ध वर्णन, यदि इनके नायकों के 'मृच्छकटी' में प्रयोग की दृष्टि से देखा जाय तो इसकी रचना के समय में लोकप्रिय पाठ्यविषय बन चुके हैं; जबकि वर्तमान पुराणों के प्रमुख नायकों के उल्लेख का अभाव होने से हम विल्सन के समान ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये रचनाएँ उस समय तक अस्तित्व में नहीं आई थीं। इस दूसरे अनुमान में केवल यही एक सन्देह उठता है कि इन नवीन पुराणों में जो कथाएँ आई हैं वे संभवतः पहले ही प्रचुर मात्रा में इस नाम की पुरानी रचनाओं में भी आ चुकीं थीं।[1] भवभूति के शेष दो नाटक और परवर्ती नाटक साहित्य का सम्पूर्ण संघात 'रामायण' और 'महाभारत' की वीरतापूर्ण परम्परा से या कृष्ण के जीवन-चरित से संबद्ध है; और जो रचना जितनी ही अधिक अर्वाचीन है वह उतनी ही अधिक मध्ययुग के रहस्यों (Mysteries) के समान है। निःसन्देह सुखान्त नाटक, जो कतिपय अन्य रचनाओं के साथ नागरिक जीवन के क्षेत्र में प्रचलित हैं, इसके अपवाद हैं। एक विशेष वर्ग के नाटक दार्शनिक स्वरूप वाले हैं जिनमें भावनाओं और मूल्यों के प्रतीक नाटकीय पात्रों के रूप में उपस्थित होते हैं। हिन्दू नाटक की एक विलक्षण विशेषता यह है कि स्त्रियाँ, निम्न पद या निकृष्ट वर्ण के पुरुष संस्कृत नहीं बोलते, अपितु सामान्य जनभाषा का ही व्यवहार करते हैं। पृथक्

---

[1] 'देवी द्वारा शुम्भ और निशुम्भ वध जो मार्कण्ड० पुराण में 'देवी माहात्म्य' ५—१० का विषय है, 'मृच्छकटी', पृ० १०५.२२ (स्टेंन्जलेर का संस्करण) में भी उल्लिखित है। उसी स्थल पर १०४.१८ में आए हुए 'करटक' शब्द को पंचतन्त्र का करटक माना जाय या नहीं, यह अनिश्चित है। पृ० १२६.९ में स्टेंजलेर के संस्करण में 'गल्लक्क' पाठ है, किन्तु विल्सन (हिन्दू थिएटर १।१३४) ने 'मल्लक' नाम दिया है और यह संभव समझते हैं कि इसका अर्थ अरबी का 'मालिक' हो सकता है। 'मृच्छकटी' में जैसी अवस्था चित्रित है उसके अनुसार इसका 'दशकुमार' से घनिष्ठ संबन्ध दिखाई पड़ता है यद्यपि 'दशकुमार' ग्यारहवीं शताब्दी में [या छठीं शताब्दी में देखिए आगे पृ० २०२] रची गई है और बाद की अवस्था की रचना है। इस रचना के विल्सन सं० पृ० ११८ पर उल्लिखित शूद्रक नाम को मृच्छकटी का रचयिता माना जा सकता है या नहीं यह एक विचारणीय प्रश्न है।

रचनाओं की आलोचना की दृष्टि से यह तथ्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है।[1] इससे निकलने वाले निष्कर्ष पर इस विवेचन में पहले ही ध्यान दिया जा चुका है।

पिछले विवेचन से यह स्पष्ट है कि नाटक साहित्य का रूप पहले से ही पूर्ण है और इसकी सर्वोत्तम रचनाएँ ही सम्मुख आती हैं। प्रायः सभी प्रस्तावनाओं में अनेक रचनाओं को नवीन बताया गया है और उनका प्राचीन काल के कवियों की कृति से विपर्यास दिखाया गया है। किन्तु इन रचनाओं में, जो महाकाव्यीय काल के आरम्भिक समय की हैं, स्वल्प अवशेष भी सुरक्षित नहीं हैं।[2] अतएव यह अनुमान कि यह संभवतः बैक्ट्रिया में, पंजाब में और गुजरात में (जहाँ तक किसी समय यूनानियों का प्रभुत्व फैला हुआ था) यूनानी राजाओं की सभा में ग्रीक नाटकों के प्रदर्शन से ही हिन्दुओं की अनुकरण की प्रतिभा जागी और उसने भारतीय नाटक को जन्म दिया, प्रामाणिकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। किन्तु इसकी ऐतिहासिक संभावना को किसी भी दशा में अस्वीकार नहीं किया जा सकता;[3] विशेषतः इस कारण से कि अधिकांश प्राचीन नाटक भारत के पश्चिमी भागों की देन हैं। ग्रीक नाटक के साथ कोई आन्तरिक संबन्ध नहीं दिखाई पड़ता।[4] उन हिन्दुओं के साहित्य में जो

---

[1]उदाहरण के लिए, शाकुन्तल के अनेक उपलब्ध पाठों की प्राकृत का प्राकृत वैयाकरण वररुचि के नियमों के साथ जो संबन्ध है उसके आधार पर पिशेल ने स्टेंजलेर के सहयोग से प्रतिपादित अपने इस मत की पुष्टि की है कि इन पाठों में बंगाली पाठ सबसे प्राचीन है; देखिए कून्-बाइट्राग त्सुर् फेर्गल० स्प्राश्वफोर्श० ८।१२९ आदि (१८७४), और इसी विषय पर इं० स्टू० १४।३५ आदि में मेरे विचार।

[2]इं० स्टू० ५।४७५; और 'कंसवध' तथा 'वलिबन्ध' के विषय में ऊपर पृ० १८६ की टिप्पणी देखिए।

[3]तु० की०—मालविका० के मेरे अनुवाद की भूमिका, पृ० ४७ और त्सा० डा० मो० गे० १४।२७९ में यवनिका पर विवेचन; तथा इं० स्टू० १३।४९२।

[4]भारतीय नाटक पर अब भी प्रमुख ग्रन्थ विल्सन का 'सिलेक्ट स्पेसीमेन्स आफ द थिएटर आफ द हिन्दूज १८३५[2], १८७१[3] अब तक भारत में जो नाटक प्रकाशित हो चुके हैं उनकी संख्या काफी अधिक है और यह संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। उनमें अब भी प्रमुख हैं—शूद्रक का मृच्छकटिक; कालिदास के तीन नाटक ('शकुन्तला', 'उर्वशी' और 'मालविका') भवभूति के तीन नाटक ('मालती-माधव', 'महावीर-चरित' और 'उत्तररामचरित')—राजा श्री हर्षदेव की 'रत्नावली' जो विल्सन के मतानुसार बारहवीं शताब्दी में रची गयी थी और जो स्वयं राजा की रचना न होकर कवि धावक की रचना है। कवि धावक श्रीहर्ष की सभा में थे, किन्तु हाल के अनुसार कवि बाण ने सातवीं शताब्दी के आरम्भ में इस नाटिका की रचना की थी। देखिए हाल: 'वासवदत्ता' की भूमिका, पृ० १५ (तु० की० ऊपर की टिप्पणी २१२) इं० स्ट्रा० १।

प्राय: ५०० ई० में जावा को (और कालान्तर में वहाँ से बाली) द्वीप को गये थे, या तिब्बती भाषा के अनुवादों में कोई नाटक नहीं मिलता। इस तथ्य का कारण जावा द्वीप के हिन्दुओं के साहित्य के सन्दर्भ में तो यह हो सकता है कि ये हिन्दू भारत के पूर्वी किनारों से[1] बाहर गये थे जहाँ इस समय तक नाट्यकाव्य की रचना विशेष रूप से नहीं हुई थी (?) किन्तु तिब्बती अनुवादों में किसी नाटक का न होना आश्चर्यजनक है; कारण, इन अनुवादों में कालिदास का 'मेघदूत' और इस प्रकार की अन्य रचनाएँ मिलती हैं।

---

३५६) लिट्-सेण्ट० ब्ल० १८७२, पृ० ६१४—'नागानन्द' जो बौद्धधर्म का संवेगपूर्ण नाटक है और जिसे उसी राजा की रचना बताया जाता है; किन्तु कावेल ने इसे धावक का माना है (बायड के अनुवाद पर लिट्० से० ब्ल० १८७२, पृ० ६१५ में मेरी टिप्पणियाँ देखिए), भट्ट नारायण का 'वेणीसंहार' जो कृष्णपूजा संप्रदाय के प्रभाव से व्याप्त है, और ग्रिल के अनुसार, जिन्होंने इसका १८७१ में संपादन किया, छठी शताब्दी में या किसी भी दशा में दसवीं शताब्दी के पहले लिखा गया था (देखिए लिट० से० ब्ल० १८७२, पृ० ६१२); राजशेखर की 'बिद्धशालभंजिका' जो संभवतः दसवीं शताब्दी के पहले की रचना है (ब्र० इं० स्ट्० १।३१३); विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' जो बारहवीं शताब्दी की रचना है और राजनीतिक षड्यन्त्र से संबद्ध है, और अन्ततः कृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' जो गोल्डस्टघ्यूकेर के अनुसार उसी शताब्दी के अन्त की रचना है। कालिदास के दो नाटक 'शकुन्तला' और 'उर्वशी' के अनेक पाठ उपलब्ध हैं और स्पष्टतः इस कारण उनकी बड़ी लोकप्रियता थी। पिशेल के लेख 'डि कालिदासाज शकुन्तली रिसेन्सनिबस, (ब्रेस्लाउ १८७०) के अनुसार, जिसमें उन्होंने अत्यन्त विश्वास के साथ तथाकथित बंगाली पाठ की प्राचीनता के पक्ष में विवाद प्रस्तुत किया है, इससे संबद्ध प्रश्न को नवीन अवस्था प्राप्त हुई है। इस विषय का विस्तृत विवेचन इं० स्ट्० १४।१६१ आदि में देखिए। पिशेल ने हमें 'उर्वशी' का दक्षिणी पाठ प्रदान किया है। यह मोनाट्० डेर० बेर्लि० एके० १८७५, पृ० ६०९-६७० में प्रकाशित हुआ है।

[1]फिर भी बाद को प्रवास करने वाले उनमें से कुछ अपने साथ ले गये होंगे।

['कवि' साहित्य में 'स्मरदहन' में हम वस्तुतः 'कुमारसंभव' का रूपान्तर पाते हैं तथा 'रघुवंश' का भी इस प्रकार का रूपान्तर 'सुमन-सन्तक' (?) नाम से मिलता है; अर्थात् ये ऐसी रचनाएँ हैं जिन के मल पर कालिदास का नाम है; देखिए इं० स्ट्० ४।१३३. १४१] क्या सुप्रसिद्ध जावा के कठपुतली प्रदर्शनों की उत्पत्ति भारतीय नाटक से मानी जा सकती है?

६ : गीति काव्य

संस्कृत काव्य की गीतिकाव्य शाखा विषय के अनुसार धार्मिक और श्रृंगारिक गीतिकाव्य में विभक्त है। प्रथम के संबन्ध में अथर्वसंहिता का विवेचन करते समय हम पहले ही देख चुके हैं कि इस संकलन के सूक्त सहज धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति नहीं रह गये हैं, अपितु अन्धविश्वासपूर्ण आतंक एवं भयाकुलता से उद्भूत उक्तियाँ हैं, तथा अंशतः तान्त्रिक मन्त्रों और अभिचारों का प्रत्यक्ष स्वरूप उनमें दिखाई पड़ता है। यही स्वरूप परवर्ती काल के स्तोत्रों में, महाकाव्य, पुराणों और उपनिषदों में उन स्थलों पर, जहाँ इस तरह की प्रार्थनाएँ आई हैं, हूबहू सुरक्षित है; और पिछली कुछ शताब्दियों में इसे अन्ततः तन्त्र-साहित्य में महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। विशेषतः विविध देवता जिन उपाधियों से संबोधित किये जाते हैं उन उपाधियों का पाठ करके उस देवता की कृपा प्राप्त करने की कल्पना की गई है; और 'सहस्रनाम स्तोत्र' स्वतः ही एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण करते हैं। इसी वर्ग की वे प्रार्थनाएँ हैं जो रक्षाकरण्ड या कवच के रूप में होती है। इनका विलक्षण प्रभाव बताया गया है और आजकल भी इन्हें सर्वाधिक सम्मान दिया जाता है। इनके अतिरिक्त विशेषतः हम शिव[1] के प्रति प्रार्थनाएँ पाते हैं जो भक्ति और बालसुलभ श्रद्धा की दृष्टि से ईसाई धर्म की सर्वोत्कृष्ट प्रार्थनाओं की तुलना में आते हैं, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि उनकी संख्या बहुत कम है।

श्रृंगाररस-प्रधान गीतिकाव्य कालिदास के नाम से प्रसिद्ध कतिपय रचनाओं से प्रारम्भ होता है। इनमें से एक 'मेघदूत' है, जो किसी भी दशा में उस समय की रचना है[2] जब उज्जयिनी में शिवमहाकाल के मन्दिर की पूजा अपने चरमोत्कर्ष पर थी, जैसी स्थिति प्रथम

---

[1]जिसकी पूजा ने मुख्य रूप से अपने अनुयायियों पर अत्यन्त प्रभाव डाला है, जबकि कृष्ण की पूजा ने मुख्यतः हिन्दुओं के नैतिक पतन को प्रोत्साहन और बढ़ावा दिया है।

[2]श्लोक १४ से एक बहुत निश्चित समय का उल्लेख मिलता है, बशर्ते कि मल्लिनाथ के इस कथन को सत्य मान लिया जाय कि इस श्लोक के दो अर्थ लेने चाहिए; एक कालिदास के विरोधी दिङ्नाग के संबन्ध में। क्योंकि, ऐसी स्थिति में हमें किसी भी दशा में इस नाम का प्रसिद्ध बौद्ध शास्त्रार्थी से तात्पर्य लेना होगा, जो छठीं शताब्दी के आसपास हुए थे; त्सा० डा० मो० गे० २२।७२६ आदि में इस विषय पर मेरा विवेचन देखिए।

मुस्लिम विजताओं के समय में भी थी। इस प्रकार के अन्य विषयों के साथ इसे कालिदास के नाम से ही तिब्बती तन्दजुर[1] में स्थान मिला है, जिससे कोई कालगत निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता; कारण, इस संग्रह (तन्दजुर) की अन्तिम तिथि अज्ञात है। इस 'मेघदूत' का वर्ण्य विषय एक सन्देश है जिसे एक निर्वासित यक्ष मेघ द्वारा बहुत दूर अपनी प्रियतमा के पास भेजता है। इसके साथ इसमें 'मेघदूत' के गन्तव्य मार्ग का भी वर्णन किया गया है— इस वर्णनशैली का अनुकरण इस प्रकार की अनेक रचनाओं में किया गया है। भर्तृहरि, अमरु इत्यादि की उक्तियों से एक विलक्षण रचनाविधा का निर्माण होता है, जो केवल असंबद्ध विषयों का बिना किसी सामान्य संबन्ध के चित्रण करती हैं। इनका एक प्रिय विषय कृष्ण और उनकी युवावस्था में साथ खेलने वाली गोपियों के प्रेम की कथा है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि परवर्ती काव्यों को महाकाव्य की कोटि में न रखकर शृंगार-रस-प्रधान काव्यों की कोटि में रखना चाहिए। सामान्यतः यह प्रेमकाव्य नितान्त मर्यादित और अनापेक्षित ऐन्द्रिय स्वभाव का है; तथापि गम्भीर एवं भावना की यथार्थ हृदय-स्पर्शी कोमलता के उदाहरणों का भी अभाव नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि इनमें से

---

[1]"एशियाटिक रिसर्चेज' की अल्पता पर विचार कर मैं यहाँ सोमा कोरोसी का 'तन्दजुर' का विवेचन प्रस्तुत करता हूँ, जो कुछ विस्तार के साथ भाग २०, १८३६ में प्रकाशित हुआ है। "बंस्सान-हग्यूर' तिब्बती में सभी प्रकार की साहित्यिक रचनाओं का संकलन है" (कुल मिलाकर ३९००) ये अधिकांशतः प्राचीन भारतीय पण्डितों द्वारा एवं कतिपय शिक्षित तिब्बतियों द्वारा बौद्धधर्म के तिब्बत में प्रवेश की आरम्भिक शताब्दियों में रची गई थीं, जो ईस्वीय वर्ष की सातवीं शताब्दी से आरम्भ होती हैं। कुल मिलाकर २२५ भाग हैं। यह रिग्यूड (Rgyud) और म्डो (Mdo) में विभक्त है (जो संस्कृत के तन्त्र और सूत्र वर्ग हैं)। रिग्यूड जो अधिकांशतः तान्त्रिक क्रियाओं और विधियों पर है ८७ भाग में है; म्डो, जो विज्ञान और साहित्य विषयों पर है १३६ भागों में है। एक पृथक् भाग में अनेक देवताओं एवं महात्माओं के प्रति उक्त (५८) सूक्त हैं, और एक भाग में सबकी अनुक्रमणी दी गई है। रिग्यूड में विभिन्न आकारों के २६४० ग्रंथ हैं; वे मुख्यतः बौद्धों के गूढ़ सिद्धान्त से संबद्ध क्रियाओं एवं विधियों का विवेचन करते हैं और उनमें बीच-बीच में अनेक उपदेश, सूक्त, प्रार्थनाएँ एवं अभिचार हैं। म्डो सामान्यतः विज्ञान और साहित्य का निम्नलिखित क्रम में विवेचन करता है: "अध्यात्मविद्या, दर्शन" (ये दोनों ही ९४ भागों में हैं) "तर्कशास्त्र, भाषाशास्त्र या व्याकरण, अलंकार, काव्यशास्त्र, छन्द, पर्यायवाची शब्द, ज्योतिष, नक्षत्रविद्या, ओषधशास्त्र, और आचारशास्त्र, यान्त्रिक कलाओं एवं इतिहासों पर विचार। आगे विशेष रूप से एण्टन शीफनेर का निबन्ध 'उइंबेर डी लोगिइशेन उण्ड ग्रामाटिश्शेन वेर्के इम् तन्दजुर' सेंट पीटर्सबर्ग एकेडेमी के बुलेटिन (३ सितम्बर, १८४७ को पठित) में देखिए।

कुछ काव्यों के संबन्ध में हम उसी प्रकार के दृग्विषय पाते हैं, जिस प्रकार 'सांग आफ सोलोमन' (सोलोमन के गीत) में उनके ऊपर एक प्रतीकवादी व्याख्या लाद दी गई है और कम से कम जयदेव[1] के 'गीतिगोविन्द' में तो इस प्रकार का रहस्यवादी निर्देश वस्तुतः कवि को ही अभिप्रेत प्रतीत होता है; चाहे यह तथ्य प्रथम दृष्टि में इसमें प्रदर्शित कल्पना की मुक्त उड़ानों के साथ कितना भी असंगत क्यों न लगता हो।

नीति-विषयक तथा शिक्षात्मक काव्यों में—जिन्हें 'नीतिशास्त्र' कहा गया है—सम्पूर्ण रूप में केवल कुछ ही अवशिष्ट हैं (कुछ अंश तिब्बती 'तन्दजुर' में भी मिलते हैं)। इसमें सन्देह नहीं कि स्वयं महाकाव्य 'महाभारत' भी इस पर धीरे-धीरे जो विश्वजनीन छाप पड़ी उसके कारण एक नीतिशास्त्र समझा जाना चाहिए। तथापि इस नीतिशास्त्रीय काव्य के इतने प्रचुर अवशेष सुरक्षित हैं कि हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह एक पर्याप्त लोकप्रिय काव्यरूप था और इसके उत्कृष्ट परिणाम भी हुए।[2] इससे घनिष्ठ संबन्ध

---

[1]ब्यूलेर के (१८७५ के पत्र) के अनुसार जयदेव, जिनका नाम 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में नहीं आया है, गौड़ देश के राजा लक्ष्मणसेन के आश्रय में रहते थे; इस राजा का १११६ ई० वर्ष का एक शिलालेख है और इसका संवत्, जो मिथिला में अब भी प्रचलित है इण्ड० एण्ट० ४।३०० के अनुसार ११७० में आरम्भ होता है।

[2]इन सूत्रों पर बेर्टलिक का आलोचनात्मक संस्करण देखिए 'इण्डिश्श स्प्रिश्श, ३ भाग, १८६३-६५ (५४१९ श्लोक), द्वितीय संस्करण १८७०-७३ (७६१३ श्लोक) और त्सा० डा० मो० गे० २७।१ (१८७३) में चौदहवीं शताब्दी के 'शार्ङ्गधर पद्धति' की आउफ्रेष्ट की व्याख्या। इस पद्धति में प्रायः ६००० श्लोक हैं जो २६४ विभिन्न लेखकों और रचनाओं से लिये गये हैं। जॉन क्लैट के 'डि ट्रेसेण्टिस् चाणक्य सेण्टेटिस (१८७३) तथा डॉ० जान म्यूर के—'रिलिजस एण्ड मारल सेण्टिमेण्ट्स फ्राम संस्कृत राइटर्स' (१८७५) से तुलना कीजिए। विस्तार और प्राचीनता दोनों ही में शार्ङ्गधर से अधिक बड़ी और अधिक पुरानी एक पद्धति श्रीधरदास रचित 'सदुक्ति-कर्णामृत' के विषय में जो शके ११२७ (१२०५) में संकलित की गई है और ४४६ कवियों के उद्धरणों से युक्त है। रा० ला० मित्र की नोटिसेज ३।१३४-१४९ देखिए। राजा लक्ष्मणसेन के संवत् के विषय में जिसकी सेवा में कवि के पिता थे, इस रचना के अन्त में दिया गया विवरण अस्पष्ट है और इस विषय पर उपलब्ध अन्य विवरणों से मेल नहीं खाता। इसमें जिन अनेक उदाहरणों का उद्धरण दिया गया है उसके कारण हम यहाँ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' का भी उल्लेख कर सकते हैं। यह काव्यशास्त्र पर एक ग्रन्थ है और इसके रचयिता राजा भोजदेव बताये जाते हैं। अतएव संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी की रचना है; इस विषय पर आऊफ्रेष्ट का 'केटलागस्' पृ० २०८, २०९ देखिए। हाल की प्राकृत भाषा की पद्धति भी इसी वर्ग की रचना है, यद्यपि इसका वर्ण्य विषय प्रायः नितान्त शृंगारिक है; इसमें केवल

रखने वाला साहित्य है पशुओं के विषय में कथाएँ। ये कथाएँ हमारे लिये बड़ी रोचक हैं; कारण, ये पश्चिम के साथ संबन्ध की एक ठोस शृंखला प्रस्तुत करती हैं। हम यह पहले संकेत दे चुके हैं कि प्राचीनतम पशुकथाएँ जो हमें ज्ञात हैं, सम्प्रति 'छान्दोग्योपनिषद्' में आती हैं। इसमें ये कथाएँ देवताओं के पशुरूप धारण करने और इस रूप में मनुष्यों से सम्पर्क स्थापित करने के वर्णन तक ही, जिसके हम पहले ही उदाहरण देख चुके हैं, सीमित नहीं हैं, अपितु इनमें स्वयं पशुओं को वक्ता और कर्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[1] पाणिनि के समय में इस प्रकार की कथाओं का पूरा वर्ग पहले ही विद्यमान रहा होगा, किन्तु यह अभी तक निश्चित नहीं कहा जा सकता।[2] भारत के बाहर की प्राचीनतम कथाएँ बब्रिअस की कथाएँ हैं, जिनमें से कुछ का संबन्ध भारतीय कथा के मूल रूप से जोड़ा जा सकता है।[3]

---

७०० श्लोक हैं (इस कारण इसे 'सप्त-शतक' कहा गया है) जिनकी संख्या आगे के संस्करणों में ११००-१२०० तक पहुँची है। यह गोवर्धन के सप्तशती का अनुकरण है जो प्रायः बारहवीं शताब्दी की रचना है; इसी के आधार पर बिहारी लाल ने अपनी हिन्दी सतसई की रचना की है; हाल के सप्तशतक पर मेरा लेख देखिए; त्सा० डा० मो० गे० २८। ३४५ (१८७४) और गारेज का विचार जर्न० एसिआट० अगस्त, १८७२, पृ० १९७ आदि में देखिए।

[1]उदाहरण के लिये मनु और मत्स्य की कथा, इन्द्र के मर्कट और 'कपिञ्जल' पक्षियों का रूप धारण करना, भेड़ का रूप धारण करना आदि। ऋक् में सूर्य की तुलना प्रायः आकाश में घूमने वाले श्येन पक्षी से की गई है।

[2]इस सम्बन्ध में उद्धृत किये गये शब्द स्वयं पाणिनि के नहीं अपितु उनके भाष्यकार के हैं (देखिए, पृ० २१६), [किन्तु, किसी भी दशा में, वे सीधे 'महाभाष्य' में आते हैं; देखिए, इं० स्टू० १३।४८६]।

[3]मेरे निबन्ध 'इउबेर डेन् त्सुजाम्मेनहंग इण्डिश्शेर फाबेल्न मिट ग्रीशिश्शेन' (इं० स्टू० ३।३२७ इत्यादि), ए० वागेनेर के इस विषय पर लेख (१८५३) के संबन्ध में विशेष अन्वेषण करने के फलस्वरूप मैं बिल्कुल विपरीत निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ; कारण, प्रायः प्रत्येक उदाहरण में, जहाँ ग्रीक कथा की तुलना भारतीय कथा से की गई है, मुझे मौलिकता ग्रीक कथा में ही दिखाई पड़ती है। किसी भी दशा में बौद्धों ने ही इस विषय में मध्यस्थ का कार्य किया; कारण, उनके साहित्यिक विवेचन के लोकप्रिय स्वरूप पर ही भारतीय कथासाहित्य आधारित है। यह सत्य है कि ओटो केल्लेर ने अपने निबन्ध 'उइबेर डी गेशिश्ट ग्रीश० फाबेल (१८६२) में मेरे मत के विपरीत का आश्रय लिया है, और भारत तथा ग्रीस में समान रूप से पाई जाने वाली कथाओं को भारतीय उत्पत्ति का माना है और इनके संक्रमण का माध्यम एसिरिया को माना है। उनकी भारतीय उत्पत्ति का मुख्य तर्क यह है कि ग्रीक कथा में लोमड़ी और सिंह के बीच जो संबन्ध है उसका

किन्तु कथाओं का सबसे प्राचीन विद्यमान ग्रंथ 'पंचतन्त्र' है। यह सच है कि इस ग्रंथ के मूलपाठ में अनेक परिवर्तन और विस्तार हुए हैं और इसे निश्चित रूप से शुद्ध पाठ में नहीं लाया जा सकता; किन्तु छठीं शताब्दी ई० में इसका अस्तित्व एक सुनिश्चित तथ्य है; कारण, उस समय सस्सेनिआ के प्रसिद्ध राजा नूशीर्वान् (शासन ५३१-५७९) की आज्ञा से इसका पह्लवी भाषा में अनुवाद हुआ था। जैसा कि सुविदित है, इसी अनुवाद से आगे चलकर इस कथा के एशिया माइनर और योरोप की सभी भाषाओं में रूपान्तर हुए।[1] विद्यमान ग्रन्थ का पाठ दक्षिण भारतीय[2] प्रतीत होता है; जबकि 'हितोपदेश' नाम

इन दोनों पशुओं के स्वभाव में कोई नैसर्गिक संबन्ध नहीं है; जबकि शृगाल और सिंह का संबन्ध प्रायः उसी रूप में है जैसा कि भारतीय कथा में पाया जाता है। तब क्या शृगाल केवल भारत में ही मिलते हैं और सेमेटिक लोगों के देश में नहीं मिलते ? और यूनानी पशु-कथा क्या वस्तुतः सेमेटिक उत्पत्ति की नहीं है ? भारतीयों ने ग्रीक की लोमड़ी को पुनः शृगाल के रूप में परिवर्तित कर दिया---ऐसा स्वयं इस स्थिति के कारण ही संभव हुआ। इस वस्तु-स्थिति ने कि शृंगाल सिंह के आसपास घूमता है उनके ध्यान को बहुत पहले आकृष्ट किया; देखिए, उदाहरण के लिए, ऋक् १०।२८।४; किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि अधिक प्राचीन काल में इस ज्ञान का उपयोग कथा में किया गया; शृगाल के एकमात्र स्वभाव उसकी बोली, पशुशव का भक्षण तथा कुत्तों के साथ शत्रुता का उल्लेख किया गया है। शत० १२।५।२।५ में शृगाल का संबन्ध 'विदग्ध' शब्द से जोड़ा है और निःसन्देह यह उल्लेखनीय है; किन्तु इस स्थल पर इस शब्द का अर्थ 'जला हुआ' या 'सड़ा हुआ' है। भारतीय लेखकों की प्राचीनता के संबन्ध में केल्लेर के मत आधारहीन हैं।

[1]इस पर 'पंचतन्त्र' का बेनफी का अनुवाद (१८५९) देखिए, जो मूल के कोसेगर्टिन के संस्करण (१८४८) का अनुसरण करता है। इसमें सम्पूर्ण विषय का और भारतीय कथा के तत्वों के पश्चिम में प्रचार का पूर्ण विवेचन किया गया है। कीलहोर्न और ब्यूह्लेर ने 'बम्बे संस्कृत सीरीज' (१८६४ आदि) में एक नया संस्करण प्रकाशित किया है।

[2]बेनफी के अनुसंधानों से यह प्रतीत होता है कि इस संस्करण के मूल का जो संभवतः बौद्ध कथा पर आधारित है, अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, अतएव आश्चर्यजनक बात यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम पाद में लैटिन अनुवाद से जो स्वयं हेब्रू पाठ से किया गया है, जर्मन रूपान्तर प्राचीन पाठ को विद्यमान संस्कृत रूपान्तर की अपेक्षा अधिक ईमानदारी के साथ उपस्थित करता है। इसके दो या अधिक पाठ उपलब्ध हैं; देखिए इं० स्ट्रा० २।१६६. कलील व डिम्ना के १४वें अध्याय का कोई भारतीय मूल नहीं उपलब्ध होता है; किन्तु हाल ही में इस मूल का एक तिब्बती अनुवाद एण्टोन शीफनेर ने खोज निकाला है; उनका 'भारतेई रिस्पोन्सा' सेंट पीटर्सबर्ग, १८७५ देखिए। 'पंचतन्त्र'

से ख्यात इसका संक्षेप संभवतः गंगा के तट पर पलिबोत्र स्थान में रचा गया था। हिन्दुओं के कथासंग्रह का रूप भी विलक्षण है और इस कारण इसे सर्वत्र पहचाना जा सकता है। मुख्य घटना जिसका आवश्यक रूप में वर्णन किया जाता है, एक ऐसे ढाँचे का कार्य करती है जिसके भीतर नितान्त भिन्न स्वभाव की कथाएँ जड़ दी जाती हैं।[1] कथाओं से ही संबद्ध कल्पनाप्रधान इतिवृत्त और प्रेमाख्यान हैं, जिनमें हिन्दुओं की उर्वर कल्पना ने नितान्त अद्‌भुत रूप में अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य को खोलकर रख दिया है।[2] कथाओं के समान इन प्रेम-कथाओं में भी उपर्युक्त विशेषता पायी जाती है; इस विशेषता के कारण तथा अन्य अनेक सूक्ष्म विषयों के कारण ये पर्याप्त रूप में अधिकांश अरबी, फारसी और पश्चिमदेशीय तिलस्मी कथाओं का मूलस्रोत प्रतीत होती हैं, यद्यपि इस प्रकार की स्वयं भारतीय रचनाओं में इनी-गिनी रचनाओं का ही उल्लेख किया जा सकता है।

जहाँ तक भारतीय काव्य की अन्तिम शाखा भूगोल और इतिहास का प्रश्न है, यह एक विशेष बात देखने में आती है कि इतिहास को उचित रूप में काव्य की केवल एक शाखा मान सकते हैं; और ऐसा केवल इसके स्वरूप के कारण नहीं—क्योंकि काव्य का रूप तो विज्ञान से भी संबद्ध है—अपितु साथ ही इसके वर्ण्य विषय एवं शैली की दृष्टि से स्वीकार करना पड़ता है। हम संभवतः इसे महाकाव्यीय कविता के अंग के रूप में भी वर्णित कर सकते थे; किन्तु इन दोनों को पृथक् रखना श्रेयस्कर होगा; कारण, इतिहास वर्ग की

की मूलकथा के प्राचीन सीरीयाई अनुवाद पर, जो पह्लवी या स्वयं संस्कृत से रचित माना जाता है 'आउग्सबुर्गेर अल्ग० त्साइट, १२ जुलाई १८७२ में बेनफी का लेख देखिए।

[1]ठीक यही बात 'महाभारत' में भी होती है।

[2]यहाँ सोमदेव के 'कथासरित्सागर' का उल्लेख कर देना चाहिए, जो बारहवीं शताब्दी की रचना है। इसका संपादन हेर्म० ब्रोकहाउज (१८३९-६६) ने किया है। प्रायः छठी शताब्दी की रचना गुणाढ्य की 'बृहत् कथा' का क्षेमंकर द्वारा संकलित एक संस्करण हाल ही में बर्नेल और ब्यूहलेर ने ढूंढ़ निकाला है, इण्ड, एण्टि० १।३०२; बृहत्कथा को पैशाची भाषा में लिखा गया माना जाता है और यह सोमदेव की रचना का आधार है [क्षेमंकर को क्षेमेन्द्र भी कहा जाता है; ब्यूहलेर (काश्मीर से लिखा गया पत्र, इं० स्टू० १४।४०२ में प्रकाशित) के अनुसार, वे राजा अनन्त के समय में (१०२८-१०८०) हुए थे और उन्होंने १०२०-१०४० में रचना की थी। दण्डी का 'दशकुमार-चरित' प्रायः छठीं शताब्दी का है; इसका संपादन विल्सन ने १८४६ में तथा ब्यूहलेर ने १८७३ में किया है। सुबन्धु की वासवदत्ता (सातवीं शताब्दी) का सम्पादन एक आलोचनात्मक भूमिका के साथ हाल ने १८५९ में किया है (बिब्लि० इण्डिका)। इसी समय की रचना बाण की कादम्बरी कलकत्ता में १८५० में प्रकाशित हुई है। इन अन्तिम तीन रचनाओं के विवरण के लिये मेरा इं० स्टू० १।३०८-३८६ देखिए।

रचनाओं में श्रमपूर्वक सभी विशुद्ध पुराकथाशास्त्रीय वर्णनों को दूर रखा गया है। हम यह पहले कह चुके हैं कि पुराने पुराणों में ऐतिहासिक वर्णन थे, जो वर्तमान पुराणों में वंशों एवं राजाओं की गणना तक ही सीमित हैं और उनमें वे न केवल परस्पर अपितु सामान्य काल-क्रम के साथ भी वैषम्य प्रदर्शित करते हैं। जिस वर्ग पर हम विचार कर रहे हैं उस वर्ग की भी सभी रचनाओं में हम इसी प्रकार की असंगतियाँ पाते हैं। विशेषतः इस वर्ग की प्रतिनिधि रचना कल्हण की 'राजतरंगिणी' में, जो बारहवीं शताब्दी ई० की रचना है, ऐसी बात देखने में आती है। यह सच है कि इसमें हमारे सम्मुख शुष्क तथ्य से कुछ और अधिक सामग्री आती है, किन्तु ऐसी स्थिति में इसके प्रतिवाद के रूप में हम एक ऐसे कवि को पाते हैं जो इतिहासकार की अपेक्षा कवि अधिक है और जो इसके अतिरिक्त अन्य विषयों में अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियों का अनुसरण करता है। केवल जहाँ इन रचनाओं के रचयिताओं ने समसामयिक विषयों का वर्णन किया है, वहीं उनके कथनों का एक निश्चित महत्त्व दिखाई पड़ता है, यद्यपि निःसन्देह इन विषयों के संबन्ध में उनके विचार घोर पक्षपात-पूर्ण हैं। किन्तु इसके अपवाद भी देखने में आते हैं और विशेषतः किसी राजपरिवार में पुरोहित द्वारा सुरक्षित रखे गये विवरण अधिकांशतः उपलब्ध हैं[1] और विश्वसनीय भी हैं।[2] जहाँ तक भूगोल का प्रश्न है, हम अनेक पुराणों में बार-बार पर्वतों, नदियों और जातियों

---

[1]केवल वंश की पीढ़ियों पर यहाँ विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये वंशावलियाँ महाकाव्य के वीरों के वंश तक जा पहुँचती हैं।

[2]ज्योतिष के ग्रंथ 'गार्गीसंहिता' या 'युगपुराण' की, जिसमें यवनों का भारत के साथ संबन्ध दिखाया गया है, (दे० केर्न, बृहत्संहिता का प्राक्कथन, पृ० ३३) की कुछ उक्तियाँ एक वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्व प्रदर्शित करती हैं। बाण का 'हर्षचरित' एक ऐसी रचना है जिससे कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं; देखिए हाल, 'वासव-दत्ता' का प्राक्कथन, पृ० १२ आदि (१८५९)। यही बात काश्मीर के कवि बिल्हण द्वारा रचित १८ सर्गों में निबद्ध 'विक्रमांकचरित' के विषय में भी लागू होती है, जिसकी रचना १०८५ ई० के लगभग हुई है। इसका संस्करण अत्यन्त उत्तम भूमिका के साथ ब्यूहलेर ने किया है। इस ग्रंथ में न केवल कवि की जन्मभूमि के विषय में और भारत के प्रमुख नगरों के विषय में, जिसका उसने अपनी यात्रा में भ्रमण किया था, महत्त्वपूर्ण और प्रमाणित सूचनाएँ मिलती हैं अपितु चालुक्य वंश के इतिहास के विषय में भी, जिसके तत्कालीन प्रतिनिधि त्रिभुवन-मल्ल की प्रशंसा इस ग्रन्थ में की गई है, प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। ब्यूहलेर के मत में, जैनों के विद्यमान पुस्तकालयों से हमारे ऐतिहासिक ज्ञान में कुछ और वृद्धि हो सकती है, और मैं इतना और कह सकता हूँ कि उनके विशेष साहित्य से भी जिसमें आख्यानात्मक रचनाएँ (चरित्र) प्रचुर मात्रा में हैं, पर्याप्त ज्ञान उप-लब्ध होता है। धनेश्वर का 'शत्रुंजय-माहात्म्य' जो १४ सर्गों में है और बलभी में राजा

की अतिशयोक्तिपूर्ण गणनाएँ पाते हैं।[1] किन्तु इस विषय पर आधुनिक रचनाओं के भी उद्धरण दिये जाते हैं; इनके केवल नाम का ही ज्ञान है। इसके अतिरिक्त और भूगोल का एक प्रमुख स्रोत प्रचुर मात्रा में पाये जाने वाले शिलालेख और दानपत्र हैं,[2] जो प्रायः लम्बे होने के कारण साहित्य की एक विशिष्ट विधा के रूप में भी प्रचलित हैं। वे सामान्यतः

शिलादित्य के आश्रय में छठीं शताब्दी के अन्त में रचा गया है, वस्तुतः अत्यल्प ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करता है; और इसमें अधिकांशतः लोकप्रचलित कथाएँ तथा आख्यान हैं। इस विषय पर मेरा लेख देखिए (१८५८) पृ० १२ (ब्यूह्लेर ने, वही पृष्ठ १८, इस ग्रंथ की रचना तेरहवीं शताब्दी जितने अर्वाचीन काल का माना है। इसी प्रकार लास्सेन, इं० अल्ट० ४।७६१, ने भी माना है, किन्तु भगवती पर मेरा निबन्ध देखिए १।३६९)। फिर भी जैनों में अनेक प्रकार के विवरण सुरक्षित हैं, जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है; उदाहरण के लिये, विक्रमार्क और शालिवाहन के प्राचीन राजाओं के संबन्ध में; यद्यपि वे निश्चय ही पूर्णतः पुराकथाशास्त्रीय व्यक्ति हैं। अनन्त के 'वीरचरित' जिसका विवेचन हाल ही में एच० याकोबी ने इं० स्टू० १४।९७ में किया है, इन दोनों राजाओं के वंशजों के बीच हुए युद्ध का वर्णन करता है। एक तीसरे काल्पनिक व्यक्ति शूद्रक को उपस्थित किया गया है, जिसने विक्रमार्क के पुत्र मालव राज की सहायता से शालिवाहन के पुत्र को प्रतिष्ठान से हटाने में सहायता प्राप्त की। यह उत्तम तथा वर्णनात्मक शैली में रचित है किन्तु किसी भी स्थिति में इसमें स्वल्प ऐतिहासिक तथ्य है। वस्तुतः यह स्पष्टतः रामायण की अनुकृति प्रतीत होता है। 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' जिसके अनेक संस्करण विद्यमान हैं और एक 'विक्रम-चरित्र' (देखिए ऊपर) वररुचि का बताया गया है, 'बेताल-पंचविंशति' के समान ही पूर्णतः काल्पनिक कथाओं के वर्णन से युक्त है। 'भोजप्रबन्ध' में राजा भोज और उनकी कवि-सभा की कथाएँ केवल कपोलकल्पित हैं। ब्यूह्लेर ने काश्मीर से लिखे गये पत्र में (इं० स्टू० १४।४०४,४०५) यह उल्लेख किया है कि उन्होंने 'नील-मत' का अन्वेषण किया है जिसका प्रयोग कल्हण ने किया था; इसी प्रकार क्षेमेन्द्र तथा हेलाराज की 'तरंगिणी' भी उपलब्ध होती है; स्वयं राजतरंगिणी में महत्त्वपूर्ण संशोधन की आवश्यकता है।

[1]इस संबन्ध में विशेष रोचक 'कूर्म-विभाग' नाम का ज्योतिष के ग्रंथ के खण्ड हैं। देखिए, केर्न, बृह० संहि० का प्राक्कथन; पृ० ३२, और इं० स्टू० १०।२०९, अन्यथा कन्निंघम की महत्त्वपूर्ण रचना 'एंशिएण्ट जीओग्राफी आफ इण्डिया' (१८७१) में इनका कोई उल्लेख नहीं है।

[2]धातु के पत्रों पर, जिनका सर्वप्रथम 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' और 'पंचतन्त्र' में उल्लेख है; 'मनुस्मृति' में उनका उल्लेख नहीं मिलता। [इनका विशेष विवरण बर्नेल के 'एलि० आफ साउथ इं० पेलिओग्राफी', पृ० ६३ आदि देखिए।]

गद्य में है और उनमें से अधिकांश में श्लोक भी मिले हुए हैं। सिक्कों की संख्या अपेक्षतया कम है; फिर भी इन सिक्कों ने एक ऐसे काल के विषय में सूचनाएँ प्रदान की हैं जिसका पहले पूरा ज्ञान नहीं था; वह काल बैक्ट्रिया के यूनानी शासकों का युग है।[1]

---

[1] विल्सन का 'एरिआना एण्टिका' (१८४१) और लास्सेन का इण्डिश्श अल्टर-थुम्सकुण्ड' (१८४१-६१) अब भी भारतीय इतिहास के क्षेत्र में ज्ञान का भण्डार और अनुसन्धान का आधार बना हुआ है। मुद्राशास्त्र एवं अभिलेखों के विभाग में बर्गेस, बर्नेल, कन्निघम, डावसन, इगेलिंग, फेरग्यूस्सन, एड० थामस, वाक्स, भण्डारकर और राजेन्द्र लाल मित्र ने हाल ही में उत्तम कार्य किये हैं। तथाकथित गुफाओं के लेखों के विषय में भानु दाजी, बर्ड, स्टेवेंसन, इ० डब्ल्यू० तथा ए० ए० वेस्ट, वेस्टेर्गार्ड और जे० विल्सन के नाम उल्लेखनीय हैं।

२० : भाषाशास्त्र एवं अलंकार

संस्कृत काव्य के इस सामान्य पर्यवेक्षण से अब हम संस्कृत साहित्य के दूसरे विभाग विज्ञान और कला की रचनाओं पर आते हैं।

हम भाषा के शास्त्र को प्राथमिकता देते हैं[1] और सर्वप्रथम व्याकरण को लेते हैं।

हम पहले अनेक स्थलों पर प्रायशः व्याकरण शास्त्र के उद्भव और क्रमिक विकास के संबन्ध में कह आये हैं। इसका उद्भव वैदिक मन्त्रों के अध्ययन और गान के संबन्ध में हुआ; और जो रचनाएँ इसका विशेष रूप से विवेचन करतीं थीं और अपने विषय की पवित्रता के कारण सुरक्षित थीं, वे ही अंशतः इस समय उपलब्ध हैं। इसके विपरीत, हमें उस व्याकरणीय अध्ययन की अधिक प्रारम्भिक अवस्थाओं का कोई विवरण नहीं मिलता, जो भाषा के सम्पूर्ण[2] क्षेत्र का नियमन करता था और उससे संबद्ध था। इसके बाद हम उस विशाल भवन में प्रवेश करते हैं जिसके शिल्पी का नाम पाणिनि है, जो इसमें प्रवेश करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के विस्मय और प्रशंसा का पात्र होने योग्य हैं।[3] पाणिनि का व्याकरण अन्य शताब्दियों की समकक्ष रचनाओं से एक अनोखा भेद रखता है, अंशतः भाषा की धातुओं और शब्द रचना के पूर्ण और सर्वांगीण अन्वेषण के कारण और अंशतः अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता के कारण जो गूढ़ रूप से यह स्पष्ट प्रकट करती है कि कोई शब्द-रूप उसी नियम के अन्तर्गत आते हैं या दूसरे नियम के। यह सब कुछ एक नितान्त स्व-रचित, स्वच्छन्द बीजगणितीय पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग से संभव हो सका है, जिसके विविध अंग परस्पर अत्यन्त सामंजस्य रखते हैं और जो भाषा के सभी विषयों पर व्यवहार्य होने की क्षमता के कारण इसके आविष्कारक की अद्भुत प्रतिभा की तथा भाषा के सम्पूर्ण विषय भण्डार के भीतर गहन प्रवेश की घोषणा करती है। निःसन्देह, यह नहीं

---

[1] १।१।१ आदि ४४ अ पर (छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति) पर महाभाष्य के कथन की, जिसके अनुसार सूत्रों के सामान्यतः वैदिक प्रयोग का उल्लेख किया गया है, कैयट ने इस अर्थ में व्याख्या की है कि यहाँ 'वैशेषिकसूत्राणि' से तात्पर्य नहीं है अपितु केवल व्याकरण सूत्राणि से तात्पर्य है; कारण, व्याकरणसूत्र वेद के अंग हैं, देखिए, इं० स्टू० १३।४५३।

[2] केवल यास्क के निरुक्ति में इस प्रकार के अध्ययन के आरम्भ मिलते हैं; फिर भी इसमें व्युत्पत्तियाँ, धातुओं का विवेचन और शब्दों की रचना अप्रौढ़ अवस्था में है।

[3] उदाहरण के लिए, पीरे पोन्स का १७४३ में 'लेट्रेस एडिफिआण्टेस्', २६, २२४ (पेरिस) का।

समझ लेना चाहिए कि पाणिनि ही इस शैली के एकमात्र आविष्कारक थे। कारण, सर्वप्रथम वे उणादिसूत्रों के एक संग्रह की पूर्वस्थिति स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। दूसरे, अनेक व्याकरणीय तत्त्वों के लिए उनकी रचना में दो प्रकार के पारिभाषिक शब्द आते हैं, जिनमें एक प्रकार के शब्द तो उनकी निजी विशेषता हैं, जबकि दूसरे प्रकार के शब्द, जैसा कि उनके भाष्यकारों ने प्रमाणित किया है, पूर्वदेशीय वैयाकरणों से ग्रहण किये गये हैं।[1] जो कुछ भी हो, इस शैली को सामान्य रूप प्रदान करने वाले और सम्पूर्ण भाषा के क्षेत्र पर व्याप्त बनाने वाले ये ही प्रतीत होते हैं। उनके उन पूर्ववर्ती वैयाकरणों में, जिनका उन्होंने सीधे नाम लेकर उल्लेख किया है और जिनके नाम अंशतः यास्क के निरुक्ति, प्रातिशाख्यसूत्रों और आरण्यकों में आते हैं, कुछ ने संभवतः उनके पहले इस क्षेत्र में कार्य किया होगा; विशेषतः ऐसे ही वैयाकरण शाकटायन हैं, जिनके व्याकरण को अब भी विद्यमान माना जाता है (विल्सन, मैक० कोल० १।१६०), यद्यपि इसके विषय में कुछ भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है।[2]

अब प्रश्न उठता है: पाणिनि कब हुए थे? बेटलिंक ने, जिन्होंने हमें इस व्याकरण का एक सुन्दर संस्करण प्रदान किया है, उनका समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के मध्य में निर्धारित करने का प्रयत्न किया है; किन्तु उनका यह प्रयत्न विफल प्रतीत होता है। इस संबन्ध में जो तर्क दिये गये हैं, उनमें से केवल एक ही संगत लगता है; इसके अनुसार बारहवीं शताब्दी के लोकप्रिय कथाओं का संकलन 'कथासरित्सागर' में पाणिनि को वर्ष का शिष्य बताया गया है, जो चन्द्रगुप्त (चन्ड्रोकुप्टोस्) के पिता नन्द के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में निवास करते थे। किन्तु न केवल इस प्रकार के ग्रन्थ की पन्द्रह शताब्दी ई० पूर्व के विषय

---

[1] देखिए बेटलिंक, 'पाणिनि' की भूमिका, पृ० १२ और उनका लेख 'इउबेर डेन् एक्सेण्ट इम संस्कृत' पृ० ६४।

[2] बेनफी के 'ओरियण्ट उण्ड ओक्सिडेण्ट' २।६९१-७०६ (१८६३) और ३।१८१, १८२ (१८४) में जी० ब्यूह्लेर ने शाकटायन के 'शब्दानुशासन' पर एक भाष्य (चिन्तामणि-वृत्ति) का वर्णन दिया है, जिसके अनुसार (पृ० ७०३) पाणिनि का ग्रन्थ केवल शाकटायन के संस्करण का एक परिवर्द्धित, पूर्ण और अंशतः परिवर्त्तित संस्करण प्रतीत होता है। इस भाष्य के लेखक यक्षवर्मन स्वयं एक जैन हैं, उन्होंने अपनी भूमिका में शाकटायन को भी जैन बताया है—'महा-श्रमण-संघाधिपति' कहा है; देखिए इं० स्टू० १३। ३९६, ३९७। बर्नेल के विचार वंशब्राह्मण, पृ० ४१, के अनुसार शाकटायन के अनेक नियम पाणिनि के नियमों पर आधृत हैं अथवा वार्तिकों पर आधृत हैं। यही नहीं, वे महाभाष्य की व्याख्याओं पर भी आश्रित दिखाई पड़ते हैं। क्या इन विरोधोक्तियों की व्याख्या इस कथन से नहीं हो सकती कि विद्यमान ग्रन्थ में नवीन और प्राचीन दोनों ही प्रकार के तत्त्व हैं?

के सन्दर्भ में प्रामाणिकता नितान्त सन्दिग्ध है, अपितु इस कथन का भी समय और स्थान दोनों ही दृष्टियों से बौद्ध ह्वेनत्सांग के, जिसने भारत में सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भ्रमण किया था, एक वर्णन से सीधा खण्डन भी हो जाता है। कारण, जैसा कि राइनाऊ ने (मेम० सुर ला इण्डे, पृ० ८८) सूचित किया है, ह्वेनत्सांग ने पाणिनि नाम के दो व्यक्तियों के अस्तित्व का उल्लेख किया है। इनमें से पहले पाणिनि पुराकथाशास्त्रीय युग के हैं और दूसरे पाणिनि को उसने बुद्ध की मृत्यु के ५०० वर्ष बाद के समय में रखा है, अर्थात् उनका समय राजा कनिष्क के राज्यकाल से १०० वर्ष बाद का है, जो उसके अनुसार बुद्ध से ४०० वर्ष बाद हुआ था।[१] चूँकि सिक्कों द्वारा कनिष्क का शासनकाल ४० ई० तक, सिद्ध होता है (लास्सेन, इं० अल्ट० २।४१३) अतएव इसके अनुसार, पाणिनि को १४० ई० से पहले के समय में नहीं रखा जा सकता। ह्वेनत्सांग द्वारा ठीक इसी विषय पर दिया गया इस प्रकार का स्पष्ट विवरण केवल कपोल कल्पित नहीं माना जा सकता; इसके विपरीत पहले हुए पुराकथाशास्त्रीय पाणिनि के अस्तित्व को तथा इस तथ्य को कि उसने पाणिनि को एक बौद्ध के रूप में प्रस्तुत किया है कोई महत्व नहीं दिया जा सकता।[२] उसने फोनिनि का जन्मस्थान फोलोटोउलो बताया है जो सिन्धु से उत्तरपश्चिम में लगभग ६ मील पर है और यह नाम 'शालातुरीय' से साम्य रखता है, जिसकी व्युत्पत्ति की व्याख्या पाणिनि ने की है और जो बाद की रचनाओं में स्वयं इस वैयाकरण की उपाधि के रूप में

---

[१]दुर्भाग्यवश ह्वेनत्सांग का ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं है; यह फाह्यान के यात्रा विवरण से अधिक महत्त्वपूर्ण है और अधिक विस्तार के साथ वर्णन करता है। [इस व्यवच्छेद की पूर्ति इस बीच स्टेन जूलियन द्वारा रचित ह्वेनत्सांग के जीवन तथा संस्मरण के अनुवाद (१८५७ आदि भाग ३) से हुई है। इससे यह प्रतीत होता है कि उपर्युक्त विवरण, जो राइनाऊ ने मूल से दिया है, बिल्कुल यथार्थ नहीं है। पाणिनि का वास्तविक समय इसमें बुद्ध से ५०० वर्ष बाद का नहीं माना गया है; इतना ही कहा गया है कि उस समय उनके जन्मस्थान में उनके सम्मान में एक मूर्ति स्थापित थी (देखिए, सियुकि, १।१२७) और वे स्वयं ही अतीत काल के हैं।

[२]वस्तुस्थिति यह है कि पाणिनि के समय के विषय में कोई प्रत्यक्ष निर्देश नहीं है; केवल एक बौद्ध धर्मप्रचारक की कथा कही गई है, जिसने कनिष्क के तत्त्वावधान में हुई संगति में भाग लिया था, और जो इस संगति से पाणिनि की जन्मभूमि में आया था। यहाँ उसने एक ब्राह्मण से, जिसे उसने अपने पुत्र को व्याकरण पढ़ाते समय दण्डित करते हुए पाया, यह बताया कि वह बालक स्वयं पाणिनि था, जो पूर्वजन्म में नास्तिक होने के कारण मोक्ष नहीं प्राप्त कर सका था, अतएव पुनः उसके पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ था। देखिए, इं० स्टू० ५।४।

व्यवहृत हुआ है। 'शालातुर' नाम का आधार ध्वनि की दृष्टि से[1] चीनी नाम 'फोलोटोउलो' से अभिन्न ठहरता है। पाणिनि भारत के पूर्वी प्रदेश के नहीं, अपितु उत्तरपश्चिमी प्रदेश के थे, यह निष्कर्ष स्पष्टतः उनके ग्रन्थ में आए हुए भौगोलिक तथ्यों से भी निकलता है;[2] फिर भी वे अपने ग्रन्थ में प्रायः भारत के पूर्वी भागों का भी उल्लेख करते हैं और यद्यपि उनका जन्म उत्तरपश्चिमी प्रदेश में हुआ होगा, वे बाद में पूर्व की ओर आकर बस गये होंगे। शेष जिन दो तर्कों द्वारा बेटलिंक ने पाणिनि का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है उनमें एक अमरसिंह की उत्तरकालीनता पर आधृत है,"जो स्वयं प्रथम शताब्दी ई० पू० के मध्य में हुए थे।" यह तर्क भी अमरसिंह के समय की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाने से निमूल हो जाता है। दूसरा तर्क 'राजतरंगिणी' के आधार पर दिया गया है, जो सन्देहास्पद स्रोत है और उसी काल की रचना है जिस काल का 'कथासरित्सागर' है। यह तर्क उत्तरी और दक्षिणी बौद्धों के संवत् के विषय में एक भयंकर भ्रम पर आधृत है; अतएव इसका आधार भी नितान्त दुर्बल है। इस रचना में यह कहा गया है कि महाभाष्य या पाणिनि के व्याकरण की विस्तृत व्याख्या, जो पतंजलि रचित बताई जाती है, राजा अभिमन्यु की आज्ञा से उसके राज्य में चन्द्र द्वारा प्रचारित की गई थी, जिसने स्वयं एक व्याकरण की रचना की थी। उत्तरदेशीय बौद्ध इस कथन से सहमत हैं कि अभिमन्यु के ठीक पहले होने वाले राजा कनिष्क का समय बुद्ध की मृत्यु के ४०० वर्ष बाद का है। यदि इसलिए

---

[1]भाष्यकारों ने शालातुर को पाणिनि के पूर्वजों का निवासस्थान बताया है; और वस्तुतः इसी अर्थ में पाणिनि के सूत्र को लेना चाहिए; किन्तु चीनी यात्री, जिसने तात्कालिक सूचनाएँ प्राप्त की थीं, निःसंदेह अधिक प्रामाणिक है, विशेषतः जहाँ तक यह कहा जाय कि इस सूत्र की (४।३।९४), कलकत्ता के भाष्यकारों के अनुसार, भाष्य में व्याख्या नहीं की गई है और संभवतः यह पाणिनि का नहीं है अपितु पतंजलि के समय से बाद का है। ['शालातुरीय' नाम वस्तुतः भाष्य में नहीं आता; किन्तु इसमें पाणिनि को 'दाक्षीपुत्र' कहा गया है। दाक्षीवंश उत्तरपश्चिम में वाह्लीकों की जाति के अन्तर्गत था; देखिए इं० स्टू० १३।३९५, ३९७, शालङ्कर्का नाम भी, जो बाद की रचनाओं में उन्हें दिया गया है, और जो वस्तुतः भाष्य में आता है हमें वाह्लीकों का बोध कराता है, यद्यपि इससे यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता है कि यहाँ उन्हीं से तात्पर्य है। देखिए इं० स्टू० १३।३९५, ३७५, ४२९, ह्वेनत्सांग ने पाणिनि को स्पष्ट रूप से गन्धार (गान्दारोई) का बताया है।

[2]उनके तथा उनके व्याकरण के भाष्य के विषय में केवल दो ग्रन्थों—'कथासरित्सागर' और 'राजतरंगिणी'-से ही कथाएँ आई हैं, और ये दोनों ग्रन्थ काश्मीर में रचे गये थे, यह बात भी इसी मत का समर्थन करती है। [पाणिनि के भौगोलिक तथ्यों के विषय में भण्डारकर, इण्ड० एण्टि० १।२१ (१८७२) तथा इं० स्टू० १३।३०२, ३६६ देखिए।

१४

हम दक्षिणी बौद्धों से सहमत होकर इस घटना को ५४४ ई० पू० की मानें तो कनिष्क का समय १४४ ई० पू० होगा, और अभिमन्यु का समय लगभग १२० ई० पू०।[1] किन्तु सिक्कों के प्रमाण पर, जो किसी भी दशा में निश्चित प्रमाण हैं,[2] कनिष्क (कनेर्कि) ने ४० ई० तक शासन किया। (लास्सेन, इं० अल्ट० २।४१३) और स्वयं अभिमन्यु ने पूर्ववर्ती कल्पना से प्राप्त तिथि के १६० वर्ष बाद लास्सेन (वही) के अनुसार, ६५ ई० तक राज्य किया होगा। अतएव यदि बेटलिंक का आगे का तर्क मान भी लिया जाय तो हम पाणिनि का समय ३५० ई० पू० या उसके आस-पास का नहीं मान सकते, जैसा कि उन्होंने निष्कर्ष निकाला है; किन्तु किसी भी दशा में यह समय १६० वर्ष बाद का मानना होगा। ह्वेनत्सांग के कथन को ध्यान में रखते हुए सम्प्रति 'राजतरंगिणी' के विवरण को कोई गौरव नहीं दिया जा सकता। यदि पाणिनि वस्तुतः कनिष्क के १०० वर्ष बाद के समय अर्थात् १४० ई०[3] तक नहीं हुए थे, तो यह स्वतः सिद्ध है कि उनके ग्रन्थ का भाष्य उस समय तक नहीं रहा होगा, उसके कश्मीर में कनिष्क के उत्तराधिकारी अभिमन्यु के समय में प्रचारित होने की बात तो दूर रही। फिर भी इन सब विचारों से दूर हम स्वयं पाणिनि की रचना में एक नितान्त गम्भीर तर्क पाते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि उनका समय उतना पहले का नहीं हो सकता जितना की बेटलिंक ने माना है (लगभग ३५० ई० पू०)। कारण, अपने ग्रन्थ में पाणिनि ने एक स्थान पर यवनों अर्थात् 'इआओनीज' (ग्री०) ग्रीसदेशवासियों[4]

---

[1]जैसा कि बेटलिंक, वही, पृ० १७, १८, का विचार है; देखिए राइनाऊँ: मेम० सुर० ला० इण्डे० पृ० ७९।

[2]इनका उपयोग बेटलिंक नहीं कर सके हैं, कारण इनकी जानकारी हमें बेटलिंक के पाणिनि के संस्करण प्रकाशित हो जाने के बाद हुई।

[3]ह्वेनत्सांग के विवरण से इस प्रकार का कोई निष्कर्ष नहीं निकलता, क्योंकि हम इसके वास्तविक स्वरूप से परिचित हो चुके हैं (देखिए टिप्पणी, २३०); 'राजतरंगिणी' के कथन का किसी भी प्रकार इससे निराकरण नहीं होता है।

[4]लास्सेन (इं० अल्ट० १।७२९) का कथन है कि 'यवन' शब्द का प्राचीनतम अर्थ 'अरबी' था, क्योंकि अरब से आने वाले इत्र का नाम 'यवन' था; किन्तु यह कथन स्पष्टतः गलत है। जहाँ तक हम इस समय जानते हैं, 'यवन' शब्द सर्वप्रथम अमरकोश में मिलता है, और वहाँ उसका प्रयोग 'तुरुष्क' के साथ किया गया है, जो अधिक प्राचीन शब्द नहीं हो सकता। इसका समय उस समय से प्रारम्भ होता है जब मुहम्मद के पूर्व भारतीयों के अरबवासियों के साथ या मुसलमानी अरबों के साथ व्यापारिक संबन्ध आरम्भ हुए; या यवनेष्ट 'टिन्' के समान [हेमच० १०४१, बेटलिंक-रीउ के अनुसार जस्ता (lead) न कि 'टिन'] और 'यवनप्रिय' पुदीना, के समान ही, जो अलेक्जेण्ड्रिया के यूनानियों के लिये प्रमुख व्यापारिक वस्तुएँ थीं, इसका नाम अरबों के कारण नहीं पड़ा होगा, अपितु

का उल्लेख किया है, और 'यवनानी' शब्द की व्युत्पत्ति बताई है—जिस शब्द के साथ, वार्त्तिक के अनुसार 'लिपि' शब्द भी जोड़ना चाहिए और जिससे 'यवनों की लिपि'[1] का अर्थ

यूनानियों के कारण पड़ा है, जो भारत से इत्र, टिन और पुदीना ले गये थे (लास्सेन इं० अल्ट० २८६ टि०)। जहाँ कहीं यवनों का प्रयोग महाकाव्य में या उसके समान किसी, प्राचीन रचना में हुआ है, वहाँ केवल यूनानियों से तात्पर्य लिया जा सकता है। [उनका कम्बोजों, शकों इत्यादि के साथ निरन्तर प्रयोग इस विषय में निर्णायक तथ्य है; देखिए इं० स्ट्रा० २।३२१, इं० स्टू० १३।३७१। यवन नाम कालान्तर में पश्चिमी भारत में यूनानी राज्यों के राजनीतिक उत्तराधिकारियों अर्थात् इण्डोसीथियन, फारसी (पारसी के, जिनकी स्त्रियों को कालिदास ने रघु० ४।६१ में 'यवनी' कहा है) तथा अन्ततः अरब-वासियों या मुसलमानों के लिये प्रयुक्त होने लगा; देखिए इं० स्टू० १३।३०८, यह सत्य है कि हाल ही में राजेन्द्र लाल मित्र ने जर्न० एसि० सो० बंगाल १८७४ पृ० २४६ आदि में इस मत का विरोध किया है कि यवन शब्द का मौलिक तात्पर्य ग्रीसवासियों से था; किन्तु उनके तर्क अधिकांशतः बड़े अजीब हैं। तु० की० आगे इस विषय पर इं० एण्टि० ४।२४४ (१८७५) में मेरा पत्र, जिसमें विशेषतः मैंने उल्लेख किया है यवन नाम भारत में सर्वप्रथम सिकन्दर के माध्यम से अर्थात् उसके फारसी अनुवादकों द्वारा प्रचलित हुआ, यद्यपि इसका ज्ञान पहले भी डेरिअस की सेना में नियुक्त भारतीय सैनिकों के माध्यम से रहा होगा]—पुराणों में तथा महाभारत के बारहवें पर्व में कृष्ण और कालयवन के युद्ध की एक उल्लेखनीय कथा आती है। 'कालयवन' नाम संभवतः गोरे-रंग के यवनों से भेद प्रदर्शित करने के लिये रखा गया है। क्या यहाँ हम अफ्रीका के या कृष्ण वर्ण वाले उस सेमे-टिक जाति के लोगों से अर्थ ले सकते हैं, जो भारतीयों के साथ आ टकराई? 'दशकुमार' के समय में कालयवन नाम (तथा स्वयं यवन भी) वस्तुतः समुद्र में यात्रा करने वाली एक जाति को द्योतित करता है, जिन्हें विल्सन ने अरबदेशवासी माना है। इसके विपरीत पुराणों एवं महाभारत के आख्यानों में समुद्र का कोई निर्देश नहीं मिलता; और अतएव विल्सन (विष्णु० पु० ५६५, ५६६) इससे यूनानियों विशेषतः बैक्ट्रिया के यूनानियों की ओर संकेत करते हैं। इस मत का समर्थन इस तथ्य से होता है कि इस कालयवन का संबन्ध गार्ग्य से दिखाई पड़ता है। एक श्लोक जिसमें यवनों (निःसंदेह ग्रीसवासियों) की प्रशंसा की गई है, गर्ग का बताया जाता है, जो सर्वत्र प्राचीन भारतीय ज्योतिर्विद् के रूप में उल्लिखित हैं। संभवतः इसी कारण यहाँ गार्ग्य का संबन्ध कालयवन से जोड़ा गया है।

[1]इस शब्द के जो विभिन्न अर्थ निकालने के प्रयत्न किये गये हैं उनके लिए इं० स्टू० ५।५-८, १७, बर्नेल, एलि० आफ सा० इं० पेल०, पृ० ७, ९३ देखिए: बर्नेल ने यह संभव माना है कि "भारतीयों में 'लिपि' फारसी के 'दिपि' से आया है।" बेनफी ने भी अपने 'गेशिश्ट् डेर स्प्राखविस्सेन शाफ्ट' पृ० ४८ में (१८६९) में यवनानी का अर्थ 'ग्रीस

निकलता है। पंचतन्त्र में पाणिनि के एक व्याघ्र द्वारा मारे जाने का उल्लेख है; किन्तु जिस श्लोक में यह उल्लेख आया है वह मौलिक पाठ का है या नहीं इस प्रश्न को छोड़ भी दिया जाय तो भी इससे समय के विषय में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता।[१]

देश की लिपि' किया है; किन्तु वे पाणिनि की रचना के पूर्ण होने का समय ३२० ई० पू० मानते हैं। ऐसी स्थिति में उनका विचार है कि छः वर्षों के बीच पाणिनि को बिना व्यवधान के यूनानियों के सम्पर्क में रहकर उनकी लिपि से परिचित होने का समय मिला था; कारण, जैसा कि सुविदित है, सिकन्दर ने भारत में और उसके निकटवर्ती प्रान्तों में अपने "राज्य" सिन्धु नदी के निकट स्थापित कर लिये थे जिसके समीप पाणिनि की जन्मभूमि थी। किन्तु मुझे यह अत्यन्त सन्देहास्पद लगता है कि छः वर्षों के इतने अल्प काल में भारतीयों ने यवनों की लिपि का बोध कराने के लिए एक विशेष नाम और प्रत्यय का प्रयोग आरम्भ कर दिया होगा (जिसने सिकन्दर के आक्रमण के आरम्भिक वर्षों में उनका ध्यान इतने महत्त्वपूर्ण ढंग से आकृष्ट नहीं किया होगा?)—जिससे कि 'यवन' नाममात्र से ही यवनों की लिपि का बोध होता होगा और पाणिनि को इस पद की रचना की व्याख्या करने के लिए एक विशेष नियम की व्यवस्था करनी पड़ी होगी। "यह शब्द दीर्घकालीन एवं बहुशः प्रयोग के उपरान्त ही इतना प्रचलित हुआ होगा—ऐसी बात पाणिनि की जन्मभूमि अर्थात् उत्तरपश्चिम भारत के उन प्रदेशों के लिए संभव तथा स्वाभाविक कही जा सकती है, जिन पर बहुत दिनों से यूनानियों का आधिपत्य था। किन्तु इससे यह संकेत मिलता है कि सिकन्दर के समय के उपरान्त एक दीर्घ अवधि बीत चुकी थी।" इं० स्टू० ४।८९ (१८५७)।

[१]उपर्युक्त विवरण लिखने के बाद से पाणिनि के समय पर कई बार विवाद उठा है। सर्वप्रथम मैक्सम्यूल्लेर ने ह्वेनत्सांग के विवरणों का वास्तविक अर्थ मेरे तर्कों के विपरीत माना। इसके अतिरिक्त मैं मूल में दिये गये तर्कों पर अब भी दृढ़ हूँ; देखिए इं० स्टू० ४।८७, ५।२, अस्पष्ट बाह्य प्रमाण को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। स्वयं पाणिनि की शब्दावलि (तु० 'यवनानी') ही कुछ निश्चित सूचना प्रदान कर सकती है। और गोल्डस्ट्यूकेर अपने 'पाणिनि हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर' (सितम्बर १८६१) में इसी मार्ग पर अग्रसर हुए थे। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें इस प्रश्न के इस पहलू पर तथा इससे संबद्ध साहित्य के विषय में वास्तविक गंभीर गवेषणाएँ प्रस्तुत की गई हैं। वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह यह है कि पाणिनि बुद्ध से प्रातिशाख्यों, ऋक्-साम और कृष्ण यजुस् की तीन संहिताओं के अतिरिक्त शेष वैदिक ग्रंथों, और यास्क के अतिरिक्त किसी भी क्षेत्र के रचयिता से पहले के हैं (पृ० २४३)। मई १८६१ में, इस ग्रंथ के पृथक् प्रकाशन के पूर्व जो पहले (नव० १८६० में) गोल्डस्टयूकेर के 'मानव कल्प-सूत्र' के फोटोलिथोमुद्रित संस्करण के प्राक्कथन के रूप में छपा था, मैंने एक विस्तृत प्रतिलेख इं० स्टू०

पाणिनि की रचना आज तक व्याकरणीय अन्वेषण और भाषा के प्रयोग का मानदण्ड बनी हुई है। प्रायः इसमें पाई जाने वाली दुरूहता के कारण इस पर पहले ही भाष्य लिखा गया—और इसके समान बात साहित्य में अन्यत्र नहीं पाई जाती—इन प्राचीनतम व्याख्याओं में से कुछ इस समय भी उपलब्ध हैं। इनमें शीर्षस्थ हैं परिभाषाएँ या अलग-अलग नियमों की व्याख्याएँ, जिनके रचयिताओं का नाम अज्ञात है। इसके बाद कात्यायन का वार्त्तिक[1] ('वृत्ति' व्याख्या से) आता है और इन सब के उपरान्त पतंजलि का 'महाभाष्य' आता है। कात्यायन के समय के संबन्ध में ह्वेनत्सांग के इस कथन का कि बुद्ध की मृत्यु के ३०० वर्ष बाद अर्थात् २४० ई० पू० में[2] ले 'डोक्ट्यूर किआ तो यान् न' पंजाब में तामसवन में हुए थे, बेटलिंक ने कात्यायन से संबन्ध जोड़ा है; किन्तु जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि उसी यात्री ने दूसरे पाणिनि का समय बुद्ध से ५०० वर्ष बाद का माना है, तो इस प्रकार का संबन्ध जोड़ना अत्यन्त निराधार सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त स्वयं यह कथन भी नितान्त अनिश्चित है। इस 'डोक्ट्यूर' को वैयाकरण नहीं बताया गया है, अपितु केवल कात्यवंश का कहा गया है।[3] यदि यह मान लिया जाय कि इस कथन से

५।१-१७६ में इन निष्कर्षों का एक-एक कर खण्डन करने का प्रयत्न किया है और मेरा विश्वास है कि मैं इसमें सफल हुआ हूँ। पाणिनि के बुद्धपूर्व समय के लिए विशेषतः पृ० १२३-१२८ पर दिये गये प्रमाणों की तुलना कीजिए; इसका सुन्दर परिशिष्ट ब्यूहलेर ने शाकटायन पर अपने लेख (१८६३, देखिए ऊपर टिप्पणी २२९) में किया है। 'यवनानी' के उल्लेख के विषय में एक विलक्षण तथ्य और पाया जाता है जिसे हाल ही में बर्नेल ने ढूंढ़ निकाला है (एलि० सा० इं० पेलिओ० पृ० ९६); वर्णमाला के अक्षरों से संख्याओं का निर्देश, जिसकी ओर गोल्डस्ट्यूकेर ने सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट किया और जो भाष्य के अनुसार केवल पाणिनि की विशेषता है केवल उन्हीं के ग्रन्थ में पाया जाता है और वह ठीक "ग्रीसवासियों एवं सेमेटिक लोगों में प्रचलित अंकों के वर्णों द्वारा निर्देश से मिलता-जुलता है।" यदि 'ओक्सुडराकाई' (ग्री०) और 'मल्लोई' के मिलन के विषय में यूनानी विवरण सही हो और यदि उनकी संधि सर्वप्रथम सिकन्दर के भय से हुई जो पहले निरन्तर परस्पर शत्रुतापूर्ण व्यवहार रखते थे, तो निश्चय ही आपिशलि और स्वयं पाणिनि को सिकन्दर के बाद का मानना होगा; देखिए इं० स्टू० १३। ३७५ टि०।

[1] जिन्होंने इनमें से अनेक परिभाषाओं का उसमें उल्लेख किया है।

[2] कहने का तात्पर्य यह है कि यदि हम दक्षिणी बौद्धों की तिथि मानें; किन्तु केवल ६० ई० पू०; कारण, कनिष्क, जिसका समय सिक्कों के आधार पर ४० ई० निश्चित है, ह्वेनत्सांग द्वारा बुद्ध की मृत्यु के ४०० वर्ष बाद का बताया गया है।

[3] केवल इसी में कुछ तथ्य है, जबकि, जैसा कि हम देख चुके हैं (पृ० २०८ टिप्पणी २) पाणिनि के दूसरे अस्तित्व को कोई महत्व नहीं दिया जा सकता।

उन्हीं का निर्देश किया गया है, तो यह 'कथासरित्सागर' की परम्परा से, जो स्वतः प्रामाणिक नहीं है, विरोध प्रदर्शित करता है।' 'कथासरित्सागर' के अनुसार कात्यायन न केवल पाणिनि के समकालीन थे, अपितु वररुचि से अभिन्न भी थे जो चन्द्रगुप्त (चन्द्रोकुप्टोस्) के पिता राजा नन्द के मन्त्री थे; इसके आधार पर उनका समय ३५० ई० पू० रहा होगा। जहाँ तक 'महाभाष्य' के समय[१] का प्रश्न है, हम यह देख चुके हैं कि काश्मीर में कनिष्क के उत्तराधिकारी अभिमन्यु के राज्यकाल अर्थात् ४० ई० और ६५ ई० के बीच में इसके प्रचार के विषय में 'राजतरंगिणी' का उल्लेख उपर्युक्त कारणों से अविश्वसनीय ठहरता है।[२] अतएव इस समय इन भाष्यकारों के समय के विषय में हमारे पास सूचनाओं का उसी प्रकार अभाव है जिस प्रकार स्वयं पाणिनि के समय के विषय में। किन्तु जब एक बार इस प्रकार की जानकारी हमारे हाथ लग जायगी तो निश्चय ही उनके वर्ण्यविषयों से और उनमें आए हुए शब्दभण्डार से उनकी उत्पत्ति के समय का पर्याप्त स्पष्ट चित्र[३] उसी प्रकार

उदाहरण के लिये स्वयं भाष्य के समय में हुए अनेक कात्यों एवं कात्यायनों के विषय में इं० स्टू० १३।३९९ देखिए।

[१]पतंजलि (पात० को छोड़कर) नाम निश्चय ही किसी न किसी प्रकार मद्र देश के पतंचल काप्य के नाम से संबन्ध रखता है, जो शत०, बा० के याज्ञवल्कीय-काण्ड में आया है। यह पुनः योगसूत्र के रचयिता के नाम के रूप में भी आया है (देखिए, नीचे, पृ० २३०), (वेस्टेरगार्ड के 'केटलोगस' पृ० ३९, सं० २४२ में) पतंजलि नाम बुद्ध के पूर्ववर्ती जन्मों में एक जन्म के समय का नाम बताया गया है। 'प्रवराध्याय' §९ (यजुः परि०) में पतंजलि वंश वालों को विश्वामित्र के वंश का बताया गया है। बाद के समय के विवरणों के अनुसार, गोवर्दीय से, जो भाष्य में चार बार उल्लिखित हैं हमें स्वयं पतंजलि का अर्थ लेना चाहिए, यही बात गोणिकापुत्र के संबन्ध में भी है। इस विषय पर इं० स्टू० ५।१५५, १३।३१६, ३२३, ४०३ देखिए।

[२]कदापि नहीं; २३१ टिप्पणी देखिए।

[३]बनारस में १८७२ में राजाराम शास्त्री और बालशास्त्री द्वारा कैयट की टीका (लगभग सातवीं शताब्दी इं० स्टू० ५।१६७) के साथ प्रकाशित 'महाभाष्य' के लिथो-मुद्रित संस्करण के आधार पर मैंने इं० स्टू० १३।२९३-५०२ में एक रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रंथ का प्रथम खण्ड कैयट और नागेश की टीका के साथ, जो अठारहवीं शताब्दी की है, १८५६ में बैलेण्टाइन द्वारा प्रकाशित की गई थी। सम्पूर्ण भाष्य का फोटोलिथो-मुद्रित संस्करण जो गोल्डस्टयूकेर के संरक्षण में भारत सरकार के व्यय पर तैयार किया गया है लन्दन में तीन भागों में प्रकाशित हुआ है। (प्रथम भाग-भाष्य, द्वितीय भाग कैयट की टीका, तृतीय भाग नागोजिभट्ट की कैयट की टीका पर की टीका)। गोल्डस्टयूकेर ने अपने 'पाणिनि' में विशेषतः भाष्य के 'अरुणद् यवनः साकेतम्' के आधार

सम्मुख आ जायगा, जिस प्रकार हम इस समय भी पाणिनि के काल का एक चित्र अंकित कर सकते हैं, यद्यपि इस चित्र में एक स्थूल रूपरेखा मात्र ही प्रस्तुत की जा सकती है।[1] पाणिनि के समय के विषय में आलोचनात्मक दृष्टिकोण से ग्रन्थ की वर्तमान दशा एक प्रमुख कठिनाई उपस्थित करती है। इनमें कुछ ऐसे भी सूत्र पाये जाते हैं, जिनके पाणिनि-रचित न होने की बात पहले से ही स्वीकार की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त एक विल-

---

पर, जिसका संबन्ध उन्होंने मेनाडेर के अयोध्या पर आक्रमण से (१४४-१२० ई० पू०) जोड़ा है, इस ग्रंथ की रचना का समय इस आक्रमण का काल या विशेषतः १४०-१२० ई० पू० माना। इस कल्पना के विरोध में मैंने जो आपत्तियाँ की (इं० स्टू० ५।१५१) वे वराहमिहिर की बृह० संहिता के केर्न के प्राक्कथन पृ० ३७ में आए एक कथनों से निर्बल हो गई है। उनके अनुसार भाष्य के उसी अंश में "अरुणद्यवनो माध्यमिकान्" उक्ति का संबन्ध बौद्धों की माध्यमिक शाखा से अनिवार्यतः नहीं जोड़ा जा सकता जिसकी स्थापना नागार्जुन ने की थी, अपितु इससे माध्यमिक नाम की एक जाति की ओर संकेत है जिसका अन्यत्र भी उल्लेख है। दूसरे, इण्ड० एण्टि० १।२९९, २।५९ में भण्डारकर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह विशिष्ट अंश जिसमें उपर्युक्त शब्दों में मेनाण्डेर का उल्लेख है (जिसे गोल्डस्ट्यूकेर के अनुसार 'यवन' माना गया है) पतंजलि ने १४४ और १४२ ई० के बीच लिखा होगा, कारण वे पुष्यमित्र के लिये किये जाते हुए एक यज्ञ का उल्लेख करते हैं (१७८-१४२ ई०) इं० स्टू० १३।३०५ में अपने उत्तर में मैंने इन विषयों पर बल दिया है: प्रथम, यवन और मैनाण्डेर की एकरूपता कथमपि स्पष्ट नहीं है; दूसरे, इस अंश से यह अनिवार्यतः अर्थ नहीं निकलता कि पतंजलि और पुष्यमित्र (यही शुद्ध रूप है) समकालीन थे; और अन्त में, पतंजलि ने इन उदाहरणों को अपने से पहले ही प्रचलित पाया होगा; ऐसी स्थिति में इनका प्रयोग उनके विषय में किसी बात को प्रमाणित करने के लिये नहीं किया जा सकता अपितु केवल इनके पूर्ववर्ती आचार्यों के समय के विषय में—स्वयं पाणिनि के समय के लिये इसका उपयोग हो सकता है। यद्यपि भण्डारकर की दूसरी आपत्ति के समक्ष मुझे पुष्यमित्र से संबद्ध उक्ति का ऐतिहासिक महत्व मानना पड़ता है (किन्तु बेटलिंक का विपरीत विचार त्सा० डा० मो० गे० २९।१८३ में देखिए) इन सभी उदाहरणों के सन्दर्भ में मैं इस संभावना पर विशेष गौरव दूंगा कि वे 'मूर्धाभिषिक्त' उदाहरणों के वर्ग के हो सकते हैं (वही० पृ० ३१५)। सम्प्रति हमें इतना ही मानकर सन्तोष कर लेना चाहिए कि भाष्य की रचना का समय १४० ई० पू० तथा ६० ई० के बीच का है—सामान्य भारतीय साहित्य के कालक्रम का विचार करते हुए यह निष्कर्ष कम महत्वपूर्ण नहीं है, यद्यपि यह निश्चित नहीं है।

[1]देखिए इं० स्टू० १।१४१-१५७ [यहाँ आरम्भ किया गया वह महाभाष्य के न होने से रुक गया]।

क्षण बात यह देखने में आती है कि कलकत्ता संस्करण के टीकाकारों के अनुसार सम्पूर्ण सूत्रों के एक-तिहाई भाग की 'महाभाष्य' में बिल्कुल व्याख्या नहीं की गई है।[१] तब यह प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा इसलिए है कि ये सूत्र स्वयं स्पष्ट और बोधगम्य हैं अथवा ऐसी बात तो नहीं है कि यत्र-तत्र ऐसे भी अंश हैं जहाँ सूत्र इस भाष्य की रचना के समय मूल-ग्रंथ में थे ही नहीं। तथाकथित 'गणों' या ऐसे शब्दों की सूची की, जो एक ही नियम के अन्तर्गत आते हैं, और जिनके आरम्भिक शब्दों को ही स्वयं ग्रंथ में सर्वत्र समान रूप से उद्धृत किया गया है, इस समय कोई प्रामाणिकता नहीं है; और इस कारण वे पाणिनि के समय के संबन्ध में कोई प्रकाश नहीं डालते। इस प्रकार की कुछ सूचियों की रचना निश्चय ही स्वयं पाणिनि ने की होगी; किन्तु जो सूचियाँ इस समय उपलब्ध हैं वे पाणिनि-रचित ही हैं, यह विवादास्पद है। सच तो यह है कि कुछ सीमा तक उनका ऐसा होना नितान्त असंभव है। यही नहीं, उनमें से ऐसे 'गण' जिनका 'महाभाष्य' में पृथक् उल्लेख हुआ है स्वयं इस रचना के समय को छोड़कर कुछ भी प्रमाणित करने में असमर्थ हैं।[२] यहाँ एक चेतावनी दे देनी आवश्यक है, जो वस्तुतः व्यर्थ होती किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है; वह यह कि पाणिनि के कलकत्ता संस्करण के भाष्यों में, जो पचास वर्ष पूर्व की ही रचनाएँ हैं, आए हुए शब्दों और उदाहरणों को स्वयं पाणिनि के समय के संबन्ध में प्रामाणिक नहीं समझ लेना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के उदाहरण प्रायः 'महाभाष्य' से लिये गये हैं; किन्तु जहाँ तक ऐसी बात वस्तुतः प्रमाणित न हो, हम ऐसा मान लेने की मनमानी नहीं कर सकते। यही नहीं, जब यह स्पष्ट भी हो कि वे 'महाभाष्य' से उद्धृत किये गये हैं तब भी वे केवल 'महाभाष्य' के समय के लिए ही उपादेय हो सकते हैं, पाणिनि के समय के लिये नहीं।[३]

---

[१]इनमें से कुछ के संबन्ध में यह कहा जाता है कि उनकी व्याख्या इसमें नहीं की गई है या पृथक् व्याख्या नहीं की गई है। महाभाष्य के साथ परिचय होने पर ही इस विषय पर सन्तोषदायक ज्ञान प्राप्त हो सकता है [कैट० कोड० सं० बिब्ल० बोड० में आऊफ़ेष्ट के विवरणों से ऐसा प्रतीत होता था कि पाणिनि के ३९८३ सूत्रों में केवल १७२० की ही प्रत्यक्ष व्याख्या की गई है; और गोल्डस्ट्यूकेर ने तब यह प्रदर्शित किया कि भाष्य पाणिनि की एक व्याख्या होने की अपेक्षा वार्त्तिकों के लेखक कात्यायन के अनुचित आक्रमणों से उनकी रक्षा का प्रयत्न अधिक है; देखिए इं० स्टू० १३।२९७ आदि।

[२]देखिए इं० स्टू० १।१४२, १४३, १५१, [१३।२९८, ३०२, ३२९]।

[३]यह नितान्त सोद्देश्य नहीं है। सर्वप्रथम मैक्सम्यूल्लेर ने यह संकेत किया है कि आरम्भ से ही पाणिनि के सूत्रों के साथ एक निश्चित व्याख्या चलती थी, चाहे वह मौखिक हो या लिखित; और भाष्य में दिये गये उदाहरणों का अधिकांश इसी व्याख्या से लिया गया होगा। यही नहीं भाष्य ने इस प्रकार के उदाहरणों को एक विशिष्ट नाम 'मूर्धाभि-

पाणिनि की पद्धति के अतिरिक्त कालान्तर में अनेक दूसरी व्याकरणीय पद्धतियाँ भी चल पड़ीं, जिनकी अपनी विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली थी; और सामान्यतः व्याकरण साहित्य एक अत्यन्त समृद्ध तथा विस्तृत विकास की अवस्था पर जा पहुँचा।[1] इसी

षिक्त' रखा है; देखिए, इं० स्टू० १३।३१५; दुर्भाग्यवश, हमें यह निर्णय करने के लिये स्वल्प संकेत भी नहीं मिलता (इं० स्ट्रा० २।१६७) कि कोई विशिष्ट उदाहरण 'मूर्धाभिषिक्त' का है या नहीं। दूसरी ओर, जैसा कि 'राजतरंगिणी' में पाये जाने वाले तथ्यों और विशेषतः हरि के वाक्यपदीय के, जिसका सर्वप्रथम गोल्डस्ट्यकेर ने उद्धरण दिया है, और जिसका हाल ही में संशोधित रूप में कीलहोर्न ने प्रकाशन किया है इण्ड० एण्टि० ३।२८५-२८७—अन्त में आने वाली उक्तियों से ज्ञात होता है, भाष्य को अनेक अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा है; अनेक बार यह विच्छिन्न हुआ है और अनेक बार इसे फिर से निबद्ध किया गया है। इस कारण पर्याप्त परिवर्तन, पाठभेद एवं क्षेपक की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सच कहा जाय तो प्रत्येक उदाहरण के विषय में प्रथम दृष्टि में यह सन्देह उठता है कि वह स्वयं पतंजलि का है या बाद में इस भाष्य को निबद्ध करने वालों का है (या पतंजलि के पहले के आचार्यों या स्वयं पाणिनि का है); देखिए, इं० स्टू० १३।३२०, ३२९; इण्ड० एण्टि० ४।२४७; यह सच है कि इण्ड० एण्टि० ४।१०८ में कीलहोर्न ने इस मत का ज़ोरदार खण्डन किया है "कि किसी न किसी समय महाभाष्य लुप्त हो गया था, और पुनः इसकी रचना की गई थी।" वे केवल "इसकी परम्परागत व्याख्या में एक व्यवच्छेद" को मान्यता देते हैं, जबकि हमें "पाण्डुलिपि में प्राप्त महाभाष्य के पाठ को उसी रूप में मानने को बाध्य किया जाता है, जिस रूप में यह २००० वर्ष पहले था।" इसकी पुष्टि में वे क्या तर्क देंगे इसकी हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए; कारण, परम्परा से सुरक्षित उक्तियों के विरुद्ध केवल उनका विरोध पर्याप्त नहीं हो सकता। तीन विभिन्न अवसरों पर 'विप्लावित' 'भ्रष्ट' 'विच्छिन्न' शब्दों का प्रयोग इस ग्रंथ के लिये किया गया है; और यह तथ्य भी है कि बर्नेल के प्रमाण के अनुसार ('वंश-ब्राह्मण' का प्राक्कथन पृ० २२ टि०) इस ग्रंथ की दक्षिणी भारतीय पाण्डुलिपि में ठोस अन्तर दिखाई पड़ता है; बर्नेल का एलि० सा० इं० पे० पृ० ७, ३२ देखिए।

[1]हरि का 'वाक्यपदीय' जिसका सम्पादन कीलहोर्न कर रहे हैं, विशेषतः महाभाष्य से संबन्ध रखता है—वामन की काशिका पाणिनि की सीधी व्याख्या है और इसका सम्पादन बनारस के पण्डित बालशास्त्री कर रहे हैं। उनके अनुसार इसकी रचना तेरहवीं शताब्दी में हुई थी; जैसा कि गोल्डस्ट्यूकेर ने पहले ही संकेत किया है। पहले बेटलिंक के मत के अनुसार इसे आठवीं शताब्दी का माना गया था; इं० स्ट० ५।६७ वामन के "काव्यालंकारवृत्ति" की काम्पेल्लेर की भूमिका, पृ० ७, ८, आउफ्रेष्ट ने (बान १८५९)

उज्ज्वलदत्त का उणादिसूत्रों पर भाष्य प्रकाशित किया है, जो संभवत् (द्र०-ई० स्ट्रा० २।३२२) के शाकटायन द्वारा रचित है। जूलियस इग्गेलिंग वर्धमान के 'गणरत्नमहोदधि' का संस्करण निकाल रहे हैं।' भट्टोजिदीक्षित की 'सिद्धान्तकौमुदी' (सत्रहवीं शताब्दी) का एक नया और सुन्दर संस्करण तारानाथ वाचस्पति ने (कल० १८६४-१८६५) निकाला है। वरदराज की लघुकौमुदी का सुन्दर संस्करण अंग्रेजी रूपान्तर के साथ जे० आर० बैलेन्टाइन ने निकाला है (जो पहले मिर्जापुर से प्रकाशित हुआ था, १८४९)। शान्तनव के 'फिटसूत्रों' का संपादन कीलहोर्न ने १८६६ में किया और उन्होंने नागोजिभट्ट के 'परिभाषेन्दुशेखर' का भी एक सुन्दर संस्करण निकाला है (बम्बई १८६८-७४) जो पिछली शताब्दी की रचना है। पाणिनि से पृथक् स्वतन्त्र रूप से चलने वाली व्याकरण की पद्धतियों में बोपदेव का 'मुग्धबोध' जो तेरहवीं शताब्दी का अन्य ग्रन्थों के साथ बेटलिंक द्वारा (सेंटपीटर्सबर्ग, १८४७) संपादित है; अनुभूति स्वरूपाचार्य का 'सारस्वत' बम्बई से १८६१ में लिथोमुद्रित संस्करण के रूप में प्रकाशित हुआ; शर्ववर्मन का 'कातन्त्र' का सम्पादन दुर्गसिंह के भाष्य के साथ बिब्लि० इं० में इग्गेलिंग कर रहे हैं (१८७४ में यह ४।४।५० तक पहुँचा था)। इस व्याकरण की पद्धति इस कारण विशेष रूप से रोचक है कि इसमें तथा कच्चायन के पालि व्याकरण में विशेषतः पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से विशेष संबन्ध दिखाई पड़ता है। काश्मीर से लिखे गये ब्यूहलेर पत्र के अनुसार (इं० स्टू० १४।४०२ में प्रकाशित) कातन्त्र काश्मीर का विशेष व्याकरण है और इस प्रदेश में इस पर १२वीं से १६वीं शताब्दी के बीच अनेक बार भाष्य लिखे गये हैं। अधिक प्राचीन व्याकरण के ग्रंथों में उन्होंने व्याडि और चन्द्र की 'परिभाषाएँ' तथा चन्द्र का 'वर्णसूत्र' एवं 'षड्भाषाचन्द्रिका' भी ढूँढ़ निकाली है; इसी प्रकार उन्होंने क्षीर (जयापीड के गुरु) द्वारा रचित 'अव्ययवृत्ति' तथा 'धातुतरंगिणी' तथा 'काशिका' की एक सुन्दर भूर्जपत्र पाण्डुलिपि भी ढूँढ़ निकाली है। इनमें से एक पाण्डुलिपि में 'काशिका' को वामन और जयादित्य (जयापीड?) का बताया गया है, इससे इसके समय के विषय में परवर्ती मत मान्य ठहरता है। संस्कृत व्याकरणों की सूची के लिए कोलब्रूक मिस० एसे० २।३८ आदि देखिए, सं० कावेल। यह भी उल्लेख कर देना चाहिए कि कावेल में वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' का एक संस्करण निकाला है (१८५४, १८६८)। हाल ही में बम्बई में (१८७३) हेमचन्द्र के (भाऊ दाजी के अनुसार, १०८८-११७२ ई० द्र० ज० बम्बे ब्रा० रा० एसो० ९।२२४) प्राकृत व्याकरण का प्रकाशन हुआ है, जो उनके बृहत् ग्रंथ शब्दानुशासन का आठवाँ खण्ड है; और अन्ततः पिशेल का महत्वपूर्ण प्रबन्ध डि ग्रामाटिसिज प्राकृटिसीज (१८७४) जो लास्सेन के इन्स्टिटुट, लिंगुई प्राकृटिकाई (बोल १८३७) के साथ महत्त्वपूर्ण सामग्री जोड़ता है।

प्रकार तिब्बती 'तन्दजुर' में अनेक व्याकरणीय रचनाएँ हैं और इनमें से अधिकांश स्वयं भारत में लुप्त हो गई हैं।[1]

जहाँ तक कोशकारिता, जो भाषाशास्त्र की दूसरी शाखा है, का प्रश्न है, हम यह पहले ही 'निघण्टु' में इसके आरम्भ का संकेत कर चुके हैं। निघण्टु वैदिक ग्रन्थों की व्याख्या में उपयोगी पर्यायवाची शब्दों आदि के संकलन हैं। किन्तु ये व्यावहारिक स्वरूप की रचनायें थीं और पूर्णतः वेद तक ही सीमित थीं। इसके विपरीत, संस्कृत के शब्दकोष के रूप में संकलन की आवश्यकता, जो अधिक वैज्ञानिक थी, स्वभावतः बहुत बाद के समय में उठ खड़ी हुई। यहीं इस दिशा में किये गये आरंभिक प्रयत्नों की समाप्ति हुई और अमरसिंह की रचना, जो इस समय उपलब्ध इस प्रकार के ग्रंथों में सर्वाधिक प्राचीन है, स्पष्टतः भूमिका में अन्य तन्त्रों का सहारा लेती है, जिनसे स्वयं इसका संकलन हुआ है। इसके टीकाकार ने भी स्पष्ट रूप से ऐसे तन्त्रों का उल्लेख किया है, जैसे त्रिकाण्ड, उत्पलिनी रभस, कात्यायन, व्याडि[2] और वररुचि का तन्त्र, जिनमें अन्तिम की रचना शब्दों के लिंग विषय पर प्रामाणिक मानी जाती है।

अब अमरसिंह का समय निर्धारित करने का प्रश्न आता है—यह प्रश्न प्रथमतः ठीक उसी प्रश्न के समान है, जिसका हम कालिदास के समय के संबन्ध में विवेचन कर चुके हैं। कारण, कालिदास के समान ही परम्परा ने अमर को विक्रम की सभा के नवरत्नों में एक गिनाया है। ये विक्रम वे ही हैं जिन्हें भारतीय परम्परा राज भोज (१०५०ई०)

---

[1]'तन्दजुर' में तर्कशास्त्र तथा व्याकरण की रचनाओं के विषय में शीफनेर का निबन्ध देखिए बुलेटिन डि ला क्लासे हिस्ट फिल० डि ला अकाड० इम्प० डेस सो० डि० सेण्ट पीटर्सबर्ग ४; सं० १८, १९ (१८४७) पृ० २५, जिससे यह प्रतीत होता है कि 'चन्द्र-व्याकरण सूत्र' 'कलपसूत्र' और सरस्वती-व्याकरण-सूत्र को इसमें प्रस्तुत किया गया है।

[2]ऋक्-प्रातिशाख्य में एक व्याडि का उल्लेख है [और गोल्डस्ट्यूकेर के पाणिनि में उनकी विशेष भूमिका दिखाई पड़ती है। 'संग्रह' का जिसका भाष्य में अनेक बार उल्लेख है और दाक्षायण का बताया गया है। नागेश ने जिन्होंने इसे १००,००० श्लोकों का बताया है—व्याडि का बताया है, जिनसे उन्हीं व्याडि से तात्पर्य है जिनका नाम भाष्य में अन्यत्र भी आया है। इस आधार पर गोल्डस्टचूकेर ने पाणिनि के, जिन्हें भाष्य में 'दाक्षीपुत्र' कहा गया है, और इस (व्याडि) दाक्षायण के बीच सीधा संबन्ध स्थापित किया है। इनमें पहले अर्थात् पाणिनि व्याडि दाक्षायण से "कम से कम दो पीढ़ी" पहले हुए होंगे। और इस पर उन्होंने एक विशेष "ऐतिहासिक तर्क" पाणिनि के समय के संबन्ध में दिया है; क्योंकि यदि पाणिनि के वंशज व्याडि का उल्लेख साथ साथ ऋक्-प्रा० में किया गया है तो यह पाणिनि के बहुत बाद की रचना सिद्ध होता है; इन सबके विरोध में इं० स्टू० ५।४१, १२७-१३३; १३।४०१ देखिए।]

मानती है, किन्तु जिन्हें योरोपीय आलोचकों ने ५६ ई० पू० का बताया है; क्योंकि विक्रम के नाम का एक संवत् इसी समय से आरम्भ होता है। इस अन्तिम धारणा की निर्मूलता पहले ही कालिदास के विषय में प्रदर्शित की जा चुकी है; यद्यपि हम पहले की तरह यहाँ भी भारतीय परम्परा का समर्थन करने के लिये इसकी सूची पर विचार नहीं करते हैं। इस परम्परा का स्पष्ट रूप से खण्डन विशेषतः एक मन्दिर के लेख से होता है, जो बुद्धगया में उपलब्ध हुआ है। इसका समय विक्रमादित्य के संवत् का १००५ वर्ष (अर्थात् ९४९ ई०) है और इसमें अमरदेव को विक्रम की सभा के नवरत्नों में एक तथा इस मन्दिर का निर्माता कहा गया है। योरोपीय आलोचकों ने इस लेख का अपने मत के समर्थन में विशेष प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये उपयोग किया है; किन्तु होल्ट्जमन्न के अनुसन्धानों से (वही पृ० २६-३२) यह बात संभव लगती है कि यह लेख उसी वर्ष में लगाया गया था जिस वर्ष में उनका कोश लिखा गया था; कारण, दोनों में ही एक प्रकार का धर्म अर्थात् बौद्धधर्म और वैष्णव मत का मिश्रण अभिव्यक्त है—इस प्रकार का धर्म संभवतः बहुत दिनों तक नहीं प्रचलित रहा होगा; क्योंकि यह दो प्रत्यक्षतः विरोधी मतों के संयोग पर आश्रित जो है। जो भी हो, इस लेख और कोश के बीच १००० वर्षों का अन्तर तो नहीं हो सकता; यह नितान्त असंभव है। दुर्भाग्यवश, इस लेख के मूल रूप का हमें ज्ञान नहीं है और यह चा० विल्किन्स द्वारा १७८५ ई० में (जब उन्हें शायद संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान शायद ही रहा होगा) किये गये अंग्रेजी अनुवाद के रूप में ही मिलता है। जिस प्रस्तर पर यह खोदा गया था उसके नष्ट हो जाने से इसका मूल नष्ट हो गया है। किसी भी दशा में 'अमरकोश' प्रथम शताब्दी ई० पू० से—जो सामान्यतः इसका समय बताया जाता है—बहुत बाद के समय का है, यह बात स्वयं इस रचना में पाये जाने वाले तथ्यों से पर्याप्त मात्रा में प्रमाणित होती है। कारण, सर्वप्रथम, इसमें राशि या लग्नों के नाम गिनाये गये हैं, जिसे निश्चय ही हिन्दुओं ने यूनानियों से ग्रहण किया था और लेट्रोन्ने के अन्वेषणों के अनुसार स्वयं यूनानियों में नक्षत्र-मण्डल प्रथम शताब्दी ई० तक पूर्ण रूप में नहीं आया था अतएव हिन्दुओं का इसका ज्ञान एक शताब्दी या कई शताब्दी बाद तक नहीं प्राप्त हुआ होगा। पुनः 'अमरकोश' में चान्द्रनक्षत्रों को एक नये क्रम में गिनाया गया है, इस नये क्रम की व्यवस्था यूनानी प्रभाव से हिन्दुओं की नक्षत्रविद्या में आई हुई नवीन स्फूर्ति के कारण संभव हो सकी थी, इसका ठीक समय तो निश्चित नहीं है, पर यह ४०० ई० पू० से पूर्व की घटना कथमपि नहीं है। अन्ततः, 'दीनार' शब्द भी इस कोश में[1] पाया जाता है। यह शब्द, जैसा कि प्रिन्सेप ने बताया है, लैटिन भाषा का डिनेरिअस (Dinarius)

---

[1]यह पंचतत्र में बौद्ध उत्पत्ति वाली एक कथा में भी आता है। मैं यहाँ यह भी देना चाहता हूँ कि 'ड्राम्मा' अर्थात् 'ड्राकमी' (ग्री०) शब्द का प्रयोग बारहवीं शताब्दी में भास्कर ने किया था और शिलालेखों में भी इसका प्रयोग है (तु० त्सा० डा० मो० गे० ६।४२०)।

ही है (द्र०-लास्सेन, इं० अल्ट० २।२६१, ३४८)। 'पाठ्यग्रन्थ' के अर्थ में 'तन्त्र' शब्द के प्रयोग को भी इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जा सकता है; कारण, यह प्रयोग एक निश्चित काल से संबद्ध है और वह संभवत: पाँचवीं और छठीं शताब्दी का काल है। जो हिन्दू जावा को गये थे वे इस शब्द को इसी अर्थ में अपने साथ ले गये।[1] ये सभी बातें हमें कोई सीधी तिथि का संकेत नहीं देतीं। यदि यह सत्य हो, जैसा कि राइनाऊ ने (मेम० सुर ला इण्डे०, पृ० ११४) कहा है कि इस ग्रंथ का एक चीनी अनुवाद भी था "रिडिगी आउ विसिक्ले", तो इससे हमें आगे बढ़ने का कुछ निश्चित आधार मिल सकता है। किन्तु यह देखा जा सकता है कि स्टैन० जूलिएन ने राइनाऊ द्वारा प्रमाण रूप में उद्धृत अंश में ऐसा कोई निश्चित तथ्य नहीं पाया है; क्योंकि वे केवल ("traduction chinoise de l' Amarkocha, qui parait avoir etc' publice. . ")[2] का उल्लेख करते हैं, और इस मत के समर्थन में उन्होंने जिन कारणों को प्रस्तुत किया है वे भी ऐसे नहीं हैं कि हम उन्हें कसौटी पर रख सकें। 'तन्दजूर' में इस रचना के तिब्बती अनुवाद के विषय में कोई विवरण ज्ञात नहीं है। इस विषय में किसी प्रकार के निर्णय पर पहुँचना कितना कठिन है यह एक प्रसिद्ध भारतीय विद्याविद् एच० एच० विल्सन के उदाहरण से प्रकट है। अपने संस्कृत 'शब्दकोश' के प्रथम संस्करण के आमुख (१८१९) में वे अमरसिंह को पांचवीं शताब्दी ई० का मानते हैं, तो पुन: उसी कोश के द्वितीय संस्करण (१८३२) में वररुचि शब्द के अन्तर्गत वे स्पष्टत: नवरत्नों को भोज, (१०५० ई०) की सभा का मानते हैं। इसके विपरीत, अपने 'विष्णु पुराण' के अनुवाद (१८४०) के आमुख (पृ० ६) में वे अमरसिंह को "ईसाई धर्म के पूर्व की शताब्दी में" रखते हैं। किन्तु अब तक इस विषय में जो कुछ कहा गया है उसे अलग रख देने पर भी, केवल यह तथ्य कि 'अमरकोश' के अतिरिक्त जितने कोश मिलते हैं वे सभी ग्यारहवीं, बारहवीं और उसके बाद की शताब्दियों के हैं, हमें उसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचाता है, जैसे निर्णय पर हम नाटक के विषय में पहुँचे थे; वह निष्कर्ष यह है कि चूंकि 'अमरकोश' इन दूसरी रचनाओं से स्वरूपत: कोई विशेष अन्तर नहीं रखता, अतएव उनके समय तथा इसके समय के बीच अधिक दीर्घ अन्तर नहीं हो सकता (होल्टजमन्न, पृ० २६)।[3]

---

[1]हाथी के लिये अरबी-फारसी का शब्द 'पीलु' भी विशेष रोचक है; तुलना, कुमारिल जैमि० १।३।५ का भाष्य, कोलब्रूक द्वारा मिस्० एसे० १।३१४[1] (३३९[2]) में उद्धृत; गिल्डेमाइस्टर का कथन त्सा० डा० मी० गे० में देखिए।

[2]'परैत्रे' का अर्थ सन्देहास्पद है; इसका अर्थ 'प्रतीत होना' या 'स्पष्ट होना' है (जो सभी प्रमाणों से पुष्ट है) दूसरे अर्थ में लैटिन के 'अप्परेरे' और अंग्रेजी के 'एप्पिअर' के समान यह 'अप्परेस्सेरे' से व्युत्पन्न है।

[3]उपर्युक्त अंश लिखने के बाद से इस प्रश्न पर कोई नई बात प्रकाश में नहीं आई

शब्दकोशों के अतिरिक्त एक प्रकार की और भी कोश-सदृश रचनाओं के वर्ग का उल्लेख कर देना चाहिए, जो हिन्दुओं में विशेष रूप से पाई जाती हैं—ये हैं 'धातुपरायण' और धातुपाठ[1] नाम की धातुओं की सूचियाँ; यद्यपि इनका व्याकरण विभाग से अधिक घनिष्ठ संबन्ध है। ये अंशतः गद्य में है और अंशतः श्लोकों में। श्लोकों का प्रयोग प्रायः सभी कोशों में किया गया है और इससे ग्रन्थ के सौष्ठव को अधिक बल मिलता है; कारण, श्लोकों के परस्पर गूँथे होने से क्षेपकों की संभावना बहुत कम रह जाती है।[2]

अन्ततः, भाषाशास्त्र के तीसरे विभाग के रूप में हम छन्दःशास्त्र, काव्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र पर विचार करेंगे।

वेद के संबन्ध में हम छन्दःशास्त्र के आरम्भ से पहले ही परिचित हो चुके हैं। पिंगल-रचित ग्रन्थ स्वयं वेद के एक परिशिष्ट के रूप में दिखाई पड़ता है, भले ही यह इस प्रतिष्ठा के योग्य न हो। कारण, यह ऐसे अत्यन्त विकसित छन्दों पर विचार करता है, जो केवल बाद के समयों में प्रयुक्त होते थे (देखिए पृ० १७)। जो परम्परा पिङ्गल को 'महाभाष्य' और 'योगशास्त्र' का रचयिता पंतजलि ही मानती है उसे इस तथ्य को प्रमाणित करना चाहिए। हमारे लिये इसे स्वीकार करने का कोई आधार नहीं है।[3] छन्दःशास्त्र पर जो अन्य पुस्तकें उपलब्ध हैं, वे सभी समान रूप में आधुनिक रचनाएँ हैं; वे अधिक प्राचीन रचनाओं का स्थान ग्रहण करती हैं; और ठीक यही बात काव्यशास्त्र तथा अलंकार की रचनाओं के विषय में भी है। भरत के अलंकारशास्त्र के, जिसे इन विषयों पर प्रायः प्रमुख प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, कतिपय उद्धृत अंश ही मिलते हैं, यद्यपि एक टीका के अनुसार[4] स्वयं यह ग्रन्थ 'अग्निपुराण' का एक उद्धृत अंश था। ए०

है। उस समय अमरकोश के जो संस्करण विशेषतः कोलब्रूक (१८०८) और लोइसेल्योर डेस्लांग चैम्पस् (पेरिस १८३९, १८४५) के संस्करणों के अतिरिक्त भारत में भी अनेक संस्करण निकले हैं। शब्दकोशों में हेमचन्द्र के "अभिधान-चिन्तामणि" का बेटलिंक और रीऊ के संस्करण (१८४७) तथा हलायुध के 'अभिधान-रत्नमाला' के आऊफ्रेस्ट के (लन्दन १८६१) संस्करण का उल्लेख कर सकते हैं। "अभिधान-रत्नमाला" ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम समय की रचना है। अमरकोश का मोग्गल्लान द्वारा रचित पाली रूपान्तर बारहवीं शताब्दी के अन्त का है; देखिए इं० स्ट्रा० २।३३०।

[1] इनके साहित्य के लिए वेस्टेर्गार्ड के 'रैडिसेज लिंगुआ संस्कृता' (बोन १८४१) का आमुख देखिए।

[2] द्र०—होल्ट्जमन्न, वही, पृ० १७।

[3] इस विषय पर इं० स्टू० ८।१५८ आदि की तुलना कीजिए।

[4] मेरा 'केटलाग आफ द सं० मैन्यु० इन द बर्लिन लायब्रेरी, पृ० २२७ देखिए [भरत के 'नाट्यशास्त्र के विषय में सर्वप्रथम विस्तृत विवरण हाल ने अपने 'दशरूप' के

डब्ल्यू० फोन स्लेगेल ने अपने 'रिफ्लेक्शन्स त्सुर् इटुडे डेस लांगुएस एशियाट' पृ० १११ में पेरिस में सुरक्षित 'साहित्यदर्पण' की एक पाण्डुलिपि का उल्लेख किया है, जो इस विषय पर दूसरा प्रमुख ग्रन्थ है; पर इसकी तिथि शके ९४९ अर्थात् १०२७ ई० पड़ी हुई है; और यदि यह सही हो तो यह उस ग्रन्थ में उद्धृत रचनाओं के समय के संबन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। किन्तु पहली झलक में ही मुझे यह विश्वास हो गया है कि यह कथन एक भ्रम या ग़लतफ़हमी पर आधृत है;[१] कारण, जिन प्राचीन पाण्डुलिपियों से परिचित होने का मुझे अवसर मिला है, वे सभी जैसा कि पहले कहा जा चुका है (पृ० १६७) ५०० वर्ष पुरानी नहीं हैं और इससे भी अधिक पुरानी पाण्डुलिपि प्राप्त करना कठिन होगा। इसके अतिरिक्त, अलंकारशास्त्र और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में हिन्दू मस्तिष्क, जो स्पष्ट विभाजन करने में अत्यन्त उर्वर है, स्वच्छन्द कार्यक्षेत्र पाता है और इसने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को प्रायः अत्यन्त सूक्ष्म एवं वैदग्धपूर्ण शैली में अभिव्यक्त किया है।[२]

संस्करण (१८६५) में दिये थे; इसके अन्त में उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' के चार अध्यायों का मूल भी दिया है (१८-२०, ३४) डब्ल्यू० हेमन्न का इस विषय से संबद्ध विवेचन 'गेटिंगेर गेल्' अन्त्साइगेन, १८७४, पृ० ८६ आदि पर देखिए]

[१]'साहित्यदर्पण' की रचना पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में पूर्वी बंगाल में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर हुई थी। 'जगन्मोहनशर्मन्' के विचार 'चण्डकौशिक' नाटक के उनके संस्करण के आमुख, पृ० २ पर देखिए 'साहित्य-दर्पण' के अनेक संस्करण भारत में अब तक निकल चुके हैं। अन्य लोगों में रोइर ने बिब्लि० इं० (१८५१, भाग १०) में इसका एक संस्करण निकाला है; इसी में बैलेण्टाइन द्वारा किया गया अनुवाद दुर्भाग्यवश अभी तक पूर्ण रूप में मुद्रित नहीं हो सका और ५७५ कारिका तक ही पहुँच सका है। ६३१, कारिका से अन्ततक प्रमदादास मित्र ने एक अनुवाद किया है जो 'पण्डित' में अंक ४-२८ में प्रकाशित हुआ।

[२]दण्डी का छठीं शताब्दी का 'काव्यादर्श' और दसवीं शताब्दी के मध्य का धनंजय कृत 'दशरूप' बिब्लि० इं० में प्रकाशित हुआ है; इसमें प्रथम का संपादन प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने किया है (१८६३) और दूसरे का हाल ने (१८६५)। इनसे हमें इस महत्वपूर्ण तथ्य की जानकारी होती है कि दण्डी के समय में दो प्रकार की रीतियाँ पहले से प्रचलित थीं जो प्रादेशिक अन्तर रखती थीं; वे थीं गौड़ी और वैदर्भी रीतियाँ। इनके साथ कालान्तर में चार और रीतियाँ जोड़ दी गईं, पांचाली, लाटी, आवन्तिका और मागधी; तु० की० 'रामायण' पर मेरा लेख पृ० ७६; तथा इं० स्टू० १४।६५; बाण पंचाल शैली के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में ख्यात है; देखिए त्सा० डा० मो० गे० २७।९३ में आऊफ्रेष्ट की उक्ति; काश्मीरी कवि बिल्हण ने वैदर्भी रीति अपनाई थी; देखिए ब्यूह्लेर, 'विक्रमांक-च०' १।९-वामन की 'काव्यालंकार वृत्ति' का प्रकाशन हाल ही में कैप्पेलेर ने (येन,

१८७५) किया है और उनके मतानुसार यह बारहवीं शताब्दी की रचना है। मम्मट का 'काव्यप्रकाश' जिसके भारत में अनेक संस्करण निकल चुके हैं ब्यूह् लेर के मत में उसी समय की रचना है; कारण हाल के अनुसार (वासव० की भूमिका, पृ० ५५) मम्मट 'नैषधीय' के रचयिता के मामा थे; ज० बम्बे० ब्रा० रा ए सो० १०।३७ में ब्यूह् लेर का लेख; मेरा इं० स्ट्रा० १।३५६ तथा हाल के सप्तशतक पर मेरा लेख पृ० ११ देखिए। तु० की० 'सरस्वतीकण्ठाभरण' का आऊफ्रेण्ट का विवेचन (टिप्पणी २२०)। ब्यूह् लेर की कश्मीर यात्रा से अलंकार पर प्रचुर साहित्य उपलब्ध होगा; ये रचनाएँ नवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की हैं।

११ : दर्शनशास्त्र

अब हम दर्शनशास्त्र के विवेचन पर आते हैं, जो शास्त्रीय संस्कृत साहित्य की दूसरी शाखा है।

मैंने इसका स्थान व्याकरण के उपरान्त इसलिए नहीं रखा है कि मैं इसकी उत्पत्ति बाद के समय की मानता हूँ, अपितु इसलिए कि दार्शनिक मतों के विद्यमान ग्रंथ मुझे व्याकरण के ग्रन्थ पाणिनीय सूत्र से बाद के समय के प्रतीत होते हैं, कारण, वे कुछ समय तक उपनिषदों की पूर्वस्थिति की सूचना देते हैं, जो रचनाएँ अपने वर्तमान रूप में स्पष्टतः अपेक्षतया बहुत बाद के समय की हैं।

जैसा कि हम पहले ही अनेक बार देख चुके हैं (विशेषतः पृ० १९,२०) दार्शनिक चिन्तन का आरम्भ बहुत प्राचीन काल से ही होता है। ऋक् की संहिता में भी, यद्यपि इसके परवर्ती अंशों में हम ऐसे सूक्त पाते हैं जो उच्चकोटि के चिन्तन की घोषणा करते हैं। अन्य देशों के समान यहाँ भी विशेषतः विश्व की उत्पत्ति के विषय में जिज्ञासा ने सीधे दार्शनिक चिन्तन को जन्म दिया। अस्तित्व, सत्ता और जीवन का रहस्य स्वयं आत्मा के ऊपर सीधे छा जाता है और इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि इस पहेली को कैसे सुलझाया जाय? इसका कारण क्या है? जो विचार सबसे पहले सम्मुख आता है और जिसे इस कारण सर्वत्र प्राचीनतम विचार माना गया है वह यह है कि एक अनन्त पदार्थ अथवा क्षोभयुक्त संघात में क्रम और व्यवस्था का शनैः-शनैः प्रवेश होता है; यह कैसे होता है? इस विषय में दो विभिन्न मत हैं, जिनमें से प्रत्येक मत की अपनी नैसर्गिक प्रामाणिकता है और दोनों ही आरम्भ से एक दूसरे के विरोधी रहे होंगे; ऐसा या तो विकृति की एक नैसर्गिक क्षमता द्वारा होता है अथवा बाह्य प्रेरणा द्वारा जिससे इस क्षोभयुक्त संघात से परे स्थित किसी वस्तु या सत्ता के अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है। जब यह स्थिति आ जाती है तो इस प्रेरणा के स्रोतभूत इस सत्ता को स्वयं मूलभूत क्षोभयुक्त पदार्थ से उच्चतर और अधिक उन्नत मानना स्वाभाविक हो जाता है; तथा जैसे-जैसे चिन्तन में प्रगति होती है, यह मूल भौतिक पदार्थ उत्तरोत्तर गौण होता जाता है; अन्ततः स्वयं इसका अस्तित्व भी इस सत्ता की इच्छा पर आश्रित प्रतीत होने लगता है और इस प्रकार सृष्टि की कल्पना उठ खड़ी होती है। वैदिक रचनाओं में इस विकास की अवस्थाओं का यथार्थतः अत्यन्त स्पष्ट रूप में अनुसरण किया जा सकता है। अधिक प्राचीन अंशों में सर्वत्र यही विचार देखने में आता है कि यह विश्व छन्दों की सहायता से निर्धारित किया गया और व्यवस्थित किया गया

(स्तभित, स्कभित)[१] और इस प्रकार विश्व के सामञ्जस्य की व्याख्या की गई है। केवल इसके बाद की अवस्था में ही इन लोकों की 'सृष्टि' उत्पन्न होने या रचे जाने की कल्पना विकसित हुई। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है इस रचनात्मक सत्ता को अधिकाधिक अलौकिक और अतिमानवीय रूप दिया जाने लगता है, जिससे उसके और वास्तविक विश्व के बीच सम्पर्क के लिये मध्यस्थ सत्ताओं या देवताओं की आवश्यकता पड़ती है। इनका वर्गीकरण करके तथा इन्हें व्यवस्थित रूप देकर चिन्तन एक व्यवस्था लाने का प्रयत्न करता है, किन्तु स्वभावतः इसका परिणाम यह होता है कि और भी अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति के संबन्ध में हमें तीन विभिन्न मत मिलते हैं— इसके 'विकास' का; इसकी 'व्यवस्था' का और इसकी 'सृष्टि' का। प्रथम दो मतों में यह साम्य है कि विकास सिद्धान्त में भी एक 'व्यवस्थापक' की आवश्यकता पड़ती है; फिर भी उनमें यह पर्याप्त भेद है कि पहले में इस शक्ति को मूल पदार्थ में रहने वाली विकास की क्षमता की प्रथम उत्पत्ति माना गया है। इसके विपरीत, दूसरे सिद्धान्त में इस शक्ति को विश्व के परे स्थित एक स्वतन्त्र सत्ता माना गया है। सृष्टि का सिद्धान्त सामान्यतः स्रष्टा की अकेले न रहने की इच्छा से आरम्भ होता है; इस इच्छा के व्यक्त होते ही स्वयं सृष्टि उत्पन्न होती है। स्रष्टा से सर्वप्रथम या तो एक स्त्री उत्पन्न होती है, जिसके संबन्ध से प्रजनन क्रिया द्वारा वे आगे सृष्टिरचना का कार्य पूरा करते हैं;[२] अथवा सर्वप्रथम प्राण-वायु उत्पन्न होती है और वह शेष सभी तत्वों को उत्पन्न करती है; अथवा इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र से ही सृष्टि की रचना होती है और ऐसी दशा में 'वाच्' या 'वाणी' इसका तात्कालिक स्रोत बनती है; अथवा इस क्रिया की अन्य दूसरे अनेक रूपों में कल्पना की गई है। सम्पूर्ण विश्व माया है, यह धारणा इसी उत्पत्ति सिद्धान्त की अन्तिम अवस्था से संबद्ध है। इन तीन विभिन्न सिद्धान्तों के पूर्ण दार्शनिक सम्प्रदायों के रूप में क्रमिक विकास

---

[१]यह रोचक बात है कि जर्मन भाषा का शब्द 'शाफ्फेन' स्तभ, स्कभ् अर्थात् 'स्थापित करना' से व्युत्पन्न है और मौलिक रूप में इसका वह अर्थ नहीं है जिस अर्थ में यह सम्प्रति प्रयुक्त होता है। लोकों की स्थापना या व्यवस्था का विचार संभवतः उस युग से प्रारम्भ होता है जब ट्यूटन और भारतीय एक साथ निवास कर रहे थे; अथवा दोनों जातियों में एक ही शब्द का स्वतन्त्र रूप में विकास हुआ है ? संभवतः क्षोभ का 'विवृत अन्तराल' 'गहनं गभीरं' 'गिन्नुङ्ग गैप' को भी इसी प्रकार की आदिम धारणा माना जा सकता है। [यहाँ 'शाफ्फेन' और 'स्तभ्' 'स्कभ्' 'स्काप्टाइन' (ग्री०) के बीच जिस संबन्ध की कल्पना की गई है वह सन्देहास्पद है। इस शब्द का संबन्ध 'शाबेन' Schaben स्काबेरे Scabere, और 'स्काप्टाइन' (ग्री०) से दिखाई पड़ता है।]

[२]अतएव अगम्यगमन से : मेगस्थनीज द्वारा कही गई भारतीय हेराक्लीज का अपनी पुत्री के साथ व्यभिचार की कथा की ओर संकेत है।

की एक स्थूल रूपरेखा देने का प्रयत्न करना यहाँ असम्भव है। सर्वप्रथम ब्राह्मणों एवं उपनिषदों का पूर्ण रूप से अध्ययन करना होगा। जब तक यह नहीं हो जाता तब तक इस प्रश्न का निर्णय नहीं किया जा सकता कि यूनानी दर्शन के आरम्भ का हिन्दू चिन्तन के साथ कोई संबन्ध हो सकता है या नहीं, विशेषतः पाँच तत्त्वों के विषय में,[1] जो इस समय सन्देहास्पद है।[2] मैंने पहले ही (पृ० २२) सामान्य रूप से उन कारणों का वर्णन कर दिया है, जिनके आधार पर मैं हिन्दू दर्शनों के विद्यमान सूत्रों को अपेक्षतया बाद के समय का मानता हूँ।[3] दुर्भाग्यवश, ये रचनाएँ हमें अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकीं हैं[4] और आगे मैंने जो कुछ कहा है उसके लिये मैंने इस विषय पर कोलब्रूक के निबन्धों से ही मुख्य रूप से सहायता ली है।[5]

---

[1]और पुनर्जन्म का सिद्धान्त!

[2]देखिए मै० म्यूल्लेर त्सा० दा० मो० गे० ६।१८ [तुलना:श्लूटेर के ग्रन्थ 'अरिस्टोटलेस' मेटाफिजिक आइन टोख्टेर डेर साङ्ख्यलेहरे इन लिट० सेण्ट० ब्लि० १८७४, पृ० २९८, पर मेरी समीक्षा]

[3]तुलना कोलब्रूक के मिस्० एसे, १।३५४ पर कावेल का कथन, "सूत्र जिस रूप में हमें उपलब्ध होते हैं वे विभिन्न शाखाओं के सिद्धान्तों के मौलिक रूप नहीं हो सकते। वे वस्तुतः पहले के अनेक क्रमिक परिवृद्धि की अवस्थाओं के संकलन हैं जो उत्तरवर्ती आचार्यों की रचनाओं में हुई है।"

[4]उनमें से केवल दो का प्रकाशन अब तक भारत में हुआ है; किन्तु शांकर भाष्य के साथ 'वेदान्तसूत्र' के संस्करण की अब तक एक भी प्रति मुझे उपलब्ध नहीं हुई है। केवल 'न्यायसूत्र' के एक संस्करण की मुझे जानकारी है। इन सम्पूर्ण ग्रंथों का सम्पादन इस समय भारत में डा० बैलेण्टाइन अंग्रेजी अनुवाद के साथ कर रहे हैं [इन संस्करणों का नाम 'एफोरिज्मस आफ सांख्य, वेदान्त, योग एटसेटेरा' है और यह षड्दर्शनों का विवेचन करता है। प्रत्येक सूत्र के बाद उसका अनुवाद और उसकी व्याख्या दी गई है; किन्तु दुर्भाग्यवश प्रत्येक दर्शन के थोड़े से ही सूत्र अब तक प्रकाशित हुए हैं।]

[5]कोलब्रूक के एसेज के नये संस्करण (१८७३) में इनके साथ प्रोफेसर कावेल ने अपनी उत्तम टिप्पणी भी दी है। उपर्युक्त विवेचन के लिखे जाने के बाद से रोइर, बैलेण्टाइन, हाल, कावेल, म्यूल्लेर, गोफ, के० एम० बनर्जी, वार्थ, सेंट हिलारी के परिश्रमों से अनेक नयी बातें प्रकाश में आई हैं। 'बिब्लि० इं०' तथा बनारस के 'पण्डित' में ग्रंथों के नितान्त महत्त्वपूर्ण संस्करण निकले हैं और सम्प्रति हमें छहों दर्शनों के सूत्र प्रमुख भाष्यों के साथ उपलब्ध हैं और उनमें तीन का तो अंग्रेजी अनुवाद भी है। विशेषतः माधव का 'सर्वदर्शनसंग्रह' देखिए बिब्लि० इं० (१८५३-५८) जिसका सम्पादन ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने किया है तथा हाल का बिब्लिओग्राफिकल इण्डेक्स टु दि इण्डि० फिलो० सिस्टेम (१८५९) देखिए।

प्राचीनतम दार्शनिक मत सांख्य सिद्धान्त प्रतीत होता है, जो एक ऐसे मौलिक तत्त्व को विश्व का आधार बताता है, जिससे यह विश्व अनेक अवस्थाओं से होकर विकसित हुआ है। स्वयं सांख्य शब्द सर्वप्रथम परवर्तीकाल के उपनिषदों[1] में आता है, जबकि पुराने उपनिषदों और ब्राह्मणों में बाद में सांख्य मत के अन्तर्गत आने वाले सिद्धान्त विरोधी-प्रवृत्ति वाले सिद्धान्तों के साथ असंगत संयोग में दिखाई पड़ते हैं और इनके साथ मीमांसा (√मन्-चिन्तन), आदेश (सिद्धान्त), उपनिषद् (बैठना) आदि समानार्थक नामों से उद्धृत किये गये हैं। मैं विशेष रूप से सांख्य को उनके नामों से विद्यमान दर्शनों में प्राचीनतम मानने के पक्ष में हूँ, जिन्हें इसका प्रमुख प्रतिनिधि बताया गया है: कपिल, पञ्चशिख और आसुरि। इनमें अन्तिम आचार्य आसुरि का नाम 'शतपथब्राह्मण' में याज्ञिक क्रिया एवं उसके समान विषयों पर प्रमुख आचार्य के नाम के रूप में आया है और इस रचना में आई हुई आचार्यों की सूची में भी (याज्ञवल्क्य के शिष्य के रूप में और यास्क से केवल एक या कुछ ही पीढ़ी के आचार्य के रूप में) आये हैं। इसी प्रकार कपिल का भी संबन्ध काव्य पतंचल से जोड़े बिना नहीं रहा जा सकता, जिन्हें हम 'वृहदारण्यक' के याज्ञवल्कीय काण्ड में ब्राह्मणीय विद्या के एक उत्साही प्रतिनिधि के रूप में उल्लिखित पाते हैं। कपिल को भी बाद के समय में देवता के पद पर प्रतिष्ठित किया गया—जो बात सूत्रों के इन प्रसिद्ध रचयिताओं में किसी के विषय में नहीं मिलती—और इस प्रतिष्ठा के साथ हम उन्हें 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'[2] में पाते हैं। किन्तु उनके मतों के बौद्ध धर्म के साथ घनिष्ठ संबन्ध के कारण, जिसके जातक भी सर्वत्र उन्हें और पञ्चशिख को बुद्ध के बहुत पहले का बताते हैं[3]—

---

[1]तैत्तिरीय और अथर्वन् का भी इसी प्रकार निरुक्ति के चौदहवें अध्याय में और भगवद्गीता में। जहाँ तक इसके अर्थ का प्रश्न है, यह पद दुरूह और महत्त्वहीन है। क्या इसका प्रयोग शाक्य के सिद्धान्त के सम्पर्क से प्रभावित माना जा सकता है? अथवा यह केवल विशुद्ध रूप से एकमात्र पच्चीस तत्त्वों का ही निर्देश करता है? [वस्तुतः दूसरी ही स्थिति सही है; देखिए इं० स्टू० ९।१७; कपिल का तत्त्व-संख्याता; भाग० पुराण ३।२५।१]

[2]पितृतर्पण में (देखिए ऊपर पृ० ४७,४८), जो साधारण यज्ञक्रिया का अंग है, कपिल, आसुरि, पंचशिख (और उनके साथ एक वोट या बोट) को बाद के समय में सर्वत्र सम्मानपूर्ण स्थान दिया गया है, जबकि शेष दार्शनिक सूत्रों के रचयिताओं का बहुत कम उल्लेख हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि कपिल आदि अन्य दार्शनिक सूत्रों के रचयिताओं से अधिक प्राचीन काल के हैं।

[3]विल्सन के अनुसार "पदार्थ या तत्त्वों की नित्यता एवं अन्तिम निर्वाण" दोनों के ही मौलिक प्रमेयों के संघात से संबन्ध रखता है" (विल्सन, वर्क्स, २।३४६, सं० रोस्ट)। इसके विपरीत, मैक्सम्यूल्लेर ने सूत्रों में पाये जाने वाले कपिल के सिद्धान्त तथा बौद्ध

अन्तिम रूप में यह प्रमाणित करता है कि उनके नाम से प्रचलित दार्शनिक मत को ही प्राचीनतम मत मानना चाहिए।[1] इस प्रकार कपिल के सम्भावित समय का प्रश्न सामान्यत: बौद्धधर्म के उद्‌भव के प्रश्न से गहरा संबन्ध रखता है। इस विषय पर हम आगे बौद्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करते समय पुन: विचार करेंगे। सांख्यदर्शन के दो प्रमुख आचार्य छठीं शताब्दी ई० के आस-पास प्रकट होते हैं; ये हैं: ईश्वरकृष्ण और गौडपाद; ईश्वर कृष्ण को (कोलब्रूक १।१०३ के अनुसार) स्पष्टत: विद्यमान सांख्यसूत्र का रचयिता कहा गया है और गौडपाद ने इसके सिद्धान्तों को अनेक उपनिषदों के रूप में प्रस्तुत किया है।[2]

अध्यात्मज्ञान के बीच किसी प्रकार के संबन्ध को अमान्य ठहराया गया है (चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप, १।२२६, १८७०); फिर भी उन्होंने तत्काल ही इसकी व्याख्या की है और कहा है कि कपिल के विद्यमान सूत्र "बाद के समय के हैं और बुद्ध से पहले के नहीं किन्तु बाद के हैं।" इस विषय पर विशेष रूप से इं० स्टू० ३।१३२, १३३।

[1]जैनों के धर्मग्रन्थ में भी न केवल 'सट्ठितन्त' ('षष्टि-तन्त्र' जिसका नाम भाष्यकार ने 'कापिल-शास्त्र' बताया है) का चार वेदों और उनके अंगों के साथ उल्लेख किया गया है अपितु दूसरे अनुच्छेद में काविल नाम भी इसके साथ आया है। इसके अतिरिक्त केवल एक वैसेसिय (वैशेषिक) सूत्र का नाम मिलता है। (ये इस क्रम में दिये गये हैं: वैसेसिय, बुद्ध-शासन, काविल, लोगायत, सट्टित-तन्त)। इसी प्रकार 'ललित-विस्तर' में सांख्य-योग के बाद केवल वैशेषिक का नाम आया है। जैनों की भगवती पर मेरा लेख देखिए: २।२४६-२४८]।

[2]कपिल के सूत्र, जिन्हें 'सांख्य-प्रवचन' कहते हैं, अब विज्ञानभिक्षु के भाष्य के साथ बिब्लि० इं० में प्रकाशित हैं, इनका संपादन हाल ने किया है (१८५४-५६); इसका बैलेण्टाइन कृत अनुवाद भी उसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ। (१८६२-६५)। 'सां० प्रव०' के प्राक्कथन में तथा कुछ वर्ष बाद प्रकाशित विज्ञानभिक्षु के 'सांख्यसार' के संस्करण के प्राक्कथन में हाल ने एक विशेष विवरण दिया है, जिससे वे स्वयं भी सन्तुष्ट नहीं हैं (देखिए विल्सन के विष्णु पु० ३।३०१ पर उनकी टिप्पणी)। यह विवरण कपिल और सांख्यदर्शन की प्रमुख रचनाओं के विषय में है। वे सांख्य प्रवचन को बहुत बाद के समय की रचना मानते हैं जिसके यत्र-तत्र "ईश्वर-कृष्ण की कारिकाओं का ऋणी होने का सन्देह होता है" ('सांख्यसार' प्राक्कथन, पृ० १२)। नि:सन्देह इससे कपिल की प्राचीनता पर या "सांख्य के साथ उनके तथाकथित संबन्ध" पर आँच नहीं आती (पृ० २०)। कावेल ने भी (कोलब्रूक, मिस० एसे० १।३५४ टिप्पणी) सांख्य मत को "प्राचीनतम मतों में एक माना है, जबकि इसके विपरीत सूत्र बाद के समय के हैं, कारण "वे न केवल वेदान्त के ग्रंथों का स्पष्ट रूप में निर्देश करते हैं अपितु वे १।२५, ५।८५ में वैशेषिक का न्याय के लिये (तुलना० ५। २७, ८६) तथा योग के लिये १।९० स्पष्ट उल्लेख करते हैं।" वैशेषिकों (१।२५) के अति-

सांख्य दर्शन से इसके विकास की अग्रिम अवस्था के रूप में पतंजलि का योगदर्शन संबद्ध है।[1] पतंजलि के नाम से उनके किसी भी दशा में 'वृहदारण्यक' के काव्य पतंचल का वंशज होने का संकेत मिलता है। उनके साथ (या उनसे पहले) 'शतपथ-ब्राह्मण' के प्रमुख आचार्य याज्ञवल्क्य को भी योग दर्शन का जन्मदाता कहा गया है, किन्तु ऐसा उल्लेख केवल परवर्तीकालीन रचनाओं में ही मिलता है[2]। ये पतंजलि 'महाभाष्य' के रचयिता पतंजलि हैं या नहीं, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। 'परमात्मा के साथ सायुज्य' 'समाधि द्वारा परमात्मा में विलयन' के अर्थ में योग शब्द सर्वप्रथम बाद के समय के उपनिषदों में, विशेषतः 'तैत्तिरीय-आरण्यक' के दसवें अध्याय में और 'काठकोपनिषद्' में आता है, जहाँ इसी सिद्धान्त का विवेचन किया गया है।[3] उसमें जिस रूप में यह आया है वह एक द्वैतवाद

रिक्त केवल पंचशिख (५।३२, ६।६८) तथा सनन्दनाचार्य (६।६९) का नाम लेकर उल्लेख किया गया है। सघ्न और पाटलिपुत्र (१।२८) नामों का विरोध रोचक है—इन दोनों को अलग स्थान बताया गया है इसी प्रकार महाभाष्य में भी द्र० इं० स्टू० १३। ३७८)।

[1]योगसूत्र को जो पतंजलि का बताया जाता है(जिसे ऊपर की तरह ही 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' कहा जाता है) भोज के भाष्य के उद्धरणों के साथ आधा बैलण्टाइन ने मूल और अनुवाद के साथ अपने 'एफोरिज्म्स' में निकाला था; उत्तरार्द्ध पण्डित के २८-६८ अंकों में निकला और उसका सम्पादन गोविन्द देव शास्त्री ने किया। शेष (जिन्हें सम्पादक ने पतंजलि माना है) की आर्या-पंचाशीति, जिसमें प्रकृति और पुरुष का संबन्ध वैष्णव मत के दृष्टिकोण से दिखाया गया है, बालशास्त्री के सम्पादन में पण्डित के अंक ५६ में निकला है। इसका अभिनवगुप्त रचित शैवमत समर्थक रूपान्तर भी है, द्र० त्सा० डा० मो० गे० २७।१६७; ब्यूह्लेर के पत्र (इं० स्टू० १४।४००) के अनुसार अभिनवगुप्त की मृत्यु ९८२ ई० में मानी जाती है, किन्तु ब्यूह्लेर ने स्वयं इस तिथि की पुष्टि नहीं की है, जो मृत्युशय्या पर अभिनव द्वारा लिखित एक श्लोक में आई है।

[2]विशेषतः महाभारत के बारहवें पर्व में, जिसमें जनक के साथ उन्हें वस्तुतः एक बौद्ध आचार्य कहा गया है; उनके आचार्यों का बाह्य चित्र 'काषाय-धारणं मौण्डयम्' होता था(म० भारत० १२।११८९८, ५६६)। जो कुछ हो, याज्ञवल्कीय काण्ड से प्रतीत होता है कि दोनों ने संन्यास को प्रोत्साहन दिया था। अथर्वोपनिषद् में भी यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है (देखिए पृ० १४८) [याज्ञ० स्मृति० ३।११० में याज्ञवल्क्य स्वयं को आरण्यक तथा योगशास्त्र का आचार्य बताते हैं]

[3]इन उपनिषदों तथा इनके समान उपनिषदों में एवं मनु के धर्मशास्त्र में ही (तु० की० योहेण्टगन का मनुस्मृति पर लेख, १८६३) हम नास्तिक सांख्य एवं ईश्वरवादी योग दर्शनों के आरम्भिक अंकुर और विवरण पाते हैं।

पर अर्थात् विश्व के 'व्यवस्था' सिद्धान्त पर स्थूलरूप में आश्रित प्रतीत होता है। इसी अर्थ में ही कम से कम 'काठकोपनिषद्' में 'पुरुष' या मूलआत्मा की सत्ता 'अव्यक्त' या मूल पदार्थ के पूर्व मानी गयी है जिन दो तत्त्वों के संयोग से 'महान् आत्मा' या जीवन की आत्मा का उद्‌भव होता है। इसके अतिरिक्त इसका सांख्य दर्शन से विशिष्ट संबन्ध अब भी सूक्ष्म विस्तारों में बहुत कुछ अस्पष्ट है, चाहे यह बाह्यतः 'सांख्ययोग' के समास में निरन्तर साथ-साथ आने के कारण इनका संबन्ध कितना भी प्रमाणित क्यों न हो। विशेषतः इन दोनों दर्शनों के सम्मुख इनके 'पुरुष' और 'ईश्वर' के जनप्रचलित धर्म के प्रमुख देवताओं रुद्र और कृष्ण के साथ भ्रम होने की समस्या आ पड़ी थी। जैसाकि 'श्वेताश्वतरोपनिषद्',[1] 'भगवद्‌गीता' और 'महाभारत' के बारहवें पर्व के अनेक अंशों से स्पष्ट है।[2] योगदर्शन का एक अत्यन्त विलक्षण पक्ष, जो समय के साथ उत्तरोत्तर अधिक विकसित होता गया योगाभ्यास है; अर्थात् तपस्या, आत्मपीडन जैसे बाह्य साधन जिनके द्वारा परमात्मा से सायुज्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। महाकाव्यीय कविताओं में किन्तु विशेषतः अथर्वोपनिषदों में हम इसे पूर्ण उत्कर्ष पर पाते हैं, पाणिनि ने भी योगिन् शब्द की व्युत्पत्ति समझायी है।

---

[1]अपने 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के लेख में मैंने इस विषय को छोड़ दिया है कि इस रचना के समय के लिए और विशेषतः इसमें अभिव्यक्त अद्वैतवादी योगदर्शन के लिए, ईसाई धर्म के समान सिद्धान्तों के साथ परिचय माना जा सकता है या नहीं; उ० इं० स्टू० १।४२२, इसके विपरीत, लोरिन्सेर ने अपने भगवद्‌गीता के अनुवाद (ब्रेसलाऊ १८६९) में इस काव्य के संबन्ध में इस प्रकार के परिचय की कल्पना की है। साहित्यिक कालक्रम की दृष्टि से इसके विपरीत कोई सबल आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। उन्होंने जो तर्क उपस्थित किये हैं, उनमें से कुछ निःसन्देह महत्त्वहीन नहीं हैं, किन्तु कुल मिलाकर उन्होंने अपने तर्क के क्षेत्र को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। यह प्रश्न अब भी विचाराधीन है।

[2]विशेषतः भागवत, पंचरात्र, और पाशुपत सिद्धान्तों के संबन्ध में। [पंचरात्र शाखा का एक सूत्र, जो शाण्डिल्य का है (बिब्लि० इं० १८६१ में बैलेण्टाइन द्वारा सं०) स्पष्टतः शंकर द्वारा 'वेदान्त-सू० भा०' २।२।४५ में उल्लिखित है। बाह्य दृष्टि से यह भगवद्‌गीता पर आधारित है, और परमात्मा में श्रद्धा (भक्तिर् ईश्वरे) पर अधिक बल देता है। इस पर कोलब्रूक मिस० एसे० १।४३८ में कावेल की टिप्पणी देखिए। 'भक्ति' सिद्धान्त के विकास पर विल्सन ने ईसाई विचारधारा का कुछ प्रभाव माना है; राम० ताप० उप० पर मेरा लेख पृ० २७७, ३६० देखिए। 'नारद-पंचरात्र' (बिब्लि० इण्डिका में के० एम० बैनेर्जी १८६१-६५ द्वारा संपादित) एक कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है, दार्शनिक, वैष्णव ग्रन्थ नहीं।

सांख्य-योग के चरमोत्कर्ष का युग संभवतः प्रथम शताब्दी ई० का है। इसने एशिया माइनर में सिद्धविद्या (Gnosticism) पर जो प्रभाव डाला वह स्पष्टतः देखा जा सकता है; जबकि इस धारा से और आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप में इसमें सूफी मत के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया।[1] ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में अल्बीरूनी ने पतंजलि के ग्रंथ का अनुवाद किया और ऐसा भी प्रतीत होता है कि उसने सांख्यसूत्र[2] का भी अनुवाद किया; यद्यपि इन ग्रन्थों में वर्णित विषय के संबन्ध में जो जानकारी हमें प्राप्त है वह मूल संस्कृत ग्रंथों से साम्य नहीं रखती।

दो मीमांसा दर्शनों के सिद्धान्त सांख्य के सिद्धान्त के बाद के समय में वर्तमान रूप में पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं।[3] जैसा उनके नामों से स्पष्ट है 'पूर्वमीमांसा' को वर्तमान रूप उत्तर मीमांसा से पहले प्राप्त हुआ। दोनों मीमांसा मतों का मूल उद्देश्य ब्राह्मणों या श्रुति में दिये गये सिद्धान्तों में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करना है। व्यवहार के लिये आदेश पूर्व मीमांसा के विषय हैं, जिसे इस कारण 'कर्म मीमांसा' कहा जाता है, जबकि रचनात्मक तत्त्व एवं उसके विश्व के साथ संबन्ध के विषय में सिद्धान्त 'उत्तरमीमांसा' के विषय हैं, जिसे इस कारण, 'ब्रह्म मीमांसा' या 'शारीरिक मीमांसा' (मूर्त आत्मा का सिद्धान्त) अथवा 'वेदान्त' (वेद का अन्त) भी कहते हैं। मीमांसा शब्द मूलतः केवल सामान्य चिन्तन का बोध कराता है। इस अर्थ में यह ब्राह्मणों में अनेक बार आता है; और केवल परवर्ती काल में ही यह पारिभाषिक शब्द बन सका;[4] ऐसी ही बात संभवतः 'वेदान्त' के विषय में

---

[1]देखिए [लास्सेन, इं० अल्ट० ३।३७९ आदि] गिल्डेमाइस्टेर, स्क्रिप्ट, अरब डि रेब, इं० पृ० ११२ आदि।

[2]वर्न० एसिआट० १८४४, पृ० १२१-१२४ में राईनाऊ; तथा एच० एम० इलिअट, बिब्लि० इण्डेक्स टु द हिस्ट० आफ मुहम्मदन इण्डिया, १।१००।

[3]चूंकि इस समय 'सांख्य-सूत्र' के विद्यमान स्वरूप की प्राचीनता, हाल के अनुसार अत्यन्त सन्दिग्ध हो गई है, उपर्युल्लिखित विचार भी अत्यन्त सन्देहास्पद है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम अभी देखेंगे, दोनों मीमांसासूत्रों में ऐसे आचार्यों का अनेक बार उल्लेख किया गया है, जिन्हें हम वैदिक साहित्य के समय से जानते हैं। इस प्रकार की कोई भी बात किसी भी सांख्यप्रवचन सूत्र में देखने में नहीं आती। इससे इन सिद्धान्तों की प्राचीनता पर प्रकाश नहीं पड़ता। कपिल, पतंजलि और याज्ञवल्क्य नाम हमें जैमिनि और बादरायण नामों की अपेक्षा बहुत पहले के समय में अर्थात् स्वयं ब्राह्मण साहित्य के अन्तिम काल में ले जाते हैं।

[4]महाभाष्य में, मीमांसक को, कैयट के अनुसार, 'मीमांसाम् अधीते' के अर्थ में लेना चाहिए; और चूंकि यह शब्द औक्थिक के विरोध में आता है अतएव वस्तुतः यह पूर्वमीमांसा के विषय की ओर निर्देश करता है। फिर भी इस प्रकार के अध्ययन में रत रहने

भी है; यह शब्द सर्वप्रथम परवर्तीकाल के उपनिषदों में 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दसवें अध्याय में, 'काठकोपनिषद्', 'मुण्डकोपनिषद्' आदि में आता है।

'कर्ममीमांसा सूत्र' के रचयिता जैमिनि बताये जाते हैं, जिन्हें पुराणों में सामवेद का द्रष्टा कहा गया है; यद्यपि वैदिक साहित्य में इनके नाम की ओर कोई संकेत हमें नहीं मिलता।[1] इस सूत्र में उल्लिखित अन्य आचार्यों—आत्रेय, बादरी, बादरायण, लाबुकायन[2] (?)

वाले व्यक्ति के लिये उचित शब्द याज्ञिक प्रतीत होता है। देखिए इं० स्टू० १३।४५५, ४६६।

[1]ऋक् के गृह्यसूत्रों में आये हुए दो अंशों को छोड़कर जो संभवतः प्रक्षिप्त हैं (देखिए पृ० ४८-५०)। पाणिनि के गणपाठ में भी इस विषय पर प्रकाश डालने वाली कोई वस्तु नहीं मिलती। गणपाठ का प्रयोग इस स्थल पर वस्तुतः इसके विरोध में ही किया जा सकता है, किन्तु ऐसा सतर्कता के साथ करना चाहिए। किन्तु चूंकि इस शब्द का रूप अनियमित है। ('जेमन' से 'जैमनि' रूप ही हो सकता है) अतएव इस तथ्य को यहाँ कुछ महत्त्व दिया जा सकता है [यह 'महाभाष्य' में भी उपलब्ध नहीं होता, देखिए इं० स्टू० १३।४५५, इसके विपरीत जैमिनि नाम 'सामविधान-ब्राह्मण' के अन्तिम वंश में आता है (देखिए इं० स्टू० ४।३७७) और इसमें इस नाम के व्यक्ति को व्यास पाराशर्य का शिष्य और पौषपिण्ड्य का गुरु बताया गया है। यह ठीक विष्णुपुराण ३।६, १,४, में आए हुए कथन से मिलता है, जिसमें उन्हें 'पोस्पिजि' का गुरु बताया गया है (रघुवं० १८। ३२, ३३ से तुलना)। जैमिनि का सामवेद से विशेष संबन्ध ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों के कथनों से भी प्रकट होता है (देखिए ऊपर पृ० ४९, टिप्पणी २) जो विष्णु पु० ३।४।८,९ से समानता रखता है। वस्तुतः 'चरणव्यूह' में सामन् के एक जैमिनीय पाठ का उल्लेख है और यह पाठ अब भी विद्यमान प्रतीत होता है (देखिए ऊपर पृ०५७ टिप्पणी १)। आश्वल० श्रौत सू० १२। १० के प्रवराध्याय में जैमिनि शाखा वालों को भृगुओं की शाखा का बताया गया है। ये सभी बातें हमारे जैमिनि के समय के विषय में कोई संकेत नहीं देतीं जिनकी रचना सामवेद की अपेक्षा यजुर्वेद से अधिक संबद्ध है। 'पंचतंत्र' के अनुसार, मीमांसा-कृत' जैमिनि को एक हाथी ने मार डाला था। इस ग्रंथ की प्राचीनता का विचार करें तो यह कथन सारगर्भित प्रतीत होता है। यद्यपि दुर्भाग्यवश इसमें हुए अनेक परिवर्तनों के कारण हम इस बात को प्रामाणिक नहीं मान सकते कि यह अंश मौलिक पाठ में था जिसने फारस में छठवीं शताब्दी में प्रवेश किया था (तुलना इं० स्टू० ८।१५९) एक नक्षत्र-शास्त्र (जातक) का ग्रंथ भी जैमिनिसूत्र नाम से प्रसिद्ध है; देखिए-केट० आफ सं० मैन्यु० ना० वे० प्राविंसेज' (१८७४) पृ० ५०८, ५१०, ५१४, ५३२]

[2]इस अंश में (६।७।३७) क्या हमें लामकायन नहीं पढ़ना चाहिए? यह एक आचार्य का नाम है, जिसका सामसूत्रों में अनेक बार उल्लेख किया गया है, देखिए इं०

ऐतिशायन नामों के विषय में भी यही बात है। इनमें से प्रथम और द्वितीय नाम क्रमशः 'तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य' और कात्यायन के श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट है तथा ऐतशायन शाखा का उल्लेख 'कौषीतकि-ब्राह्मण' में मिलता है।[1] बादरायण 'ब्रह्ममीमांसा सूत्र' के रचयिता का नाम है; किन्तु यहाँ आए हुए उनके उल्लेख से यह कथमपि निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनका सूत्र जैमिनि के सूत्र से पहले का है। कारण, न केवल यह नाम गोत्र नाम के रूप में दूसरे व्यक्तियों के लिये आया है अपितु ब्रह्ममीमांसा के सूत्रों में स्थिति ठीक विपरीत है और उसमें जैमिनि का उल्लेख किया गया है। इससे और प्रत्येक सूत्र द्वारा अपने रचयिता का नाम बार-बार उद्धृत किये जाने से जो कुछ निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि इन सूत्रों की रचना वस्तुतः इन आचार्यों ने नहीं की थी अपितु उनकी शाखाओं ने की थी[2]। बादरायण का नाम "पाणिनि में" नहीं मिलता है, जैसा कि हाल ही में भ्रमवश माना गया था[3]; किन्तु केवल पाणिनि के ग्रन्थ के 'गणपाठ' में ही मिलता है, जो इस विषय में प्रामाणिक नहीं है। जैमिनिसूत्र के प्रमुख प्रतिपादक के रूप में हम शबरस्वामिन्[4] का उल्लेख पाते हैं और उनके बाद कुमारिलभट्ट का। कुमारिलभट्ट[5] का समय शंकर से पहले का माना

स्टू० ४।३८४, ३७३—बुद्ध का १।२।३३ में उल्लेख (बुद्ध-शास्त्रात्) केवल बाह्यतः है। यहाँ बुद्ध शब्द का बुद्ध नाम से कोई संबन्ध नहीं है। उपर्युक्त नामों के साथ हम कार्ष्णाजिनि (४।३।१७, ६।७।३५) और कामुकायन (११।१।५१) का नाम जोड़ सकते हैं। इनमें से प्रथम नाम कात्यायन और 'वेदान्तसूत्र' में आता है और दूसरा नाम केवल गण 'नड' में आता है।

[1]३०।५, जिसमें उन्हें भृगुवंश का पापी कहा गया है "पापिष्ठा भृगूणाम्।"

[2]द्र०—कोलब्रूक १।१०२, १०३, ३२८, और ऊपर पृ० ४१

[3]मैक्सम्यूल्लेर द्वारा त्सा० डा० मो० गे० ६।९ में दिये गये विवेचन में, जो अन्यथा हमें भारतीय दर्शन के विषय में अमूल्य ज्ञान मिलता है।'

[4]शबर स्वामी का यह भाष्य, जिसका उल्लेख शंकर ने भी किया है (वेदान्त-सूत्र-भा० ३।३।५३) जैमिनि के मूल के साथ बिब्लि० इं० में प्रकाशित हो रहा है; महेशचन्द्र न्यायरत्न इसका संपादन कर रहे हैं। (यह १८६३ में आरम्भ हुआ था और अन्तिम भाग १८७१ में निकला; ९।१।५ तक) माधव का जैमिनीय-न्याय-माला-विस्तर भी अभी पूरा नहीं हुआ है। इसका संपादन गोल्डस्टयूकेर ने किया है (१८६५); मेरा इं० स्ट्रा० २।३७६ देखिए।

[5]जिनका प्राचीन नाम तुतात या तुतातित भी प्रतीत होता है। जो कुछ भी हो, तौतातिक या तौतातित का अर्थ 'प्रबोधचन्द्रोदय' (२०, ९ सं० ब्रोकहाउज़) टीकाकार ने कुमारिल किया है और यही अर्थ आउफ्रेष्ट ने अपने केटलोगस, पृ० २४७ में दिया है, जहाँ कि तौतातित का उल्लेख माधव के 'सर्वदर्शन संग्रह' में आया है।

जाता है।[1]

जैसा कि हम अभी देख चुके हैं 'ब्रह्मसूत्र'[2] बादरायण का है। यह मत कि सृष्टि केवल माया है और एकमात्र परब्रह्म ही सत्य, किन्तु विना व्यक्तिगत अस्तित्व के अखण्ड अनन्तता में प्रतिष्ठित है, इस दर्शन का मूल सिद्धान्त है। इसमें सभी वैदिक अंशों का अद्वैत सर्वे-श्वरवाद के साथ सामञ्जस्य बैठाकर, और सांख्य या अनीश्वरवादी, योग या ईश्वरवादी तथा न्याय या देवतावादी दर्शनों के विविध मतों का खण्डन कर यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है कि यह दर्शन स्वयं वेद का साध्य और लक्ष्य है। इस प्रकार अन्य दर्शनों पर जो विचार किया गया है वह स्वयं 'ब्रह्मसूत्र' की उत्तरकालीनता को प्रमाणित करता है। फिर भी यह इस समय अनिश्चित है कि यह विवाद इस समय जिस रूप में ये मत विद्यमान हैं उन्हीं के विरुद्ध है या केवल उन मौलिक तत्वों के विरुद्ध है जिनसे इन मतों का उद्भव हुआ है। कम से कम 'ब्रह्मसूत्र' में जिन आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं वे अधिकांशतः श्रौतसूत्र में भी आते हैं; उदाहरण के लिए आश्वलायन में आश्मरथ्य, कात्यायन[3] में बादरी, कार्ष्णजिनि और काशकृत्स्नि [देखिए ऊपर पृ० १२६] और अन्ततः 'तैत्तिरीय प्राति-शाख्य' में आत्रेय नाम आया है। औडुलोमि का नाम एकमात्र 'ब्रह्मसूत्र' से संबन्ध रखता

---

[1]देखिए कोलब्रूक १।२९८; फिर भी अत्यन्त अर्वाचीन उपाधि 'भट्ट' इस संबन्ध में कुछ सन्देह उत्पन्न करती है; कदाचित् मौलिक रूप में यह उनकी उपाधि न रही हो? [कावेल, कोलब्रूक, मिस० एसे० १।३२३ पर टिप्पणी के अनुसार शंकर में वस्तुतः "यदि कुमारिल-भट्ट का सीधा उल्लेख नहीं तो संकेत तो है ही", 'भट्ट' उपाधि विशेष रूप से उन्हीं को दी जाती है; "उन्हें बल देकर 'भट्ट' उपाधि से अभिहित किया गया है।" इसके अतिरिक्त यह उपाधि भट्ट भास्कर-मिश्र और भट्टोत्पल के नामों में भी आती है और अतएव यह "अधिक अर्वाचीन" नहीं है।

[2]स्वयं यह नाम भगवद्गीता १३।४ में आता है, यहाँ एक उपाधि के रूप में आया है, नाम के रूप में नहीं।

[3]हम यह पहले ही देख चुके हैं (पृ० ४५) कि पाणिनि के भाष्यकार ने आश्मरथः कल्पः को नये कल्पों में एक बताया है और उसका अधिक प्राचीन कल्पों से विपर्यास दिखाया गया है और इस कारण उसे पाणिनि के युग का माना जाता है। यदि, जैसा कि संभव है, भाष्यकार ने इस उदाहरण को महाभाष्य से लिया, [किन्तु यह स्थिति नहीं है; देखिए इं० स्टू० १३।४५५] तो यह कथन महत्त्वपूर्ण है। मैं यह उल्लेख कर देना चाहता हूँ कि आश्मरथ्य गण 'गर्ग' में आया है; औडुलोमि गण 'बाहु' में कृष्णाजिन, 'तिक' और 'उपक' गणों में आया है तथा 'उपक' गण में ही काशकृत्स्न भी आया है। गणपाठ नितान्त अनिश्चित प्रमाण है और पाणिनि के समय के लिए इसका कोई महत्त्व नहीं है।

है।[१] जैमिनि और स्वयं बादरायण के उल्लेख के विषय में पहले ही विचार किया जा चुका है। विण्डिश्शमन्न ने अपने उत्तम ग्रंथ 'शंकर' (बोन १८३२) में 'ब्रह्मसूत्र' का समय निर्धारित करने का सीधा प्रयत्न किया है। बादरायण की अतिरिक्त उपाधि 'व्यास' भी है जिससे 'ब्रह्मसूत्र' को स्पष्टतः 'व्याससूत्र' भी कहते हैं। 'शंकरविजय' में—जो प्रसिद्ध वेदान्तीय भाष्यकार शंकर का उनके एक शिष्य द्वारा लिखित जीवनचरित है—हम यह उल्लेख पाते हैं (द्र० विण्डिश्शमन्न, पृ० ८५; कोलब्रूक १।१०४) कि व्यास शुक के पिता का नाम था। शुक के एक शिष्य गौडपाद थे, जो गोविन्दनाथ के गुरु थे और गोविन्दनाथ शंकर के गुरु थे,[२] इस प्रकार इस व्यास का समय अनुमानतः शंकर से दो से तीन शताब्दी पहले का अर्थात् ४०० और ५०० ई० के बीच का रखा जा सकता है। किन्तु यह विषय इस समय बिना निर्धारण के ही छोड़ देना उचित होगा;[३] कारण, यह विवादास्पद है कि ये व्यास व्यास बादरायण ही हैं या नहीं, यद्यपि यह मुझे बहुत संभव प्रतीत होता है।[४]

---

[१]यह पाणिनि ४।१।८५, ७८ के भाष्य में महाभाष्य में भी पाया जाता है, देखिए इं० स्टू० १३।४१५।

[२]आऊफ्रेष्ट के 'केटलोगस' पृ० २५५ब पर माधव के (!) 'शंकरविजय' ५।५ (अपितु बम्बई में धनपतिसूरि के भाष्य के साथ प्रकाशित संस्करण का ५।१०५) से दिया गया प्रस्तुत अंश तथा उसी के पृ० २२७ ब पर दूसरे ग्रंथ से दी गई वही उक्ति। इसके विपरीत आनन्दगिरि रचित 'शंकरविजय' में, आऊफ्रेष्ट, पृ० २४७ आदि (अब बिब्लि० इं० में जयनारायण द्वारा संपादित १८६४-१८६८) इस प्रकार की कोई बात नहीं मिलती।

[३]ब्रह्मसूत्र ३।३।३२ के भाष्य में शंकर ने यह उल्लेख किया है कि अपान्तरतमस् कृष्ण-द्वैपायन के समान कलि और द्वापर के सन्धिकाल में हुए थे; और उनके यह उल्लेख न करने के कारण कि ये ब्रह्मसूत्र के रचयिता व्यास बादरायण थे, विण्डिश्शमन्न ने यह ठीक निष्कर्ष निकाला है कि शंकर की दृष्टि में ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसके विपरीत महाभारत १२।१२१५८ आदि में शुक को स्पष्टतः कृष्णद्वैपायन (व्यास पाराशर्य) का पुत्र बताया गया है; किन्तु यह कथा बहुत बाद का क्षेपक है जैसा कि इसमें आये हुए चीनों, हूणों अर्थात् चीनियों एवं हूण के उल्लेखों से प्रकट है।

[४]इसी बीच बादरायण नाम के 'सामविधान ब्रा०' के अन्तिम वंश में उल्लिखित होने का पता चला है; देखिए इं० स्टू० ४।३७७; और यहाँ जिस व्यक्ति का यह नाम है वह पाराशर्यायण का शिष्य है, जो व्यास पाराशर्य से चार पीढ़ी और जैमिनि से तीन पीढ़ी बाद के हैं; किन्तु वे ताण्डिन और शाट्यायनिन के गुरु हैं। जैमिनि में उल्लेख के अतिरिक्त उनका नाम शाण्डिल्यसूत्र में भी आता है। वराहमिहिर और भट्टोत्पल में इस नाम के एक ज्योतिषी का उल्लेख है और आऊफ्रेष्ट (केटलोगस, पृ० ३२९) के अनुसार स्वयं

क्रमबद्ध रूप में व्यवस्था की दृष्टि से कणाद और गौतम के न्यायसूत्र सबसे बाद में आते हैं। किन्तु इससे यह कथमपि अर्थ नहीं निलकता कि ये तार्किक विवेचनाएँ बाद के समय की हैं, इसके विपरीत, अन्य सूत्र प्रायः समान रूप से इन विवेचनाओं से आरम्भ होते हैं; अपितु इसका अर्थ यह है कि तर्कशास्त्र का दो दार्शनिक मतों के रूप में औपचारिक विकास अपेक्षतया बाद के समय में हुआ। इनमें से कोई भी दार्शनिक मत केवल तर्कशास्त्र तक सीमित नहीं है; प्रत्येक के अन्तर्गत एक पूर्ण दार्शनिक पद्धति आती है जो एक विशुद्ध तार्किक विधि पर आश्रित है। किन्तु अब तक इन दोनों में इस संबन्ध की विभिन्नताओं पर प्रकाश डालने के लिए स्वल्प कार्य किया गया है।[1] संसार की उत्पत्ति दोनों में ही अणुओं से बताई गई है, जो एक व्यवस्थापक शक्ति की इच्छा से संयुक्त होते हैं।[2]

उन्होंने उत्पल से उद्धृत किये गये एक अंश में 'यवनवृद्धाः' का उल्लेख किया है; तथा केर्न वृ० हृ० सं० का प्राक्कथन, पृ० ५१ के अनुसार इसमें अनेक ग्रीक शब्द आते हैं।" शांकर भाष्य के साथ ब्रह्मसूत्र का मूल बिब्लि० इं० में प्रकाशित हुआ है, जिसका संपादन रोइर ने और (तीसरे खण्ड से) रामनारायण विद्यारत्न ने किया है (१८५४-१८६३)। दोनों के के० एम० बनर्जी कृत अनुवाद का तथा बैलेण्टाइन के 'एफोरिज्म्स' का केवल एक खण्ड निकला है (१८७०)।

[1]इस विषय में विशेषतः रोइर ने उत्तम कार्य किया है। अपने 'वैशेषिक सूत्र' के अनुवाद की विस्तृत टिप्पणियों में उन्होंने आद्योपान्त इस विषय पर विशेष ध्यान दिया है ('त्सा० डा० मो० गे' के भाग २१,२२, १८६७, १८६८ में) उनके पहले बैलेण्टाइन की कुछ रचनाओं को आधार बनाकर म्यूल्लेर ने इसी मार्ग को अपनाया था (उसी जर्नल के भाग ६ और ७ में, १८५२, १८५३)। शंकर मिश्र के 'उपस्कार' नामक भाष्य के साथ वैशेषिक सूत्र बिब्लि० इं० १८६०, १८६१ में प्रकाशित हुआ है; जयनारायण तर्कपंचानन ने अपनी टीका के साथ इसका संपादन किया है। 'पण्डित' (अंक ३२-६९) में ए० ई० गोफ ने मूल और भाष्य का पूरा अनुवाद दिया है उसके बाद से जयनारायण ने भी १८६४-६५ में बिब्लि० इं० में गोतम के न्यायदर्शन का वात्स्यायन (पक्षिलस्वामिन) के भाष्य के साथ एक संस्करण निकाला है। इसके पूर्ववर्ती संस्करण (१८२८) में विश्वनाथ का भाष्य था। प्रथम चार काण्डों का अनुवाद बैलेण्टाइन ने अपने 'एफोरिज्म्स' में किया है।

[2]जैनों में अणु के सिद्धान्त का विकास विशेष रूप में हुआ है; किन्तु इस सिद्धान्त का विकास एक भौतिक रूप में इस प्रकार हुआ है कि अणु तथा चेतन तत्त्व के नैसर्गिक और सनातन संबन्ध की कल्पना की गई है। जैनों की भगवती पर मेरा निबन्ध देखिए २।१६८, १७६, १९०, २३६ प्रजापति मरीचि की कल्पना में हम इसका पुराकथाशास्त्रीय उपयोग पाते हैं। देखिए, इं० स्टू० ९।९।

'प्रमनाई' (ग्री०) के नाम का जिसे स्ट्रैबो ने शास्त्रार्थी नैयायिक बताया है 'प्रमाण' शब्द से संबन्ध जोड़ा जा सकता है, जैसा कि लास्सेन का विचार है, अथवा नहीं जोड़ा जा सकता, यह सन्देहपूर्ण है। 'कठोपनिषद्' में आए हुए 'तर्क' अर्थात् सन्देह शब्द को सन्दर्भ के अनुसार सांख्य दर्शन से बद्ध समझना चाहिए; और इसे तर्कशास्त्र न्याय के अर्थ में नहीं लेना चाहिए जो बाद के समय में इसका प्रचलित अर्थ हो जाता है। पारस्परिक व्याख्याओं के अनुसार, मनु में भी (देखिए लास्सेन, ई० अल्ट० १।८३५) 'तर्किन्' मीमांसा के तर्कशास्त्र में पारंगत व्यक्ति के लिये आया है।[1] तथापि मनु एक पृथक् शास्त्र के रूप में न्याय से और इसमें प्रतिपादित तीन प्रमुख प्रमाणों से परिचित हैं; यद्यपि ये उनके उन नामों से अवगत नहीं हैं जो बाद में प्रचलित हुए थे। इस विषय पर अत्यन्त अर्वाचीन अन्वेषणों के अनुसार[2] "नैयायिक और केवल नैयायिक" (पाणि० २।१।४९) शब्द न्यायदर्शन के पाणिनि से पहले का होने का संकेत करते हैं।" किन्तु ये शब्द पाणिनि के ग्रन्थ में बिल्कुल ही नहीं आते (जिसमें 'केवल' शब्द ही आता है) अपितु उनके भाष्यकार की रचना में ही आते हैं।[3] कणाद की दर्शनपद्धति का नाम 'वैशेषिक, सूत्र' है; कारण, इसके मानने वालों का कथन है कि 'विशेष' अणुओं का विधेय है; इसके विपरीत, गौतम के मत का नाम न्यायसूत्र 'कात्' 'एक्सोकीन' (ग्री०) कहा गया है। इन दोनों में कौन अधिक प्राचीन है, यह अनिश्चित है। वैशेषिक मत का वेदान्त सूत्रों में प्रायशः खण्डन किया गया है—जबकि गोतम के मत का, जैसा कि कोलब्रूक (१।३५२) ने बताया है न तो मूल ग्रंथ में और न ही उसके भाष्यों में ही कहीं निर्देश आता है। इससे स्पष्टतः वैशेषिक दर्शन की प्राचीनता प्रमाणित होती है;[4] किन्तु वेदान्त के आचार्य के सम्मुख कणाद के सिद्धान्त जैसा कि कुछ समय पहले माना जा चुका है,[5] क्रमबद्ध रूप में थे या नहीं यह अब भी अन्वेषण का विषय बना हुआ है।[6] इसके अतिरिक्त ये दोनों दर्शन इस समय

---

[1]पारस्क० २।६ ("विधिर् विधेयस् तर्कश् च वेदः") में तर्क, अर्थवाद और मीमांसा का समानार्थक है।

[2]मैक्सम्यूल्लेर द्वारा; वही, पृ० ९।

[3]इसके विषय में मैं पहले ही कह चुका हूँ (पृ० २१६)

[4]'सांख्यसूत्र' में उनके नाम का भी उल्लेख किया गया है (देखिए पृ० २३०) में और जैनों के धर्मग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है (पृ० २३६ टिप्पणी ४)। गोतमसूत्र अन्य पाँच दार्शनिक ग्रन्थों के समान 'अथाऽतः' सूत्र से नहीं प्रारम्भ होता। इस तथ्य को भी इसके बाद के समय में रचित होने का प्रमाण मान सकते हैं।

[5]एम० म्यूल्लेर. वही, पृ० ९ "जबकि कणाद के दर्शनों का प्रायः विवेचन किया गया है।"

[6]किसी भी सूत्र में उन प्राचीन आचार्यों का उल्लेख नहीं है, जिनके नामों से समय-

और बहुत दिन पहले से भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय दर्शन रहे हैं। यह भी देखा जा सकता है कि तिब्बती 'तन्दजूर' में आने वाली दार्शनिक रचनाओं में न्यायदर्शन की रचनाओं को ही सर्वाधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है।

इन छः दर्शनों के अतिरिक्त, जिनमें से सभी सामान्यतः प्रचलित हुए थे, और जिन्हें कुल मिलाकर आस्तिक दर्शन माना जाता है—भले ही सांख्य इस सम्मान के योग्य नहीं है—कतिपय नास्तिक दर्शनों के भी उल्लेख प्रायः मिलते हैं, जैसे चार्वाक, लौकायतिक,[1] बार्हस्पत्य के मत। बार्हस्पत्य मत का एक पूर्ण ग्रन्थ 'बार्हस्पत्य सूत्र' भी रहा होगा, किन्तु इन सबके विषय में प्रायिक उद्धरणों के अतिरिक्त जो आस्तिक दर्शनों के भाष्यों में पूर्वपक्ष के रूप में दिये गये हैं, और कुछ शेष नहीं है।

विषयक जानकारी प्राप्त हो सके। जहाँ तक स्वयं उनके रचयिताओं का प्रश्न है, कणाद या कणभुज् (कणभक्ष) का उल्लेख वराहमिहिर और शंकर ने किया है, जबकि अक्षपाद का सर्वप्रथम उल्लेख माधव ने किया है। उनके गोत्रनाम काश्यप तथा गौतम (गोतम की अपेक्षा यही रूप अधिक प्रचलित है) बहुत प्राचीन काल से चला आता है, किन्तु इसके अतिरिक्त उनसे और कोई सूचना नहीं प्राप्त होती। बाद के समय के भाष्यकार (अनन्त-यज्वन) के सामवेद के गौतम रचित पितृमेध-सूत्र के भाष्य में गौतम का अक्षपाद से तादात्म्य विशेष रोचक है, किन्तु इसे निर्णायक तथ्य नहीं माना जा सकता। देखिए बर्नेल का केटलाग पृ० ५७-। 'कुसुमांजलि' के संस्करण के प्राक्कथन में (१८६४) कावेल के शब्दों से यह प्रतीत होता है कि पक्षिलस्वामिन का भाष्य, जिसको वे वात्स्यायन से अभिन्न मानते हैं, दिङ्नाग के पहले रचा गया था अर्थात् छठीं शताब्दी के आरम्भ के समय में (पृ० १९७ टिप्पणी ३)। उद्योतकर ने, जिसका उल्लेख सुबन्धु ने सातवीं शताब्दी में किया है, दिङ्नाग के विरुद्ध रचना की और इसी प्रकार दसवीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने और 'कुसुमांजलि' के रचयिता उदयन ने बारहवीं शताब्दी में। देखिए कोलब्रूक के मिस० एसे० १।२८२ पर कावेल की टिप्पणी। गंगेश की 'न्यायचिन्तामणि' बाद के समय के न्याय साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसे भी बारहवीं शताब्दी का माना गया है; देखिए त्सा० डा० मो० गे० २७।१६८, माधव ने कणाद के अनुयायियों का नाम औलुक्य दिया है और यह 'कणाद' शब्द के श्लेषार्थ "काकभक्षी" उलूक पर आश्रित है।

[1]महाभाष्य में एक 'वर्णिका भागुरी लोकायतस्य' का उल्लेख है, देखिए इं० स्टू० १३।३४३; बृहद्देवता में उल्लिखित आचार्यों में एक भागुरि का भी नाम आया है। लोकायतों का खण्डन उत्तरी और दक्षिणी दोनों ही बौद्धों ने किया है; देखिए बरनाउफ, 'लोटस् डि ला बोन्ने लोई' पृ० ४०९, ४७०, जैन भी अपने दर्शन की तुलना लोइया—(लौकिक) ज्ञान के साथ करते हैं; ऊपर पृ० २२९ टिप्पणी १ देखिए 'चार्वाकों' के विषय में 'सर्वदर्शन-संग्रह' की भूमिका देखिए।

१२ : ज्योतिष एवं गणित

अब हम वैज्ञानिक साहित्य की तीसरी शाखा ज्योतिष और उसकी अधीनस्थ विद्याओं पर आते हैं।[1] हम यह पहले देख चुके हैं (पृ० १०१, १०२) कि वैदिक काल में भी नक्षत्र विद्या का पर्याप्त विकास हो चुका था और स्ट्राबो ने इसका ब्राह्मणों के विशिष्ट व्यवसाय के रूप में स्पष्ट उल्लेख किया है। यह भी कहा जा चुका है कि यह नक्षत्र विद्या इस समय भी अत्यन्त आरम्भिक अवस्था में थी। खगोलज्ञान कुछ नक्षत्रों विशेषतः सत्ताईस या अठाईस चान्द्र नक्षत्रों और चन्द्रमा की कुछ कलाओं तक सीमित था।[2] वैदिक वर्ष ३६० दिनों का सौरवर्ष है, चान्द्र वर्ष नहीं। इस तथ्य से यह संकेत मिलता है कि सूर्य कि गति का यथार्थ अवलोकन हो चुका था तथा उसके विषय में गणनाएँ भी हो चुकी थीं; किन्तु ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसको ध्यान में रखते हुए हम यह नहीं मान सकते कि यह गणना रात्रि में नक्षत्रों का अवलोकन करने से आरम्भ हुई अपितु हमें इसे दिन के अधिक या अल्प विस्तार के तथ्य पर आधृत मानना चाहिए। अधिकमास से युक्त पञ्चवर्षीय चक्र के लिये बहुत पहले का समय मानना पड़ेगा; कारण, अधिकमास का उल्लेख ऋक् संहिता में हुआ है। इसके विपरीत यद्यपि चन्द्रमा की कलाओं के निरीक्षण से चार युगों की उत्पत्ति का समय बहुत प्राचीन हो सकता है[3] फिर भी इस कल्पना को वैदिक युग के पर्यवसान के समय में ही पूर्ण विकसित रूप मिल सका होगा। जैसा कि हम जानते हैं, मेगास्थनीज़ ने भारत में योगदर्शन को चरमोत्कर्ष पर आरूढ़ पाया था। हिन्दुओं का चन्द्रमा के अयन का सत्ताईस (या अठाईस) नक्षत्रों में विभाजन चीनियों के विभाजन से उद्‌भूत हुआ है इस प्रकार का ब्वाट (Biot) का (जर्नल डेस् सवण्टस् १८४० १८४५; द्र० लास्सेन इं० अल्ट० १।७४२) कथन कथमपि मान्य नहीं हो सकता।[4] चीनी लेखकों

---

[1]देखिए इं० स्टू० २।२३६-२८७।

[2]ब्राह्मणों में पाये जाने वाले आधिभौतिक और नाक्षत्रिक तथ्य अत्यन्त बालिश और भोंडे स्वभाव के हैं; देखिए इं० स्टू० ९।३५८ आदि।

[3]रोथ ने अपने 'डी लेहरे फोन डेन फीअर वेल्टाल्टेर्न' (१८६०, टुबिंगेन) में इस उत्पत्ति के विषय में विवाद किया है।

[4]आगे जिस प्रश्न का विवेचन किया गया है, उस विषय पर जे० बी० ब्वाट, मुझमें और ह्विटनी में एक विवाद उठ खड़ा हुआ था जिसमें ए० सीडिलोट स्टाइनस्नाइडेर ई० बर्गेस, और मैक्सम्यूल्लेर ने भाग लिया। तुलना, जर्नल डेस् सवण्टस् १८५९ और

के वर्णन के बावजूद भी, ठीक इसके विपरीत स्थिति भी संभव हो सकती है, और यह प्रणाली चीन में बौद्धों द्वारा पहुँची होगी; कारण बौद्ध रचनाओं में विशेषत: नक्षत्रों के प्राचीन क्रम का—कृत्तिका से प्रारम्भ कर—पालन किया गया है जिसे हम यथार्थत:[1] चीनियों

ब्वाट के मृत्यूत्तर ग्रन्थ 'इट्यूडेस त्सुर ले ऐस्ट्रोनोमिक इण्डिएन्ने एट् चीनाइजे' (१८६२) मेरे दो लेख : 'डी वेदिश्शेन नखरिष्टेन फोन डेन नक्षत्र (१८६०, १८६२) इं० स्ट्रा० २।१७२, १७३, इं० स्टू० ९।४२४ (१८६५), १०।२१३ (१८६६); ह्विटनी के जर्न० अमे० ओ० सो० भाग ६ और ८ में लेख (१८६०, १८६४, १८६५); बर्गेस: वही; स्टाइन्स्नाइडेर, त्सा० डा० मो० गो० भाग १८ (१८६३); म्यूल्लेर को ऋक् (१८६२) के संस्करण के भाग ४ का प्राक्कथन, सेडिलोट, कोटेस् ओब्जेरवैसनस् त्सुर, ल्क्वेस् प्वाइण्टस डि ले हिस्टोइरे डि ले एस्ट्रोनोमिक (१८६३); और अन्ततः ह्विटनी के 'ओरिएण्टल एण्ड लिंग्वेस्टिक स्टडीज' (१८७४) का द्वितीय भाग। ऊपर जो विचार व्यक्त किये गये हैं, मैं उन्हीं विचारों को मानता हूँ; ह्विटनी भी इन्हीं का समर्थन करते हैं। चाल्डिआ के इस दर्शन का मत मानने के पक्ष में एक स्थिति विशेष समर्थन करती है, वह यह कि चीन, भारत और बेबिलोन में सबसे बड़े दिन के विस्तार के विषय में हम ठीक एक जैसा विवरण पाते हैं; जबकि उदाहरण के लिये बण्डेहेश के इस विषय पर विवरणों में बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है; देखिए विण्डश्शमन्न (त्सोरोष्ट्रिश्शे स्टूडिएन, पृ० १०५)

[1]ब्वाट के इस कथन की पुष्टि नहीं हो पाई है। चीनी सूची चित्रा (विषुवत्) से आरम्भ होती है या उत्तराषाढ़ से ये दोनों ही एक व्यवस्था से साम्य रखते हैं, जिसमें रेवती को महाविषुवत् का चिह्न माना गया है, नक्षत्रों पर मेरा पहला लेख देखिए, पृ० ३०० तुलना की० वासिलजिऊ द्वारा शीफ़नेर के भेजे गये एक पत्र में अठाइस नक्षत्रों का विवरण (तारानाथ के बौद्धधर्म के इतिहास के वासिलजिऊ द्वारा किये रूसी अनुवाद के प्राक्कथन का शीफनेर द्वारा किया गया जर्मन रूपान्तर, पृ० ३०-३२, १८६९ देखिए) बौद्ध कोश 'महाव्युत्पत्ति' के भाष्य के अनुसार, 'सन्निपात' (चीनी ता-त्सी-किंग) से लिया गया है। इस वर्णन के अनुसार ज्योतिषी खरोष्ट (गर्दभ का ओंठ) ने नक्षत्रों का क्रम उस क्रम में रखा—अर्थात् 'कृत्तिका' से आरम्भ होने वाले क्रम में—रखा जिस क्रम में वे शब्दकोष में उद्धृत हैं। खरोष्ट तथा जेरुस्ट्र (Xarustra) के नाम की, जिन्होंने, एक आर्मेनियन प्रमाण के अनुसार, चाल्डिआ में नक्षत्रशास्त्र को जन्म दिया, वासिलजिऊ ने जोरोस्टेर के नाम के साथ तुलना की है; किन्तु मैं इसका संबन्ध क्रौष्टुकि से जोड़ता हूँ, जिसका परिचय हमें अथर्व-परि० में मिलता है (देखिए लिट० सं० ब्लि० १८६९, पृ० १४९७)। उसके बाद दूसरे ऋषि काल (समय!) आये जिन्होंने नक्षत्रों की गति के विषय में एक नया सिद्धान्त चलाया और इस प्रकार कालान्तर में चित्रा को प्रथम नक्षत्र गिनाया गया।

में पाते हैं। मुझे सर्वाधिक समीचीन मत यह लगता है कि ये चान्द्र नक्षत्र चैल्डिअन (Chaldaean) उत्पत्ति की हैं और चैल्डिअन लोगों से इनका ज्ञान हिन्दुओं और चीनियों को मिला। कारण 'बुक आफ किंग्स' के और 'बुक आफ जाब'[1] के नक्षत्र नाम जिन्हें बाइबिल की टीकाओं में भ्रमवश 'अयन' से संबद्ध किया गया है वस्तुतः अरबों के हैं; और ऐसी स्थिति में ब्वाट (Biot) भी इसकी चीनी उत्पत्ति नहीं स्वीकार करेंगे। या तो भारतीय इन चान्द्र नक्षत्रों का ज्ञान अपने साथ भारत ले आए होंगे अथवा उन्होंने इसका ज्ञान बाद के समय में पंजाब के साथ 'फोइनिशिअन' लोगों के व्यापारिक संबन्ध के माध्यम से प्राप्त किया होगा। जो कुछ भी हो, उसका ज्ञान भारतीयों को बहुत प्राचीन काल से था, और चूँकि ऐसे समय में जब हिन्दू गंगा के उद्गम से भी परिचित नहीं थे चीन के साथ संबन्ध की कल्पना भी नहीं हो सकती, अतः यहाँ चीनी प्रभाव पड़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इनमें से कुछ नक्षत्रों के नाम (विचित्र रूपों में) ऋक्-संहिता में भी आये हैं; उदाहरण के लिये-'अघास्' अर्थात् 'मघास्' और 'अर्जुन्यौ' अर्थात् 'फल्गुन्यौ' इनके लिये 'शतपथ-ब्राह्मण' में भी आये हैं।' ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्त मण्डल १०-८५-१३ में आये हैं। इसी प्रकार 'तिष्य' मण्डल ५।५४।१३ में आया है जिसे सायणने 'सूर्य' के लिये माना है (देखिए १०।६४।८ भी) इनकी सर्वप्रथम पूरी गणना तत्तत् अधिष्ठाताओं के साथ 'तैत्तिरीय-संहिता' में आती है; दूसरी गणना जिसमें नामों में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है और जो परवर्ती काल का संकेत देती है 'अथर्वसंहिता' और 'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' में मिलती है। इनमें से अधिकांश नाम पाणिनि ने भी दिये हैं। दूसरी सूची में अधिकांशतः वे नाम आये हैं जिनका प्रयोग बाद के समय के ज्योतिषियों ने किया है और इन परवर्त्ती काल के नामों को ही तथाकथित ज्योतिष या वैदिक नक्षत्र विद्या में (राशियों या लग्नों के साथ) गिनाया गया है। ज्योतिष को इस समय तक इतना अधिक महत्व प्रदान किया गया है जिसके अधिकारी इसमें वर्णित विषय नहीं हो सकते। यदि मेरे इस अनुमान की पुष्टि हो सकती कि लगध या लगत, जिनका मत इसमें मिलता है, लात से अभिन्न है जिन्हें अलबीरूनी ने प्राचीन 'सूर्य-सिद्धान्त' का रचयिता बताया है (देखिए पृ० २४२, टिप्पणी २), तो इसका समय ईसा की चौथी या पाँचवीं शताब्दी होगा। फिर भी इस अल्प महत्व के ग्रन्थ के लिये, जिसका थोड़ा महत्व इस कारण है कि इसे वेद के वर्ग में रखा गया है, उपर्युक्त समय बहुत प्राचीन लगता है।[2]

इससे किसी भी दशा में यह बात चीनी 'किओ-लिस्ट' की परवर्तीकालीन तथा बौद्ध उत्पत्ति को प्रमाणित करती है।

[1]इस विषय पर विशेष रूप से इं० स्टू० १०।२१७ देखिए।

[2]इसी कारण इसमें नक्षत्रों का वही प्राचीन क्रम पाया जाता है जो इस समय भी वेद से संबद्ध रचनाओं में मिलता है। [यहाँ आनेवाले अनेक विषयों के ज्योतिष पर मेरी

ग्रहों का अन्वेषण हो जाने से नक्षत्रविद्या में एक ठोस प्रगति हुई। इन ग्रहों का प्रथम उल्लेख संभवतः तैत्तिरीय-आरण्यक में मिलता है; यद्यपि यह अब भी अनिश्चित है;[1] इसके अतिरिक्त उनका वैदिक युग की किसी भी रचना में निर्देश नहीं है।[2] 'मनुस्मृति' उनसे अपरिचित है; याज्ञवल्क्यस्मृति उनकी पूजा का उल्लेख करती है—यह तथ्य दोनों स्मृतियों के समय के अन्तर के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है। कालिदास के नाटकों में, 'मृच्छकटी' में और 'महाभारत' तथा 'रामायण' में उनका बार-बार उल्लेख किया गया है।[3] उनके नाम विलक्षण और भारतीय उत्पत्ति के हैं; इनमें से तीन को क्रमशः सूर्य (सेटर्न-शनि), पृथ्वी (मार्स-मंगल) और चन्द्रमा (मार्करी-बुध) का पुत्र बताया गया है और शेष दो ग्रहों को दो प्राचीनतम ऋषि वंशों का प्रतिनिधि कहा गया है आंगिरस (जूपिटर-बृहस्पति) और भृगु (वेनस-शुक्र)। अन्तिम दो नाम संभवतः इस तथ्य से सम्बन्ध रखते हैं कि अथर्ववेद जो विशेष रूप से अंगिरस् और भृगु ऋषियों से संबद्ध

भूमिका के (१८६२) अन्तर्गत किये गये विशिष्ट परीक्षण के अनुसार, इसकी कुछ अधिक आरम्भिक अवधि संभव हो सकती है यह मानकर कि जिन श्लोकों से यूनानी प्रभाव ध्वनित होता है, वे वस्तुतः इस ग्रन्थ के मौलिक पाठ के नहीं हैं। समय-समय पर इसके रचयिता का नाम लगडाचार्य भी हैं; देखिए ऊपर पृ० ५३, टिप्पणी]

[1]जिन अंशों का निर्देश किया गया है, उन्हें वस्तुतः भिन्न अर्थ में लेना चाहिए। देखिए इं० स्टू० ९।३६३, १०।२७१।

[2]मैत्रायणी-उप० एक मात्र अपवाद है, किन्तु केवल इसके अन्तिम दो अध्यायों में इसे खिल कहा गया है; ऊपर पृ० ८७, टिप्पणी २, ३ देखिए। इस विषय पर, आग ज्योतिष पर मेरा निबन्ध देखिए: पृ० १०, इं० स्टू० ९।३६२, ४४२, १०।२३९, २४०— जिन दो ऋचाओं को एल० लुड्विग ने अपने 'नखरिष्टेन डेस् रिग्-इण्ड अथर्ववेद इउबेर जिओग्राफी, . . . डेस् अल्टेन् इण्डीन्स' ग्रहों का निर्देश माना है (१।१०५, १०, १०।५५.३) उसमें कोई ऐसा निर्देश नहीं है। १।१०५।१० के भाष्य में सायण द्वारा उल्लिखित शाट्यायनक ने और न सायण ने ग्रहों के विषय में कोई उल्लेख किया है। (देखिए इं० स्टू० ९।३६३ टिप्पणी)। अथ० सं० १९।९।७ के 'दिविचरा ग्रहाः' के लिये 'अथर्वपरिशिष्टों' में दूसरे समानान्तर अंश प्रदर्शित किये गये हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि यहाँ ग्रहों की कल्पना नहीं की जा सकती; विशेषतः इस कारण कि इसके कुछ ही आगे ५।१० में 'ग्रहाश् चन्द्रमसाः. . . .आदित्याः. . . .राहुणा' की गणना की गई है, जिसमें स्पष्टतः ग्रहणों का उल्लेख किया गया है। अथ० सं० का यह अंश (१९।७) बहुत बाद के समय की रचना है। देखिए इं० स्टू० ४।४३३ टिप्पणी।

[3]पाणि० ४।२।२६ में आये हुए शुक्र को शुक्र ग्रह माना जा सकता है, किन्तु इसे सोमरस के अर्थ में लेना अधिक संगत है।

था—के अनुयायी ही ज्योतिष और नक्षत्रविद्या में अग्रणी थे।[1] इन नामों के अतिरिक्त अन्य नाम भी प्रचलित हैं। उदाहरण के लिये मार्स या मंगल को 'लोहित', वेनस या शुक्र को 'शुक्ल' या भास्वर' सैटर्न या शनि को 'मन्दगति वाला' कहते हैं। इनमें अन्तिम नाम ही केवल ऐसा नाम है जो नाक्षत्रिक अन्वेषण का निर्देश करता है। इन सात ग्रहों (जिनमें सूर्य और चन्द्रमा भी सम्मिलित हैं) के साथ भारतीयों ने दो और जोड़ दिये हैं: राहु और केतु, जो सूर्य एवं चन्द्र का ग्रहण करने वाले दैत्य के सिर और धड़ माने जाते हैं। इनमें पहले अर्थात् राहु का नाम सर्वप्रथम 'छान्दोग्योपनिषद्'[2] में आता है; यद्यपि इस स्थल पर इसका अर्थ ग्रह का नहीं हो सकता। ग्रह के अर्थ में इसका सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति में आता है। किन्तु यदि 'तैत्तिरीय-आरण्यक' का उपर्युक्त अंश ग्रहों का निर्देश करता है तो ग्रहों की नौ संख्या मौलिक नहीं है; कारण, इसमें केवल सात ही संख्या ('सप्तसूर्याः') आयी है। 'ग्रह' या 'पकड़ने वाला' शब्द निःसन्देह ज्योतिष या दैवशास्त्र की देन है। नक्षत्र-विद्या पर ही ज्योतिष या दैवशास्त्र की विवेचनाएँ आधृत होती थीं, और जब यज्ञ की व्याव-हारिक आवश्यकता एक बार सदैव के लिये पूरी हो गई तो इन विवेचनाओं ने नक्षत्रविद्या से ही प्रकाश और जीवन ग्रहण किया। हिन्दुओं ने ग्रहों को स्वतन्त्र रूप में ढूँढ निकाला, या यह ज्ञान उन्हें बाहर से प्राप्त हुआ, इसका निर्धारण नहीं किया जा सकता; किन्तु इन नामों की नियमित विलक्षणता प्रथम मत का ही समर्थन करती है।[3]

यूनानी प्रभाव ने ही सर्वप्रथम भारतीय ज्योतिष में एक नई स्फूर्ति प्रदान की। इस संबन्ध में इसका स्थान जितना अब तक सोचा जाता था उससे कहीं बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है, और इस तथ्य को वस्तु-स्थिति मानने पर यह अर्थ निकलता है कि यूनानी प्रभाव साहित्य की अन्य शाखाओं पर भी पड़ा, भले ही हम इसे अन्यत्र प्रत्यक्षतः ढूँढ निकालने में असमर्थ हैं।[4] यहाँ यूनानियों और भारतीयों के संबन्ध में कुछ विवरण दे देना आवश्यक है।

---

[1]इस कारण भार्गव का नाम नाक्षत्रिक या दैवज्ञ पड़ा; देखिए दशकुमार० विल्सन का संस्करण, पृ० १६२, ११।

[2]तुलना, राहुल बुद्ध के पुत्र का नाम है; यह नाम 'लाघुल' रूप में भी आता है; देखिए, इं० स्टू० ३।१३०, १४९।

[3]फिर भी यह उल्लेखनीय है कि अथर्वपरिशिष्टों में, जो ज्योतिष के साथ भारतीय नक्षत्रशास्त्र का प्राचीनतम रूप प्रस्तुत करता है, ग्रहों के प्रभाव-क्षेत्र का यूनानी नामों के साथ विशेष संबन्ध दृष्टिगोचर होता है। देखिए, इं० स्टू० ८।४१३, १०।३१९।

[4]तु० की० मेरा लेख 'इण्डिश्शे बाइट्रेगे त्सुर गेशिश्टे डेर आउसप्राखे डेस् ग्रीशि-श्शेन' मोनाट्स्बेरिश्टे डेर बेर्लि० एके०, १८७१, पृ० ६१३, इं० एण्टि० २।१४३ आदि में अनूदित, १८७३।

पंजाब पर सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त बैक्ट्रिया के राजाओं का राज्य स्थापित हुआ। इनकी समृद्धि के समय में इनका आधिपत्य पंजाब के ऊपर गुजरात तक फैला था, यद्यपि यह आधिपत्य अल्पकालीन था।[1] इसके साथ ही साथ प्रथम सिल्यूसिडियो (Seleucidae) और टोलेमियो (Ptolemies) का दूतों के माध्यम से पाटलिपुत्र के राजाओं की राजसभा में[2] प्रायः सीधा संबन्ध बना रहता था, और इस कारण ही पिर्दास के शिलालेखों में एण्टिगोनस, मग, एण्डिओकस, टोलेमी और कदाचित् स्वयं अलेक्जेण्डर

---

[1]गोल्डस्ट्यूकेर के अनुसार महाभाष्य में साकेत (अवध) पर एक हाल ही में हुए यवन राजा के आक्रमण का उल्लेख मेनाण्डेर निर्देश करता है; जब कि गार्गीसंहिता के युग पुराण में आने वाले विवरण यवनों के पाटलिपुत्र पर आक्रमण का भी उल्लेख है। किन्तु तब यह प्रश्न उठता है कि यवनों से ग्रीक लोगों का तात्पर्य है या नहीं (द्र० इं० स्ट्रा० २।३४८) अथवा संभवतः केवल उनके इण्डो-सीथियन या दूसरे उत्तराधिकारियों से अभिप्राय है, जिन्हें आगे चलकर इस नाम से अभिहित किया गया; देखिए इं० स्टू० १३। ३०६, ३०७; ऊपर पृ० १७४ की टिप्पणी २ देखिए।

[2]इस प्रकार मेगास्थनीज को सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त की सभा में भेजा था (२९१ ई० पू०); डीमेक्स को एण्टीओक्स ने, और डिआनिसिअस तथा संभवतः बासिलिस को भी टोलेमी द्वितीय ने 'अमितरोकाटीज' अमित्रघात के पास भेजा था जो चन्द्रगुप्त का पुत्र था [एण्टिओकस ने 'सुफगारिनस' सुभगसेन (?) के साथ संबन्ध स्थापित किया। सिल्यूकस ने अपनी पुत्री का चन्द्रगुप्त से विवाह कर दिया। लास्सेन इं० अल्ट० २।२०८; टेल्बायस ह्वीलर, 'हिस्ट्री आफ इण्डिया' (१८७४) पृ० १७७, इस यूनानी राजकुमारी के साथ पाटलिपुत्र में यूनानी युवतियाँ भी उसकी दासी के रूप में आईं, और इन पर भारतीयों की विशेषतः राजाओं की दृष्टि विशेष रूप से रही होगी। कारण, न केवल 'पार्थेनोइ इउडाइज प्रोज पल्लकिअन' का भारत में आने वाली व्यापारिक वस्तु के रूप में उल्लेख किया गया है अपितु भारतीय शिलालेखों में भी हम यवन युवतियों का उपहार के रूप में वर्णन पाते हैं। भारतीय साहित्य में और विशेषतः कालिदास की रचनाओं में यह बताया गया है कि भारतीय राजाओं की सेवा यवन युवतियाँ किया करती थीं; लास्सेन इं० अल्ट० २।५५१, ९५७, ११५९, और 'मालविका' की मेरी भूमिका, पृ० ४७; इन युवतियों का व्यापार केवल कामतुष्टि के लिये होता था और यह दूर की उड़ान नहीं कही जा सकती कि इनके प्रभाव के कारण ही हिन्दुओं के प्रेम देवता की पताका पर यूनानी देवता 'इरोज' के समान ही 'मकर' की आकृति होना माना जाता है और उसी के समान उसे सुन्दरता की देवी का पुत्र कहा जाता है; देखिए त्सा० डा० मो० गे० १४।२६९ मकर=dolphin मत्स्य के लिए जर्न० बम्बे० ब्रां० रा० ए सों० ५।३३, ३४ इं० स्ट्रा० २।१६९ देखिए; तथा इं० स्टू० ९।३८० से तुलना कीजिए।

(तुलना, पृ० १६५) को आडम्बर के साथ राजा का करद बताया गया है जो निःसन्देह अतिशयोक्ति मात्र है। इन दूतसंबन्धों के परिणामस्वरूप अलेक्जेण्ड्रिया और भारत के पश्चिमी भागों से व्यापारिक संबन्ध में विशेष रूप से तेजी आई; और परिणामतः उज्जयिनी 'ओज्जीनी' (ग्री०) नगर समृद्धि के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। फिलोस्ट्रेटस ने त्याना (Tyana) के अपोलोनिअस के जीवनचरित में—जो दूसरी शताब्दी ई० में रचित और मुख्यतः अपोलोनिअस के शिष्य दमिस के, जिसने अपोलोनिअस के साथ ५० ई० में भारत में भ्रमण किया था, वर्णनों पर आधारित है, यह उल्लेख किया है कि हिन्दू यूनानी साहित्य का बहुत सम्मान करते थे और उच्चवर्ग के प्रायः सभी व्यक्ति इसका अध्ययन करते थे (राइनाऊ मेम० सुर ला० इण्डे, पृ० ८५, ८७)। यह सच है कि उपर्युक्त कथन पर्याप्त प्रामाणिक नहीं है [तुलना लासेन, इं० अल्ट० ३।३५८ आदि] यह कथन एक अत्युक्ति हो सकता है; किन्तु फिर भी वह आगे दिये जाने वाले तथ्यों से मेल खाता है, जिन तथ्यों की व्याख्या तभी हो सकती है जब हम इन दोनों देशों में अत्यन्त जीवन्त बौद्धिक विनियम को स्वीकार कर लें। कारण, भारतीय दैवज्ञ नियमतः यवनों को अपना गुरु बताते हैं; किन्तु यह बात पराशर के विषय में भी, जो प्राचीनतम भारतीय दैवज्ञ के रूप में विख्यात है, लागू होती है या नहीं यह अब भी अनिश्चित है। यदि उद्धरणों के आधार पर कहा जाय तो वे चान्द्र नक्षत्रों द्वारा ही अपनी गणना करते हैं और इस कारण वे स्वतन्त्र धरातल पर स्थित प्रतीत होते हैं। किन्तु गर्ग[1] के नाम से, जो दूसरे प्राचीनतम दैवज्ञ के रूप में ख्यात है, एक बहुशः उद्धृत श्लोक उपलब्ध होता है जिसमें उन्होंने यवनों की उनके ज्योतिष के ज्ञान के लिए प्रशंसा की है। महाकाव्यीय परम्परा प्राचीनतम दैवज्ञ असुर मय को बताती है, और उसके अनुसार असुर मय को स्वयं सूर्य देवता ने नक्षत्रों का ज्ञान प्रदान किया।

---

[1]पराशर और गर्ग का नाम वैदिक साहित्य के अन्तिम काल आरण्यकों एवं सूत्रों के काल में पाया जाता है। इसके पहले की रचनाओं में इनमें से कोई नाम नहीं मिलता। शतपथ-ब्राह्मण के वंशों में बाद के सदस्यों के अन्तर्गत पराशरों की शाखा का अनेक बार उल्लेख किया गया है। अनुक्रमणी में ऋक् के अनेक सूक्तों के ऋषि के रूप में गर्ग और पराशर का भी नाम आया है। और पाणिनि में एक पराशर को भिक्षुसूत्र का रचयिता बताया गया है; देखिए पृ० १२९, १७१ ['महाभाष्य' के समय में गर्गों ने किसी भी स्थिति में रचयिता के समय में महत्वपूर्ण कार्य किया होगा; क्योंकि प्रत्येक स्थान पर जहाँ पितृनाम या अन्य समान गोत्रसूचक नाम आया है, उनका नाम उदाहरण के रूप में दिया गया है, देखिए, इं० स्टू० १३।४१० आदि। अथर्वपरिशिष्ट में भी गर्ग, गार्ग्य, वृद्धगर्ग का उल्लेख किया गया है; वृद्धगर्ग उपर्युक्त ज्योतिषी गर्ग से घनिष्ठ संबन्ध रखते हैं; वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' के संस्करण में केर्न का प्राक्कथन देखिए; पृ० ३१ आदि; इं० स्ट्रा० २।२४७]

मैंने पहले ही एक दूसरे स्थल पर (इं० स्टू० २।२४३) यह संभावना व्यक्त की है कि ये 'असुर मय' यूनानियों के टोलेमाइओस से अभिन्न हैं; कारण, जैसा कि हम पिर्दास के शिलालेखों में देखते हैं, यह 'टोलेमाइओस' नाम भारत में 'तुरमय' हो गया जिसमें 'असुर-मय' नाम बड़ी सरलता से निकल पड़ा होगा; तथा परवर्ती काल की परम्परा में (उदाहरण के लिये ज्ञान भास्कर की उक्ति में) इस मय का निवास स्थान पश्चिम में रोमकपुर बताया गया है।[1] अन्ततः, जिन पाँच सिद्धान्तों को प्राचीनतम ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ बताया गया है—उनमें एक रोमक सिद्धान्त भी है जो नाम से ही ग्रीक उत्पत्ति का है; जबकि दूसरे 'पौलिश-सिद्धान्त' को अल्बीरूनी[2] ने स्पष्टतः पौलुस् अल् यूनानी बताया है और इस कारण इसे पौलुस् अलेक्जेण्ड्रिनस् के 'आइसगोगी' (ग्री०) का अनुवाद माना जा सकता है।[3] जिन दैवज्ञों और ज्योतिष की रचनाओं का अभी उदाहरण दिया गया है—

---

[1]मेरा 'केटलाग आफ द संस्कृत मैन्यु० इन द बर्लिन लाय'० पृ० २८८ देखिए। रोमक नाम के सम्बन्ध में मैं कुछ शब्द कह सकता हूँ। महाभारत १२।१०३०८ में रौम्यों को दक्ष के यज्ञध्वंस के समय वीरभद्र के रोमकूपों से उत्पन्न बताया गया है। रामायण १।५५।३ में उनका नाम अज्ञात होगा, क्योंकि ऐसे ही अवसर पर रोमकूपों से दूसरी जातियों के उत्पन्न होने का उल्लेख किया गया है। यदि लेखक इस नाम से परिचित होता तो महाभारत में पाये जाने वाले प्रयोग के समान वर्णन करने में नहीं चूकता [तुलना, रामायण पर मेरा निबन्ध, पृ० २३]।

[2]अल्बीरूनी बहुत दिनों तक घसन के महमूद के साथ रहा और संस्कृत और भारतीय साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था, जिसका उसने उत्तम विवरण दिया है। उसने अपने लेख १०३१ ई० में लिखे थे। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ से उद्धरण राइनाऊ ने 'जर्न० एसिआट' १८४४ और मेम सुर ले इण्डे १८४९ में दिये हैं [वोपके, वही १८६३]; इसके मूल का प्रकाशन करने की घोषणा १८४३ में ही की गई थी, किन्तु इतनी प्रतीक्षा के बाद भी दुर्भाग्यवश वह प्रकाशित न हो सका। [इस समय वियना के सचाऊ इसका संपादन करने में लगे हैं और उनके परिश्रम से हम इस अभाव की पूर्ति की आशा कर सकते हैं]।

[3]पुलिश-सिद्धान्त का 'एइसागोगी' (ग्री०) के साथ सीधा संबन्ध कठिनाई से स्थापित होता है। कारण, पुलिश से लिये गये उद्धरणों का इसके साथ साम्य नहीं है और यह नक्षत्रशास्त्र की अपेक्षा दैवशास्त्र के स्वरूप का है।

'एइसागोगी' (ग्री०) का ज्ञान किसी न किसी रूप में हिन्दुओं को था इसका समर्थन इस तथ्य द्वारा होता है कि केवल इसी में प्रायः वे सभी पारिभाषिक शब्द आते हैं जिसे भारतीय ज्योतिष ने यूनानियों से ग्रहण किया है। वराहमिहिर की 'बृहत्-संहिता' के केर्न के संस्करण का प्राक्कथन, पृ० ४९ देखिए। एच० याकोबी द्वारा 'डे एस्ट्रोलोगीआ

गर्ग, मय, रोमक-सिद्धान्त और पौलिस-सिद्धान्त, उनका ज्ञान वस्तुतः हमें केवल उद्धरणों द्वारा ही मिलता है और यह भी सन्देहास्पद है कि इसके विषय में यूनानी प्रभाव की स्थिति वस्तुतः मानी जा सकती है या नहीं; यद्यपि उदाहरण के लिए यह कथन कि आर्यभट[1] के विपरीत पुलिश दिन की गणना मध्यरात्रि से आरम्भ करते थे, स्वयं ही उनकी पश्चिमी उत्पत्ति का प्रमाण है। किन्तु जब हम वराहमिहिर की रचनाओं में बड़ी संख्या में ग्रीक शब्दों का प्रयोग देखते हैं तो सभी सन्देह दूर हो जाते हैं। वराहमहिर को अल्बीरूनी के समय के और वर्तमान काल में भी[2] भारतीय ज्योतिषियों ने ५०४ ई० का माना है। इन ग्रीक शब्दों का प्रयोग उन्होंने इस प्रकार किया है कि उनके बहुत पहले से व्यवहृत होते रहने का स्पष्ट संकेत मिलता है। यही नहीं उनकी एक रचना—होराशास्त्र—का नाम भी यूनानी है 'होरी' (ग्री०), और इसमें उसने न केवल राशियों और ग्रहों के[3] यूनानी नामों की सूची दी है उन्होंने अनेक यूनानी नामों—यथा आर, आस्फुजित्, और कोण—का भारतीय नामों के साथ-साथ उल्लेख समान रूप से अनेक बार किया हैं। इसके विपरीत, राशियों के उन्होंने संस्कृत नाम दिये हैं जो ग्रीक से अनूदित हैं। निम्नलिखित पारिभा-

---

इण्डिया होरा अप्पेलेटेई ओरिजिनिबस' (बोन १८७२) में प्रस्तुत किया गया तर्क इस दृष्टि से बड़ा रोचक दिखाई पड़ता है कि बारह राशियों का विधान सर्वप्रथम फिर्मिकस मेटेर्नस (३३६-३५४ ई०) में आता है, और इस कारण भारतीय होराशास्त्र जिसमें ये महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करते हैं, बहुत बाद के समय में ही रचे गये होंगे।

[1]यही उनके नाम का उचित रूप है, आर्यभट्ट नहीं, जैसा कि उन्हीं की रचना के छन्द से पता चलता है (गणित-पाद, ५।१) इसकी ओर भानुवाजी ने ज रा ए सो १।३९२ (१८६४) में निर्देश किया है।

[2]कोलब्रूक २।४६१ (४१५ सं० कावेल)।

[3]वे निम्नलिखित हैं: क्रिय 'क्रिओस्', तावुरी 'तावुरोस', जितुम 'डिडुमोस्' कुलिर 'कोलोवरोस्' (?) लेय 'लेउन', पाथोन 'पार्थेनास्' जूक 'जूगोन्' कौर्प्य 'स्कोर्पिओस' तौक्षिक 'तोकोतीस्' आकोकेर, 'अइयोकेरोस्' हृद्रोग 'ऊद्रोकोओस्' इत्थ 'इक्थूज' ; इसके अतिरिक्त 'हेलि-'हेलिओस' हिम्न 'ईर्मिस्', आर 'आरीस्', कोण, 'क्रोनोस्' ज्याउ 'जिऊस' आस्फजित् 'आफ्रोडीटी'। इन नामों का सर्वप्रथम परिचय १८२७ में सी० एम० व्हिश ने 'ट्रांसैक्शन्स आफ द लिटरेरी सोसाइटी आफ मद्रास' के प्रथम भाग में दिया है और उस समय के बाद उसका अनेक बार प्रकाशन हुआ है। विशेषतः देखिए लास्सेन, त्साइटश्श, फ० उ० कुण्डे डेस मोर्ग, ४।३०६, ३१८ (१८४२)। हाल ही में मेरे संस्कृत मैन्यु० इन द बर्लिन लाय० पृ० २३८ में भी प्रकाशित है। 'होरा' और 'केन्द्र' को बहुत पहले ही पीरे पोंस ने 'ऊर्न' के और 'केन्ट्रोन्' से अभिन्न बताया है: देखिए लेट्रेस इडिफ० २६। २३६, २३७, पेरिस, १७४३।

षिक शब्द भी उनमें निरन्तर प्रयुक्त हैं, जो सभी समान अर्थ में पाउलस अलेक्जेण्ड्रिनस् के 'आइसगोगी' में मिलते हैं। वे हैं[1]:—दृकाण=डेकानोस, लिप्ता=लेप्टी; अनफा=एनफी सुनफा=सुनफी, दुरुधरा=दोरुफोरिआ, केमद्रुम ('क्रेमद्रुम' के लिये)=क्रीमतिस्यूज़[2] वेशि=फासिस, केन्द्र=केण्ट्रोन, आपोक्लिम=आपोतिलमा; पनफराभे=एपनफोरा, त्रिकोण=त्रिगोनोज, हिबुक=हूपोगिओन, जामित्र=डिआमेट्रेन, द्युतम्=दूतोन, मेषूरण=मेसारानिमा।

यद्यपि इनमें से अधिकांश नाम नाक्षत्रिक संबन्धों को व्यक्त करते हैं, फिर भी आकाश की राशियों या लग्नों में 'डेकानि' और अंशों में विभाजन के रूप में उनमें वे सभी ज्ञान आ जाते हैं जिनका हिन्दुओं में अभाव था और यह उन्हें ज्योतिष का वैज्ञानिक ढर्रे पर अनुशीलन करने में समर्थ बनाने के लिये आवश्यक था। इसलिए हम देखते हैं कि उन्होंने इन यूनानी ज्ञानों का सदुपयोग किया; प्रथमतः उनके चान्द्र नक्षत्रों के क्रम को संशोधित किया, जो अब यथार्थ से संगत नहीं रह गया था; इस प्रकार प्राचीन नक्षत्रसूची में जो दो नक्षत्र सबसे अन्त में आते थे वे नई सूची में सबसे प्रथम स्थान पर आ गये और ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं ने कुछ दिशाओं में स्वतन्त्र रूप में नक्षत्र विद्या को यूनानियों से और आगे विकसित किया। उनकी ख्याति पश्चिम की ओर फैली और अण्डुबेरिअस (या संभवतः अर्दुबेरिअस) जिसे 'क्रोनिकेल पश्शले'[3] ने प्राचीनकाल का सर्वप्रथम नक्षत्र-विद्याविद् बताया है, निःसन्देह आर्यभट्ट के अतिरिक्त कोई और नहीं, जो पुलिश के प्रतिद्वन्द्वी थे और जिनकी प्रशंसा अरबवासियों ने भी 'अर्जबहर' नाम से की है। कारण, आठवीं और नवीं शताब्दियों में नक्षत्रविद्या में अरबवासी हिन्दुओं के शिष्य थे जिनसे उन्होंने चान्द्र नक्षत्रमण्डल को नये क्रम में ग्रहण किया। हिन्दुओं के सिद्धान्तों ('सिन्धेन्द') पर भी अरबवासियों ने प्रायः कार्य किया है और उनका अनुवाद किया है—यह कार्य अंशतः उन्होंने स्वयं भारतीय नक्षत्रविद्याविशारदों के निर्देशन में किया जिन्हें बगदाद के खलीफाओं ने अपने दरबार में आमन्त्रित किया था। विशेषतः बीजगणित और अंकगणित के संबन्धों में भी यही बात हुई; इन क्षेत्रों में ही यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं ने स्वतन्त्र रूप[4] से उच्च

---

[1]देखिए, इं० स्टू० ७।२५४।

[2]अपितु 'केनोड्रोमोस्' याकोबी के अनुसार। इस सूची में हरिज=ओर्जन (ग्री०) शब्द भी आता है; केर्न, वही, पृ० २९।

[3]'क्रोनिकोन पश्शले' नामतः कन्स्टैण्टिअस् (३३०) के समय से आरम्भ होता है; हेराक्लीज (६१०-६४१) के समय में इसका पुनः संस्करण हुआ; अण्डुबेरिअस नाम भी उसी समय प्रचलित हुआ था।

[4]किन्तु कोलब्रूक के प्रसिद्ध निबन्ध 'आन द अल्जेबरा आफ द हिन्दूज़' से तुलना कीजिए, (१८१७) मिस० एसे० २।४४६ (कावेल सं० ४०१)। वोपके (मेम० सुर ला

कोटि का ज्ञान प्राप्त किया था।[1] अंकों के प्रतीकों[2] का अनोखा आविष्कार भी उन्हीं लोगों का किया है; इनका ज्ञान भी हिन्दुओं से अरब देशवासियों को प्राप्त हुआ और अरब

प्रोपेगेशन डेस शिफ्रेस इण्डिएन्स' पेरिस १८६३, पृ० ७५-९१) का विचार है कि 'ललित-विस्तर' में बुद्ध की विवाहकालीन परीक्षा के समय उनके द्वारा एक योजन में अणुओं की संख्या के विषय में हल किया गया प्रश्न आर्किमीडीज के 'अरेनेरिअस' का आधार है (२८७-२१२ ई० पू०)। किन्तु 'ललितविस्तर' का समय कथमपि इतना निश्चित नहीं है कि इसके विपरीत बात भी संभव न मानी जा सके; देखिए इं० स्टू० ८।३२५, ३२६; राइनाऊँ मेम० सुर० ले० इण्डे० पृ० ३०३।

[1]इनका सबसे प्राचीन चिह्न छन्दःशास्त्र पर पिंगल के ग्रंथों में मिलता है, जिसके अन्तिम अध्याय में (जो संभवतः बाद के समय में जोड़ा गया है) निश्चित अक्षरों वाले छन्द के गुरु और लघु का निर्देश गूढ़ रूप में किया गया है; देखिए इं० स्टू० ८।४२५ आदि ३२४-३२६। रेखागणित पर श्रौतयज्ञविधि से संबद्ध शुल्व सूत्रों में उल्लेखनीय ज्ञान भरा हुआ है; देखिए लन्दन इण्टर नेशनल कांग्रेस आफ ओरिएण्टलिस्टस् के आर्य-खण्ड पर थिबाउत का व्याख्यान-ट्रूब्नेरसकी अमेरिकन एण्ड ओरियण्टल लिटरेरी रेकार्ड का विशेष अंक १८७४, पृ० २७२८, जिसके अनुसार इन सूत्रों में वृत्त को चतुर्भुज रूप देने का भी प्रयत्न किया गया है।

[2]१-९ तक के भारतीय अंक स्वयं संख्याओं के आरम्भिक वर्णों के संक्षिप्त रूप हैं। [तुलना—संगीत के स्वरों को समान अभिधान] भी शून्य के प्रथम अक्षर से बना है। यह पिंगल में भी आता है। इन अंकों का दशमलव स्थान मान ही इन्हें विशेष महत्त्व प्रदान करता है, वोप्के ने अपने उपर्युल्लिखित 'मेम० सुर० ला० प्रोपे० डेस सिफ्रेस् इण्डिएन्स' (जर्न० एसिआट० १८६३) में यह विचार व्यक्त किया है कि अरबों द्वारा इनका प्रयोग किये जाने के पूर्व भारतीयों से अलेक्जेण्ड्रिया के निओ-पाइथागोरियन लोगों ने प्राप्त किया था और तथाकथित गोबर अंक भारतीय अंकों से उत्पन्न हैं। किन्तु इसके विरुद्ध यह उल्लेखनीय है कि ये अंक भारतीय संख्याभिधान की अन्तिम अवस्था के हैं और इनके पहले इनके अनेक रूप थे। उसी वर्ष १८६३ के जर्न० एसिआट० में एडवर्ड टामस के अनुसार, इन अंकों के प्रयोग का प्राचीनतम उदाहरण सातवीं शताब्दी के मध्य का है; जबकि प्राचीन अंकचिह्नों का प्रयोग चौथी शताब्दी के बाद से देखा जा सकता है। देखिए इं० स्टू० ८।१६५, २५६, वलभी अभिलेखों की लिपि वह लिपि है जिसके अक्षर अंकों के रूप के समान अधिक दिखाई पड़ते हैं। हाल ही में बर्नेल ने अपने एलि० सा० इण्ड० पेलियो० पृ० ४६ अंकों का संख्याओं के प्रथम अक्षर के साथ संबन्ध पर सन्देह व्यक्त किया है; वे उन्हें किंवा प्राचीन 'गुफाओं की संख्याओं' को जिनसे वे उनकी उत्पत्ति मानते हैं; "यूनानी नक्षत्रशास्त्र के साथ" अलेक्जेण्ड्रिया से आई हुई मानते हैं। इस विषय पर

के लोगों से योरोपीय विद्वानों ने इस ज्ञान को ग्रहण किया।[1] इन योरोपीय विद्वानों ने, जो अरब के विद्वानों के शिष्य थे, भारतीयों का प्रायः उल्लेख किया है और सर्वत्र उनके प्रति उच्चकोटि का सम्मान दिखाया है। एक संस्कृत शब्द 'उच्च' जो ग्रहमण्डल की परिधि का अर्थ रखता है, अरब के नाक्षत्रिकों की रचनाओं के लैटिन अनुवाद में भी मिलता है ('आउकस' संबन्ध में 'आउगिस') यद्यपि उसका रूप सरलता से पहचान में नहीं आता[2] (देखिए राइनाऊँ, पृ० ३२५)।

जहाँ तक अनेक भारतीय नाक्षत्रिकों के, जिनकी रचनाएँ या रचनाओं के अंश अब भी मिलते हैं, समय और पौर्वापर्य का प्रश्न है, यहाँ भी वह अनिश्चितता हमारा पीछा नहीं छोड़ती जो समूचे भारतीय साहित्य में सभी प्रकार के प्रश्नों के साथ लगी हुई है। इनमें मूर्धन्य आर्यभट हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। दुर्भाग्यवश, इनकी रचना के इस समय कुछ ही अंश उपलब्ध हैं, यद्यपि कालान्तर में अधिक विस्तृत अंश भी संभवतः प्रक.श में आ सकें।[3] वे पुलिश के समकालीन प्रतीत होते हैं और किसी भी दशा में उन पर

मैं उनसे सहमत नहीं हो सकता; टीनाएर लिट त्स० १८७५, सं० २४, पृ० २१९ पर मेरी टिप्पणी देखिए। अन्य बातों के साथ मैंने इसमें इस तथ्य की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है कि हेरमन्न हांकेल ने अपनी उत्कृष्ट रचना (दुर्भाग्यवश मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित) त्सुर गेशिश्ट डेर मथेमाटिक (१८७४) पृ० ३२९ में वोप्के के इस मत को ग़लत ठहराया है कि 'निओ-पैथागोरिअन' विद्वान् स्थानमान वाले नये अंकों एवं शून्य से परिचित थे; तथा उन्होंने बोएथिअस के सम्पूर्ण अंश को, जिस पर यह मत आधृत है, दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी का क्षेपक माना है।

[1]'वोप्के का सुर ले' 'इण्ट्रोडक्शन डि ले' अरिथमेटिक इण्डिएन्ने एन् ओक्सिडेण्ट' (रोम १८५९) भी देखिए।

[2]राइनाऊ के बुद्धिमत्तापूर्ण अनुमान (पृ० ३७३ आदि) के अनुसार स्वयं उज्जयिनी का नाम—एक गलत पाठ के कारण जिससे कि अरबी के 'उज्जइन' को 'अरिन्' अरिम् पद लिया गया और जिससे 'मेरेडिअन आफ़ उज्जयिनी' 'कपोले डि एरिन्' हो गया।

[3]जर्न० अमे० ओ० सो० ६।५६० और आगे (१८६०) में ह्विटनी के तथा ज रा ए सो १।३९२ आदि (१८६५) में भाउदाजी के अनुसंधानों से इस विषय पर पूरा प्रकाश पड़ा है। इनसे यह प्रतीत होता है कि आर्यभट्ट की 'दशगीति-सूत्र' तथा 'आर्याष्ट शत्' अब भी विद्यमान है, जिनमें से दोनों का संपादन केर्न (१८७४) ने आर्यभटीय नाम से परमादीश्वर के भाष्य के साथ किया है; तुलना, ए० बार्थ० रिवू क्रिटिके १८७५, पृ० २४१-२५३; स्वयं आर्यभट्ट के विवरणों के अनुसार, उनका जन्म ४७६ ई० में हुआ था। वे पूर्वीय भारत में कुसुमपुर (पलिबोध) में रहते थे और उन्होंने इस ग्रंथ की रचना तेईस वर्ष की अल्पायु में की थी। इसमें उन्होंने अन्य बातों के साथ, वर्णों द्वारा अंकों को व्यक्त

यूनानी प्रभाव पड़ा था; कारण वे राशियों से अपनी गणना प्रारम्भ करते हैं। अल्बी-रूनी के अनुसार, ये कुसुमपुर अर्थात् पाटलिपुत्र के निवासी थे और इस कारण भारत के पूर्व के थे। उनके साथ निम्नलिखित पाँच सिद्धान्तों के रचयिताओं को भी प्राचीन ज्योतिर्विद् माना गया है; वे हैं; 'ब्रह्मसिद्धान्त' या 'पैतामह सिद्धान्त' के अज्ञातनामा लेखक;[१] 'सौर-सिद्धान्त' का रचयिता, जिसे अल्बीरूनी ने लात कहा है और जो ज्योतिष वेदांग के रचयिता के रूप में उल्लिखित लगत, लगध से तथा ब्रह्मगुप्त[२] द्वारा समय-समय पर उद्धृत लाद से अभिन्न हैं; 'पौलिश-सिद्धान्त' के रचयिता पुलिश, तथा अन्त में श्रीषेण तथा विष्णुचन्द्र जिन्हें क्रमशः 'रोमक सिद्धान्त'[३] और 'वसिष्ठ सिद्धान्त' का रचयिता माना गया है; ये दोनों रचनाएँ आर्यभट्ट के सिद्धान्त पर आधृत बताई जाती हैं। इन पाँच सिद्धान्तों में एक भी सिद्धान्त सुरक्षित नहीं प्रतीत होता। यह सत्य है कि 'ब्रह्म-सिद्धान्त' 'वसिष्ठ-सिद्धान्त' 'सूर्यसिद्धान्त' और 'रोमक-सिद्धान्त' नाम की रचनाएँ मिलती हैं, किन्तु ये स नाम वाली प्राचीन रचनाएँ नहीं हैं, यह इस तथ्य से प्रकट है कि प्राचीन रचना के जो उद्धरण भाष्यकारों ने सुरक्षित रखे हैं, वे इनमें नहीं उपलब्ध होते।[४] वस्तुतः तीन

करने की अनोखी पद्धति प्रस्तुत की है। 'आर्यसिद्धान्त' नाम से अठारह अध्यायों में विद्यमान अधिक बड़ा ग्रन्थ स्पष्टतः बाद के समय की रचना है। देखिए ज० अमे० ओ० सो ६।५५६ (१८६०) में हाल तथा आउफ्रेष्ट केटेलोगस पृ० ३२५, ३२६; बेण्टली का विचार है कि इसकी रचना १३२२ ई० तक नहीं हुई थी और भाऊ दाजी, वही, पृ० ३९३, ३९४ का विचार है कि बेण्टली का "यह विचार सही है"—विल्सन, मैक० काल० १। ११९ तथा लास्सेन, इं० अल्ट० २।११३६ ने भी सूर्यसिद्धान्त पर आर्यभट के एक भाष्य का उल्लेख किया है। निःसन्देह यह लघु आर्यभट्ट का है (भाउदाजी, पृ० ४०५); देखिए केर्न; बृह० सं० प्राक्कथन, पृ० ५९ आदि।

[१]अल्बीरूनी ने ब्रह्मगुप्त को 'ब्रह्मसिद्धान्त' का रचयिता बताया है; किन्तु यह गलत है। कदाचित् राइनाऊ ने इस अंश का अर्थ गलत लगाया है (पृ० ३३२)।

[२]लाढ लगध से बना होगा [केर्न, बृह० सं० के प्राक्कथन पृ० ५३ में 'लाट शब्द 'लरिकी' (ग्री०) की ओर संकेत करता है]।

[३]भाउदाजी, वही, पृ० ४०८ के अनुसार लाट, वसिष्ठ, और विजयनन्दिनी पर भी। भाउदाजी के विचार में, 'रोमक सिद्धान्त' शके ४२७ (५०५ ई०) का है और इसकी "रचना किसी रोमवासी या यूनानी लेखक की रचना के आधार पर की गई थी।" भट्टोत्पल ने भी एक यवनेश्वर स्फुजिध्वज (या आस्फ०) का उल्लेख किया है, इस नाम में भाउ दाजी स्पेउसिप्पस नाम की झाँकी देखते हैं और केर्न (बृह० सं० का प्राक्कथन, पृ० ४८) एफ्रोडिन्सिअस की।

[४]इस विषय पर देखिए केर्न, बृह० सं० प्राक्कथन, केर्न, ४३-५० इस समय तक

विभिन्न 'वसिष्ठ-सिद्धान्त' और इसी प्रकार तीन विभिन्न—ब्रह्म सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। इन दोनों में से एक में जो स्पष्टत: एक प्राचीन रचना का पुनर्व्यवस्थित रूप है[1] ब्रह्मगुप्त को रचयिता बताया गया है, जिनका समय अल्बीरूनी[2] के अनुसार ६६४ ई० है, यह तिथि उज्जयिनी के आधुनिक ज्योतिर्विदों ने जो उनका समय ६२८ ई०[3] बताया है उससे बहुत साम्य रखती है। अल्बीरूनी के अनुसार ब्रह्मगुप्त की ही एक और रचना है 'अहर्गण' जिसको अरबवासियों ने 'अर्कन्द' रूप में विकृत कर दिया है। यह 'अर्कन्द' 'सिन्धेन्द' (अर्थात् पाँच सिद्धान्त) और अर्जबहर् (आर्यभट्ट) का सिद्धान्त; इन्हीं रचनाओं का आठवीं और नवीं शताब्दियों में अरब के विद्वान् अध्ययन करते थे और इन्हीं का आंशिक अनुवाद भी उन लोगों ने किया है। इसके विपरीत, अरबवासी वराहमिहिर का उल्लेख नहीं करते; यद्यपि वे ब्रह्मगुप्त से पहले हुए थे, कारण, ब्रह्मगुप्त ने उनका बारबार उल्लेख किया है और उन्होंने इन पाँचों सिद्धान्तों के विवेचन का संकलन एक ग्रन्थ के रूप में किया था, जिसे भाष्यकारों ने 'पंचसिद्धान्तिका' नाम दिया है किन्तु स्वयं उन्होंने 'करण' कहा है। यह

केवल 'सूर्यसिद्धान्त' का प्रकाशन रंगनाथ के भाष्य के साथ बिब्लि० इं० (१८५४-५९) में हुआ है; इसका संपादन फिटजेडवर्ड हाल और बापूदेव शास्त्री ने किया है। इसका अनुवाद भी बापूदेव शास्त्री ने भी किया है; वही (१८६०, १८६१)। इसके साथ ही साथ जर्न० अमे० ओरि० सो० भाग ६ में एक अनुवाद एड० बर्गेस के नाम से निकला है और इस पर डब्ल्यू० डी० व्हिटनी ने व्याख्या लिखी है। हाल ही में व्हिटनी ने (देखिए ओरिअण्टल एण्ड लिंग्विस्टिक स्टडीज़, २।३६०), "इस प्रकाशन का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लिया है।" उनके विचार से, पृ० ३२६ सूर्यसिद्धान्त "हिन्दुओं के आधुनिक नक्षत्र-शास्त्र को प्रस्तुत करने वाला एक अत्यन्त प्राचीन और मौलिक ग्रन्थ है" किन्तु यह विद्यमान पाठ कहाँ तक "विषय और विस्तार की दृष्टि से मौलिक सूर्यसिद्धान्त से साम्य रखता है" यह सम्प्रति सन्देहास्पद है; तु० की० केर्न, वही, पृ० ४४-४६।

[1]अल्बीरूनी ने इस रूपान्तर के वर्ण्यविषय का एक विवेचन दिया है; इस सिद्धान्त और पौलिश-सिद्धान्त को ही वह प्राप्त कर सका था।

[2]यह दूसरी तिथि 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' २४-७-८ में उन्हीं की उक्ति पर आधारित है, जिसकी रचना उन्होंने शकनृपाल (-पान्त?) के ५५० वर्ष बाद तीस वर्ष की अवस्था में की थी। यहाँ उन्होंने स्वयं को जिष्णु का पुत्र बताया है और वे श्री चाप वंश के श्री व्याघ्रमुख के आश्रय में थे; भाउदाजी, वही, पृ० ४१०। उनके भाष्यकार पृथूदकस्वामिन ने उन्हें भिल्ल मालवकाचार्य बताया है; देखिए त्सा० डा० मो० गे० २५।६५९; इं० स्टू० १३।३१६, अध्याय १२ (गणित) और २८ (कुट्टक-बीजगणित) का अनुवाद कोलब्रूक ने किया है (१८१७)

[3]राइनाऊ—मेम० सुर् ले० इण्डे, पृ० ३२२।

ग्रन्थ नष्ट हो गया है[1] और केवल वराहमिहिर की ज्योतिष-संबन्धी रचनाएँ, जैसे संहिता[2] और होराशास्त्र ही हमें उपलब्ध है। 'होराशास्त्र' अपूर्ण है और केवल इसका एक-तिहाई भाग ही मिलता है।[3] उन्होंने अनेक पूर्ववर्ती ज्योतिर्विदों के नाम गिनाये हैं, जिनके नाम अंशतः हमें उन्हीं से ज्ञात हुए हैं; उदाहरण के लिये मय, यवन (प्रायशः), पराशर, मनित्थ[4] शक्तिपूर्व, विष्णुगुप्त,[5] देवस्वामिन्, सिद्धसेन, वज्र, जीवशर्मन्, सत्य[6] इत्यादि। आर्यभट्ट

---

[1]"कल मैंने 'पंचसिद्धान्तिका' की दूसरी पाण्डुलिपि के विषय में सुना है" ब्यूह्लेर का १ ली अप्रैल १८७५ का पत्र। इं० एण्टि० ४।३१६ में 'पंचसिद्धान्तिका' पर ब्यूह्लेर का विशेष विवेचन।

[2]दो संस्करणों में, 'बृहत्-संहिता' और 'समाससंहिता' नाम से। इसमें पहले से अल्बीरूनी ने कुछ उद्धरण दिये हैं; मेरा केट० आफ द सं० मैन्यु० इन द बेर्लिन लाय० पृ० २३८-२५४ देखिए। [बृहत्-संहिता के एक उत्तम संस्करण (बिब्लि० इं० १८६४-६५) के लिए हम केर्न के ऋणी हैं, जो इसका एक अनुवाद भी (अब तक १-८४ अध्याय) ज रा ए सो ४-६ में प्रकाशित कर रहे हैं (१८७०-७४) इस पर भट्टोत्पल का एक सुन्दर भाष्य भी है जो शके ८८८ (९६६ ई०) का है; इसमें वराहमिहिर के पूर्ववर्ती लेखकों की रचनाओं से प्रचुर मात्रा में समान अंश उद्धृत किये गये हैं। 'बृहज्जातक' २६।५ में वराहमिहिर ने अपने को आदित्यदास का पुत्र तथा आवन्तिक या अवन्ति अर्थात् उज्जयिनी का निवासी बताया है।

[3]केवल जातक अंश (जो देशों से संबद्ध हैं); इसके दो रूप पाये जाते हैं 'लघुजातक' और 'बृहज्जातक' : लघुजातक का अनुवाद अल्बीरूनी ने अरबी में किया है। [प्रथम दो अध्यायों को अनुवाद के साथ मैंने इं० स्टू० २।२७७ में प्रकाशित किया है; शेष भाग का संपादन याकोबी ने अपने उपाधि के लिये लिखे गये प्रबन्ध के रूप में किया है (१८७२) १८६७ में भट्टोत्पत्त के भाष्य के साथ इसका प्रकाशन बम्बई में १८६७ में हुआ है; इसी प्रकार 'बृहज्जातक' का प्रकाशन बनारस और बम्बई से हुआ है; केर्न का प्राक्कथन, पृ० २६ 'यात्रा' के प्रथम तीन आध्यायों के मूल का अनुवाद के साथ प्रकाशन इं० स्टू० १०।१६९ में हुआ है। 'होराशास्त्र' का तीसरा भाग 'विवाह पटल' का सम्पादन अब भी नहीं हुआ।]

[4]इस नाम का मैं अपोटेलेस्मत के रचयिता मनेथो (Manetho) के नाम में पाते हैं; और इस संबन्ध में केर्न भी मुझसे सहमत है (बृह० सं० का प्राक्कथन, पृ० ५२)।

[5]यह भी चाणक्य का एक नाम है; दशकु० १८३।५, संपादक, विल्सन [बृहत्-संहिता में उद्धृत आचार्यों के नामों की पूर्ण सूची और विवेचन के लिये, जिनमें बादरायण और कर्णभुज् भी आते हैं, देखिए केर्न का प्राक्कथन, पृ० २९]

[6]केर्न, प्राक्कथन, पृ० ५१ का कथन है कि उत्पल के अनुसार उन्हें भदत्त कहा गया

का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया गया है। संभवतः इसका कारण यह है कि उन्होंने दैवज्ञविद्या के क्षेत्र में कोई कार्य नहीं किया था। 'करण' में उनका उल्लेख होना स्वाभाविक था,[1] आर्यभट्ट युधिष्ठिर के संवत् से गणना करते हैं; किन्तु वराहमिहिर 'शककाल' 'शकभूपकाल' या 'शकेन्दुकाल' शकराजा के संवत् का उपयोग करते हैं जिसका संबन्ध उनके टीकाकार ने विक्रम संवत् से जोड़ा है।[2] इसके विपरीत ब्रह्मगुप्त शक नृपान्त—जो उनके अनुसार कलियुग के ३१७९वें वर्ष में हुआ—अर्थात् शालिवाहन संवत् से गणना करते हैं। वराहमिहिर के समय से संबद्ध परम्परा पर पहले ही विचार किया जा चुका है। चूँकि आजकल के ज्योतिर्विदों के कथन अल्बीरूनी के समय के कथनों से साम्य रखते हैं अतएव हम उन्हें विश्वसनीय ठहरा सकते हैं; इस प्रकार इनके अनुसार वे ५०४ ई० में हुए थे।[3] एक ओर तो यह परम्परा से विरोध प्रदर्शित करती है, जो उन्हें विक्रम की सभा के नवरत्नों में एक मानती है और विक्रम को राजा भोज से[4] अभिन्न मानती है जिसने १०-५० ई०[5] में शासन किया था, इसके विपरीत, यह दूसरी ओर, ज्योतिर्विद शतानन्द के कथन के भी विरुद्ध है, जिन्होंने अपने 'भास्वतीकरण' की भूमिका में स्वयं को मिहिर का शिष्य बताया है, तथा अपनी रचना का समय शके १०२१ (=१०९९ ई०) माना है। यह अंश

है; किन्तु आउफ्रेष्ट के 'केटलागस' पृ० ३२९ में भदन्त है। 'ज्योतिर्विदाभरण' में विक्रम की सभा के मुनियों में सत्य सर्वोपरि हैं। देखिए त्सा० डा० मो० गे० २२।७२२, २४। ४००।

[1]वस्तुतः भट्टोत्पल में हम इस ग्रंथ से एक उद्धरण पाते हैं, जिसमें उनका उल्लेख किया गया है; देखिए केर्न ज रा ए सो २०।३८३ (१८६३) भाऊदाजी वही, ४०६, एक दूसरे इस प्रकार के उद्धरण में 'वराहमिहिर' ने शककाल के ४२७ वर्ष का तथा रोमक सिद्धान्त तथा पौलिश का भी निर्देश किया है; भाउदाजी, पृ० ४०७।

[2]कोलब्रूक २।४७५ (कावेल का संस्करण ४२८), तु० लास्सेन, इं० अल्ट० २।५० आधारहीन है। केर्न के अनुसार, पृ० ६, वराहमिहिर और उत्पल दोनों का तात्पर्य शालिवाहन से ही है।

[3]केर्न (प्राक्कथन, पृ० ३) का विचार है कि कदाचित् यह उनके जन्म का वर्ष है। ब्रह्मगुप्त के एक भाष्यकार आमराज ने उनकी मृत्यु का वर्ष शके ५०९ (५८७ ई०) दिया है।

[4]यह तादात्म्य ठीक नहीं जंचता। यदि वराहमिहिर वस्तुतः विक्रम की सभा के नवरत्नों में एक थे तो इस विक्रम ने छठीं शताब्दी में ही राज्य किया होगा। किन्तु सर्वप्रथम यही प्रश्न उठता है कि वे एक नवरत्न थे या नहीं। 'ज्योतिर्विदाभरण' का कथन देखिए, वही।

[5]उदाहरण के लिये आउफ्रेष्ट का 'केटालोगस' पृ० ३२७ ब, ३२८ अ देखिए।

गूढ़ है और कदाचित् यह मिहिर की रचनाओं से[1] संकलित विषयों की ओर ही संकेत करता है, अन्यथा हमें दूसरे वराहमिहिर का अस्तित्व मानना पड़ेगा जो ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में अर्थात् अल्बीरूनी के समय के आसपास हुए थे। ऐसी स्थिति में यह बात विलक्षण लगती है कि अल्बीरूनी ने उनका उल्लेख नहीं किया है।

वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के बाद अनेक दूसरे ज्योतिर्विद् भी चमके। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाष्कर है जिनके समय के विषय में एक विलक्षण कठिनाई दिखाई देती है। उनके अपने ही विवरण के अनुसार, वे १०३६ शके (१११४ ई०) में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने सिद्धान्तशिरोमणि के १०७२ शके (११५० ई०) में तथा 'करणकुतूहल' को ११०५ शके (११८३ ई०) में पूरा किया था; इससे आधनिक ज्योतिर्विद भी सहमत हैं, जो उनका समय १०७२ शके (११५० ई०) मानते हैं।[2] किन्तु अल्बीरूनी ने जिसने

---

[1]इसके अतिरिक्त शतानन्द ने अपने ग्रंथ के अन्त में—जिसका एक अंश चैम्बर्स कलेक्शन में उपलब्ध है (उ०—मेरा 'कैटलाग आफ द सं० मैन्यु० बर्लि० ला०, पृ० २३४) —अपना समय शके ९१७ (९९५ ई०) बताया है। इस असंगति की व्याख्या कैसे की जा सकती है? देखिए कोलब्रूक, २।३९०। [३४१ कावेल का संस्करण विचारणीय अनुच्छेद संभवतः रचयिता के जीवनकाल का निर्देश नहीं करता है; दुर्भाग्यवश, यह इतना अनिश्चित है कि मैं इसका वास्तविक अर्थ नहीं समझता। किन्तु ठीक इसके पहले कलियुग के वर्ष ४२००=१०९९ई० का संकेत है; ठीक कोलब्रूक ने भी यही वर्ष दिया है; यह तिथि प्रायः निश्चित है। जैसा कि भाष्यकार बलभद्र ने यह संकेत दिया है, वराहमिहिर का यह उल्लेख संभवतः वराहमिहिर को इंगित नहीं करता, केवल 'मिहिर' अर्थात् सूर्य का ही निदश करता है।]

[2]यह शके ११२८ के एक शिलालेख से मेल खाता है जो भास्कर के पौत्र का शिलालेख है। भास्कर के 'सिद्धान्त शिरोमणि' का इस शिलालेख में बड़े सम्मान के साथ उल्लेख किया गया है, देखिए भाउ दाजी, वही पृ० ४११, ४१६, पुनः सिद्धान्त शिरोमणि के एक अंश में जिसका माधव ने 'कालनिर्णय' में उल्लेख किया है और जो तीन अधिकमास वाले वर्षों का विवेचन करता है, इस प्रकार के वर्ष को जो शकवाले ९७४ (१०५२ ई०) था, भूतकाल में रखा गया है; इसके विपरीत १११५ वर्ष (तथा १२५६, १३७८) को भविष्यत्काल का बताया गया है। भाष्कर की लीलावती (अंकगणित) तथा बीजगणित का अनुवाद कोलब्रूक ने किया है (१८१७) लीलावती का अनुवाद टेलर (१८१६) ने और बीजगणित का अनुवाद स्ट्रैची ने भी किया है (१८१८) 'गणिताध्याय' का अनुवाद रोइर ने ज० ए० सो० बंगाल ९।१५३ आदि में किया है (लास्सेन, इं० अल्ट० ४।८४९); गोलाध्याय का एक अनुवाद लैंसेलाट बिल्किन्सन ने बिल्लि० इं० (१८६१-६२) में किया है। बिल्किन्सन ने गोलाध्याय तथा गणिताध्याय के मूल पाठ का संस्करण भी निकाला

१०३१ (अर्थात् भास्कर के जन्म से ८३ वर्ष बाद) लिखा है, न केवल उनका उल्लेख किया है, अपितु उनकी रचना जिसे 'करणशर' कहा गया है—१३२ वर्ष पूर्व के समय ८९९ ई० में रखा है। इस प्रकार दोनों विवरणों में २८४ वर्षों का अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इस पहेली को हल करने में मैं अपनी असमर्थता स्वीकार करता हूँ। व्यक्ति के विषय में इतना अधिक साम्य है कि अल्बीरूनी के 'बस्कर' को स्पष्टतः यथार्थ भास्कर के समान, महादेव[1] का पुत्र कहा गया है। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी हमारे पास अल्बीरूनी के बष्कर को जो, उसके अनुसार 'महदेब' के पुत्र और 'करणशर' के रचयिता हैं,[2] महादेव के पुत्र तथा 'करणकुतूहल' के रचयिता भास्कर से पृथक् करने के अतिरिक्त कोई और चारा नहीं है। विशेषतः समय की विभिन्नता के विषय में यह विलक्षण बात पाई जाती है कि सामान्यतः जहाँ अल्बीरूनी ने भारतीय भाषा के 'भ' को 'ब ह्' द्वारा व्यक्त किया है (जैसे, 'ब-हुज्'=भूर्ज, बल्ब-हृद-बलभद्र) और अधिकांशतः दीर्घस्वरों को भी सुरक्षित रखा है, किन्तु इन दोनों में से कोई भी बात बष्कर के संबन्ध में नहीं देखने में आती है, और इसमें 'स्' का 'श्' में परिवर्तन भी देखने में आता है।

भास्कर भारतीय ज्योतिर्विद्या तथा गणित के अन्तिम नक्षत्र हैं। उनके समय के बाद कोई और प्रगति नहीं हुई और हिन्दुओं का नक्षत्रशास्त्र एक बार फिर दैवज्ञविद्या पर

है (१८४२) लीलावती और बीजगणित का प्रकाशन १८३२, १८३४ में कलकत्ता से भी हुआ। बापूदेव शास्त्री ने 'सिद्धान्त-शिरोमणि' का एक पूरा संस्करण (?) निकाला है (बनारस, १८६६), तुलना, हेर्म० ब्रोकहाउस, 'उइबेर डी अल्गेब्रा डेस भास्कर' लाइपत्सिग् १८५२, बरिष्टे डेर केन० सेस० गेस्० डेर् विश्शेन्स० का भाग ४, पृ० १—४५।

[1]यह सत्य है कि राइनाऊ ने मेहादत्त को ब के स्थान पर त समझकर पढ़ा है; किन्तु संस्कृत में ऐसा कोई नाम नहीं होता, कारण इसका कोई अर्थ नहीं निकलता [गोलाध्याय के अन्त में १३।६१ तथा करणकुतुहल के अन्त में भास्कर ने अपने पिता का नाम महादेव नहीं महेश्वर बताया है, (जो दोनों वस्तुतः अर्थ में अभिन्न है) भास्कर के भाष्यकार लक्ष्मीधर ने भी उन्हें इसी नाम से अभिहित किया है। देखिए मेरा केट० आफ द बर्लिन सं० मैन्यु० पृ० २३५, २३७]।

[2]इस उलझन से निकलने का एक यही मार्ग है; अथवा हमें यह मानना होगा कि प्रथम भास्कर जो आर्यभट के भाष्यकारों में अग्रणी थे और जिनका पृथूदकस्वामी ने, जो स्वयं शिरोमणि के रचयिता के पहले हुए थे, अनेक बार आपने उल्लेख किया है।" कोलब्रूक २।४७० (४२३ सं० कावेल) अथवा राइनाऊ के 'भस्कर' से भास्कर का नाम ध्वनित नहीं प्रतीत होता अपितु एक पुष्कर नाम के व्यक्ति का संकेत मिलता है। यह निश्चय ही आश्चर्यजनक है कि उन्हें और 'करण-शर' का रचयिता कहा गया है। कहीं यहाँ अल्बीरूनी के विवरण में क्षेपक तो नहीं है?

पूर्ण रूप से केन्द्रित हो गया जिससे मौलिक रूप में उसकी उत्पत्ति हुई थी। इस अन्तिम युग में अपने मुसलमान शासकों के अधीन अब हिन्दू उन अरबवासियों के शिष्य हो गये जिनके वे पहले गुरु रह चुके थे।[1] जिस अल्किन्दी ने नवीं शताब्दी में मुख्य रूप से भारतीय नक्षत्रशास्त्र और अंकगणित पर ग्रन्थ लिखे थे (इं० कोलब्रूक २।५१३ राइनाऊँ पृ० २३) वह अब हिन्दुओं की दृष्टि में एक प्रमाण बन गया जिन्होंने उसकी और उसके अनुयायियों की रचनाओं का अध्ययन तथा अनुवाद किया। यह निश्चित रूप से उन अनेक अरबी पारिभाषिक शब्दों से प्रकट होता है, जो इस समय प्राचीन काल के ग्रीक शब्दों के साथ ही साथ उपलब्ध होते हैं। यह सत्य है कि ग्रीक शब्दों को अब भी अपना प्राचीन स्थान प्राप्त है और केवल नये विचारों के लिये ही नये शब्दों का प्रवेश किया गया है, विशेषकर उन नक्षत्रों के संबन्ध में जिन्हें अरबवासियों ने पूर्ण रूप में विकसित किया था। प्राय: इसी समय के आस पास इन अरबी रचनाओं का अनुवाद दूसरी भाषा लैटिन में मध्ययुग के योरोपीय नक्षत्रविदों के उपयोग के लिये किया गया; और इस कारण उनकी रचनाओं में वे ही अरबी पारिभाषिक शब्द देखे जा सकते हैं जो भारतीय रचनाओं में आते हैं। इस युग के भारतीय नक्षत्रशास्त्र के ऐसे पारिभाषिक शब्द निम्नलिखित हैं[2] मुकरिणा, 'मुकारनह्' संयोग; 'मुकाबिला मुकाविलतह्' विरोध, तरवी, 'तरवीह्' चतुर्भुज रूप, 'तसदी तस्दीस्' षटकोण्; 'तरशी तस्लीज्' त्रिभुज, हड्ड 'हद' मुशल्लह 'मशालेहतह्' इक्कवाल 'इक़बाल' इन्दुवार 'अद्‌बार', इत्थिशाल और मुथशिल 'इत्तशाल' और 'मुत्तसिल', कंजकिटओ या संयोग, ईसर्फ और मूसरीफ 'इशराफ' और 'मुशरूफ', 'डिस्जंकटिओ या वियोग, नक्त (नक़्ल के लिये) 'नक़ल' ट्रांसलेटिओ, यमया, 'जुमाह्' कांग्रेगेटिओ या संघात, मनाऊ 'मनह्' प्रोहिबिटिओ या निषेध, कम्बूल 'कबूल' रेसेप्टिओ या ग्रहण; गैरिकम्बूल 'गैरक़बूल' इनरेसेप्टिओ, अनग्रहण; सहम 'सहम' सोर्स, इन्थिहा और मुन्थहा, 'इन्तहा' और 'मुन्तही' टर्मिनस; और अनेक ऐसे शब्द जिनकी पारस्परिक अनुरूपता अभी निश्चित रूप से निर्धारित नहीं की जा सकती।

भारतीयों के अनुसार शुभ या अशुभ का विचार या दैवज्ञशास्त्र बहुत प्राचीन काल से नक्षत्रविद्या से संबद्ध था। इसकी भी उत्पत्ति प्राचीन वैदिक किंवा संभवत: कुछ

---

[1] इस युग में इसी से ज्योतिष का नाम 'ताजिक', 'ताजिक-शास्त्र' पड़ा है, इसका संबन्ध फारसी के 'ताजिक'=अरबी से जोड़ा जा सकता है।

[2] देखिए इं० स्टू० २।२६३, इनमें से अधिकांश अरबी पदों का ज्ञान मुझे मध्ययुगीन लैटिन अनुवादों से प्राप्त हुआ है; कारण ज्योतिष पर कोई अरबी ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ और इस दृष्टि में शब्दकोषों का भी अभाव है। ओटो लॉथ का उत्कृष्ट निबन्ध 'अल्किण्डी' अल्स एट्रोलोग इन द मोर्गेनलैण्डिश्श फोश्शगुनें' १८७४, पृ० २६३-३०९ से तुलना कीजिए जो फ्लाइशर की रजत जयन्ती पर प्रकाशित हुआ है।

अंश तक आदिम भार-जर्मन युग में देखी जा सकती है। यह विशेष रूप से अथर्ववेद के साहित्य में और अन्य वेदों के गृह्यसूत्रों में सन्निहित पाया जाता है।[1] वराहमिहिर, नारद आदि की संहिता में भी इसे प्रमुख स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसका अपना स्वतन्त्र साहित्य भी है। यही बात सभी दृष्टियों से अन्धविश्वास की दूसरी शाखा अर्थात् जादू और अभिचार की कला में भी घटित हुई है। हिन्दुओं के धार्मिक विकास में जैसे जैसे प्रगति हुई, इन विद्याओं को उत्तरोत्तर उर्वर भूमि मिलती गई, जिस कारण वे इस समय सर्वोच्च बन कर सब पर शासन करती हैं। इन विषयों पर भी सामान्य पुस्तकें मिलती हैं और उनके सरल पहलुओं पर लघुग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। उनकी अनेक धारणाएँ बहुत पहले से ही पश्चिम में मध्ययुग की प्रचलित कथाओं और उपाख्यानों के माध्यम से सामान्य बन गई हैं, उदाहरण के लिए अदृश्य टोपी आदि।[2] धन-भण्डार (भाग्य), जादू का दर्पण, जादुई लेप।

---

[1]तुलना कीजिए मेरा निबन्ध 'त्स्वाई वेदिश्श टेक्स्ट इउबेर ओमिना उण्ड पोर्टेण्टा' (१८५९) जिसके अन्तर्गत अद्भुतब्राह्मण और कौशिक-सूत्र के अध्याय १३ भी हैं।

[2]इनमें से कुछ, उदाहरण के लिए अदृश्य टोपी संभवतः आदिम भाजर्मन कात की अन्धविश्वासपूर्ण धारणाओं में भी पाये जाते हैं। 'सामविधान-ब्राह्मण' (तुलना बर्नेल का आमुख, पृ० २५) में पृ० ९४ पर भाग्य के पर्स. . .का उल्लेख है; देखिए, लिट्० सें० बृ० १८७४ पृ० ४२३, ४२४। साम्प्रदायिक तन्त्र पद्धतियों एवं योगदर्शन से जादू का एक विशेष, संबन्ध है। इस विषय पर एक ग्रन्थ पर नागार्जुन का नाम है, जो बौद्धों में बहुत सम्माननीय व्यक्ति हैं; मेरा केट० आफ द बर्लिन सं० मै० पृ० २७० देखिए।

१३: चिकित्साशास्त्र एवं युद्धविद्या

अब हम वैज्ञानिक साहित्य की चौथी शाखा औषधिशास्त्र पर विचार करेंगे।

वैदिक युग में चिकित्साशास्त्र के आरम्भ के विषय पर हम पहले ही दृष्टिपात कर चुके हैं (पृ० २२, २३)। इस क्षेत्र में भी अथर्ववेद का विशेष स्थान है और इसके साहित्य में ही प्राचीनतम अंश पाये जाते हैं जो बड़े दुःखदायी स्वरूप वाले हैं और अधिकांश अभिचारों एवं मंत्रों तक सीमित हैं।[1] स्वयं भारतीय चिकित्सा-शास्त्र को एक 'उपवेद' मानते हैं और स्पष्टतः इसे आयुर्वेद नाम देते हैं। इस शब्द से उनका तात्पर्य किसी विशिष्ट रचना से नहीं है। वेदों के समान इसकी भी उत्पत्ति वे देवताओं से बताते हैं। इस विषय पर

---

१. देखिए विर्जिल ग्रोहमन्न का लेख 'मेडिशिनिश्शेस् आउस् डेम अथर्ववेद मिट बेजोन्डेरेम बेत्सूग् आऊफडेन तक्मन' इं० स्टू० ९।३८१ आदि (१८६५) सर्पविद्या का उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण के तेरहवें काण्ड में एक पृथक् वेद के रूप में किया गया है, जिसमें पर्वों के विभाजन का निर्देश किया गया है; क्या इसमें ओषधशास्त्र संबन्धी विषयों का विवेचन नहीं रहा हो सकता है? जो कुछ भी हो आश्व० श्रौ० में इसके साथ 'विषविद्या' का भी उल्लेख किया गया है। वयोविद्या (पक्षि-शास्त्र) के वर्ण्यविषय के संबन्ध में; जिसका शतपथ० के उपर्युक्त अंश में ही उल्लेख किया गया है, किसी प्रकार का अनुमान करना कठिन है। इन 'विद्या' के ग्रंथों का शतपथ ब्रा० में अन्यत्र भी उल्लेख किया गया है (११, १४वें काण्ड में) और महाभाष्य में वैद्यक के समान इन स्थलों पर वे वेद के समकक्ष दिखाई पड़ते हैं। पाणिनि० ४।२।६० के एक वार्त्तिक में ग्रंथों के अध्ययन को द्योतित करने के लिये एक विशेष प्रत्यय का विधान किया गया है; इन ग्रंथों के नामों के अन्त में 'विद्या' या 'लक्षण' पद आते हैं; और इससे हम यह मान सकते हैं कि स्वयं पाणिनि इस प्रकार के ग्रंथों से परिचित थे। पतंजलि ने जो कुछ कहा है उससे यह विदित होता है कि पक्षि, सर्प, पशु और अश्व भी ऐसी रचनाओं के विषय थे। महाभाष्य में इस प्रकार के विशेष विवरण जीवन की वस्तुओं के व्यावहारिक निरीक्षण को इंगित करते हैं; और इनसे कालान्तर में प्राकृतिक इतिहास का एक साहित्य विकसित हुआ होगा; द्र० इं० स्टू० १३।४५९-४६१। अथर्वपरिशिष्टों के लक्षण खण्ड या तो याज्ञिक स्वरूप के है या नक्षत्र-विषयक; दूसरी ओर वराहमिहिर की ज्योतिष की संहिता में अनेक ऐसी बातें हैं जो सीधे प्राचीन 'विद्याओं' और 'लक्षणों' से ली गई होंगी।

प्राचीनतम मानव लेखकों में प्रथम आत्रेय का नाम लिया गया है, तब अग्निवेश, तब चरक,[१] तब धन्वन्तरि और अन्त में उनके शिष्य सुश्रुत का नाम आता है। प्रथम तीन नाम विशेषतः यजुस् के दो विभागों से संबद्ध हैं; किन्तु वे केवल इस वेद के सूत्रयुग और शाखा विकास से संबन्ध रखते हैं;[२] अतएव इस नाम की चिकित्साशास्त्रीय पुस्तकें इस वेद के सूत्रकाल से पहले की नहीं हो सकतीं। उन्हें कितने बाद के समय में रखना चाहिए यह एक ऐसा बिषय है जिसके निर्धारण के लिए हम आठवीं शताब्दी ई० तक ही सीमित रहते हैं। इस शताब्दी के अन्त में इब्न बाइथर और अल्बीरूनी (राइनाऊँ पृ० ३१६) के अनुसार, चरक की रचना का और इब्न आबि उशैविअह् के अनुसार सुश्रुत के ग्रंथ का भी अरबी में अनुवाद हुआ था। पाणिनि के समय में भारतीय ओषधिशास्त्र का कुछ विकास हो चुका था यह बात उनके ग्रन्थ में आए हुए अनेक रोगों के नामों से प्रकट होती है (३.३.१०८, ५.२.१२९ इत्यादि) यद्यपि इससे कोई निश्चित परिणाम नहीं निकलता है। 'गण' कार्तकौजप (पाणिनि ६।२।३७) में हम अन्तिम पद के उदाहरण के रूप में 'सौश्रुतपार्थवस्' नाम पाते हैं; किन्तु यह निश्चित नहीं कि इससे क्या अर्थ लिया जाय। पाणिनि के समय पर 'गण' कोई प्रकाश नहीं डालते; और इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि यह विशिष्ट सूत्र पाणिनि का नहीं है, अपितु पतंजलि के बाद का है, जिनके महाभाष्य में, कलकत्ता संस्करण के अनुसार, इसकी व्याख्या नहीं की गई है।[३] मनुस्मृति और महाकाव्य में धन्वन्तरि का नाम आया है,

---

[१]स्वयं 'चरकसंहिता' में भारद्वाज (पुनर्वसु) कपिष्ठल इन्द्र के शिष्यों की सूची में सबसे पहले आते हैं। उनके छः शिष्यों—अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि—में सर्वप्रथम अग्निवेश ने अपने तन्त्र की रचना की तब अन्य लोगों ने अपने अपने ग्रंथों की रचना की; उन्हें उन्होंने आत्रेय के सम्मुख सुनाया। उनके द्वारा ग्रंथ का पाठ किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है; कारण, प्रत्येक अध्याय के आरम्भिक शब्दों 'अथा तो. . . .व्याख्यास्यामः' के बाद सर्वत्र "इति ह स्माह भगवान् आत्रेयः" वाक्य आया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में यह कहा गया है कि यह ग्रंथ अग्निवेश्य रचित तथा चरक द्वारा 'प्रतिसंस्कृत' है।

[२]यही बात चरक में उल्लिखित नामों के विषय में भी है (देखिए पिछली टिप्पणी) भरद्वाज, अग्निवेश (हुताशवेश), जतूकर्ण, पराशर, हारीत। वहाँ जिन ऋषियों के नाम भारद्वाज संबद्ध व्यक्तियों के रूप में आया है उनमें हम अन्य व्यक्तियों के साथ आश्वलायन, बादरायण, कात्यायन, वैजवापि, इत्यादि। आगे जिन ओषधि-शास्त्र के आचार्यों का उल्लेख किया गया है (देखिए सेण्ट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी परिशिष्ट भाग ७) उनमें कृश, सांकृत्यायन, काङ्कायन, कृष्णात्रेय के नाम आए हैं।

[३]'सौश्रुत' भाष्य में आता है; यह स्पष्टतः सुश्रुत् से व्युत्पन्न है, सुश्रुत से नहीं। अतएव न तो कुतप-सौश्रुत का नाम दूसरे अंश में आया है, और न उसका कोई संबन्ध

किन्तु उन्हें देवताओं का वैद्य वताया गया है, मनुष्य नहीं।[1] पंचतन्त्र में दो वैद्यों शीलहोत्र और वात्स्यायन[2] का अनेक बार उल्लेख किया गया है, जिनके नाम इस समय भी लिये जाते हैं।[3] किन्तु यद्यपि इस ग्रंथ का पहलवी में अनुवाद छठीं शताब्दी में हुआ था, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इस ग्रंथ में इस समय जिन विषयों का विवेचन है, वे उस समय उसके अन्तर्गत आते थे, जब तक कि हम इसे इस अनुवाद (अर्थात् उससे किये गये रूपान्तर) में वस्तुतः नहीं पाते हैं। मुझे चिकित्साशास्त्र के आचार्यों या उनकी रचनाओं का कोई और निर्देश नहीं मिला है।[4] मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मानव शरीर के

औषधशास्त्र के रचयिताओं के सुश्रुत के साथ है; देखिए इं० स्टू० १३।४६२, ४०७। वार्त्तिकों के रचयिताओं के समय के विषय में यह तथ्य देखने में आता है कि वात, पित्त, श्लेषमन् को एक वर्ग में रखा गया है, वही, पृ० ४६२।

[1]इसी रूप में इसका उल्लेख उपर्युक्त श्लोक में हुआ है; जिसमें उन्हें विक्रम की सभा के नवरत्नों में एक माना गया है और कालिदास और वराहमिहिर के साथ गिनाया गया है; देखिए ज्योतिर्विदाभरण, वही।

[2]इस नाम का रूप सूत्रों की रचनाकाल की ओर, वात्स्य० की ओर संकेत करता है [तैत्ति० आर० १।७।२ में यह पंचपर्ण का पैतृक नाम है]।

[3]इस स्थल पर शालिहोत्र की विशेषता पशुओं के रोगों की ओषधि है (स्वयं उनका नाम 'घोड़े' के अर्थ को ध्वनित करता है) शालिहोत्र की रचना के लन्दन में दो विभिन्न पाठ हैं; देखिए डीत्स 'अनालेक्टा मेडिका' पृ० १५३ (सं० ६३) तथा पृ० १५६ (सं० ७०)। सर एच० एम० इलिअट के 'बिब्ल०, इण्डेक्स टु हिस्ट० आफ मुह० इण्डिया' पृ० २६३ के अनुसार इस प्रकार की एक रचना का अनुवाद इस लेखक ने १३६१ में अरबी में किया था। वात्स्यायन का 'कामसूत्र' भी जिसे मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रस्थानभेद' में आयुर्वेद के वर्ग में रखा है, उपलब्ध है। आउफ्रेष्ट द्वारा केटलोगस पृ० २१५ आदि पर दिये गये इसके वर्ण्यविषय पर विचार करने पर यह ग्रंथ अत्यन्त रोचक प्रतीत होता है, और इसके बहुत प्राचीन आचार्यों औद्दालकि, श्वेतकेतु, बाभ्रव्यपंचाल, गोनर्दीय (अर्थात् महाभाष्य के रचयिता पतंजलि) तथा गोणिकापुत्र आदि का उल्लेख आता है। सुबन्धु ने भी इसका उल्लेख किया है और कहा जाता है कि स्वयं शंकर ने इस पर एक भाष्य लिखा था; दे० आऊफ्रेष्ट, केटलोगस, पृ० २५६ अ।

[4]इस पर बेंटली ने ठीक ही जोर दिया था और कोलब्रूक का विरोध किया था, जिन्होंने वराहमिहिर का समय निर्धारित करने के लिए इस तथ्य को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया था कि उनका उल्लेख 'पंचतंत्र' में किया गया है (इसी अंश का निर्देश 'विक्रमचरित' में भी किया गया है देखिए रोथ-जर्न० शि० अब्दू० १८४५. पृ० ३०४) (यह सही है कि कोर्न ने अपने बृह० सं० के प्राक्कथन पृ० १९,२० में बेंटली के इस आपत्ति का खण्डन

अवयवों एवं रोगों के ऊपर अमरकोश का खण्ड (२।६) निश्चय ही चिकित्साशास्त्र के प्रचुर हो चुकने का निर्देश करता है।

उपलब्ध रचनाओं की तिथियों का निर्धारण केवल तभी संभव हो सकता है,[1] जब इन पर विषय और भाषा दोनों ही[2] दृष्टियों से आलोचनात्मक विवेचन किया जाय। किन्तु हाल ही में सुश्रुत के नाम से संबद्ध रचनाओं जैसी रचनाओं के लिए जिस समय की कल्पना की गई है, उसे स्वप्न लोक की बात मानकर दूर कर सकते हैं।[3] भाषा और शैली में यह और इसके समान रचनाएँ, जिनसे मैं परिचित हूँ, स्पष्टतः वराहमिहिर की रचनाओं से संबन्ध प्रकट करती हैं।[4] स्टेंजलेर[5] के शब्दों में "यदि तब आन्तरिक प्रमाणों से यह संभव हो कि सुश्रुत में जिस चिकित्सा-पद्धति का प्रतिपादन किया गया है उसमें यूनानियों से बहुत सी

किया है किन्तु मेरे विचार से केर्न का पक्ष गलत है; कारण, बेनफी के अनुसन्धानोंके अनुसार, 'पंचतन्त्र' का वर्तमान पाठ बहुत बाद के समय का है; तु० को० ऊपर दे०।

[1]टर्नाउर 'महावंश' पृ० २५४ टिप्पणी, के अनुसार इस ग्रंथ में उल्लिखित ओषध-शास्त्रविषयक रचना, जो सिंहल देश के राजा बुद्धदास (३३९ई०) द्वारा रचित है और जिसका नाम 'सारत्थ संग्रह' है, अभी (संस्कृत में भी) लंका में विद्यमान है और इसका उपयोग इस देश के वैद्य लोग करते हैं; इस विषय पर ट्रांसेक्शन्स आफ द फिलोला० सो० १८७५, पृ० ७६, ७८ पर डेविड्स के विचार देखिए।

[2]तिब्बती तन्देजूर के विषय में जो विवरण दिये जाते हैं उनके अनुसार इसमें ओषधशास्त्र पर अनेक रचनाएँ हैं; यह तथ्य उनके समय की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस प्रकार सोमा करोसी ने ज० ए० सो० बंगाल जनवरी १८२५ में ओषधशास्त्रीय तिब्बती ग्रंथों के प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत किया है जो शाक्यमुनि द्वारा उक्त बताये गये हैं और जो सुश्रुत या उसके समान रचना का अनुवाद है।

[3]वुल्लेर्स और हेस्सलेर द्वारा। वुल्लेर्स द्वारा 'यानुस्' नामक पत्रिका में, जिसका संपादन हेंशेल ने किया है, भारतीय ओषधिशास्त्र पर लिखित एक निबन्ध में; और हेस्सलेर द्वारा उनके तथाकथित सुश्रुत के अनुवाद के प्राक्कथन में [१८४४-५०]।

[4]चरकसंहिता प्राचीनता का अधिक दावा करता है; यत्र-तत्र इसका गद्य हमें श्रौतसूत्रों की याद दिलाता है।

[5]यानुस् के अगले अंक २।४५३ में वुल्लेर्स द्वारा किये गये परीक्षण से। मैं यहाँ यह कह सकता हूँ कि विल्सन के शब्द जिन्हें वाइजने 'सिस्टम आफ हिन्दू मेडिसिन' (कल० १८४५) के प्राक्कथन पृ० १७ में उद्धृत किया है, वुल्लेर्स द्वारा गलत समझा गया है। विल्सन ने हमारे अनुमान की अत्यन्त अर्वाचीन सीमा नवीं या दसवीं शताब्दी ई० मानी है जबकि वुल्लेर्स इसे ई० पू० में खींच ले जाते हैं! ! [तुलना विल्सन का 'वर्क्स्' ३।२७३ सं० रोस्ट]।

वस्तुएँ उद्धृत की गई हैं, तो ऐसी स्थिति में जहाँ तक इसका प्रभाव कालनिर्धारण पर पड़ता है, कोई आश्चर्यजनक बात नहीं होगी।"[1] किन्तु इस प्रकार के कोई आन्तरिक प्रमाण नहीं मिलते। इसके विपरीत, ऐसी अनेक बातें हैं जो किसी भी यूनानी प्रभाव की कल्पना का विरोध करती हैं; प्रथमतः यवनों को कहीं प्रामाणिक नहीं माना गया है; और भूमिका में जिन व्यक्तियों को सुश्रुत[2] का समकालीन बताया गया है, उनमें कोई भी ऐसा नाम नहीं है जिसमें विदेशी रूप ध्वनित होता हो।[3] अपरंच, स्वयं सुश्रुत और अन्य आचार्यों द्वारा भी ओषधि के अध्ययन का स्थान काशी (बनारस) बताया गया है—और इसका समय निश्चय ही पुराकथाशास्त्रीय राजा दिवोदास धन्वन्तरि का राज्यकाल है, जो देवताओं के वैद्य धन्वन्तरि[4] के अवतार कहे जाते हैं। अन्ततः, वैद्य लोग जिन मापों या बाँटों का

---

[1]स्पष्टतः यह रोथ का भी विचार है (देखिए त्सा० डा० मो० गे० २६।४४१, १८७२) यहाँ यह आशा व्यक्त करने के उपरान्त कि भारतीय ओषधशास्त्र का पूर्ण विवेचन योग्य विद्वान् भविष्य में कर सकेंगे उन्होंने आगे यह कहा है कि "भारतीय ओषधशास्त्र के तत्त्वों का यूनानी ओषधिविज्ञान के तत्त्वों के साथ तुलना करके ही हम भारतीय ओषधशास्त्र की उत्पत्ति, युग और महत्त्व का निर्धारण कर सकते हैं।" और आगे चरक द्वारा दिये गये वैद्य का अपने रोगियों के साथ व्यवहार विषय पर उपदेश के सन्दर्भ में उन्होंने अस्क्लेपिआड्स की कुछ शपथों के उद्धरण दिये हैं जो उल्लेखनीय समानता प्रदर्शित करते हैं।

[2]हेस्सलेर ने यह नहीं समझा है कि ये व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं, और वे इन शब्दों का सीधा अनुवाद कर देते हैं।

[3]कदाचित् पौष्कलावत के अपवाद को छोड़कर, जो उत्तरपश्चिम की ओर और 'पेउकेलाउटिस' (ग्री०) की ओर संकेत करता है चरकसंहिता में आए हुए भरद्वाज कपिष्ठल नाम से भी भारत के उत्तरपश्चिम प्रदेश की ओर संकेत है (तुलना 'कम्बिष्ठोलोई' ग्री०) चरक संहिता में हिमवत् के पार्श्ववर्ती देश में ही (पार्श्वे हिमवत शुभे) ऋषियों के उस सम्मेलन के होने का वर्णन किया गया है, जिसमें इन्द्र ने भरद्वाज को शिक्षा प्रदान की थी। पुनः स्वयं अग्निवेश्म को (वही १।१३ भाष्य) चान्द्रभागिन कहा गया है और इस प्रकार संभवतः (तु० की० गण 'वहादि' पाणिनि ४।१।४५) उन्हें चन्द्रभागा के साथ संबद्ध किया गया है जो पंजाब की बड़ी नदियों में एक है। और अन्ततः उसी में १।१२, ४।६ एक प्राचीन वैद्य काङ्कायन का उल्लेख किया गया है जो अरबवासियों को कङ्कः और कठ हैं (देखिए राइनाऊ, मेम, सुर ल' इण्डे, पृ० ३१४ आदि) जिन्हें स्पष्टतः वाहीकभिषज कहा गया है। हम उन्हें 'अथर्वपरिशिष्ट' में आए हुए आचार्यों के बीच उल्लिखित पाते हैं।

[4]स्वयं सुश्रुत को भूमिका में उनका शिष्य बताया गया है। यह कथन इस

प्रयोग करते थे वे स्पष्ट रूप में वे ही हैं जो मगध या कलिंग में चलते थे। इससे हम निश्चित रूप से अर्थ निकाल सकते हैं कि इन पूर्व देशों में ही, जो कभी यूनानियों से सीधे सम्पर्क में नहीं थे, ओषधशास्त्र का विशेष रूप से अनुशीलन किया गया था।

इसके अतिरिक्त विद्यमान ग्रन्थों की प्रामाणिकता के विषय में पर्याप्त सन्देह उत्पन्न होता है; कारण, उनमें से कुछ रचनाओं के हम अनेक पाठों का उद्धरण पाते हैं। इस प्रकार अत्रि जिनकी रचना समाप्त हो गई है, 'लध्व्-अत्रि', 'बृहद्-अत्रि' आत्रेय और इसी प्रकार 'बृहद् आत्रेय' 'मध्यम आत्रेय' 'कनिष्ठ आत्रेय' नाम से उल्लिखित हैं और सुश्रुत का भी 'वृद्धसुश्रुत' नाम से वाग्भट का वृद्धवाग्भट नाम से, हारीत का वृद्ध-हारीत नाम से और भोज का 'वृद्ध भोज' नाम से उल्लेख है—इस प्रकार की स्थिति हम नक्षत्र-शास्त्र के सिद्धान्तों में भी पाते हैं (देखिए पृ० २५८, २५९ और कोलब्रूक २।३९१, ३९२) और यही बत विधि साहित्य के विषय में भी है। ओषधशास्त्र की रचनाओं एवं लेखकों की संख्या बहुत बड़ी है। ओषधशास्त्र के ग्रन्थ या तो इस शास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र से संबद्ध हैं या किसी एक विषय का पूर्ण विवेचन करते हैं; या अन्ततः आधुनिक युग में राजाओं या राजकुमारों की अध्यक्षता में तैयार किये गये बृहत् संकलन हैं। इनमें जो ज्ञान सन्नि-हित है वह अत्यन्त सम्मानार्ह प्रतीत होता है। पथ्य तथा रोगों की उत्पत्ति और निदान पर अनेक उक्तियाँ सूक्ष्म अन्वीक्षण की परिचायक हैं। शल्यचिकित्सा में भी हिन्दुओं ने विशेष दक्षता प्राप्त की थी[1] और इस शाखा में योरोपीय सर्जन (शल्य चिकित्सक) आधुनिक युग में भी उनसे कुछ सीख सकते हैं जैसा कि उन्होंने उनसे नाक की प्लास्टिक शल्य चिकित्सा (rhinoplasty) के आपरेशन का ज्ञान प्राप्त किया है। खनिज पदार्थों या धातुओं के, वनस्पतियों, पशुओं के द्रव्यों के ओषधि-गुण का और इनकी रासा-यनिक विश्लेषण तथा मिश्रण के संबन्ध में उनके ज्ञान के अन्तर्गत बहुत सी बहुमल्य जान-कारियाँ आ जाती हैं। वस्तुतः ओषधिशास्त्र की शाखा पर सामान्यतः बड़े पक्षपात के साथ हाथ लगाया गया है और कुछ सीमा तक यही कारण है कि हम प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्रों में अन्वेषणों का अभाव पाते हैं।[2] घोड़ों और हाथियों के रोगों आदि पर भी विशेष रूप के वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त पिछली कुछ शताब्दियों में ओषधिशास्त्र को इस विचारधारा से, जो स्वयं बहुत प्राचीन विचार है, बहुत धक्का पहुँचा है कि रोग नियमों के उल्लंघन और पापकर्मों के परिणाम हैं और व्रत, भिक्षा और ब्राह्मण दान इसके वास्तविक उपचार हैं। भारतीय ओषधिशास्त्र का एक उत्तम विवेचन डा० वाइज की

धन्वन्तरि तथा उस धन्वन्तरि को एक समझने के भ्रम पर आधृत है, जिन्हें विक्रम की सभा का एक नवरत्न कहा गया है।

[1]इस विषय पर विलसन 'वर्क्स' ३।३८० आदि देखिए सं० रोस्ट।

[2]तुलना की० पृ० २६०, टिप्पणी १ में 'विद्याओं' और 'वैद्यक' के विषय में उक्ति।

रचना 'कमेण्ट्री आन हिन्दू सिस्टम आफ मेडिसिन' में मिलता है जो कलकत्ता में १८४५ में प्रकाशित हुआ है।[1]

हिन्दू ओषधिशास्त्र का अरबों पर हिज्र की प्रथम शताब्दी में जो प्रभाव पड़ा वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। और बगदाद के खलीफाओं ने इस विषय पर अनेक ग्रंथों का अनुवाद कराया।[2] चूँकि अरबी ओषधियाँ योरोपीय चिकित्सकों के लिये सत्रहवीं शताब्दी तक आदर्श और पथप्रदर्शक बनी हुई थीं अतएव इससे ठीक ज्योतिःशास्त्र के समान प्रत्यक्ष निष्कर्ष निकलता है कि योरोपीय चिकित्सक भारतीयों का बहुत अधिक सम्मान करते रहे होंगे। वस्तुतः अविचेन्न (इब्न सिना) राजेस (अल रासि) और सेरापिअन (इब्न सेराबि) के लैटिन अनुवाद में चरक का अनेक बार उल्लेख किया गया है।[3]

आयुर्वेद या चिकित्साशास्त्र के अतिरिक्त हिन्दू तीन और उपवेदों को गिनाते हैं; वे हैं—धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र अर्थात् युद्ध कला, संगीत कला और सामान्यतः व्यावहारिक कलाएँ। आयुर्वेद के समान ही ये शब्द भी किन्हीं विशिष्ट रचनाओं को नहीं अपितु साहित्य की विविध शाखाओं को द्योतित करते हैं।

---

[1]नवीन संस्करण १८६० (लन्दन) तुलना, विल्सन के दो लेख जो दुर्भाग्यवश छोटे हैं 'आन द मेडिकल एण्ड सर्जिकल साइंस आफ द हिन्दूज', डा० रोस्ट द्वारा संगृहीत 'एसेज आन संस्कृत लिटरेचर' का भाग १ (१८६४, वर्क्स्, भाग ३)। इस समय तक केवल सुश्रुत का प्रकाशन मधुसूदन गुप्त ने किया है (कलकत्ता १८३५-३६, नवीन संस्करण १८६८) और जीवानन्द विद्यासागर ने भी इसे प्रकाशित किया है (१८७३)। गंगाधर कविराज ने चरक का एक संस्करण आरम्भ किया था। (कल० १८६८-६९) किन्तु दुर्भाग्यवश संपादक की लम्बी चौड़ी टीकाओं के बोझ से दबकर इसका कार्य बड़ी मन्द-गति से चल रहा है। (खण्ड २, १८७१, पाँचवें अध्याय से समाप्त होता है)। इससे रोथ को चरक पर एक निबन्ध लिखने का अवसर मिला जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है; इस निबन्ध में उन्होंने इस ग्रंथ के कुछ अंशों के अनुवाद ३।८ (किस प्रकार एक चिकित्सक बना जाय) तथा १।२९ ('प्रमादी') के अनुवाद दिये हैं। 'भेलसंहिता' से (देखिए ऊपर टिप्पणी ३०१) बर्नेल ने एक अंश 'एलि० आफ सा० इं० पेलि० पृ० ९४ इस प्रकार उद्धृत किया है (उदाहरणार्थ ३१।४) जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि उन्होंने इस नाम का सम्पूर्ण ग्रंथ उपलब्ध था।

[2]द्रष्टव्य, गिल्डमाइस्टेर, स्क्रिप्ट, अरब डेरेबस् इण्टिसिस, पृ० ९४-९७ [त्सा० डा० मो० गे० ११।१३८ आदि ३२५ आदि (१८५७) में फिहस्तित अल्-उलूस के अनुसार फ्लूगेल]।

[3]द्र० रोएले 'आन द एण्टिक्विटी आफ हिन्दू मेडिसिन' १८३८।

युद्धविद्या के आचार्य के रूप में विश्वामित्र का नाम लिया गया है और उनके ग्रन्थ के वर्ण्यविषयों का पूर्णरूप से निर्देश किया गया है।[१] भारद्वाज का भी नाम आता है।[२] किन्तु साहित्य के इस विभाग का कोई प्रत्यक्ष विवरण सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ता है।[३] फिर भी नीतिशास्त्रों और महाकाव्य में अनेक ऐसे खण्ड हैं जो विशेष रूप से युद्धविद्या पर प्रकाश डालते हैं।[४] 'अग्निपुराण' में इस विषय का विस्तृत वर्णन एक अनोखी विशेषता है।[५]

---

[१] मधुसूदन सरस्वती द्वारा 'प्रस्थान-भेद' में, इं० स्टू० १।१०।२१।

[२] भरद्वाज का नाम ऐसे स्थल पर आ सकता है, इससे मैं संप्रति अवगत नहीं हूँ; संभवतः हमें भारद्वाज अर्थात् द्रोण पाठ लेना चाहिए।

[३] पशुओं और हाथियों के पालन से संबद्ध कुछ विषयों को छोड़कर, जिनकी यहाँ गणना की जा सकती है; यद्यपि वे वस्तुतः ओषधशास्त्र से संबन्ध रखते हैं।

[४] उन्नीस अध्यायों का कामन्दकीय नीतिशास्त्र जिससे यह विशेष रूप से संबन्ध रखता है, राजेन्द्र लाल मित्र ने बिब्लि० इण्ड० (१८४९-६१) में प्रकाशित किया है (१८-४९-६१) इसमें नवें अध्याय तक 'उपाध्याय निरपेक्ष' नाम के भाष्य से उद्धरण दिये गये हैं। शैली और विषय की दृष्टि से यह वराहमिहिर की बृहत्संहिता की याद दिलाता है। इसी नाम का और इन्हीं विषयों का विवेचन करने वाला एक ग्रन्थ जावा को जाने वाले हिन्दू अपने साथ ले गये थे; देखिए इं० स्टू० ३।१४५; किन्तु जैसा कि रा० ला० मित्र ने माना है ये हिन्दू चौथी शताब्दी में गये थे, इस पर सन्देह है।

[५] दे० विलसन 'आन दि आर्ट आफ़ वार' (वर्क्स, ४।२९० आदि)

२४ : ललित कलायें

अत्यन्त प्राचीन काल से ही संगीत हिन्दुओं का एक प्रिय विषय रहा है, जैसा कि हम वैदिक साहित्य में वाद्ययंत्रों के अनेक उल्लेखों से देखते हैं; किन्तु इसकी क्रमबद्ध व्यवस्था निःसन्देह बहुत बाद के समय में हुई है। पाणिनि ने जिन नट सूत्रों का उल्लेख किया है, उनमें इस प्रकार की भी कुछ बात अवश्य रही होगी, क्योंकि संगीत का नृत्य के साथ विशेष संबन्ध था। जहाँ तक हमें विदित है, संगीत के सप्तस्वरों का सर्वप्रथम उल्लेख तथाकथित वेदाङ्गों छन्दस्[1] और शिक्षा[2] में आया है; और इसके

---

[1]इस विषय पर इं० स्टू० ८।२५९-२७२ देखिए। सप्तस्वरों का उनके नामों के प्रथम अक्षर द्वारा अभिधान इसमें भी, कम से कम इस ग्रंथ के एक पाठ में, पाया जाता है; वही, पृ० २५६। फोन बोहलेन 'उस् अल्टे इण्डिएन' २।१९५ (१८३०) तथा बेनफी, इण्डियन, पृ० २९९ (एर्स एण्ड ग्रूबेर्स इनसाइक्लोपीडिआ भाग १७, १८४० में) के अनुसार यह अभिमान हिन्दुओं से फारस देशवासियों को प्राप्त हुआ और उनसे अरबवासियों को तथा योरोपीय संगीत में इसका प्रयोग गुइडो डि अरेजो ने ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में किया। भारतीयों के स रे ग म प ध नी के समान ही फारसी में वर्णमाला के प्रथम सात वर्णों (A से G) द्वारा अभिधान के साथ ही दा रे मि फ स ल बे आता है; द्र० रिचार्डसन और जोनसन का पेर्स० डिक्श० बुर इ मुफरूमल' क्या गम्म 'गु मट' फ्रां० गम्मे, शब्द, जो गुडडो डि अरेंजो के समय से स्वरों के लिये प्रयुक्त होता आ रहा है समान संस्कृत शब्द ग्राम (प्राकृत गाम) से तो व्युत्पन्न हुआ है ; और इस प्रकार सप्त स्वरों की भारतीय उत्पत्ति का सीधा संकेत देता है। लुर्डविग गाइगेर का विपरीत विचार उनके 'उसप्रग डेर स्प्राख' १।४५८ (१८६८) में। इस शब्द की सामान्य व्याख्या यह है कि यह ग्रीक के 'गम्मा' अक्षर से बना है जो गुइडो के इक्कीस स्वरों में प्रथम है और जो उनके समय से एक शताब्दी पहले से ही यदि सर्वप्रचलित नहीं तो ज्ञात अवश्य था।" देखिए एम्ब्रोस् काः 'गेशिश्टे डेर म्यूजिक्' २।१५१ (१८६४) प्रथम आठ स्वरों के अन्तर्गत G और g के आ जाने से अन्तिम स्वरों के वर्ग में उसके समरूप स्वर के लिये ग्रीक वर्ण का प्रयोग आवश्यक था। इसकी आवश्यकता इतनी स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ती; किन्तु इस अभिधान के चयन और संगीत के स्वर-समूह के लिये इसका सीधा उपयोग, जो भारतीय शब्द का स्मारक है और जिसने अवश्य कुछ न कुछ प्रभाव डाला होगा, भले ही स्वयं गुइडो इससे परिचित न रहे हों।

[2]और इसे न केवल शिक्षा अपितु इस वर्ग की सभी रचनाओं में पाणिनि

अतिरिक्त एक अथर्वोपनिषद् (गर्भ) में भी उनका नाम आया है, जो आधुनिक उपनिषद् नहीं। 'गान्धर्ववेद'[1] अर्थात् संगीत शास्त्र के रचयिता के रूप में भरत का नाम लिया गया है और उनके अतिरिक्त ईश्वर, पवन, कलिनाथ,[2] नारद[3] का भी नाम आता है; किन्तु इनमें एकमात्र अवशिष्ट ग्रन्थ आंशिक रूप में प्रतीत होता है जिसके उद्धरण नाट्य-साहित्य के भाष्यों में मिलते हैं। इनमें से कुछ रचनाओं का अनुवाद फारसी में हुआ था और संभवतः उससे भी पहले अरबी में हुआ था। संगीत पर अनेक आधुनिक ग्रंथ भी हैं। सम्पूर्ण विषय पर बहुत अल्प अन्वेषण कार्य हुआ है।[4]

जहाँ तक तीसरे उपवेद 'अर्थशास्त्र' का संबन्ध है, हिन्दुओं ने, जैसा कि हम जानते हैं, तकनीकी कलाओं में बड़ी दक्षता प्राप्त की थी। इस विषय के साहित्य को अत्यल्प प्रतिनिधित्व मिला है और वह भी अधिकांशतः अर्वाचीन है।

सर्वप्रथम, चित्रकला अत्यन्त आरम्भिक अवस्था में दिखाई पड़ती है। रूपचित्रण जिसके लिये बिम्बों की आवश्यकता नहीं पड़ती है, सर्वाधिक उन्नत दिखाई पड़ता है; कारण, इसका नाटकों में प्रायशः उल्लेख किया गया है।[5] दूसरी ओर मूर्त्तिकला में भी

का बताया गया है। पतंजलि सूत्र पर मेरा लेख देखिए पृ० १०७-१०९; हाग-एक्सेण्ट, पृ० ५९।

[1]यह उपाधि गन्धर्वों से बनी है।

[2]इस नाम को (लास्सेन् इं० अल्ट० ४।८३२ में कपिल संभवतः एक गल्ती है) सर डब्ल्यू० जोन्स ने कल्लिनाथ भी लिखा है; 'आन द म्यूजिकल मोड्स आफ द हिन्दूज' ऐसि० रिस० ३।३२९ में तथा ब्यहलेर द्वारा केटलोगस पृ० २१० में। ब्यूहलेर ने केट्० आफ मैन्यु० फ्राम गुज० ४।२७४ में मूल पाठ का ही रूप दिया है; किन्तु किसी भी दशा में पवन के स्थान पर हमें 'हनुमत् अर्थात् पवन का पुत्र' पढ़ना चाहिए भरत के लिए ऊपर पृ० २२२ देखिए।

[3]हाग, 'उइबेर डेस् वेज़ेन डेस वेदि० एक्सेण्टस' पृ० ५८ पर 'नारदशिक्षा' के विवरण देखिए; गन्धर्व नारद संभवतः मौलिक रूप में बादल के मूर्तरूप हैं; देखिए इं० स्टू० १। २०४, ४८२, ९।३।

[4]डब्ल्यू जोन्स् के उपर्युक्त ग्रंथ के अतिरिक्त 'एसि० रि०स०' भाग ९ में पैटर्सन, इं० अल्ट० ४।८३२ में लास्सेन के विचार और विशेषतः आऊफ्रेष्ट के केटलोगस, पृ० १९९-२०२ के विशिष्ट विवेचन देखिए। 'संगीतरत्नाकर' के रचयिता शार्ङ्गदेव ने अभिनवगुप्त, कीर्तिधर, कोहल, और सोमेश्वर को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है; इस ग्रंथ में उन्होंने न केवल संगीत का ही विवेचन किया है अपितु नृत्य और मुद्राओं का भी वर्णन किया है।

[5]आधुनिक चित्रकारी पर मेरा लेख 'इउबेर कृष्णाज गेबुर्टसफेस्ट' पृ० ३४१

कम कुशलता नहीं दृष्टिगोचर होती;[१] पर जो आकृतियाँ खोदी गई हैं उनमें अनेक अत्यन्त सौन्दर्यपूर्ण हैं; विशेषत: वे आकृतियाँ जो बुद्ध के जीवन के दृश्य प्रस्तुत करती हैं विशुद्ध पुराकथाशास्त्रीय विकारों से मुक्त मानवीय आकारों में रची गई हैं। इस विषय की शिक्षा देने वाली अनेक पुतस्कें एवं लघुग्रन्थ भी विद्यमान हैं।[२] उनमें जो वर्णन मिलते हैं उनके आधार पर वे अधिकांशत: विषय विशेष का ही विवेचन करते हैं, जैसे देवताओं की मूर्तिरचना; किन्तु इनके साथ-साथ सामान्यत: ज्यामिति और रेखाचित्र पर भी ग्रन्थ है।

भवननिर्माणकला में और उच्चकोटि की उन्नति हुई थी। इसके कतिपय अत्यन्त श्लाध्य अवशेष अब भी सुरक्षित हैं। बौद्धों ने इस कला का विशेष रूप से विकास किया; कारण, उन्हें धार्मिक प्रयोजनों से बिहार, स्तूप और मन्दिर बनवाने की आवश्यकता पड़ती थी। वस्तुत: यह असंभव नहीं कि हमारे पश्चिमी भवनशिखरों की उत्पत्ति बौद्ध स्तूपों के अनुकरण से हुई थी। दूसरी ओर अत्यन्त प्राचीन हिन्दू भवनों में यूनानी प्रभाव[३] स्पष्टत:

आदि। यह उल्लेखनीय है कि अनुकृति की रचना की विधि के वर्णन, जो तारानाथ के बौद्धधर्म के इतिहास के अन्त में दिये गये हैं (शीफनेर, पृ० २७८ आदि) स्पष्टत: अशोक और नागार्जुन के काल को यक्ष और नाग कलाकारों के उत्कर्ष का युग बताते हैं। संट-पीटसबर्ग एकेडेमी में दिए गये अपने व्याख्यान में (२५ नवम्बर १८७५ की बुलेटिन देखिए) शीफनेर ने 'काग्यूर' से 'भारतीय कलाकारों के कुछ वृत्तान्त' प्रस्तुत किये, इन वृत्तान्तों में यवनों का उत्तम चित्रकार और कारीगर के रूप में विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। कंस और कृष्ण के युद्ध के चित्रात्मक वर्णन पर महाभाष्य के वर्णन देखिए इं० स्टू० १३।३५४, ४८९ और पाणिनिकाल में अनुकृतियों के विक्रय के विषय में गोल्डस्टयूकेर, पाणिनि पृ० २२८ आदि देखिए, इं० स्टू० ५।१४८, १३।३३१।

[१]फेरग्यूसन, कन्निघम और लाइटनेर के हाल ही के अनुसन्धानों से यह प्रश्न उठा है कि कहीं इस विषय में भी यूनानी प्रभाव एक महत्वपूर्ण तथ्य तो नहीं था। उदाहरण के लिये इस संबन्ध में बुद्धगया में एक स्तम्भ पर अपने रथ में आसीन सूर्यदेवता की मूर्ति कन्निघम के 'आर्कलाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, भाग ३।९७ (१८७३) में चित्र २७ में प्रदर्शित फोइबस अपोल्लो के चित्र की समानता अत्यन्त उल्लेखनीय है। यही रूप बैक्ट्रिया के राजा प्लेटो के सिक्के पर मिलता है जिसका वर्णन हाल ही में डब्ल्यू० एस० डब्ल्यू वाक्स ने 'नुमिज्म क्रोनिकिल' १५।१-५ (१८७५) में किया है।

[२]उदाहरण के लिए वराहमिहिर की 'वृहत्संहिता' में भी, जिसका एक अध्याय जो देवताओं की मूर्ति का निर्माण विषय पर है, अल्बीरूनी से राइनाऊ ने अपने मेम सुर ले' इण्डे पृ० ४१९ आदि में दिया है।

[३]'आर्कआलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' के पांचवे भाग के, जो अभी प्रकाशित हुआ है, पृ० १८५ आदि पर कन्निघम ने एक भारत-फारसी शैली का उल्लेख किया है,

देखने में आता है।[1] (देखिए, वेनफी, पृ० ३००-३०५)। प्राय: भवननिर्माण कला का विधिवत् विवेचन किया जाता था,[2] और हम ऐसी अनेक रचनाओं के उद्धरण पाते हैं;

जिसके प्रचलन का समय वे फारसियों के सिन्धुघाटी पर आधिपत्य का काल मानते हैं (५००-३३०); उन्होंने तीन इण्डोग्रीशियन शैलियों का भी निर्देश किया है जिनमें से आइओनिक शैली तक्षशिला में, कोरेन्थियन शैली गन्धार में, और डोरिक शैली काश्मीर में प्रचलित थी। वस्तुतः अपनी सुन्दर रचना 'दि एण्टिक्वीटीज आफ उरीसा' (१८७५) के भाग १ में राजेन्द्र लाल मित्र ने स्वदेश प्रेम युक्त होकर भारतीय भवननिर्माण शैली पर किसी यूनानी प्रभाव का विरोध किया है (पृ० २५ पर असुर मय-तुरमये और टोलेमाइ-ओस के बीच संबन्ध के विषय में मेरी कल्पना को—देखिए ऊपर पृ०२४७ इं० स्टू० २। २३४ तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है, जो खेदजनक है)। उनके प्लेट्स या चित्रों पर देखने से हमें यूनानी कला का परामर्श होता है; उदाहरण के लिए प्लेट १६, सं० ४६ में दो फव्वारों की परियाँ; प्लेट १८ में बेयेडेर Bayadere सं० ५९ जो भुवनेश्वर के मन्दिर से लिया गया है और सातवीं शताब्दी के मध्य का है (पृ० ३१); उसका दाहिना हाथ एक स्थलमीन dolphin के ऊपर प्रतीत होता है, जिसके पीछे कामदेव (?) पैरों पर गिर हुआ है; अतएव यह वेनस की अनुकृति हो सकती है (तुल० रा० ला० मित्र, पृ० ५९)।

[1]इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि भारतीय सिकन्दर से पहले पत्थर काटना नहीं जानते थे—इस मत का विरोध कर्निघम ने किया है, वही, ३।९८। वैदिक यज्ञविधान में वेदि के निर्माण का जिस प्रकार सूक्ष्म विस्तार के साथ वर्णन किया गया है (तु० की० शुल्वसूत्र) उससे हम यह मान सकते हैं कि इस प्रकार की रचना उस समय भी बहुत कम की जाती थी। किन्तु इससे हम यहाँ जिस युग के विषय में विचार कर रहे हैं उसकी अपेक्षा बहुत पहले के युग में जा पहुँचते हैं। इस प्रकार विस्तृत वर्णन का कारण यही हो सकता है कि यज्ञवेदि का निर्माण विशेष रूप से एक पवित्र कार्य होता था जिसके प्रत्येक विस्तार का विशिष्ट फल होता था।

[2]देखिए, लास्सेन, इं० अल्ट० ४।७८७, राम राज का 'एसे आन दि आर्किटेक्चर आफ द हिन्दूज' (१८३४) मुख्यतः अट्ठावन अध्यायों के 'मानसार' पर आधारित है, जिसकी रचना संभवतः दक्षिण में हुई थी (पृ० ९) मायमत (मय का मत, इस पर रा० ला० मित्र, 'नोटिसेज' २।३०६ देखिए) काश्यप, वैखानस तथा अगस्त्य का सकलाधिकार का आश्रय गौणरूप में लिया गया था। बिब्लि० इं० में प्रकाशित 'अग्निपुराण' के अंश में मकानों तथा मन्दिरों के निर्माण का विवेचन है। शाङ्ख ने (कात्य० १।१।११ के भाष्य में) 'रथसूत्र' तथा 'वास्तुविद्या' को रथकारों का विशेष नियम बताया है। 'सूत्रधार' शब्द जिसका अर्थ है 'नापने का डोरा पकड़ने वाला' बनाने वाला), रंगमंच निदेशक का भी अर्थ रखता है और इससे हमारे मस्तिष्क में उस अस्थायी निर्माण का ध्यान आता है

उनमें से कुछ की रचना स्वयं देवताओं यथा विश्वकर्मन्,[1] सनत्कुमार आदि से बताई गई है। ऐसी बात भारत में सामान्यतः सभी शास्त्रों के विषय में देखने में आती है। वराह-मिहिर की संहिता में भी भवन-निर्माणकला पर एक लम्बा अध्याय है, यद्यपि इसका संबन्ध मुख्यतः नक्षत्रशास्त्र से है।

कोमल वस्त्रों के उत्पादन, रंगों के सम्मिश्रण, धातुओं और हीरा-जवाहरातों की कारीगरी, सुगन्धित द्रव्यों[2] के निर्माण और सभी प्रकार की तकनीकी कलाओं में हिन्दुओं का कौशल बहुत प्राचीन काल से ही विश्वविश्रुत रहा है। इन विषयों पर भी हमें अनेक ग्रंथों एवं विवरणों के नाम मिलते हैं। बर्तनों पर और गृह्य जीवन की सभी प्रकार की आवश्यक वस्तुओं यथा परिधान, आभूषण, मंच आदि पर खुदाई और कढ़ाई, प्रत्येक प्रकार के खेल, उदाहरणार्थ द्यूत क्रीड़ा के[3] ऊपर लिखे गये ग्रंथों का भी उल्लेख किया गया है। यही नहीं, चौर कला पर भी ग्रन्थ मिलते हैं। यह एक ऐसी कला है जिसका नियमित और एक सम्पूर्ण शास्त्र के रूप में अध्ययन किया जाता था [तुलना-विल्सन, दशकु० पृ० ६९, कर्णिसुत और 'हिन्दू थिएटर' १।६३] इनमें से कुछ रचनाओं को तिब्बती 'तन्दजूर' में भी स्थान मिला है।

जो अभिनेताओं एवं दर्शकों के लिये अधिक महत्वपूर्ण उत्सव के अवसर पर किया जाता था। इस दूसरे अर्थ में यह शब्द नट 'सूत्र' को भी निर्दिष्ट करता है, जिसका पालन सूत्रधार को करना होता था? ऊपर पृ० १८६, १८७ देखिए।

[1]'विश्वकर्मप्रकाश' और 'विश्वकर्मीय-शिल्प' पर राजेन्द्र लाल मित्र का 'नोटिसेज आफ सं० मैन्यु० २।१७, १४२ देखिए।

[2]सुगंधित द्रव्य निर्माण की कला पहले ही भाष्य के समय में विशेष सूत्र में बताई गई है। तु० की० इं० स्टू० १३।४६२ में चान्दनगन्धिक, पाणि० ४।२।६५; पर टिप्पणी देखिए; कदाचित् 'सामस्तम्' ('नाम शास्त्रम्' कैयट)—पाणि० ४।२।१०४ का भाष्य, भी इसी वर्ग का है।

[3]इं० स्टू० १।१० में मैंने चतुःषष्ठि कला-शास्त्र को (प्रस्थान भेद में अर्थशास्त्र के एक अंग के रूप में उद्धृत) का अर्थ द्यूत को ६४ कला या खानों से संबद्ध 'द्युतक्रीडा का ग्रन्थ माना है जो निश्चय ही गलत है। एसि० रिस० १।३४१ (स्लेगेल, रिफलेक्स० त्सुर, ल' इतुडे डेस् लंगुइस एसिआट० पृ० ११२) के अनुसार इसका अर्थ ६४ कलाओं का विवेचन करने वाला ग्रंथ है? दशकुमार (विल्सन का सं०, पृ० १४०) में 'चतुः षष्ठिकलागम' को स्पष्टतः अर्थशास्त्र से भिन्न माना गया है। राधाकान्तदेव के 'शब्दकल्पद्रुम' में चौसठ कलाओं के नाम देखिए) 'चतुर-अंग' क्रीड़ा पर मेरा लेख मोनाव्टबेर० डेर बेर्लि० एके० १८७२, पृ० ६०, ५०२, १८७३, पृ० ७०५– १८७४, पृ० २) और डा० अन्ट० फान डेर लिण्डे का सुन्दर ग्रन्थ गेशिश्टे डेस सोहाखस्पील्स (१८७४, २ भाग) देखिए।

२५ : धर्मशास्त्र

काव्य, विज्ञान और कला से अब हम विधि, व्यवहार और धार्मिक पूजा पर आते हैं, जो तीनों ही 'धर्म' नाम के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनका साहित्य हमें धर्मशास्त्र या स्मृतिशास्त्र में मिलता है। इन रचनाओं को वैदिक साहित्य के गृह्यसूत्रों के साथ संबन्ध पर पहले ही भूमिका में (पृ० १३, १४) विचार किया जा चुका है; उस स्थल पर यह अनुमान भी किया गया है कि विधिशास्त्र के नियमों को लेखबद्ध करने की आवश्यकता बौद्धधर्म के विकास के साथ पड़ी होगी और उसका प्रयोजन वर्णव्यवस्था की, जिसे नये धर्म ने ठुकरा दिया था, कठोरता के साथ रक्षा करने एवं उसे दृढ़ रखने का और ब्राह्मणीय राजधर्म को परिवर्तन या विनाश से बचाने का था। अतएव इस प्रकार की रचनाओं में सबसे प्राचीन 'मनुस्मृति' में हम इस ब्राह्मणीय व्यवस्था को चरमोत्कर्ष पर पाते हैं। इस अवस्था तक ब्राह्मण ने उस लक्ष्य को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया है जिससे वह ब्राह्मणों के युग में बहुत दूर नहीं था और वह स्वयं देवता का प्रतिनिधि बन बैठता है; दूसरी ओर शूद्रों की दशा और भी दयनीय और कष्टपूर्ण हो गई। वैदेह और लिच्छवि वंश (जैसा कि लास्सेन ने ठीक ही 'निच्छीव' के लिये अनुमान लगाया है) यहाँ अपवित्र वर्णों में गिनाये गये हैं। जहाँ तक वैदेहों का प्रश्न है, उक्त कथन इस बात का द्योतक है कि यह रचना 'शतपथ-ब्राह्मण' से बहुत बाद की है, क्योंकि 'शतपथ-ब्राह्मण' में वैदेह लोग ब्राह्मणधर्म के प्रमुख प्रतिनिधि दिखाई पड़ते हैं। इस जाति को तथा लिच्छवियों को जो स्थान दिया गया है उसका संबन्ध संभवतः इस तथ्य से जोड़ा जा सकता है कि बौद्ध कथाओं के अनुसार वैदेह और उनमें भी विशेषतः लिच्छविवंश वालों ने बौद्ध धर्म के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। अनेक अन्य विशिष्ट संकेतों से भी मनु का सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के बाद के समय में होना प्रकट होता है। उदाहरण के लिये, वैदिक साहित्य के विभिन्न विभागों का अनेकशः वर्णन से, उपनिषद् के कुछ अंशों के साथ पाये जानेवाले संबन्ध से, युग तथा देवताओं की त्रिमूर्त्ति की कल्पना के पूर्ण विकास से तथा सामान्यतः सम्पूर्ण जीवन के सूक्ष्म, सुन्दर और प्रकृष्ट विभाजन एवं नियमन से, जो यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं, यह बात सिद्ध होती है।

मैं यह भी पहले कह चुका हूँ कि न्याय-व्यवहार के लिये या न्याय-प्रणाली के लिये मनु के धर्मशास्त्र और वैदिक साहित्य को जोड़ने वाली कोई शृंखला नहीं दिखाई देती। यह स्मृतिग्रन्थ इस प्रकार की प्राचीनतम रचना नहीं माना जा सकता यह स्वयं इसके

स्वरूप से ही प्रकट है; कारण, इसमें जिस न्याय-व्यवहार की पूर्णता का वर्णन किया गया है वह इस तर्क को उपयुक्त ठहराता है कि इस विषय पर पहले भी कई बार हाथ लगाया जा चुका है।[1] पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों के समय-समय पर प्रत्यक्ष निर्देश द्वारा, स्वयं 'धर्मशास्त्र' शब्द के प्रचलित होने से,[2] तथा इस स्थिति से कि पतंजलि पाणिनि व्याकरण पर लिखे गये 'महाभाष्य' में धर्मसूत्र नाम की रचनाओं से परिचित हैं, उपर्युक्त निष्कर्ष ही निकलता है।[3] इन जोड़ने वाली शृंखलाओं के अवशेष अब भी मिल सकते हैं या नहीं यह सन्देहपूर्ण है।[4] इसके विपरीत, हिन्दुओं के पारिवारिक, शैक्षिक, वैवाहिक गृह्यकर्मों इत्यादि के लिये मुख्यतः गृह्यसूत्रों में ही हम धर्मशास्त्रों का स्रोत पाते हैं; और जैसा कि मैं पहले कई बार कह चुका हूँ (पृ० ५०, ७४, ९१, १२९) यही कारण है कि गृह्यसूत्रों के रचयिताओं के रूप में प्रचलित अधिकांश नाम वे ही हैं जो धर्मशास्त्रों के रचयिताओं के।[5] जैसा कि एक भाष्य-कार ने निर्देश किया है,[6] अन्तर केवल यह है कि गृह्यसूत्र केवल

[1]देखिए स्टेंजलेर इं० स्टू० १।२४४ आदि।

[2]फिर भी कोई भी स्थिति वस्तुतः निर्णयात्मक नहीं है; कारण, इस ग्रंथ की विलक्षण रचना पर विचार करने पर ये अनेक अंश बाद के समय में जोड़े गये प्रतीत होते हैं।

[3]इस विषय पर इं० स्टू० १३।४५८, ४५९ देखिए।

[4]न्याय-व्यवहार के उल्लेख वैदिक साहित्य में बहुत कम मिलते हैं; किन्तु जहाँ ये उल्लेख आते हैं वे प्रायः मनु के उपदेशों से मेल खाते हैं; इसी प्रकार उदाहरण के लिए यास्क के निरुक्ति ३।४ का एक मन्त्र जो स्त्रियों की उत्तराधिकार प्राप्ति की अयोग्यता के विषय में है, और सीधे 'मनु स्वायम्भुवः' को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम इसी अवसर पर मनुः स्वायम्भुव को स्मृतिकार या विधिनिर्माता कहा गया है। [द्र० शांखायन गृह० २।१६; आप० २।१६, १ ब्यूहलेर द्वारा संपा० दण्डविधि के वैदिक स्वरूप पर बर्नेल के 'सामविधान ब्रा०' का आमुख पृ० १५ तथा 'लिट्० से० ब्लि० १८७४, पृ० ४२३]।

[5]मनु के विषय में भी एक मानव गृह्य-सूत्र इसका आधार प्रतीत होता है (?) और महान् पूर्वज मनु का उल्लेख बाद के समय का लगता है (?) [मेरा यह अनुमान, जिसे मैंने संकोच के साथ यहाँ और पृ० १३, ९२ पर व्यक्त किया है अब तक सामान्यतः मान्य हो चुका है और आशा की जाती है कि मानव गृह्य सू० में इसे पूर्ण पुष्टि प्राप्त होगी जो इस बीच प्रकाश में आ चुका है। मैं पहले ही 'अभिनिम्रुक्त' शब्द में यजुस् पाठों के साथ साम्य का एक उदाहरण प्रस्तुत कर चुका हूँ, इं० स्टू० २।२०९, २१०]।

[6]कात्यायन के कर्म-प्रदीप पर आशार्क।

विभिन्न शाखाओं में पाये जाने वाले भेदों तक ही सीमित रहते हैं, जबकि धर्मशास्त्रों में सर्वसामान्य के लिये नियम एवं कर्तव्यों का विधान किया गया है।[१]

जहाँ तक मनु के उपलब्ध स्मृतिग्रन्थ का प्रश्न है, यह स्पष्टतः उस समय इसी रूप में नहीं रहा होगा जिस समय के महाभारत के परवर्ती अंश हैं। यद्यपि महाकाव्य में मनु के जो उद्धरण दिये गये हैं वे विद्यमान ग्रंथ के पाठ से अक्षरशः मिलते हैं, फिर भी इसके

---

[१] अपने हिस्ट० आफ एंशि० सं० लिट्० (१८५९) में मैक्स म्यूल्लेर ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र का कुछ विवरण दिया है जो 'सामयाचारिकसूत्र' नाम से विद्यमान है। उन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित तीन धर्मसूत्रों (गौतम, विष्णु और वसिष्ठ) को भी उसी प्रकार के धर्म-सूत्र बताये हैं; उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि हमें जितने छन्दोबद्ध धर्मशास्त्र मिलते हैं वे अधिक प्राचीन सूत्रों या मौलिक रूप में वैदिक चरणों से संबद्ध कुलधर्मों के अधिक अर्वाचीन पाठ हैं।" (इस विषय पर उन्होंने एकमात्र स्टेंजलेर इं० स्टू० १।२३२ का प्रमाण दिया है, जिन्होंने मेरे पहले के विवरण वही पृ० ५७, ६९, १४३ का निर्देश किया है) योहेण्टगेन ने अपने प्रबन्ध 'उइबेर उस गेसेतस्बूख डेस मनु' (१८६३) इसी मत को अपनाया है (उदाहरण के लिए पृ० ११३ देखिए)। अन्ततः ब्यूहलेर ने अपने 'डाइजेस्ट आफ हिन्दू ला' की भूमिका में, जिसका संपादन उन्होंने आर० वेस्ट के साथ किया है (भाग १, १८६७) सर्वप्रथम इन धर्मसूत्रों के विषय में स्पष्ट सूचना प्रदान की है, जो अपना संबन्ध वैदिक सूत्र-युग से जोड़ते हैं और अंशतः इस युग के हैं भी। इस ग्रंथ के परिशिष्ट में उन्होंने उपर्युक्त चार धर्मसूत्रों तथा बौधायन से दायभाग की विधि पर अनेक अंश प्रस्तुत किये। उन्होंने १८६८ में अलग से सम्पूर्ण आपस्तम्ब-सूत्र का प्रकाशन किया और उसमें हरदत्त के भाष्य से उद्धरण तथा शब्दानुक्रमणिका भी दी (१८७१)। वस्तुतः इस सूत्र में (ऊपर पृ० ९०, टिप्पणी ३ और ४ देखें) आप० श्रौ० सू० के दो 'प्रश्न' आते हैं; और बौधायन के सूत्र के विषय में भी ऐसी ही बात है। ब्यूहलेर के विवेचन के अनुसार उपर्युल्लिखित पाँच सूत्रों के साथ इस वर्ग के लघु ग्रंथों को भी जोड़ना चाहिए जिसमें गद्य तथा पद्य मिश्रित हैं, और जो उशनस्, कश्यप तथा बुध की रचनाएँ कही जाती हैं और कदाचित् इसी वर्ग में हारीत और शांख की स्मृतियाँ भी आती हैं। शेष सभी स्मृतियों का स्वरूप अधिक आधुनिक है और वे या तो (१) प्राचीन धर्मसूत्रों के पद्यबद्ध रूपान्तर हैं या ऐसे रूपान्तरों के अंश हैं (इससे ही मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, बृहस्पति, संवर्त की स्मृतियाँ संबद्ध हैं) अथवा (२) पद्यबद्ध धर्मशास्त्रों से बाद में किये गये संकलन हैं; या (३) गृह्यसूत्रों के पद्यबद्ध पाठ हैं अथवा (४) हिन्दू मतों के प्रवंचनापूर्ण रूप हैं। ब्यूहलेर तथा वेस्ट की रचना के भाग १ में जो विषय आए हैं उनका प्रयोग के सन्दर्भ में, आउरेल माइर ने अपनी रचना 'डस इण्डिश्शे एर्ब्रेष्ट' (वियना १८७३) में किया है; इस विषय पर लिट्० से० बू० १८७४, पृ० ३४० आदि।

विपरीत मनुस्मृति के ऐसे भी अंश उद्धृत किये गये हैं जो यद्यपि विद्यमान पाठ में मिलते हैं, फिर भी उनमें अनेक पाठभेद हैं। इसमें मनु के नाम से ऐसे अंशों का भी उद्धरण दिया गया है, जो वर्तमान संकलन में नहीं पाये जाते हैं और यहाँ तक कि नितान्त भिन्न छन्दों में रखे गये अंश भी मनु के नाम से मिलते हैं। [अन्ततः महाभारत में प्रायः ऐसे भी अंश मिलते हैं जो मनु रचित नहीं बताये गये हैं; किन्तु हमारी 'मनुस्मृति' में शब्दशः उपलब्ध होते हैं।[1] यद्यपि इस स्थिति में हम बहुत कुछ दोष इन्हें उद्धृत करने वाले लेखकों पर मढ़ सकते हैं (हम भाष्यों में यह देख चुके हैं कि याद किये गये अंशों से उद्धृत करने के कारण कितनी अशुद्धियाँ ठीक हो गई हैं) फिर भी यह तथ्य कि हमारे वर्तमान पाठ को इसका वर्तमान रूप अनेक बार परिवर्तित किये जाने के बाद मिला, इसमें आनेवाली अनेक असंगतियों, क्षेपकों एवं पुनरुक्तियों से स्पष्ट है। इस निष्कर्ष का समर्थन काल्पनिक कथाएँ भी करती हैं, जिनके अनुसार मनु के ग्रंथ में मौलिक रूप में १००,००० श्लोक थे, जिन्हें पहले १२,००० श्लोकों में और अन्ततः ४००० श्लोकों में[2] संक्षिप्त किया गया; यह परम्परा कम से कम इस ग्रंथ के अनेक बार परिष्कृत और सम्पादित किये जाने का निर्देश करती है। इसके अतिरिक्त यह निर्णायक तथ्य भी इसका समर्थन करता है कि विधि शास्त्रीय भाष्यों में मनु के साथ-साथ एक वृद्ध मनु[3] और एक बृहन्मनु के भी प्रत्यक्ष उद्धरण दिये गये हैं, और इस कारण इन भाष्यों के समय में इनका अस्तित्व रहा होगा। किन्तु यद्यपि हम 'मनुस्मृति' को वर्तमान रूप दिये जाने के समय का निर्धारण नहीं कर सकते,[4] इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य धर्मसूत्रों की तुलना में इसकी विषयवस्तु कुल मिलाकर अत्यन्त प्राचीन है और इस कारण, सामान्य परम्परा ने इसे कठोरता के साथ इस वर्ग

---

[1]द्र०—होल्टजमन्न, उइबेर डेन ग्रीशिश्शेन उर्सप्रुंग डेस् इण्डिश्शेन थीरक्राइसेज' पृ० १४ (वराहमिहिर की रचना में मनु के स्थान के विषय में केर्न का बृहत्संहिता का प्राक्कथन, पृ० ४२, ४३ तथा मनु के पाली संस्करण पर इं० स्टू० १।३१५ में रोष्ट का विवेचन देखिए।

[2]हमारे वर्तमान पाठ में केवल २६८४ श्लोक हैं।

[3]देखिए, स्टेंजलेर, वही, पृ० २३५।

[4]योहेण्टगन ने इसकी रचना की निचली सीमा (पृ० ८६, ९५) ई० पू० ३५० माना है और ऊपरी सीमा पाँचवीं शताब्दी। किन्तु यह उनकी एक दूसरी कल्पना (पृ० ७७) पर आधृत है जो कि ब्राह्मण और उपनिषद् इत्यादि हमें ज्ञात हैं वे बाद के समय के हैं—यह कल्पना उन्हीं के कथनों से, जिसके अनुसार इसकी उत्पत्ति कृष्णयजुस् के मानव गृह्यसूत्र से हुई है और इसके विविध संस्करणों तथा इस ग्रन्थ का यजुस् की शाखाओं एवं बौद्धधर्म के संबन्ध के विषय में विचारों से सन्देहपूर्ण लगती है; मैं और म्यूल्लेर उनके मत से सहमत हैं; देखिए इं० स्ट्रा० २।२७८, २७९।

के साहित्य में सर्वोपरि स्थान दिया है।[1] इन दूसरे धर्मसूत्रों की संख्या काफी अधिक है और छप्पन तक जा पहुँचती है, और विशिष्ट रचनाओं के जो विविध-संस्करण हमारी जानकारी में आये हैं और लघु, मध्यम, बृहत्, वृद्ध नामों[2] से अभिहित हैं उन्हें जोड़ने पर यह संख्या और भी ऊपर अस्सी तक पहुँच जाती है। जब एक बार ये सभी ग्रन्थ हमारे समक्ष आ जाते हैं तब उनका समय निर्धारित करने में अधिक कठिनाई नहीं हो सकती। विशेषत: उनमें भारतीय विधि के मूलभूत तीन तत्त्वों में एक या दूसरे के प्राधान्य अथवा पूर्ण अभाव के अनुसार अर्थात् गृह्य या नागरिक कर्तव्यों, न्यायव्यवहार और पवित्रता एवं व्रतों के संबन्ध में नियमों में किसी एक का प्रमुख रूप में विचार करने के आधार पर भेद कर सकना संभव है।[3] 'मनुस्मृति' में ये तीनों तत्त्व बहुत कुछ मिश्रित रूप में है, किन्तु कुल मिलाकर इन सबका समान रूप से पूर्ण विवेचन किया गया है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' तीन विषयों के अनुसार तीन अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय प्रायः समान विस्तार का है।

'याज्ञवल्क्य स्मृति' के संबन्ध में—जो इन रचनाओं के अन्तर्गत मनु के साथ पाई जानेवाली एकमेव रचना है—इसका मनु के बाद के समय में होना न केवल इसके विषय-वस्तु के विधिवत् विभाजन से अपितु इस कारण भी स्पष्ट है[4] कि इसमें गणेश और ग्रहों की पूजा, भूमिदान से संबद्ध कर्मों का ताम्रपत्र पर लेख और मठों के संगठन का वर्णन करता है; ये सभी विषय मनु में नहीं पाये जाते। बौद्धों के मतों का खण्डन जो मनु में सन्देहपूर्ण है[5]

---

[1]जिसे जावा को जाने वाले हिन्दू अपने साथ लेते गये।

[2]ब्यूह्लेर ने (वही, पृ० १३ आदि) ७८ स्मृतियों एवं पृथक् स्मृतियों के विभिन्न ३६ पाठों की गणना की है—कुल मिलाकर ११४ ग्रंथ होते हैं। इनके साथ हम उदाहरण के लिए हम उनके केटलाग आफ मैन्यु० फ्राम गुजरात भाग ३ से कोकिल, गोभिल, सूर्यारुण, लघु तथा वृद्ध पराशर, लघु बृहस्पति, लघु-शौनक की स्मृतियों को भी जोड़ सकते हैं; जबकि समूहार्थक नामों के साथ, जिसको उन्होंने जानबूझकर सूची में स्थान नहीं दिया है—चतुर्विंशति, षट्त्रिंशत् (२४ तथा ३६ स्मृतियों के उद्धरण) और सप्तर्षि—हम उसी केटलाग से षडशीति और षण्णवति को भी संभवतः जोड़ सकते हैं? 'अरुणस्मृति' का भी उल्लेख 'केट० सं० मैन्यु० नार्थ वेस्ट प्रावि०' १८७४, पृ० १२२ में किया गया है।

[3]देखिए स्टेन्जलेर, वही, पृ० २३६।

[4]देखिए स्टेंजलेर के याज्ञवल्क्यस्मृति के संस्करण का प्राक्कथन, पृ० ९-११।

[5]यदि ८।३६३ में आए हुए 'प्रव्रजितास्' से वस्तुतः बौद्ध ब्रह्मचारी का अर्थ हो जैसा कि कुल्लू ने माना है तो यह वचन—जो उनके शरीर को पीड़ा पहुँचाने को "अन्य नगरवधुओं को पीड़ा पहुँचाने के तुल्य मानता है और इसके लिये अल्प आर्थिक दण्ड का ही विधान

याज्ञवल्क्य में स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।[1] जो विषय दोनों में पाये जाते हैं उनमें भी हम याज्ञवल्क्य में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता पाते हैं, और विशिष्ट उदाहरणों में, जहाँ दोनों में ठोस अन्तर दिखाई पड़ता है, याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण स्पष्टत: बाद के समय का है। इस रचना के लिये प्राचीनतम सीमा दूसरी शताब्दी ई० के आसपास की मानी जा सकती है; कारण, इसमें मुद्रा के अर्थ में 'नाणक' शब्द का प्रयोग है; और जैसा कि विल्सन ने अनुमान किया है यह शब्द 'कनेर्कि' के सिक्कों से लिया गया है, जिसने ४० ई० में[2] शासन किया था। दूसरी ओर इस समय की निचली सीमा छठीं या सातवीं शताब्दी रखी जा सकती है; कारण, विल्सन के अनुसार इस स्मृति के अंशों को भारत : अनेक भागों में शिलालेखों में उद्धृत किया गया है और स्वयं यह शिलालेखों से बहुत पहले का रहा होगा। इसका दूसरा अध्याय अक्षरश: 'अग्निपुराण' में आया है। यह अंश 'अग्निपुराण' में उद्धृत किया गया है, या 'अग्निपुराण' से उद्धृत किया गया है, इसका निर्धारण नहीं किया जा सकता। इस ग्रन्थ के भी दो पाठ मिलते हैं एक बृहद् याज्ञवल्क्य और दूसरा वृद्ध याज्ञवल्क्य (देखिए कोलब्रूक १।१०३)। इसके शेष स्मृतियों के साथ संबन्ध के विषय में स्टेन्ज़्लर का, जिनके संस्करण के आमुख से उपर्युक्त लिखित सूचनाएँ ली गई हैं, यह मत है कि यह उन सभी रचनाओं का पूर्वगामी है[3]

करता है—न केवल एक कटु उपहास माना जा सकता है जैसा कि 'टॅल्बायज़ व्हीलर ने माना है, (हिस्ट० आफ इंडिया, भाग २ ।५८३) अपितु यह इस बात का प्रमाण भी है कि इस ग्रंथ की रचना उस समय हुई थी जब बौद्ध भिक्षुणियों की दशा गिरी हुई थी। तु० की० पाणिनि के संबन्ध में इसी प्रकार की उक्ति, इं० स्टू० ५।१४१।

[1]तु० की योहेन्टगेन पृ० ११२, ११३।

[2]ऊपर पृ० १९४ देखिए; यही बात वृद्ध गौतम के धर्मशास्त्र के विषय में भी लागू होती है [याकोबी 'ड़े एस्टोलोगीआ इण्डिका ओरिजिनबस पृ०' १४ के अनुसार याज्ञवल्क्य का इस कथन से कि मैथुन 'सुस्थे इन्दौ' करना चाहिए यह पता चलता है कि यूनानी ज्योतिष के 'बारह ग्रहों' का ज्ञान था और वस्तुतः मिताक्षरा भाष्य में इस अंश का ऐसा ही अर्थ किया गया है। अतएव उनके विचार से याज्ञवल्क्य का समय चतुर्थ शताब्दी ई० से पहले का नहीं हो सकता। यह व्याख्या ऐसी नहीं है जिसे मानना नितान्त आवश्यक हो क्योंकि 'सुस्थ' से चान्द्रकला या नक्षत्र का भी निर्देश हो सकता है जो बहुत प्राचीन काल से गर्भाधान और जन्म के लिये शुभ माने जाते थे, द्र० लिट्० सें० ब्लि० १८७३, पृ० ७८७।

[3]यह सत्य है कि म्यूल्लेर ने (द्र० ऊपर टिप्पणी ३२७) विष्णु, गौतम और वशिष्ट के धर्मशास्त्रों का स्वरूप धर्मसूत्रों का माना है; और ब्यूहलेर ने स्पष्ट रूप से इस सूची में उशनस्, कश्यप और बुध के समान ग्रंथों को तथा हारीत और शांख के धर्मशास्त्रों को भी जोड़ा है, यद्यपि इन अन्तिम दो को उतने स्पष्ट रूप में इस सूची में स्थान नहीं दिया

और इस कारण मनु के बाद के बाद की दूसरी अवस्था को इंगित करती है।[1]

[धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त, जो विधि, व्यवहार और पूजा से संबद्ध साहित्य के मूलाधार और मुख्य अंग हैं, हमें 'महाभारत' और 'रामायण' के बृहद् महाकाव्य साहित्य को भी इसी वर्ग के साहित्य में रखना चाहिए; कारण, जैसा कि मैं इनका विवेचन करते समय कह आया हूँ, इनमें उपदेशात्मक तत्त्व महाकाव्य से गुरुतर पड़ता है। 'महाभारत' में मुख्यत: राजा और क्षत्रिय वर्ण के कर्तव्यों के विषय में उपदेश हैं, जो उपदेश अन्यत्र भी नीतिशास्त्रों में और (स्पष्ट रूप में) धनुर्वेद के अन्तर्गत दिये गये हैं। किन्तु इन सबके अतिरिक्त हिन्दू विधिशास्त्र के अनेक दूसरे विषयों का भी इनमें विवेचन और विश्लेषण किया गया है। इसके विपरीत, पुराणों में मुख्यत:, प्रार्थनाओं, व्रतों, उपवासों, बलि, दान, धार्मिक संस्थाओं की स्थापना, तीर्थयात्रा और उत्सवों द्वारा देवताओं की पूजा के विषय में नियम दिये गये हैं और ये नियम पूजाविधि के समयानुसार बदलते हुए स्वरूप के अनुकूल हैं। इस कार्य में उपपुराणों और तन्त्रों ने उनका पूरा साथ दिया है।

पिछली कुछ शताब्दियों में न्यायविधि अथवा वैज्ञानिक विधिशास्त्र का एक आधुनिक शास्त्र भी विकसित हुआ है, जिसमें धर्मशास्त्र के आचार्यों के विभिन्न मतों की तुलना की गई है और उनके औचित्य पर विचार किया गया है। विशेषत: विविध राजाओं और राजकुमारों के तत्त्वावधान में पर्याप्त व्यापक विधिसंहिता के व्यावहारिक अभाव की पूर्ति के लिये बहुत बड़ी मात्रा में विस्तृत संकलनों का निर्माण आधिकारिक रूप में कराया गया है।[2] अंग्रेजों ने भी इस प्रकार के संकलन कराये हैं, जिनसे संस्कृत अध्ययन की वर्तमान परम्परा का श्रीगणेश होता है। ये संकलन अधिकांशत: दक्षिण भारत में हुए थे, जो ग्यारहवीं शताब्दी के बाद से सामान्य साहित्यिक क्रिया का आश्रयस्थान और केन्द्र था। हिन्दुस्तान में मुसलमानों[3] के प्रवेश और आक्रमणों के कारण

गया है। (वशिष्ठ संभवतः सामवेद की व्राह्मायण शाखा के हैं; देखिए पृ० ७९, ८५—इसी वेद से गौतम भी संबद्ध हैं) फिर भी ब्यूह्लेर के विचार से (पृ० २७) मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ, जो यद्यपि "प्राचीन सूत्रों के पद्यबद्ध रूप" मात्र ही हैं, फिर भी "इस समय उपलब्ध कतिपय सूत्र रचनाओं से अधिक प्राचीन काल की हैं।"

[1]निःसन्देह, यह १।४५ से भेद प्रदर्शित करता है; जिसमें धर्मशास्त्रों के बीस रचयिताओं का उल्लेख किया गया है (उनमें स्वयं याज्ञवल्क्य का भी नाम आया है)। ये दोनों श्लोक संभवतः क्षेपक हैं (?)

[2]'डाइजेस्ट आफ हिन्दू ला' (१७९८) के दो प्राक्कथनों में और 'टू ट्रीटिजेज़ आन द हिन्दू ला आफ इन्हेरिटेंस' (१८१०) में कोलब्रूक के विचार देखिए; द्र० मिस० एसे० १।४६१ में कावेल का संस्करण; ब्यूह्लेर की इसी ग्रन्थ की भूमिका, वही, पृ० ३।

[3]उदाहरण के लिये इसे व्यास के निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त किया गया है:

इस क्षेत्र में पर्याप्त बाधा पड़ी और केवल पिछली शताब्दियों में ही उत्तरी भारत में संस्कृत अध्ययन को विशेषत: काशी (बनारस) और बंगाल में पुन: प्रश्रय मिला है। कुछ सम्राट विशेषत: अकबर और उसके दो वंशजों जहाँगीर और शाहजहाँ[१]—जिन दोनों ने १५५६-१६५६ तक राज्य किया था—हिन्दू साहित्य के श्रेष्ठ आश्रयदाता थे।

"सम्प्राप्ते तु कलौ काले विन्ध्याद्रेर् उत्तरे स्थितः। ब्राह्मण यज्ञरहिता ज्योतिः-शास्त्र-पराङ्मुखाः ॥ कलियुग में विन्ध्य पर्वत के उत्तर में निवास करने वाले ब्राह्मण यज्ञ से च्युत और ज्योतिष से विमुख हो जाते हैं।" दूसरे धर्मसूत्र के निम्नलिखित श्लोक में भी यही बात है: "विन्ध्यस्य दक्षिणे भागे यत्र गोदावरी स्थिता। तत्र वेदाश् च यज्ञाश्च् च भविष्यति कलौ युगे।" "कलियुग में वेद और यज्ञों का स्थान विन्ध्य के दक्षिण में रहेगा, जिस प्रदेश में गोदावरी बहती है।" अत्रि और जगन्मोहन के धर्मशास्त्रों में भी इसी प्रकार की बातें आती हैं।

[१]इनमें दूसरे का पुत्र दारा शिकोह भी।

२६ : बौद्ध साहित्य

इसके साथ ही हम संस्कृत साहित्य के अपने सामान्य पर्यवेक्षण के उपसंहार पर आते हैं, किन्तु हमें अभी इसके एक नितान्त विशिष्ट विभाग के विषय में कहना शेष है, जिसके अस्तित्व का ज्ञान बीस या तीस वर्ष पहले ही हुआ था; यह विभाग है बौद्ध संस्कृत रचनाओं का। इसके लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम स्वयं बौद्ध धर्म के उद्भव के विषय में कुछ विवेचन प्रस्तुत करें।[१]

बुद्ध 'जगे हुए (अज्ञान से)' 'जाग्रत' के, जो सामान्यतः धर्मात्मा व्यक्ति को दी[२] गई उपाधि है, मौलिक अर्थ के विषय में मैं पहले ही अनेक बार कह चुका हूँ (पृ०२०, १५३) मैं यह भी पहले कह चुका हूँ कि बौद्ध मत मूलतः विशुद्ध दार्शनिक स्वरूप का था और उस मत के अनुरूप था जिसे बाद में सांख्य दर्शन नाम से अभिहित किया गया है, और इस मत के एक प्रतिनिधि द्वारा जनता को इसका उपदेश दिये जाने के फलस्वरूप शनैः शनैः धर्म के रूप में परिणत हो गया।[३] स्वयं बौद्ध परम्परा में अपने विशिष्ट ढंग से बुद्ध के सिद्धान्त की इस उत्पत्ति के तथा इसकी सांख्य मत से उत्तरकालीनता और उस पर आश्रित होने के तथ्य के अवशेष सुरक्षित है।[४] इस प्रकार परम्परा बुद्ध को कपिलवस्तु अर्थात् कपिल के निवासस्थान में उत्पन्न बताती है और सांख्य दर्शन के प्रसिद्ध प्रवर्त्तक कपिल को एकमत से बहुत पूर्वकाल का बताती है। इसके अनुसार बुद्ध की माता माया देवी थीं और इस

---

[१]तुलना, सी० एफ० कोप्पेन का उत्कृष्ट ग्रन्थ 'डी रिलीजन डेस् बुद्ध' (१८५७, १८५९) दो भाग।

[२]'भगवन्त' नाम जो विशेषतः बुद्ध के लिये प्रयुक्त होता है, एक सामान्य आदर-सूचक पद भी है, जिसका प्रयोग अब भी ब्राह्मणों में सभी प्रकार के ऋषियों के लिये होता है और विशेषतः विष्णु तथा कृष्ण के लिये यह नाम आता है। इसका संक्षिप्त रूप 'भवन्त' वस्तुतः मध्यमपुरुष के सर्वनाम का स्थान ग्रहण करता है [इं० स्टू० २।२३१, १३।३५१, ३५२]

[३]द्र०—इं० स्ट० १।४३५, ४३६।

[४]चरकसंहिता के आरम्भ में आई हुई प्राचीन ऋषियों की सूची में हम अन्य ऋषियों के साथ एक 'गौतमः सांख्य' का भी उल्लेख पाते हैं; इसकी व्याख्या आधुनिक संपादक ने इस प्रकार की है: 'बौद्धविशेष-गौतम-व्यावृत्तये।', किन्तु वस्तुतः इस स्थान पर बुद्ध

नाम से भी स्पष्टतः सांख्य की 'माया' की ओर निर्देश है।[1] इसके अतिरिक्त, इसमें बुद्ध को पूर्वजन्म में देवों की योनि में श्वेतकेतु[2] नाम का बताया गया है—यह नाम 'शतपथ-ब्राह्मण' में काप्य पतंचल के समकालीन एक व्यक्ति का नाम है, जिनके साथ संभवतः कपिल का संबन्ध जोड़ा जा सकता है। अन्ततः, कपिल के मत के एक प्रमुख आचार्य पञ्चशिख को स्पष्ट रूप से गन्धर्वों की कोटि में रखा गया है। बौद्ध जातकों में जिन आचार्यों को बुद्ध के समकालीन बताया गया है, उनमें से अनेक के नाम वैदिक साहित्य में केवल उसकी तीसरी अवस्था सूत्रकाल में ही उपलब्ध होते हैं; उदाहरण के लिये, इस प्रकार के नाम निम्नलिखित हैं: कात्यायन, कात्यायनीपुत्र, कौण्डिन्य, आग्निवेश्य, मैत्रायणीपुत्र, वात्सीपुत्र,[3] पौष्करसादि; किन्तु ब्राह्मण-काल के किसी भी आचार्य के नाम का उल्लेख नहीं मिलता[4] यह तथ्य नितान्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बौद्धधर्म का उद्भव उसी क्षेत्र और जनपद में हुआ था, जिस जनपद का हम 'शतपथ-ब्राह्मण' को मानते हैं। वह जनपद हैं शाक्यों और लिच्छवियों में कोसलों और विदेहों का। शाक्य वंश के ही स्वयं बुद्ध थे; और एक आख्यान के अनुसार[5] वे पश्चिम से सिन्धु के तट पर स्थित पीतल

के प्रति आदर पहले ही प्रकट किया गया है। इसके थोड़ी ही देर बाद एक "परिशिष्ट (!) भिक्षुर आत्रेयः" का उल्लेख किया गया है।

[1]माया का संबन्ध सांख्य से नहीं अपितु वेदान्त से है।

[2]क्या महाभारत १२।२०५६ के आख्यान का इससे कोई संबन्ध हो सकता है कि श्वेतकेतु का उसके पिता उद्दालक ने इसलिये परित्याग कर दिया था कि वह "मिथ्या विप्रान् उपचरन्" था? श्वेतकेतु नाम इसके अतिरिक्त बुद्ध के अन्य जन्मों में भी आता है, वेस्टरगार्ड का केटलाग, सं० ३७०, पृ० ४०, किन्तु ५३९ में जातकों में प्रायः प्रत्येक वस्तु उल्लिखित प्रतीत होती है।

[3]'पुत्र' शब्द से अन्त होने वाले इन नामों के साथ, जो केवल बौद्ध कथाओं और शतपथ-ब्राह्मण के वंश में पाया जाता है, बौद्धकथाओं में शारिपुत्र, शारिकापुत्र नामों में भी आता है।

[4]जब तक कि बुद्ध के गुरु आराड का संबन्ध ऐत० ब्रा० ७।२२ (?) के आराल्हि सौजात से न मान लिया जाय। इन नामों की समानता पर आधृत विशेष निष्कर्ष यह है कि बुद्ध के आगमन और ब्राह्मण साहित्य की अन्तिम अवस्था आरण्यक और प्राचीन सूत्रों के युग का समकालीन है; इं० स्टू० ३।१५८।

[5]द्र०—सोमा कोरोसी (Csoma Korosi) जर्न० एशि० सो० बंगाल, अगस्त १८३३; विल्सन, एरिआना एण्टि, पृ० २१२: "इस आख्यान की सत्यता सन्दिग्ध हो सकती है; किन्तु यह संभवतः शकों या इण्डो-सीथियन लोगों से कुछ संबन्ध प्रकट करता है, जो बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं के उपरान्त पट्टालेने के शासक थे।" इस आख्यान की रचना संभवतः

नगर से आये थे। इस परम्परा का सुदृढ़ आधार हो या नहीं, मैं उनका संबन्ध शाक्यायनियों से, जिनका निर्देश 'शतपथ-ब्राह्मण' के दसवें मण्डल में किया गया है, तथा 'मैत्रायण-उपनिषद्' के शाकायनों से जोड़ने के पक्ष में हूँ। 'मैत्रायण उपनिषद्' में जगत् की शून्यता के विषय में ठीक बौद्ध मत का प्रतिपादन किया गया है (द्र० ऊपर पृ० ८७, १२४)।[1] कोसल विदेह जनपद में यह मत और इससे संबद्ध प्रव्राजक या भिक्षु के रूप में भिक्षाचरण के व्यवहार को याज्ञवल्क्य और उनके राजा जनक ने प्रोत्साहन दिया था; और इस प्रकार बौद्ध धर्म के विस्तार का मार्ग प्रशस्त हुआ था (द्र० पृ० १२३, १३४, २३०)। याज्ञवल्क्य ने 'वृहदारण्यक' में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे वस्तुतः बौद्ध धर्म के सिद्धान्त हैं और यही बात योग दर्शन से संबद्ध परवर्ती काल के 'अथर्वोपनिषद्' के विषय में भी है। यही नहीं, अपितु ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं बौद्ध कथा बुद्ध को एक ऐसे समय का मानती है जो जनक के समय से मिलता है; और इस कारण याज्ञवल्क्य के समय से भी मिलता है। कारण, यह कथा बुद्ध के समकालीन एक राजा अजातशत्रु का निर्देश करती है; और इस नाम का एक राजा 'वृहद-आरण्यक' और 'कौषीतकी-उपनिषद' में जनक के समकालीन तथा प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आता है। इस काल के राजाओं के विषय में बौद्ध कथा में जो अन्य विवरण दिये गये है वे वस्तुतः उपर्युल्लिखित रचनाओं में आए हुए विवरणों से कोई साम्य नहीं रखते।[2] बौद्धों के आख्यानों में अजातशत्रु मगध के राजा कहे गये हैं जबकि 'वृहदारण्यक' और 'कौषीतकी-उपनिषद्' में वे काशी जनपद के सम्राट् के रूप में आते हैं; (अजातशत्रु नाम अन्यत्र भी आता है जैसे युधिष्ठिर की पदवी के रूप में)। फिर भी एक बात और देखने में आती है कि 'शतपथ-ब्राह्मण' के पाँचवें काण्ड में अजातशत्रु के पुत्र भद्रसेन को जनक और याज्ञवल्क्य के समकालीन आरुणि शाप देते हैं (देखिए इं० स्टू० १।२१३)। चूंकि बौद्धकथा में भी एक भद्रसेन का उल्लेख है—जो अजातशत्रु की छठीं पीढ़ी में हुए हैं—हम यह मानने का लोभ संवरण नहीं कर सकते कि उपर्युक्त शाप का अवसर भद्रसेन के परम्पराविरोधी और ब्राह्मण धर्मद्रोही विचारों के कारण ही उपस्थित

कनेंकि के समय में हुई थी, जो एक शक राजा था। उसके बौद्ध धर्म के प्रति उत्साह के प्रदर्शन के निमित्त इसे गढ़ा गया था।

[1]इसी प्रकार योहेन्टगेन ने इउबेर उस गेसेट्जबुख डेस मनु, पृ० ११२, में इस रचना में बौद्धविचारों का अन्वेषण किया है और विशेषतः उसका संबन्ध मानव शाखा से प्रदर्शित किया है, जिससे वह उत्पन्न हुआ है।

[2]अजातशत्रु और जनक के क्रमशः बुद्ध और याज्ञवल्क्य से शिक्षा पाने के पूर्व के इनके छः आचार्यों के विषय में बौद्ध कथाओं और 'बृहदारण्यक' के वर्णन में पाई जाने वाली समानता अत्यन्त उल्लेखनीय है। उ० इं० स्टू० ३।१५६, १५७।

हुआ होगा। सम्प्रति इससे अधिक स्पष्ट कुछ और नहीं कहा जा सकता और यह भी संभव है कि दोनों अजातशत्रु या दोनों भद्रसेन समाननामधारी व्यक्तियों के अतिरिक्त और कोई नहीं थे। यही बात 'वृहदारण्यक' के ब्रह्मदत्त और बौद्धकथाओं में आए हुए इसी नाम के दो राजाओं के विषय में भी है। जो कुछ भी हो, यह पर्याप्त महत्वपूर्ण है कि इन कथाओं में कुरु-पञ्चालों का नाम न तो कहीं समास के पद के रूप में आया है और न स्वतन्त्र रूप में ही;[१] जबकि पाण्डवों को बुद्ध के समय में रखा गया है और वे लूटपाट से जीविका निर्वाह करने वाली जंगली और पर्वतीय जाति के रूप में दिखाई पड़ते हैं।[२] बुद्ध की शिक्षा मुख्यतः मगधदेश में फूली-फली, जो सीमावर्ती प्रदेश होने के कारण संभवतः कभी भी ब्राह्मण संस्कृति के पूर्ण प्रभाव में नहीं आ सका था। इससे यहाँ के मूल निवासियों ने सदैव अपना एक प्रकार का निजी प्रभाव बनाये रखा और उन्होंने अब स्वयं को ब्राह्मणीय पुरोहितप्रभुत्व और वर्णव्यस्था से मुक्त करने के अवसर से लाभ उठाया। अथर्वसंहिता (दे० पृ० १३४ और वाजसनेयि-संहिता' का तीसवाँ अध्याय, पृ० १००, १०१) में इन मागधों का जो वैमनस्यपूर्ण उल्लेख किया गया है वह बौद्धधर्म के पूर्वकाल में उनकी ब्राह्मण विरोधी प्रवृत्तियों की ओर ही संकेत करता प्रतीत होता है। इसके विपरीत, सामसूत्र में (देखिए पृ० ६९) आए हुए इसी प्रकार के उल्लेख[३] मगध में बौद्धों की वास्तविक समृद्धि की अवस्था को इंगित करने वाले कहे जा सकते हैं।[४]

जहाँ तक बुद्ध के समय से संबद्ध परम्परा का प्रश्न है, अनेक बौद्ध संवतों में, जो उनकी मृत्यु के वर्ष से आरम्भ होते हैं, परस्पर बहुत अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तर के बौद्धों में चौदह विभिन्न विवरण पाये जाते हैं, जो २४२२ ई० ५० से ५४६ ई० पू० तक के हैं। इसके विपरीत, दक्षिणी बौद्धों के संवत् में प्रायः सामंजस्य है और वे ५४४ या ५४३ ई० पू० से प्रारम्भ होते हैं। हाल ही में इस दूसरे समय को इस आधार पर सही मान लिया गया है कि यह ऐतिहासिक स्थितियों में सर्वाधिक संगत बैठता है, यद्यपि ऐतिहासिक रूप में प्रमाणित चन्द्रगुप्त के समय को ध्यान में रखने पर इसमें ६६ वर्षों का अन्तर आ

---

[१]उत्तरी बौद्धों ने कुरुओं का बार-बार उल्लेख किया है; देखिए इं० स्टू० ३।१६०, १६१।

[२]'ललितविस्तर' की भूमिका में (फाउकाक्स, पृ० २६) पांच पाण्डवों का उल्लेख भवतः सम्पूर्ण अंश सहित एक क्षेपक है, और इस ग्रंथ में पाण्डवों के विषय में जो अन्य उल्लेख आये हैं उनसे इस उल्लेख का कथमपि साम्य नहीं बैठता।

[३]और एक दूसरे अवसर पर 'बौधायन सूत्र' में भी; देखिए टिप्पणी १२६।

[४]परवर्ती वैदिक साहित्य में अन्य संबन्ध सूत्रों के लिए पृ० १२९, १३८ [९८, ९९, १५१] देखिए; इं० अल्ट० २।७९ में लास्सेन ने महाभारत २।७९९ में पाये जाने वाले मगध की राजधानी राजगृह्य के आसपास के पर्वतों के बौद्ध नामों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

पड़ता है। किन्तु उत्तरी बौद्धों, तिब्बतियों और चीनियों ने अपने संवत् से कोई संबन्ध न रखते हुए भी जो इस परम्परा के बाद के समय का रहा होगा[1]—राजा कनिष्क, 'कनेर्कि' के राज्य को, जिसके तत्त्वावधान में तीसरी (या चौथी) बौद्धसंगति बुलाई गई थी, बुद्ध की मृत्यु के ४०० वर्ष बाद के समय में माना है। मुद्राओं के प्रमाण के अनुसार, इस कनिष्क ने ४० ई० तक शासन किया (द्र०-लास्सेन, इं० अल्ट० २।४१२, ४१३) जिससे बुद्ध की मृत्यु का समय ३७० ई० ठहरता है। इसी प्रकार तिब्बतियों ने नागार्जुन को, जो 'राजतरंगिणी' के अनुसार कनिष्क के समकालीन थे, बुद्ध की मृत्यु से ४०० वर्ष बाद के समय में रखा है, जबकि दक्षिणी बौद्धों के अनुसार वे इस घटना के ५०० वर्ष बाद के समय में हुए थे। अतएव सम्प्रति किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता।[2] पहली दृष्टि में तो यह संभव प्रतीत होता है कि कनेर्कि राजा के राज्यकाल में जो संगति हुई थी, जिस समय से उत्तरी बौद्धों के धर्मशास्त्रों के वर्तमान रूपों का नाममात्र के लिये जन्म हुआ, वह वस्तुत: बुद्ध की मृत्यु के ४०० वर्ष बाद हुई थी न कि ५७० वर्षों बाद। यह भी संभव प्रतीत होता है कि उत्तरी बौद्धों ने, केवल जिनके पास ये धर्मग्रन्थ पूर्णरूप में विद्यमान हैं, इन ग्रन्थों के संकलनकाल की स्थितियों के संबंध में और अतएव नागार्जुन की तिथि के विषय में भी उत्तरी बौद्धों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक ज्ञान सुरक्षित रखा है। इस संकलन का ज्ञान नहीं है। इनके धर्मग्रन्थ अधिक प्राचीन रूप में है, जिनके श्रीलंका से २४५ ई० में लाये जाने और वहाँ प्राय: ८० ई० पू० में लेखबद्ध किये जाने की बात कही गई है (लास्सेन इं० अल्ट० २।४३५)। इन अनेक संवतों में जिस एक का प्राचीन समय में प्रयोग प्रमाणित किया जा सकता है वह लंका का संवत् है, जो अन्य दक्षिणी संवतों के समान ४४४ ई० पू० से आरम्भ होता है। यहाँ जिस काल का संकेत किया गया है वह चतुर्थ शताब्दी ई० का अन्तिम समय है; कारण, दीपवंश—जो पाली श्लोकों में लिखित श्रीलंका का इतिहास है और इसी काल में रचा गया था, इसी संवत् का प्रयोग करता है, जिसके कारण यह बहुत कुछ प्रामाणिक ठहरता है।

यदि हम बुद्ध के जीवन के विवरणों को सभी अतिमानवीय तथ्यों से पृथक् करते हैं तो हम पाते हैं कि वह एक राजा के पुत्र थे, जिनके मन में सांसारिक वस्तुओं की असारता का तीव्र विचार आया। उन्होंने अपने संबन्धियों का परित्याग कर दिया और उस समय

---

[1] जो व्हेन त्सांग में सातवीं शताब्दी ई० में पाया जाता है।

[2] इस विषय पर मैक्सम्यूल्लेर (१८५९) हिस्ट० ए० सं० लि० पृ० २६४ इत्यादि; वेस्टेरगार्ड (१८६०) 'इउबेर बुद्धाज टोडेसयार' (ब्रेस्लाउ १८६२) और केर्न, 'ओवर डि यारटेलिंग डेर त्सुईडेल बुद्धिस्टेन' (१८७४) के विवेचनों से भी अभी कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकला है; तुलना, मेरा, इं० स्ट्रा०, २।२१६, लिट्, से० ब्ल० १८७४, पृ० ७१९।

से भिक्षाचरण से निर्वाह करने लगे; सर्वप्रथम वे चिन्तन में लगे और फिर अपने अनुयायियों को उपदेश देने लगे। उनका धर्म यह था[1]: "मनुष्य के वर्तमान जीवन का भाग्य पिछले जीवन के कर्मों का फल है; किसी भी पाप कर्म का दण्ड मिले बिना नहीं रहता और किसी भी शुभ कर्म का फल भी मिले बिना नहीं रहता। इस भाग्य से जो मनुष्य को पुनर्जन्म के बन्धन में डाले रहता है, वह केवल अपनी इच्छाशक्ति को एकमात्र इस चक्र से मुक्ति के विचार पर केन्द्रित रखकर, केवल इसी ध्येय पर एकाग्रचित होकर, और उत्साह तथा दृढ़ता के साथ केवल उत्तम कर्मों में रत होकर ही बच सकते हैं;[2] एवं इसके द्वारा अन्ततोगत्वा उन सभी मानसिक विकारों को दूर कर, जो इस विश्व के कारागार के कठोर बन्धन माने जाते हैं, वह पुनर्जन्म से पूर्ण मुक्ति का अभिलषित लक्ष्य प्राप्त करता है।" वस्तुतः इस उपदेश में कोई भी बात पूर्णतः नवीन नहीं है। प्रत्युत, यह ब्राह्मण धर्म के समकक्ष सिद्धान्तों से एकदम अभिन्न है। केवल जिस रूप में बुद्ध ने इसका उपदेश दि .ा और उसे प्रोत्साहन दिया वह बहुत कुछ एक नवीन और अपरिचित वस्तु था। कारण, ब्राह्मण अपने ही आश्रम में उपदेश देते थे और केवल अपने ही वर्णों के शिष्यों को शिक्षा देते थे, किन्तु बुद्ध ने अपने शिष्यों के साथ देश में भ्रमण किया और सम्पूर्ण जनसमूह को अपने धर्म का उपदेश देते हुए घूमते रहे[3] और यद्यपि वे अब भी विद्यमान वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करते हैं और इसकी उत्पत्ति पिछले कर्मों की शुभाशुभफलप्राप्ति के सिद्धान्त द्वारा ठीक उसी प्रकार बताते हैं, जिस प्रकार स्वयं ब्राह्मणों ने बताई थी तथापि उन्होंने सभी वर्णों के मनुष्यों को अपने धर्म में बिना भेद-भाव के सम्मिलित किया। इन्हें इन्होंने अवस्था एवं ज्ञान के अनुसार समाज में स्थान दिया और इस प्रकार उन्होंने स्वयं समाज में उन सामाजिक भेदभावों का उन्मूलन किया जो जन्मना माने जाते थे और सभी मनुष्यों के लिये जन्म के बन्धनों से मुक्ति का क्षितिज उद्घाटित कर दिया। इससे ही पता चलता है कि उनके सिद्धान्त को कितनी महान् सफलता मिली थी। सम्पूर्ण पीड़ित जनसमूह उन्हें अपना भाग्य-विधाता और परित्राता मानकर उनकी ओर मुड़ा।[4] यदि उन्होंने इतने ही से

---

[1]यद्यपि कहीं भी यह इतने स्पष्ट रूप में नहीं व्यक्त किया गया है; किन्तु यह अनेक कथाओं का मूलतत्त्व प्रतीत होता है।

[2]देखिए स्मिट (Schmidt) 'ड्साग्लुन् डेर वाइज़ एण्ड थोर्' प्राक्कथन पृ० ३३।

[3]द्र०—लास्सेन, इं० अल्ट० २।४४०, ४४१, बर्नाउफ, इण्ट्रो० आ ले, हिस्टायरे डु बुद्धिज्मे इण्डियन, पृ० १५२-२१२।

[4]इन स्थितियों में यह वस्तुतः आश्चर्यजनक है कि बुद्धधर्म को भारत से बाहर करना संभव हो सका था। ब्राह्मणों की अधिक संख्या और उनका प्रभाव ही केवल इस तथ्य का कारण नहीं था; कारण, सम्पूर्ण जनसमुदाय के अनुपात में ब्राह्मणों की संख्या बहुत कम थी। मेरा विचार यह है कि बौद्धधर्म में जिस आचार की कठोरता की आवश्यकता

ब्राह्मणीय पौरोहित्य प्रभुता के मूल में प्रहार किया तो उन्होंने यज्ञों को—जिनके सम्पादन का एकमात्र विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त था नितान्त व्यर्थ और निष्फल घोषित करके, और इसके विपरीत अन्तिम निर्वाण के एकमात्र वास्तविक साधन के प्रति उदात्त विचार और उदात्त व्यवहार की शिक्षा देकर भी उन्होंने इस कार्य को पूरा किया। उन्होंने अपने विचारों की सत्यता से पूणरूपेण प्रेरित होकर अपने को सर्वोच्च ज्ञान का अधिकारी बताकर और सर्वोच्चज्ञान के रूप में वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकृत कर के भी इस कार्य को पूरा किया। ये दोनों सिद्धान्त भी कथमपि नवीन नहीं थे। उस समय तक ये विचार कतिपय भिक्षुओं या संन्यासियों तक ही सीमित थे और बुद्ध के पहले किसी ने भी इनका खुले आम-प्रचार नहीं किया था।

परम्परा के अनुसार, बुद्ध की मृत्यु के तत्काल बाद मगध में उनके शिष्यों ने एक सभा की, जिसमें बौद्ध धर्म के ग्रंथों का संकलन हुआ था। इनमें तीन विभाग (पिटक) थे। प्रथम-'सूत्र'[१] -में स्वयं बुद्ध की उक्तियाँ और उपदेश तथा श्रोताओं के साथ किये गये उनके संलाप थे। 'विनय' के अन्तर्गत आचार के नियम हैं और 'अभिधर्म' में शास्त्रीय तथा दार्शनिक विवेचन हैं। दक्षिण भारत में प्रचलित पारम्परिक उक्तियों के अनुसार, एक सौ वर्ष बाद, किन्तु उत्तरी बौद्धों के अनुसार एक सौ दस वर्ष बाद दूसरी बौद्ध संगति आचार-विषयक दोषों को जो इस बीच प्रवेश पा गये थे, दूर करने के लिये, पाटलिपुत्र में बुलाई गई थी। तीसरी संगति के विषय में उत्तरी और दक्षिणी बौद्धों के विवरणों में परस्पर भेद पाया जाता है (लास्सेन, इं० अल्ट० २।२३२)। उत्तरी बौद्धों के अनुसार यह संगति अशोक के राज्य के सत्रहवें वर्ष में हुई थी, जो २४६ ई० पू० का समय ठहरता है और यह इस पारम्परिक कथन से बहुत भिन्न है कि यह सभा बुद्ध की मृत्यु के २१८ वर्ष बाद अर्थात् ३२६ ई० पू० में हुई थी। इस संगति के समय विधि-विषयक उपदेशों को पुनः प्राचीन पवित्र रूप दिया गया और बुद्ध के मत का प्रचार करने के लिये दूतों को भेजने का निश्चय भी किया गया। इसके विपरीत उत्तरी बौद्ध तीसरी संगति का समय बुद्ध की मृत्यु से ४०० वर्ष बाद काश्मीर के एक तुरुष्क (शक) राजा कनिष्क के राज्य में मानते हैं जिसका शासन समय मुद्राओं के प्रमाण के आधार पर ४० ई० तक सिद्ध हो चुका

पड़ती थी वह आगे चलकर लोगों के लिए असह्य हो गई। मौलिक धर्म भी संभवतः बहुत सरल था। ब्राह्मण इन दोनों स्थितियों का लाभ उठाना अच्छी तरह जानते थे। जिस कृष्ण-पूजा का उन्होंने विकास किया था वह जनता के ऐन्द्रिय सन्तोष का साधन बना, जबकि शक्तियों की सभी प्रकार की पूजाविधियाँ बौद्धधर्म के भारत से निष्क्रमण के उपरान्त प्रारम्भ हुईं।

[१]केवल इसी नाम से यह संकेत मिल सकता है कि स्वयं बुद्ध सूत्रकाल में हुए थे न कि ब्राह्मण काल में।

है। उत्तरी बौद्धों का धर्मशास्त्र, जिसे इस संगति के समय में व्यवस्थित किया गया था, अब भी विद्यमान है। इनके संस्कृत भाषा के मूल रूप भी हाल ही में नेपाल में[1] प्राप्त हुए हैं और इनका पूर्ण तिब्बती अनुवाद भी 'काग्यूर' नाम से मिलता है, जिसमें एक सौ भाग हैं[2] तथा इनका आंशिक अनुवाद चीनी, मंगोलियन, काल्मुक और दूसरी भाषाओं में भी

---

[1]वहाँ के ब्रिटिश रेजिडेण्ट बी०एच० होड्गसन द्वारा, जिन्होंने इनकी पाण्डुलिपियाँ कलकत्ता, लन्दन और पेरिस की एशियाटिक सोसाइटी को प्रदान कीं। १८३७ पेरिस के संग्रह में ऐसी प्रतिलिपियाँ भी रखी गईं जिन्हें 'सोसाइटी एसिआटिके' ने होड्गसन के माध्यम से लिखवाया था। इसके आधार पर बर्नाउफ ने अपनी महान् रचना 'इण्ट्रोडक्शन ए ले, हिस्टायरे डु बुद्धिज्मे इण्डियन' पेरिस १८४७ का प्रणयन किया जिसके बाद १८५२ में उन्होंने एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ 'लोटस डि ला बोन्ने लोई' का अनुवाद प्रस्तुत किया; देखिए इं० स्टू० ३।१३५, १८६४, ब्रिटिश म्यूजियम और कैम्ब्रिज की यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी के पास भी अब ऐसी पाण्डुलिपियाँ हैं। होड्गसन के बौद्ध सं० पाण्डुलिपियों के संग्रह की जो रायल एसियाटिक सोसाइटी के आधिपत्य में है, एक सूची कावेल और इगेलिंग ने हाल ही में प्रकाशित की है।

[2]इस तिब्बती अनुवाद के विस्तार और विषय के संबन्ध में प्रथम (और आज तक एकमात्र) जानकारी हंगरी के यात्री सोमा कोरोसी से प्राप्त हुई जो इस शताब्दी के 'एंक्वेटिल डुपेरोन' हैं, वे अनो [illegible] क्षमता और शक्ति वाले पुरुष हैं; उन्होंने तिब्बत में बहुत दिनों तक निवास किया और अपने तिब्बती व्याकरण एवं शब्दकोश के द्वारा उन्होंने इस भाषा को यूरोपीय विद्या के अधीन बना दिया है। काग्यूर से दो पर्याप्त बृहत रचनाओं का संपादन तथा अनुवाद हो चुका है। संगेलुन् (Dsanglun) का सेंट पीटर्सबर्ग में स्मिट ने और 'रिग्या चेर रोल पा' (ललितविस्तर) का पेरिस में फाउकाक्स ने संपादन किया है। [उस समय से विशेषतः एल० फीअर ने अपने 'टेक्टेस टीरेस डू कान्दजोडर' (१८६४-७१, ११ भाग) द्वारा इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है; और शीफनेर ने 'विमल-प्रश्नोत्तर-रत्नमाला' (१८५८) के अपने संस्करण द्वारा बहुत साहित्य सेवा का कार्य किया है—इसके संस्कृत पाठ का संपादन बाद में फाउकाक्स ने किया है (तु० की० इं० स्ट्रा० १।२१० आदि) तथा 'भारताई रेस्पोन्सा' भी शीफ़नेर की एक रचना है। हाल ही में शीफनेर ने काग्यूर से बौद्ध कथाओं के एक वर्ग का अनुवाद 'महाकात्यायन एण्ड केनिंग सन्द प्रदजोत' नाम से किया है। इन कथाओं में नवीं कथा में (पृ० ७, २० आदि) वह कथा है जिसे Philosopher's Ride का प्राचीनतम् रूप कहते हैं और यह कथा इसमें तथा पंचतन्त्र में स्वयं राजा के विषय में कही गई है, जबकि नवीं शताब्दी की एक अरबी कथा में जो परिशिष्ट में दी गई है और हमारे मध्ययुगीन पाठ में है, यह कथा राजा के बुद्धिमान मन्त्री के विषय में कही गई है।

उपलब्ध है। इसके विपरीत दक्षिणी बौद्धों के धर्मग्रन्थ संस्कृत में बिल्कुल नहीं मिलते। उनके विषय में यह कहा गया है कि अशोक के समय में हुई तीसरी संगति के अवसर पर उनके संकलन होने के एक वर्ष बाद (अर्थात् २४५ ई० पू० में) उन्हें श्रीलंका के धर्मदूत महेन्द्र इस द्वीप में ले आये थे और उन्होंने इसका अनुवाद स्थानीय सिंहली भाषा में किया था।[1] १६५ वर्ष बाद ही (८० ई० पू० में) इन्हें उस भाषा में लेखबद्ध किया गया था और इस बीच उनका उपदेश मौखिक होता रहा।[2] इसके ५०० वर्ष बाद (४१० और ४३२ ई० के बीच) उनका अनुवाद पाली में हुआ (तुलना लास्सेन, इं० अल्ट० २।४३५)। ये ग्रन्थ इस समय पाली भाषा में ही उपलब्ध हैं और इसी भाषा से इसके अनुवाद सुदूर भारत की अनेक भाषाओं में किये गये थे।[3] जहाँ तक इन उत्तरी बौद्धों के दक्षिण बौद्धों के साथ संबन्ध का प्रश्न है, इस समय इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है कि दोनों में ही तीन प्रकार का वर्गीकरण (सूत्र, विनय, अभिधर्म) पाया जाता है। विस्तार की दृष्टि से दक्षिणी बौद्धों के ग्रंथ उत्तरी बौद्धों के ग्रंथों की तुलना में कथमपि नहीं आ सकते और न वे प्रामाणिकता की दृष्टि से ही उनकी बराबरी कर सकते हैं[4], जैसा कि पिछले विवेचन से[5]

---

[1]यह स्वयं पालि ग्रंथ नहीं था, परन्तु इसकी मौखिक व्याख्या (अत्थ-कथा) थी, जिसका सिंहली में अनुवाद किया गया था। (आगे की टिप्पणियाँ देखिए)। कम से कम ऐसा महावंश की परम्परा में कहा गया है। इसके अतिरिक्त यह अत्यन्त सन्देहास्पद है कि वर्तमान त्रिपिटिकों में उस समय कितने अस्तित्व में रहे होंगे। क्योंकि यदि हम भब्र के संदेश में जिसे राजा पियदसि ने उस समय उत्पन्न हुए भेदभाव को अपनाने में लगी हुई मगध की जनता के प्रति कहा है—धर्मग्रंथों (धम्म-पलियायानि) के जो रूप उस समय विद्यमान थे उनके विषय में आए हुए कथनों की तुलना करें तो एक महान् अन्तर दिखाई पड़ता है। बरनाउफ का 'लोटस्' पृ० ७२४; इं० स्टू० ३।१७२ देखिए।

[2]देखिए महावंश, अध्याय ३३ पृ० २०७, टर्नाउर, प्रीफेस, पृ० २९; म्यूर, ओ० सं० टेक्स्ट्स, २।६९, ७० (५७२) इं० स्ट० ५।२६।

[3]अर्थात् पुनः इसका पहले वाली भाषा में अनुवाद किया गया; कारण यह पवित्र भाषा वहीं रहनी चाहिए थी जिसे महेन्द्र अपने साथ लाये थे? [न केवल मूल का अपितु उनके भाष्यों (अत्थकथा) का भी पुनः पालि में अनुवाद बुद्धघोष ने किया जो मगध से आकर लंका में बहुत दिनों तक रहे]।

[4]पालि त्रिपिटक का विस्तार भी काफी अधिक है; हार्डी के 'इस्टर्न मोनाकिज्म' पृ० १६७-१७० के वर्णन देखिए; त्रिपिटक नाम के कन्हेरि में बुद्धघोष के एक शिलालेख में सर्वप्रथम उल्लेख के विषय में (ज० बम्बे० ब्रा० रा० ए० सो ५।१४) इं० स्टू० ५।२६ देखिए।

[5]यदि वस्तुतः स्थिति ऐसी ही हो जैसी यहाँ प्रस्तुत की गई है। मैं केवल इसकी

स्पष्ट है।[1] खेद की बात है कि उनकी विषयवस्तु के संबन्ध में स्वल्प ज्ञान ही प्राप्त होता है।[2] दक्षिणी बौद्ध धर्म अपने अस्तित्व तथा सामान्य बौद्धधर्म के विकास की प्रथम

सूचना मात्र दे सकता हूँ। [दुर्भाग्यवश, स्वयं टर्नाउर (पृ० २९,३०) का निर्देश करने के स्थान पर मैंने ग्रंथ में उद्धृत अंश में लास्सेन के विवरण पर विश्वास कर लिया था। वस्तुस्थिति क्या है (देखिए इस के पहले की टिप्पणियाँ) इसे मैंने इं० स्टू० ३।२५४ में स्पष्ट किया है]।

[1]उत्तरी और दक्षिणी बौद्धों के संकलनों में कौन अधिक मौलिक है इस प्रश्न पर टर्नाउर और होड्गशन के विवाद किया है (इस विषय पर होड्गशन के लेख उनके 'एसेज 'आन लैंग्वेजेज, लिट्० एण्ड रिल० आफ नेपाल एण्ड तिब्बत' में संगृहीत हैं १८७४) बर्नाउफ ने भी इस प्रश्न पर अपने 'लोट्स डि ला बोन्ने लोई' में विचार किया है पृ०८६२ और सिद्धान्त यह निर्णय दिया है, कि दोनों एक समान ही प्रतिष्ठित हैं; उनका यह निर्णय निःसंदेह सही है; इस विषय पर इं० स्टू० ३।१७६ आदि की तुलना कीजिए, जिसमें मैंने उनके कतिपय विचारों एवं पालि त्रिपिटक की रचना में बुद्धघोष के महत्वपूर्ण योगदान के विषय में शंका उठाई है। हाल ही में अपने निबन्ध 'ओवर डि यारटेल्लिग डेर त्सुईडेलिज्के बुद्धिस्टेन' में केर्न मेरी इन आपत्तियों से भी बहुत दूर चले गये है, किन्तु मेरे विचार से, वे आवश्यकता से अधिक आगे बढ़ जाते हैं; देखिए लिट्० से० ब्लि० १८७४, पृ० ७१९; जो भी हो, बुद्धघोष के योगदान को पूर्णरूप से मान लेने पर भी पालि त्रिपिटक का उच्चकोटि की मौलिकता का दावा उत्तरी बौद्धों के किसी भी संस्कृत पाठ की अपेक्षा गुरुतर है; यह पालि त्रिपिटक उत्तरी बौद्धों के ग्रंथों एवं जैनों के धर्मग्रंथों से सरलता एवं संक्षिप्तता की दृष्टि से विशेष अन्तर रखता है। तुलना, एस० बीअल का विवरण, इण्ड० ए० ४।९०।

[2]अब तक सर्वाधिक प्रामाणिक सूचना जी० टर्नाउर के 'महावंश' के संस्करण की भूमिका (१८३५, लंका) तथा इस विद्वान् के स्फुट निबन्धों से मिलती है; और अत्यन्त सामान्य रूपरेखा के रूप में वेस्टरगार्ड के केटलाग आफ द कोपेनहागेन इण्डियन मैन्यु० (१८४६ हवनिआ) से भी कुछ जानकारी मिलती है, जिसके अन्तर्गत इन पालि ग्रंथों की काफी बड़ी संख्या आ जाती है, जिन्हें प्रख्यात रास्क ने लंका में खरीदा था। क्लफ की रचनाओं में भी इस विषय से संबद्ध अनेक बातें आती हैं; स्पीगेल का 'एनेक्डोटा पालिका' भी उल्लेखनीय है। दक्षिणी बौद्धधर्म के विषय में विस्तृत सूचना एक ग्रंथ में मिलती है जो हाल ही में मेरे पास पहुँचा है; इसके रचयिता हैं हार्डी : 'इस्टर्न मोनाकिज्म, एने एकाउण्ट आफ दी ओरिजन लाज एटसेटरा आफ दि आर्डर आफ मेण्डिकैण्टस फाउण्डेड बाइ गोतम बुद्ध, लन्दन १८५०, ४४४ पृ०। इसका लेखक बीस वर्ष तक लंका में वेस्लेयन धर्मप्रचारक था और उसने इस समय का सदुपयोग किया है। [इसके उपरान्त १८५३ में उनका "मैन्यु-

शताब्दियों के विषब में पर्याप्त और विश्वसनीय विवरण प्रस्तुत करता है। पाली भाषा में लिखित ऐतिहासिक साहित्य का उद्भव लंका में अबेक्षतया पहले हुआ था,[1] जिसकी एक प्रमुख रचना—४८० ई० के आसपास रचित महानाम का महावंश—मूलपाठ और अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

जहाँ तक उत्तरी बौद्धों के धर्मग्रंथों अर्थात् उनके संस्कृत मूलपाठ का प्रश्न है—जिनसे हमारा यहाँ प्रयोजन है—हमें सर्व प्रथव यह ध्यान में रखना होगा कि परम्परा के अनुसार भी उनके विद्यमान पाठ प्रथम शताब्दी ई० के हैं। इस कारफ यद्यपि उनमें पहली दो संगतियों के अबसर पर संकलित की गई रचनाएँ हैं, फिर भी इनका परिष्कार तीसरी संगति के समय किया गया था। दूसरे यह प्रथम दृष्टया न तो संभव है और न यह प्रत्यक्षतः निर्दिष्ट है कि सम्पूर्ण विद्यमान रचनाओं की उत्पत्ति तीसरी संगति में हुई थी और उनमें ऐसी अनेक रचनाएँ रही होंगी जो बाद के समय की होंगी। अन्ततः, हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि तिब्बती 'काग्यूर' में जिन रचनाओं का अनुवाद किया गया है वे सभी उस समय विद्यमान थी जब तिब्बती में अनुवाद आरम्भ किया गया था (सातवीं शताब्दी में), कारण, सम्पूर्ण 'काग्युर' एक बार ही पूरा नहीं हो गया अपितु बहुत दीर्घकालीन और क्रमिक विकास के उपरान्त ही इन्हें निश्चित रूप प्रदान किया गया था।[2] केवल इन्हीं

अल आफ बुद्धिज्म' प्रकाशित हुआ, जो एक अमूल्य रचना है। पालि तथा इसके साहित्य के अध्ययन को हाल ही में विशेषतः वी० फ्राउसबेल के परिश्रम से बहुत प्रोत्साहन मिला है (धम्मपद १८५५, 'फाइव जातकाज' १८६१, दशरथ जातक १८७१, टेन जातकाज १८७२; 'द जातक टुगेदर विद इट्स कमेण्ट्री' भाग १, १८७५) जेम्स डि अलिवस 'इण्ट्रोडक्शन टु कच्चायनाज ग्रामर, १८६३, अत्तनगलुवंश १८६६) पी० ग्रिम्बलोट (एक्सट्रेटस डु परिता १८७०) एल० फीअर ('दहरसुत्त' तथा 'टेक्स्टेस टीरिनस डु 'कन्दजाउर' में अन्य पालिसूत्र, १८६९) जो० मिनयेफ ('पाटिमोखसुत्त' तथा वुत्तोदय, १८६९; 'ग्रामाएरे पाली, १८७४; रूसी संस्करण १८७२); ई० कूहन् (कच्चायनप्पकरणेई स्पेसिमेन, १८६९, १८७१; बाइट्रेग त्सुर पालिग्रामाटिक, १८७५), ई० सेनार्ट (ग्रामाइरेडे कच्चायन, १८७१) आर० चाइल्डेर्स (खुद्दकपाठ १८६९; डिक्शनरी आफ द पाली लैंग्विज' १८७२-७५) एम० कुमार स्वामी (सुत्तनिपात, १८७४) इनके साथ डब्ल्यू० रटोर्क के (१८५८, १८६२) तथा फ्र० म्यूल्लेर के (१८६७-६९) व्याकरण संबन्धीरचनाओं की भी गणना की जा सकती है।

[1]उत्तरी बौद्धों के भी इतिहासकार है। तिब्बती तारानाथ (देखिए टिप्पणी ३५०) अपने पूर्ववर्ती लोगों में भटघटी, इन्द्रदत्त क्षेमेन्द्रभद्र के नाम दिये हैं।

[2]सोमा कोरोसी (Csoma Korosi) के अनुसार, तिब्बती अनुवाद सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी का है और मुख्यतः नवीं शताब्दी का है।

विवेचनों से यह पर्याप्त स्पष्ट है कि इन रचनाओं का उपयोग करते समय हमें कितनी सतर्कता बरतनी चाहिए। किन्तु इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य तथ्य मिलते हैं। कारण, यदि उनमें से अत्यन्त प्राचीन ग्रंथों की उत्पत्ति का समय प्रथम और दूसरी संगति[1] मानी जाय तथापि यह स्वीकार करना कि वे इतने प्राचीन समय में लेखबद्ध किये गये थे न केवल प्रथम दृष्टया विवादस्पद है अपितु स्पष्टतः समान रूप से पाये जाने वाले तथ्यों के विपरीत भी है; क्योंकि हमें यह स्पष्ट विदित है कि दक्षिणी बौद्धों में लेखबद्ध करने का कार्य दोनों संगतियों के बहुत बाद ८० ई० पू० में हुआ था। कनिष्क के तत्त्वाव धान में हुई तृतीय संगति का मुख्य लक्ष्य संभवतः धार्मिक उपदेशों को लेखबद्ध करना था। यदि इस प्रकार के विवरण इस समय अस्तित्व में रहे होते तो बौद्धधर्म इतने आरम्भिक काल में अठारह सम्प्रदायों में न विभक्त हुआ होता, जैसा कि बुद्ध की मृत्यु के ४०० वर्ष बाद ही कनिष्क के समय में इसके विभक्त होने का उल्लेख किया गया है। उस समय के उपरान्त पिछली अठारह शताब्दियों में किसी सम्प्रदाय का जन्म नहीं हुआ, इसका कारण उनका लिखित आधार ही है। अन्त में एक और प्रमुख तथ्य पर भी विद्यमान बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का मूल्यांकन करते समय अवश्य ध्यान देना चाहिए ; वह यह कि जिन स्रोतों से उन्हें ग्रहण किया गया वे भिन्न भाषा में थे। यह सत्य है कि हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि बुद्ध ने किस भाषा में उपदेश दिये थे; किन्तु चूँकि उन्होंने सामान्य जनता से अपना संबन्ध बनाया, यह बहुत संभव है कि उन्होंने देशभाषा का ही आश्रय लिया। अपरंच, मगध में ही[2] उनके शिष्यों ने पहली सभा की थी और निश्चय ही इस सभा का कार्य उसी जनपद की बोली में हुआ था जो वस्तुतः बौद्ध धर्म की पवित्र भाषा के रूप में ख्यात भी है। यही बात दूसरी संगति के विषय में तथा उस संगति के विषय में भी लागू होती है जिसे दक्षिणी बौद्धों ने तीसरी संगति बताई है। ये दोनों ही मगध में हुई थीं।[3] महेन्द्र, जिसने इस तीसरी संगति के बाद के वर्ष में लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया, अपने साथ इस देश में मागधी भाषा भी ले गये थे, जो बाद में पाली कहलाई।[4] इसी भाषा में ही इस युग के शिलालेख भी रचे गये हैं जो बौद्ध प्रभाव को द्योतित करते हैं।[5] इसके विपरीत

---

[1]उस समय 'धम्म पलियायानि' जिस रूप में थे उसके विषय में भब्र में आए हुए तथ्य इस कल्पना को सन्दिग्ध बना देते हैं जिस प्रकार की बात हम पालि त्रिपिटक के संबन्ध में भी पाते हैं (देखिए, पृ० २८९, टिप्पणी १)।

[2]पुरानी राजधानी (राजगृह) में।

[3]नवीन राजधानी (पाटलिपुत्र) में।

[4]पालि का विकास लंका में बाहर से आयी हुई संस्कृत भाषा से हुआ, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

[5]पियदसि के अभिलेख तीन विभिन्न बोलियों में मिलते हैं। इदमें धौलि के अभि-

अन्तिम संगति में जो प्रायः ३०० वर्ष बाद हुई थी और जिसमें उत्तरी बौद्धों के वर्त्तमान धर्मग्रन्थों का संकलन होने का उल्लेख किया गया है इस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त भाषा मागधी नहीं अपितु संस्कृत थी; हालांकि यह संस्कृत भाषा भी विशुद्ध रूपवाली नहीं थी। इसका कारण है इस संगति का स्थान। कारण, यह अन्तिम संगति मगध में नहीं हुई थी और न हिन्दुस्तान में हुई थी, जिसके शासक बौद्ध धर्म के प्रति उपेक्षा की दृष्टि रखते थे, अपितु यह संगति काश्मीर में हुई थी। इस प्रदेश के लोग भाषा को विशुद्ध बनाये रखने में उन आर्यों से[1] अधिक समर्थ हुए थे जो भारत की ओर बढ़ गये थे और वहाँ मूल निवासियों के साथ घुलमिल गये थे। इसका एक कारण यह था कि यहाँ के निवासी एकमात्र आर्य जाति के थे और दूसरे सामान्यतः उत्तरपश्चिमी भारत के समान ही (पृ० १९, ३८, १६४) यह प्रदेश भारतीय व्याकरण के अध्ययन का केन्द्र था। अतएव जिन पुरोहितों ने[2]

लेखकी अनेक विशिष्टताएँ हैं जो जैनों की अर्धमागधी भाषा में और प्राकृत वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित प्राकृत बोली में पाई जाती हैं। तीसरी संगति में कहा गया भब्र का उपदेश इसी भाषा में है—इससे यह निश्चित रूप में सिद्ध होता है कि उस समय यह बौद्धधर्म की आधिकारिक भाषा थी, और वस्तुतः मागधी (कारण धौलि भौगोलिक दृष्टि से इसी प्रदेश से संबन्ध रखती है) यह भाषा थी; देखिए इं० स्टू० ३।१८० और जैनों की भगवती पर मेरा निबन्ध १।३९६. किन्तु दूसरी ओर, इस बोली में पालि से विशिष्ट भेद दिखाई पड़ता है, जो भाषा आधिकारिक रूप में मागधी नाम से चली आ रही है और जो उस बोली से विशेष संबन्ध प्रदर्शित करती है प्रत्युत इसका प्रयोग गिरनार के शिलालेखों में भी हुआ है। अतएव यह प्रश्न उठा है कि पालि को वस्तुतः मागधी कहना चाहिए जैसा कि पालि साहित्य में इसके लिये प्रयुक्त होता है, अथवा इसे यह नाम पुरोहितों के किसी नीतिपूर्ण उद्देश्य के कारण तो नहीं प्राप्त हुआ है, जिससे इसका निर्देश बौद्धधर्म के इतिहास में मगध के महत्व की ओर है। वेस्टेरगार्ड ने तो यहाँ तक अनुमान किया है (उइबेर डेन एल्टेस्टेन त्साइट्राउम डेर इण्डिश्शेन गेशिश्टे, पृ० ८७, टि० १८६२) कि पालि उज्जयिनी की भाषा से अभिन्न है जो महेन्द्र की मातृभाषा थी; महेन्द्र का जन्म उज्जयिनी में हुआ था; और एर्न्स्ट कूहन् (बाइट्रेग त्सुर पालि-ग्रामाटिक पृ० ७, १८७५) ने इसी मत को अपनाया है किन्तु पिशेल ने (येनाएर लिट० त्साइट० १८७५. पृ० ३१६) तथा चाइल्डर्स (पालि डिक्श० प्राक्कथन, पृ० ७) ने इसका विरोध किया है।

[1]यूनानी और सीथियन दोनों ही संख्या में बहुत कम थे और वे बहुत अल्पकाल तक मूलवासियों के सम्पर्क में रहे अतएव भाषा में कुछ परिवर्तन लाने जैसा प्रभाव न डाल सके।

[2]और स्पष्टतः पुरोहित और शिक्षित व्यक्ति ही तीसरी संगति में उपस्थित थे। प्रथम दो संगतियों में साधारण गृहस्थों ने भाग लिया होगा, किन्तु इस बीच बौद्धधर्म के पुरोहिताधिपत्य को विकास करने का पर्याप्त अवसर मिला था।

इस प्रदेश में पवित्र धर्म ग्रन्थों के संपादन एवं लिपिबद्ध करने का बीड़ा उठाया वे यदि, कुशल वैयाकरण नहीं तो निश्चय ही व्याकरण का इतना ज्ञान रखते थे कि सरल संस्कृत लिखते थे।[१]

ऊपर जो कुछ कहा गया है[२] उसके साथ ही बौद्ध साहित्य में पाये जाने वाले तथ्यों को स्वयं बुद्ध के युग के संबन्ध में प्रामाणिक मानना, जैसा कि माना जाता रहा है, अत्यन्त

---

[१]बर्नाउफ़ का विचार कुछ और ही है, हिस्ट० ड्, बुद्ध०, पृ० १०५-१०६, तथा लास्सेन, इं० अल्ट० २।९, ४९१-४९३ [किन्तु देखिए इं० स्टू० ३।१३९, १७९ आदि]।

[२]पिछले पृष्ठों में विवेचित बौद्ध साहित्य की दो शाखाओं—दक्षिणी बौद्धों के पाली पाठों तथा उत्तरी बौद्धों के संस्कृत पाठों—के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग भी है जो अपने मौलिक विन्यास के आधार पर अन्य ो शाखाओं के बीच मध्यवर्ती स्थान ग्रहण करता है—वह है जैनों के अर्धमागधी भाषा के ग्रंथों का वर्ग। जैनों के मत को एक प्रकार का मतभेद मूलक दर्शन मानना चाहिए जिसका उद्‌भव बौद्धधर्म से उसके विकास की पहली शताब्दियों में हुआ था। इसके प्रवर्त्तक महावीर के कार्यों के विषय में आख्यानात्मक वर्णन न केवल उनका संबन्ध उसी जनपद से जोड़ते हैं जिस जनपद को बौद्धधर्म भी अपना धार्मिक स्थान मानता है अपितु वे बुद्ध के राज्य के विवरणों के साथ इतना अधिक घनिष्ट संबन्ध प्रदर्शित करते हैं कि हम न दोनों प्रकार की कथाओं में स्मृति पर आधारित एक ही कथा के केवल विभिन्न रूप पाते हैं। जैन धर्म इस प्रकार बौद्ध धर्म से उत्पन्न हुआ था—यद्यपि कुछ लोगों ने इसे बौद्धधर्म से पहले का माना है—इसका दूसरा चिन्ह यह है कि इसके धर्मग्रंथों को 'सूत्र' नहीं कहते हैं अपितु अंग कहते हैं और इस कारण प्राचीनतम बौद्धग्रंथों के विपरीत, जो वैदिक सूत्रकाल के समय के हैं, इनका संबन्ध अंग युग से है, जबकि (दिक सूत्रों के बाद के अंगों या वेदांगों की रचना हुई थी। किन्तु एक बात और देखने में आती है जो इस विषय में अत्यन्त निर्णायक है; वह यह कि जिस भाषा में इन ग्रंथों की रचना हुई है और जो भाष्यकार के अनुसार अर्धमागधी है उन पालिग्रंथों की भाषा से अधिक विकसित और बाद के समय की है, जिसे पालि भाष्य में स्पष्ट रूप से मागधी नाम दिया गया है (साथ ही दोनों में तार्किक भेद भी है) जैनों की भगवती के विषय में मेरा लेख देखिए पृ० ४४१, ३७३, ३९६, ४१६, ११ प्रमुख अंगों के साथ अन्य रचनाओं की एक बड़ी संख्या को भी जोड़नी होगी, जिन्हें 'उपांग', 'मूलसूत्र' 'कल्पसूत्र' इत्यादि कहा गया है। सम्पूर्ण वर्ग के ग्रंथों का जिसके अन्तर्गत ६००,००० श्लोकों वाले पचास ग्रंथ हैं, राजेन्द्र लाल मित्र के नोटिसेज आफ सं० मैन्यु० ३।६७, १८७४ में एक गणना देखी जा सकती है। इन ग्रंथों में अब तक जिनका प्रकाशन हुआ है ये पंचम अंग या भगवती सूत्र के एक खण्ड है और ई० की प्रथम शताब्दी के हैं, इसका संपादन मैंने ही किया है (१८६६-६७)। इसके अतिरिक्त जैनों के विषय में हमें ब्राह्मणीय

आपत्तिजनक है; कारण, बुद्ध का समय अन्तिम संगति से चार सौ वर्ष, अथवा यदि उत्तरी बौद्धों का समय माना जाय तो प्रायः छः शताब्दी पूर्व का है। इतने वर्षों बाद एक दूसरी भाषा में लिपिबद्ध की गई और केवल ऐसी रचनाओं के अन्तर्गत, जो कई शताब्दी बाद की हैं और जिनके प्राचीनतम अंशों का अभी आलोचनात्मक विश्लेषण नहीं हुआ है, पायी जाने वाली मौखिक परम्पराओं का उपयोग केवल अत्यन्त सतर्कता के साथ ही किया जा सकता है। जो तथ्य इन मौखिक परम्पराओं से प्राप्त होते हैं वे उस युग के लिए, जिसका वे वर्णन करते हैं, उतने उपयोगी नहीं हैं जितने कि विशेषतः अपनी वर्तमान रूप में रचना के युग के लिए। किन्तु इस मत के अनुसार इन रचनाओं की प्रामाणिकता उन विषयों के सन्दर्भ में, जिनका वे अब तक विवेचन करती रही हैं, कितनी भी सन्दिग्ध क्यों न हो वे स्वयं बौद्धधर्म के आन्तरिक विकास के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण हैं; यद्यपि यहाँ भी उनकी प्रामाणिकता आपेक्षिक ही है। कारण, स्वयं बुद्ध और उनके शिष्य एवं अनुयायियों के संबन्ध में इनमें कही गई कथाएँ तथा शनैः शनैः इनमें विकसित अतिबहुल पुराकथाशास्त्र कुल मिला-कर अव्यवस्थित और स्वरूपहीन काल्पनिक कथाओं का एक संमर्द ही दिखाई पड़ता है।

निःसन्देह, अब हमारे सम्मुख इन विविध रचनाओं का आपेक्षिक समय और क्रम निर्धारित करने का कार्य आता है—इस कार्य को बर्नाउफ ने भी, जिनके अन्वेषण इस विषय में हमारे एकमात्र पथ-प्रदर्शक हैं, हाथ में लिया था और इसे पर्याप्त प्रामाणिकता और

ग्रंथों से ही जानकारी प्राप्त होती है। मैंने 'सूर्यप्रज्ञाप्ति' या सातवें 'उपांगसूत्र' का भी एक विवरण दिया है इस पर एक भाष्य कल्पसूत्र के रचयिता भद्रबाहुस्वामिन् ने लिखा था। कल्पसूत्र सातवीं शताब्दी की रचना प्रतीत होता है। इस कल्पसूत्र का एक अनुवाद स्टीवें-सन कृत भी है (१८४८) जो धर्मग्रंथों में तेरहवें स्थान पर आता है। तुलना : एस० डब्ल्यू० वारेन, 'ओवर डि गोडसडीन्सटीगे एन विजसगीरिगे बेग्रिप्पेन डेर जैनाज' १८७५; जी० ब्यूह्लेर के सौहार्दपूर्ण श्रम से बर्लिन की रायल लाइब्रेरी को हाल ही में प्रायः ये सभी पचास धर्म ग्रंथ प्राप्त हुए हैं, जो भाष्ययुक्त या भाष्यरहित है, इन सबकी उत्तम प्राचीन पाण्डुलिपियाँ है, शीघ्र ही हमें इनके विषय में अधिक जानकारी प्राप्त हो सकेगी। किन्तु संस्कृत साहित्य के संबन्ध में भी जैनों का अधिक महत्व है, विशेषतः व्या-करण, कोशकारिता और एतिहासिक तथा आख्यानात्मक वर्णनों के लिए वे महत्वपूर्ण हैं जो उनमें सुरक्षित हैं (ऊपर पृ० २०३ देखिए, तुलना शत्रुंजय महात्म्य पर मेरा निबन्ध १८५८)। इनमें से एक अत्यन्त सम्मानित जैन आचार्य हेमचन्द्र हैं जो गुर्जर राज कुमार-पाल के समय में १०८८-११७२) हुए थे। योगशास्त्र नाम से उन्होंने जैन मत का बारह प्रकाशों में संक्षेप प्रस्तुत किया, जिनमें से प्रथम चार उनकी आचार-संहिता का विवेचन करते हैं। इनका संपादन और अनुवाद हाल ही में एर्न्स्ट विण्डिश्श ने किया है (त्स० डा० मो० गे० २८।१८५ आदि, १८७४)।

सफलता के साथ निभाया भी है।[1] सर्वप्रथम हम सूत्रों या स्वयं बुद्ध के वचनों को लेते हैं। बर्नाउफ ने इन्हें दो वर्गों में बाँटा है : साधारण सूत्र और तथाकथित 'महावैपुल्य सूत्र' या 'महायानसूत्र' जिसे बर्नाउफ ने भाषा, स्वरूप और प्रतिपाद्य सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों में परवर्ती माना है। उनका ऐसा मानना निःसन्देह सही भी है। कारण, प्रथमतः महावैपुल्य सूत्रों में बुद्ध देवताओं और बोधिसत्वों से (जो केवल बौद्ध पुराकथाशास्त्र में ही पाये जाते है) घिरे हुए दिखाई पड़ते हैं; जबकि साधारण सूत्रों में मनुष्य ही अधिकांशतः उनके साथ दिखाई पड़ते हैं; केवल यत्र तत्र ही देवताओं से उनका संबन्ध स्थापित किया गया है। दूसरे, साधारण सूत्रों में उन सिद्धान्तों का कोई अवशेष नहीं मिलता, जो सामान्य बौद्ध मत नहीं है, अपितु केवल उत्तरी बौद्धों में पाये जाते हैं; उदाहरणार्थ-अमिताभ, मंजुश्री, अवलोकितेश्वर, आदिबुद्ध[2] और ध्यानबुद्धों की पूजा। इसके अतिरिक्त उनमें उन रहस्यात्मक जादू और आभिचारिक मन्त्रों का कोई चिह्न नहीं मिलता जो प्रचुरमात्रा में केवल महावैपुल्य सूत्रों में ही मिलते हैं। किन्तु महावैपुल्यसूत्रों में बार-बार आने वाले लम्बे काव्यात्मक अंशों की भाषा गद्य भागों की भाषा से अधिक भ्रष्ट रूप में—किंवा संस्कृत, प्राकृत और पालि के मिश्रण के रूप में—दृष्टिगोचर होती है, इस तथ्य को महावैपुल्यसूत्रों की परकालीनता का प्रमाण माना जा सकता है या नहीं, यह अब तक निश्चित नहीं है। क्या ये काव्यात्मक अंश उन सभी विषयों में, जिनका अभी उल्लेख किया जा चुका है, गद्य पाठ से स्वरूप और विषय की दृष्टि से इतना अधिक साम्य रखते हैं कि उन्हें इन गद्यांशों का पल्लवन या भाव-विस्तार मात्र माना जा सकता है? अथवा वे इन विषयों में परस्पर इतना स्पष्ट भेद नहीं रखते कि हम उन्हें पद्यरूप में संक्रमित परम्पराओं के अंश मान सकें, जैसा कि ब्राह्मणों में प्रायः आने वाले अंशों को हम मानते हैं?[3] दूसरी स्थिति

---

[1]मैं यहाँ स्वल्प शब्दों में अपना यथार्थ और गंभीर शोक प्रकट किये बिना नहीं रह सकता कि ये जब ये अंश प्रकाशित हो रहे हैं उस समय इउगेने बर्नाउफ हमारे बीच से उठ गये हैं; मैं इन अंशों को उनके निर्णय के लिये उनके समक्ष उपस्थित करने में बड़े आनन्द का अनुभव करता। उनकी असामयिक मृत्यु विद्या के लिये और उनके परिचितों उनके श्रद्धालुओं एवं प्रियजनों के लिये अपूरणीय क्षति है।

[2]यह शब्द 'माण्डूक्योपनिषद्' के उन अंशों में, जो गौडपाद के हैं, नितान्त भिन्न अर्थ में आता है।

[3]हमें केवल इस प्रश्न से ही सन्तोष कर लेना चाहिए; कारण दुर्भाग्यवश हमें इनमें से किसी सूत्र का संस्कृत पाठ उपलब्ध नहीं हो सका है; इसका एक मात्र अपवाद 'ललितविस्तर' का एक महत्वहीन अंश है, जो 'महावैपुल्यसूत्रों' में एक है; इसे फाउकाक्स ने इस ग्रंथ के तिब्बती अनुवाद के अन्त में दिया है। [सत्ताइस अध्यायों में 'ललितविस्तार' का सम्पूर्ण पाठ बिब्लि० इं० में निकल चुका है। इसका संपादन राजेन्द्र लाल मित्र ने

को स्वीकार करने पर हमें इन पद्यात्मक अंशों को इस बात का प्रमाण मानना होगा कि बौद्ध जातक आदि की रचना मूलतः संस्कृत में नहीं प्रत्युत देशीय बोलियों में हुई थी। चीनी यात्री फाह्यान के वर्णनों से, जो ३९९-४१४ ई० में चीन से भारत आकर पुनः स्वदेश पहुँच गया था, यह ज्ञात होता है कि उस समय महावपुल्य सूत्रों का विस्तार के साथ प्रचार हो चुका था; कारण, उसने इन सूत्रों के अनेक विशिष्ट सिद्धान्तों के विस्तार के साथ अध्ययन किये जाने का वर्णन किया है।[1]

किया है (१८५३ और आगे के वर्षों में) इसका अनुवाद तीसरे अध्याय के उपरान्त खण्डित है। फाउकाक्स ने 'षड्धर्मपुण्डरीक' के चौथे अध्याय का प्रकाशन १८५२ में किया और लिओन फिअर ने 'प्रतिहार्य' नाम के एक अवदान का प्रकाशन १८६७ में किया है। 'कारण्ड-व्यूह को, जो अवलोकितेश्वर की प्रशस्ति में रचित एक स्थूलकाय महायानसूत्र है सत्यव्रत सामाश्रमी ने संपादन किया है (कल० १८७३)। ललितविस्तर का एक अनुवाद १८७४ में एस० लेफमन्न ने आरम्भ किया है यह अब तक प्रथम पांच आध्यायों तक पहुँचा है—इसके साथ विस्तृत टिप्पणियाँ भी हैं। काव्यात्मक अंशों के विषय में ऊपर जो अनुमान किया गया है वह पहले ज ए सो बंगाल १८५१, पृ० २८३ में दिया जा चुका है, दे० इं० स्टू० ३।१४० किन्तु जब मैंने उपर्युक्त लिखा तब मैं इस तथ्य से अवगत नहीं था। बाद में इसका अधिक विस्तार के साथ राजेन्द्र लाल मित्र ने इन गाथाओं की भाषा पर ज ए सो बंगाल (१८५४, अंक ६) में लिखे गये एक विशेष निबन्ध में विवेचन किया है। इसमें उनकी रचना का समय बुद्ध की मृत्यु के तत्काल बाद आने वाले काल का माना गया है, देखिए म्यूर, ओरि० सं० टेक्स्टस् २ (द्वितीय सं०)। ११५; केर्न (ओवर डि यारटेल्लिग' पृ० १०८) ने इन गाथाओं में कोई विशिष्ट विभाषा नहीं पाई है अपितु इन्हें मूलतः विशुद्ध प्राकृत में रचित अंशों का बाद के समय में किया गया रूपान्तर माना है। अन्ततः एडवर्ड म्यूल्लेर ने अपने निबन्ध 'डेर डाइलेक्ट डेर गाथा डेस ललितविस्तर' (वाइमर १८७४) में उन्हें ऐसे कवियों की रचना माना है जो संस्कृत के विद्वान् नहीं थे और जिन्होंने इनमें अपनी भाषा की शिथिलता व्याप्त कर दी।

[1]फाह्यान के विवरण सूक्ष्म विस्तार की दृष्टि से ह्वेनत्सांग के विवरणों से भी बढ़कर है, जिसने भारत में ६२९-६४५ ई० में भ्रमण किया था। बौद्ध रचनाओं के चीनी अनुवाद भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें से प्रायः सभी उत्तरी बौद्धों के ग्रन्थों पर आधारित हैं; उनमें से कुछ बहुत प्राचीन भी दिखाई पड़ते हैं। ललितविस्तर के ऐसे चार संस्करणों में प्रथम संस्करण ७०-७६ ई० का, द्वितीय ३०८ ई० का, तृतीय ६५२ ई० का बताया जाता है। इस विषय पर इं० स्टू० ३।१४०; ८।३२६ देखिए। इसी प्रकार बताया जाता है कि सद्-धर्मपुण्डरीक का तीन बार अनुवाद हुआ है, प्रथम २८० ई० में, दूसरा ३९७-४०२ ई० में और फिर ६०१-६०५ ई० में। इण्डि० एण्टि० ४।९०, ९१ में बीअल ने

साधारण सूत्रों के विषय में प्रमाण के अभाव में कम से कम इतना संभव है कि जो सूत्र एकमात्र बुद्ध से संबन्ध रखते हैं वे उन सूत्रों से अधिक प्राचीन हैं जो एक सौ वर्ष बाद के समय में हुए व्यक्तियों का भी वर्णन करते हैं; किन्तु इस समय इसके अतिरिक्त और कुछ हम नहीं कह सकते। उनमें वर्णित विषय विविध स्वरूप वाला है और अनेक विभागों के लिये हम विशिष्ट पारिभाषिक नाम भी पाते हैं।[1] उनमें या तो सरल कथाएँ है, जिन्हें 'इत्युक्त' और व्याकरण कहा गया है (जो ब्राह्मणों के इतिहास-पुराणों के समानार्थक हैं) अथवा अवदान नाम की कल्पित कथाएँ हैं जिनमें हम परवर्ती काल की पशु कथाओं[2]

न केवल ब्रह्मजालसूत्र के ४२० ई० के अनुवाद का उल्लेख किया है, अपितु पचास सूत्रों के सम्पूर्ण संकलन का (जिनमें सामजातक भी है)=७० ई० से ६०० ई० तक विभिन्न समयों में विविध विद्वानों द्वारा अनूदित किये जाने का भी" उल्लेख किया है, जिनमें से सभी संस्कृत या पाली से अनूदित किये गये थे—अतएव सभी भारतीय मूल पाठ से ही अनूदित हुए, जबकि बाद के समय में तिब्बती से अनुवाद किये गये थे। इन ग्रंथों के आलोचनात्मक विवेचन के लिये इन अनुवादों के, जिनमें कुछ बहुत प्राचीन भी है, विस्तृत वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इन रचनाओं में एक का, जो अभिनिष्क्रमण-सूत्र का रूपान्तर है, एक पूरा अनुवाद हाल ही में बीअल ने 'द रोमाण्टिक लिजेण्ड आफ शाक्य बुद्ध' नाम से प्रकाशित किया है (१८७५)। इसमें ईसाई आख्यानों से संबन्ध के जो विशेष सूत्र पाये जाते हैं वे अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। ये आख्यान किसमें ग्रहण किये गये थे, इस प्रश्न का बीअल ने समाधान नहीं किया है; फिर भी यहाँ उसी प्रकार की स्थिति देखने में आती है जैसी कि कृष्ण के पूजकों द्वारा ईसाई कथा के ग्रहण किये जाने में दिखाई पड़ती है। उत्तरी बौद्धों के इतिहास के लिए डब्ल्यू० वासिलजिऊ की रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो तिब्बती-चीनी स्रोत से निर्मित है; डेर बुद्धिस्मस, १८६० तथा तारानाथ की 'हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म इन इण्डिया' १६०८ में रचा गया था, किन्तु यह प्राचीन और अंशतः संस्कृत ग्रंथों पर आधारित है; इसका रूसी में अनुवाद वास्सिलजिऊ ने किया है—जर्मन रूपान्तर के साथ तिब्बती पाठ शीफ़नेर ने १८६९ में प्रस्तुत किया है; तुलना लास्सेन इं० अस्ट० २।६ टिप्पणी।

[1]बर्नाउफ की रचना पर स्पीगेल की समीक्षा के अनुसार, जिससे मैंने यहाँ प्रायः सहायता ली है, और जो याहर्ब० फ्यूर विस्स० क्रिटिक' १८४५, पृ० ५४७ में प्रकाशित है, इनमें से अनेक नाम दक्षिणी बौद्धों में भी पाये जाते हैं।

[2]चीनी अनुवाद से स्टैन० जूलियन ने ऐसी कथाओं का एक संग्रह प्रकाशित कर डाला है जो अधिकांशतः बहुत छोटी हैं (लेस अवदानाज़ कोण्टेस् एट् अपोलोग्यूस् इण्डियन्स, १८५९) इनका तथा बौद्ध जातकों एवं सामान्य कथाओं का कथा तथा उपाख्यान साहित्य में महत्वपूर्ण रूप में बेनफी ने अपने पंचतन्त्र के अनुवाद में प्रदर्शित किया है।

के अनेक तत्त्व पाते हैं; अथवा चमत्कारपूर्ण कथाएँ 'अद्भुत धर्म' है; अथवा पिछले कथन की पुष्टि करनेवाले स्फुट पद्य और अनेक पद्यों के समूह हैं (गेय और गाथा) अथवा 'उपदेश' और 'निदान' नाम के विषयों के विशेष परिचय या विवेचन हैं। यह सभी समान ढंग से केवल एक अधिक प्राचीन रूप में और विभिन्न नामों से[1] ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में तथा महाभारत में यत्र-तत्र गद्यात्मक कथाओं में पुनः दिखाई पड़ते हैं जो शैली में भी (यद्यपि भाषा में नहीं) इन बौद्ध सूत्रों से[2] सर्वाधिक समानता प्रदर्शित करते हैं। इन बौद्धसूत्रों की विशेषताएँ हैं जातक नाम के अंश, जो बुद्ध और बोधिसत्व के पूर्वजन्मों का वर्णन करते हैं।

सूत्रों में पाये जाने वाले वे तथ्य, जिन्हें अब तक बुद्ध के समय के लिये प्रामाणिक माना जाता था, किन्तु जिन्हें हम प्रथमतः केवल उस समय के लिये प्रामाणिक मान सकते हैं जब सूत्रों की रचना हुई थी, मुख्यतः इस प्रकार के हैं कि भारतीय धर्म के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। कारण, जिस प्रकार बुद्ध ने वर्ण के अस्तित्व को स्वीकार किया है उसी प्रकार उन्होंने स्वाभाविक रूप से उस समय के हिन्दू देवताओं को भी मान्यता प्रदान की है[3] किन्तु यदि हम दक्षिणी बौद्धों की तिथियों का अनुसरण करते हैं और बुद्ध को छठीं शताब्दी ई० पू० में अर्थात् ब्राह्मणों के, जिनमें नितान्त भिन्न देवमण्डल दिखाई पड़ता है, युग में रखते हैं तो हमें यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि बुद्ध के समय में यह देवमण्डल विकास की उस अवस्था तक पहुँच गया था जिसे हम सूत्रों में पाते हैं। यदि इसके विपरीत उन्होंने चौथी शताब्दी तक अपने उपदेश नहीं दिये थे, जैसी स्थिति तिब्बतियों एवं चीनियों के इस कथन को सत्य मानने पर सिद्ध होती है कि तीसरी संगति कनिष्क के (जो ४०३ ई०) तत्त्वावधान में बुद्ध की मृत्यु के चार सौ वर्ष बाद हुआ था, तो कम से कम इस बात की और अधिक संभावना होगी कि बौद्धसूत्रों में जिस देवमण्डल का वर्णन है वह उसके तत्समान तथ्य बुद्ध के समय के लिये कुछ प्रामाणिक हो सकते हैं, जो इस आधार पर उनके बहुत निकटवर्ती होगा। तिब्बतियों एवं चीनियों के उपर्युक्त मत की पुष्टि इस बात से होती है कि जिन आचार्यों को बुद्ध का समकालीन बताया गया है उनमें जिनके नाम ब्राह्मणीय रचनाओं में उल्लिखित हैं वे वैदिक सूत्रों के साहित्य से ही संबन्ध रखते हैं, ब्राह्मणों

---

[1]केवल गाथा और उपदेश (कम से कम आदेश) ब्राह्मणों में आते हैं।

[2]यद्यपि महाभारत में भी यत्र-तत्र विशेषतः बारहवें पर्व में जोड़ने वाले सूत्र दिखाई देते है। वस्तुतः अनेक बौद्ध कथाएँ स्पष्टतः समानान्तर ब्राह्मणीय कथाओं एवं प्रचलित आख्यानों से मिलती जुलती हैं, जिनका केवल बौद्ध कथाओं के रूप में परिवर्तन कर दिया गया है। [अथवा जिस रूप में स्वयं ये बौद्ध कथाएँ ही परिवर्तित कर दी गई हैं।]

[3]लास्सेन (इ० अल्ट० २।४५३) का यह कथन कि "बुद्ध ने किसी देवता को मान्यता

के साहित्य से नहीं। इस विषय के सूक्ष्म विस्तार संक्षेप में ये ही हैं। जिन यक्षों, गरुडों, किन्नरों[1] का इन सूत्रों में अनेकशः उल्लेख किया गया है वे ब्राह्मणों में अज्ञात हैं। दानव नाम भी स्वल्प स्थलों पर आया है (एक बार वृत्त के विशेषण के रूप में और दूसरी बार शुष्ण की उपाधि के रूप में) किन्तु कहीं भी इसका प्रयोग बहुवचन में असुरों के सामान्य अभिधान के रूप में नहीं हुआ है[2] और न कहीं देवों को 'सुर' नाम से अभिहित किया गया है।[3] नाग और महोरग नामों का कहीं उल्लेख नहीं है,[4] यद्यपि स्वयं सर्प-पूजा (सर्प विद्या) का अनेक बार निर्देश किया गया है।[5] कुम्भमाण्डों का भी नाम नहीं आया

नहीं दी" केवल इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि वे स्वयं इन देवताओं को जन्मचक्र में पड़ा हुआ मानते हैं। उन्होंने देवताओं के अस्तित्व को किसी भी प्रकार अस्वीकार नहीं किया क्योंकि उनका जो उपदेश कहा जाता है उसमें देवताओं के अनेक निर्देश हैं। [हाँ, उन्होंने उनके महत्त्व को समाप्त कर दिया जिस प्रकार उन्होंने वर्णव्यवस्था के महत्त्व का उन्मलन कर दिया था।]

[1]जहाँ किन्नर और उनकी पत्नियाँ 'स्वर्ग के गायक गायिकाओं के' रूप में वर्णित की गई हैं, यथा 'मेघदूत', 'रघुवंश' और 'महाभारत' में, वहाँ मैं इस शब्द को ग्रीक भाषा के शब्द 'किनुरा' का प्रचलित व्युत्पन्न रूप होने का अनुमान करता हूँ ! यद्यपि 'किनुरा' का प्रयोग केवल शोकपूर्ण गंभीर गीतों के लिये किया जाता है: 'किंनर' शब्द भी 'कि-पुरुष' के समान ही बना है।

[2]यह भ्रम है; दानु और दानव ऋक् में भी आते हैं; यही नहीं 'दानु' शब्द अवेस्ता में भी आता है; देखिए 'अबान् येष्ट; ७३; फरवर्द येस्ट ३७, ३८ (इसमें पार्थिव शत्रुओं के रूप में) ?

[3]'सुर' शब्द 'असुर' से बना है; यह इस शब्द के गलत अर्थ पर आधृत है जिसका गल्ती से 'अ+सुर' विश्लेषण किया गया है। निरु० ३।८ में इस शब्द का उल्लेख स्पष्टतः क्षेपक है, क्योंकि यह वैदिक ग्रंथों में नहीं मिलता।

[4]"हाथी के अर्थ में 'नाग' शब्द केवल एक बार 'बृहदारण्यक' माध्य० १।१।२४ में आया है" (प्रथम जर्मन सं० का अशुद्धिपत्र) [ऐत० ब्रा० ८।२२ में भी; जबकि शत० ब्रा० ११।२।७।१२ का सायण ने 'महानाग' का अर्थ सर्प किया है, जो अधिक उत्तम अर्थ है। सर्प अर्थ की प्राचीनता इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी प्रमाणित होती है; तु० को० अंग्रेजी, स्नेक (snake) द्र० कूहन का 'त्साइटश्रिफ्ट' ९।२३३, २३४]।

[5]विशेषतः अथर्वसंहिता में सर्पों के प्रति अनेक प्रार्थनाएँ हैं; शतपथ ब्रा० में एक बार उनका लोकों से तादात्म्य भी प्रदर्शित किया गया है। क्या इस शब्द का मौलिक अर्थ 'नक्षत्र' या वायु की अन्य शक्तियों का रहा होगा [सर्प पूजा का असन्दिग्ध पुराकथाशास्त्रीय और प्रतीकात्मक संबन्ध है; किन्तु इसके विपरीत, इसकी एक यथार्थवादी पृष्ठभूमि भी

है।[1] इनमें से किसी प्रेतयोनि के उल्लेख का ब्राह्मणों में अभाव होने का कारण यही हो सकता है कि ये निम्नवर्ग के लोगों के ही देवता रहे होंगे, जिन वर्गों को ही बुद्ध ने विशेष रूप से अपनाया और जिनकी धारणाओं और मान्याताओं के प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित करने को उन्होंने अपना कर्त्तव्य समझा। इसमें बहुत कुछ सत्यता हो सकती है किन्तु देवताओं का शेष वर्ग, जो बौद्ध सूत्रों में ही आता है, पूर्णतः महाकाव्य का देवमण्डल ही है। इसके विपरीत ब्राह्मणों में कुवेर जैसे देवता का नाम केवल एक बार[2] आया है (और वह भी शुक्ल यजुस् के ब्राह्मण में)[3] शिव और शंकर शब्द रुद्र के अन्य अभिधानों के साथ ही आते हैं और कभी भी रुद्र को अभिहित करने वाले व्यक्तिवाचक नामों के रूप में नहीं प्रयुक्त किये गये हैं। नारायण का नाम भी बहुत कम आता है, जबकि शक्र,[4] वासव,[5] हरि, उपेन्द्र, जनार्दन, पितामह नाम एकदम अज्ञात है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन बौद्ध सूत्रों में ये नाम आये हैं वे सभी ठीक उसी [अवस्था को प्रस्तुत करते हैं जिसका प्रतिनिधित्व महाकाव्यीय साहित्य करता है।[6] कृष्ण के उल्लेख

है] मैत्रायणी-उपनिषद वस्तुतः सुरों, यक्षों और उरगों का उल्लेख करता है; किन्तु यह उपनिषद् परवर्ती काल का है। विषय की दृष्टि से और संभवतः समय की दृष्टि से भी यह इन बौद्ध सूत्रों से संबद्ध है।

[1]एक प्रकार के बौने जिनके 'अण्डकोष घड़े के बराबर बड़े होते थे' (?) बाद के समय की ब्राह्मणीय रचनाओं में उन्हें 'कुष्माण्डः' 'कूष्माण्डः' कहा गया है; वाज० सं० २०।१४ पर महीधर का भाष्य देखिए (तु० की० अथ० ८।६।१५, ११।९।१७ में 'कुम्भ-मुष्कः? और ऋक् ७।२१।५, १०।९९।३; में 'शिश्नदेवः' रोथः निरु० पृ० ४७]।

[2]तैत्तिरीय-आरण्यक, जिसमें इनमें के अनेक नाम आते हैं, ब्राह्मण साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

[3]ऋक् सूत्रों के समानान्तर अंशों में भी और एक बार अथर्व सं० (८।१०।२८) में।

[4]इन्द्र के विशेषण के रूप में 'शक्र' का प्रयोग ऋग्वेद में भी आता है किन्तु उसमें उसका प्रयोग अन्य देवताओं के लिये भी हुआ है।

[5]इन्द्र की उपाधि के रूप में (नाम के रूप में नहीं) वासव शब्द एक बार अथ०सं० ६।८२।१ में आता है। निरुक्ति १२।४१ में भी इसका सीधा संबन्ध इन्द्र से है परन्तु इसका प्रयोग अग्नि के लिये भी हुआ है। वस्तुतः ब्राह्मणों में वसु देवताओं का संबन्ध अग्नि से ही है इन्द्र से नहीं; दे० इं० स्टू० ५।२४०, २४१।

[6]मार, जिसका अनेक बार उल्लेख किया गया है, बौद्धों की ही कल्पना प्रतीत होती है; ब्राह्मणीय रचनाओं में मैंने इसे कहीं नहीं पाया है [ग्रामायरे पालिए ट्राड० पार', स्टान० ब्रुयार्ड, पृ० ८ में मिनयेफ की यह कल्पना कि 'मार' नाम का सीधा संबन्ध 'मैर्य' से है जो अवेस्ता में अहरिमन का विशेषण है, और इस प्रकार दोनों "remontent a

का[1] अभाव इसकी विरोधी स्थिति नहीं प्रमाणित करती; कारण, कृष्ण की एक देवता के रूप में पूजा आरम्भ होने का समय नितान्त अनिश्चित है।[2] इसके अतिरिक्त यह भी एक प्रश्न बना हुआ है कि इन सूत्रों में बार-बार आये हुए असुर कृष्ण नाम से वस्तुतः उन्हीं कृष्ण को समझना चाहिए या नहीं (देखिए पृ० १३४)। यद्यपि—यदि देवमण्डल के अतिरिक्त अन्य विषयों को लिया जाय तो—सूत्रों में चान्द्र नक्षत्र कृत्तिका से आरम्भ होते हैं, अर्थात् इनमें प्राचीन क्रम बना हुआ है, फिर भी इसे हम इस बात का प्रमाण नहीं मान सकते कि इन रचनाओं का समय अपेक्षतया बहुत प्राचीन होना चाहिए, क्योंकि नक्षत्रों की गणना का नया क्रम संभवतः चौथी या पाँचवी शताब्दी ई० से आरम्भ होता है। इससे जो कुछ निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि विशिष्ट अंश चौथी या पाँचवीं

---

une epogue anterieure a la sepraton des Iraniens et des Hindous" ईरानियों एवं हिन्दुओं के अलग होने के समय के पहले के हैं इस कारण अत्यन्त सन्देहपूर्ण लगता है कि इस प्रकार की कोई बात वेद में कहीं नहीं मिलती है। (गोपथ ब्रा० १।२८ दे ० टिप्पणी १६६. स्पष्टतः एक अपवाद है जो संभवतः किसी बौद्ध प्रभाव के कारण है)। अतएव यदि मार और अन्र मैंडयु के बीच कोई सीधा संबंध है तो यह संबन्ध ऐतिहासिक युग में ही हुआ होगा और इसके लिए कहीं भी कोई समान तथ्य नहीं दृष्टिगोचर होता।

[1]दक्षिणी बौद्ध कृष्ण से अवगत है या नहीं यह निश्चित नहीं है। फाउसवेल के संस्करण में प्रकाशित ग्रंथ के अनुसार कण्ह के रूप में बुद्ध के पूर्वकालीन जन्म का कोई संबन्ध कृष्ण से नहीं है, पृ० १९४ जातक महाकण्ह (वेस्टरगार्ड का 'केट०' पृ० ४१, सं० ४६१) का भी उनसे कोई संबन्ध नहीं हो सकता किन्तु 'केसव' के रूप में जातक के विषय में क्या कहा जा सकता है? (वेस्टरगार्ड का 'केट०' पृ० ४०, सं० ३४९, हार्डी के 'इस्ट० मोन०' पृ० ४१ पर आई हुई यह उक्ति "तुम अभी युवक हो, तुम्हारे केश कृष्ण के केशों के समान हैं;" (इं० स्टू० ३।१६१) दुर्भाग्यवश उपलब्ध ग्रन्थ में नहीं मिलता; कहीं इसका अर्थ यह न हो कि तुम्हारे केश अभी काले हैं?" अभिधानप्पदीपिका में कृष्ण का विष्णु के एक नाम के रूप में आना प्राचीन ग्रंथों के पक्ष में कोई बात नहीं प्रमाणित करता और न कच्छ० ५।२।४ (सेनार्ट, पृ० १८५, १८६) के भाष्य में आने वाली कण्हि, और कण्हायन गोत्र नामों को प्रमाणित करता है, जिसका संबन्ध निश्चय ही कृष्ण के महाकाव्यीय या आधिभौतिक व्यक्तित्व से है।

[2]इस विषय पर महाभाष्य में आये हुए तथ्यों के महत्व के संबन्ध में इं० स्टू० १३। ३४९ देखिए। शिलालेख में सर्वप्रथम कृष्ण नाम के प्रयोग के संबन्ध में देखिए बेली, जर्न०, ए० सो० बंगाल, १८५४, पृ० ५१, और इसके साथ इं० स्ट्रा० २।८१ एवं मेरे लेख 'उइबेर कृष्णाज गेबुर्टफेस्ट' पृ० ३१८ की तुलना कीजिए।

शताब्दी के पहले के हैं। इसके विपरीत एक ऐसे समय का द्योतक, जो विशेष रूप से प्राचीन नहीं है, ग्रहों के उल्लेख और 'दीनार' ('देनारिअस' से) शब्द के प्रयोग को मानना चाहिए। 'दीनार' शब्द बर्नाउफ को (पृ० ४२४ टि०) अधिक प्राचीन सूत्रों में दो बार मिला है। (द्र० लास्सेन, इं० अल्ट० २।३४८)।

जहाँ तक बौद्ध धमग्रन्थों के दूसरे वर्ग 'विनयपिटक' या आचार और पूजा संबन्धी शिक्षाओं का प्रश्न है, ये पेरिस संग्रह में प्रायः बिल्कुल ही नहीं मिलते। इसका कारण निःसन्देह यही है कि उन्हें विशेषरूप से पवित्र माना गया है और इस कारण पुरोहितों ने उन्हें यथासंभव गोपनीय रखा है, तथा ये विशेषतः धर्माचार्यों के लिए ही अभिप्रेत हैं। बौद्ध पुराकथाशास्त्र के समान ही बौद्ध पौरोहित्याधिपत्य का क्रमिक विकास हुआ। जैसा कि हम देख चुके हैं, बुद्ध ने बिना भेदभाव के सबको शिष्य बनाया और कुछ ही समय उपरान्त बड़ी संख्या और शरद्-ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में एक साथ रहने के कारण किसी न किसी प्रकार के पदविभाजन की आवश्यकता पड़ी और यह पदविभाजन अवस्था[1] या योग्यता[2] के आधार पर हुआ। बौद्ध धर्म जैसे-जैसे अधिक प्रचलित होता गया वैसे-वैसे एक ओर पूर्ण रूप से पौरोहित्य कर्म में रत रहने वाले 'भिक्षुओं'[3] 'और 'भिक्षुणियों में

---

[1]वयोवृद्ध लोगों को स्थविर कहा जाता था। यह नाम ब्राह्मणीय सूत्रों में भी बहुशः किसी व्यक्ति को उससे अल्पआयु के समनामा व्यक्ति से भिन्न बताने के लिये नाम के साथ जोड़ा जाता था; ब्राह्मणों में भी इसके संबन्ध सूत्र मिलते हैं [शरद् ऋतु के विषय में चाइल्डर्स की पाली डिक्श० में वस्सो। देखिए]।

[2]पूज्य व्यक्तियों को अर्हन्त ('अर्कून'-ग्रीक) कहा जाता था, यह उपाधि ब्राह्मणों में आचार्यों के लिए भी आयी है।

[3]जब पाणिनि 'भिक्षु-सूत्र' का उल्लेख करते हैं एवं उनके रचयिता पाराशर्य और कर्मन्द को बताते हुए इस नियम का विधान करते हैं (४।३।११०, १११) कि उनके अनुयायियों को 'पाराशरिणः' और 'कर्मन्दिनः' एवं इसमें प्रथम के सूत्र को 'पाराशरीय' कहते हैं तब उनका तात्पर्य ब्राह्मण भिक्षुओं से है, कारण, इनके नाम बौद्ध रचनाओं में नहीं आये हैं। अपनी डिक्शनरी के दूसरे संस्करण में विल्सन ने भी कर्मन्दिन का अर्थ 'भिखारी संन्यासी चतुर्थ आश्रम में स्थित' किया हैं [सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी के अनुसार, अमर २।७।४१ तथा हेमचन्द्र ८०९ से] किन्तु इस स्थिति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि कलकत्ता के भाष्यकारों के अनुसार, पाणिनि के इन दो सूत्रों में किसी की भी व्याख्या महाभाष्य' में नहीं की गई है और वे संभवतः पाणिनि के न होकर पतंजलि से भी बाद के है। [वस्तुतः कम से कम 'पाराशरिणो भिक्षवः' का उल्लेख ४।२।६६ के भाष्य में किया गया है देखिए इं० स्टू० १३।३४०] पाणिनि के समय में संन्यासियों और भिक्षुकों की संख्या सचमुच ही अधिक रही होगी यह इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने इससे संबद्ध अनेक शब्दों की

और दूसरी ओर इनके अतिरिक्त सामान्य बौद्ध धर्मावलम्बिओं एवं उपासकों में भेद रखने की आवश्यकता हुई।[1] स्वयं पुरोहित वर्ग में ही समय के साथ-साथ अनेक प्रकार के विभ ग हुए और अन्त में वर्तमान पुरोहिताधिपत्य का उदय हुआ। यह एक इस प्रकार का पुरोहिताधिपत्य था जो ब्राह्मणीय पुरोहिताधिपत्य से आवश्यक अन्तर रखता था; कारण, पुरोहितों की व्यवस्था में इस समय भी बुद्ध के समय के समान ही निकृष्ट वर्ण के मनुष्यों को भी उसी प्रकार प्रवेश मिलता था जिस प्रकार किसी दूसरे वर्ण के मनुष्यों को। पुरोहित-भिन्न साधारण धर्मावलम्बियों में उन स्थानों पर वर्णव्यवस्था इस समय भी प्रचलित थी जहाँ उसका पहले अस्तित्व था। केवल ब्राह्मण वर्ण या जन्मना पुरोहित वर्ण का उन्मूलन हुआ है और इसका स्थान कर्म के आधार पर धर्माचार्यों के वर्ग ने ले लिया है बौद्ध पूजाविधि भी, जो गम्भीरता, गौरव, वैभव और विशिष्टताओं में इस समय किसी से भी कम नहीं है, मूलतः अत्यन्त सरल थी और बद्ध की मूर्ति एवं उनके स्मारकों की पूजा तक ही सीमित थी। बुद्ध की मूर्तिपूजा के विषय में सर्वप्रथम क्लेमेन्स अलेक्जेण्ड्रियस ने विवरण प्रस्तुत किये हैं। कालान्तर में वही श्रद्धा उनके प्रमुख शिष्यों को और उन राजाओं को भी दी गई, जो विशेष रूप से बौद्ध धर्म के योग्य थे। मेनेन्देर के देहभस्म की कथा को जिसे प्लूटार्क ने कही है (देखिए विसलन, एरिआना, पृ० २८३), निःसंदेह इसी अर्थ में, लेना चाहिए।[2] यह स्मारक-पूजा और शिखरों का निर्माण—जिसका संबन्ध उन स्तूपों से

रचना के विषय में नियम दिये हैं जैसे भिक्षाचार ३।२।१७; भिक्षाक ३।२।१५५, भिक्षु ३।२।२६८, भैक्ष-भिक्षा से भिक्षाणां समूहः के अर्थ में ४।२।३८; विशेषतः २।१।७० की तुलना कीजिए, जिसमें भिक्षुणिओं के नामों के विषय में नियम दिये गये हैं (श्रमणा, तथा गणमें 'प्रव्र जिता'), जिनका निर्देश केवल बौद्ध भिक्षुणियों से ही हो सकता है। [अन्तिम नियम, जो 'कुमारी' विशेषण 'श्रमणा' का विशेष (अनिवार्य नहीं) गुण बताता है, ४।१। १२७ के साथ इस वर्ग की स्त्रियों के कौमार्य पर अनुकूल प्रकाश नहीं डालता; तुलना मनु० ८।३६३, ऊपर टिप्पणी ३३०। सर्वान्नीन ५।२।९ तथा 'कौक्कुटिक' ४।४।६ शब्दों में बौद्ध स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, इस पर इं० स्टू० ५।१४० देखिए। भाष्य के समय में बौद्ध भिक्षुओं के विषय में, इं० स्टू० १३।३४० में संगृहीत विवरण देखिए।] चतुर्थवर्ण का सम्पूर्ण विधान सांख्य दर्शन पर आधृत है, और बौद्ध धर्म के कारण ही इसका विस्तार बहुत सीमा तक हो सका। लाल या गेरुए रंग का वस्त्र (कषायवसन) तथा मुण्डन (मौण्डय) बौद्ध भिक्षुओं का प्रमुख चिह्न है; ऊपर पृ० ६९, २३० देखिए; भिक्षुसूत्र पर भारत में विद्यमान एक भाष्य के विषय में इं० स्टू० १।४७० देखिए।

[1]या विशेषतः 'बुद्धोपासक' 'बुद्धोपासिका' जैसा कि हम 'मृच्छकटी' में पाते हैं।

[2]कारण, मैं मेनाण्डेर को, जिसे सिक्कों पर 'मिनन्द' कहा गया है सागल (शाकल) का राजा मिलिन्द ही मानता हूँ; इस राजा के संबन्ध में जर्न० ए० सो० बेंगाल ५।३५०

जोड़ा जा सकता है जो स्मारकपूजा के कारण अस्तित्व में आए—आरण्यकवृत्ति, घण्टिओं और गुरियों (Rosary)[1] का प्रयोग और अन्य छोटी-छोटी बातें ईसाई पूजाविधि से इतना अधिक साम्य प्रदर्शित करती हैं कि इस प्रश्न का एकदम नकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता कि कहीं ईसाई धर्म ने इन बातों को बौद्धों से ग्रहण तो नहीं किया है; कारण, विशेषतः हम यह जानते हैं कि बौद्धधर्म प्रचारकों ने बहुत पहले के समय में ही संभवतः ईस्वी सन् से दो शताब्दी पहले ही, पश्चिमी देशों में एशिया माइनर तक प्रवेश कर लिया था। यह प्रश्न भी विवादास्पद है और इस पर अन्वेषण की आवश्यकता है।[2]

बर्नाउफ, वही, पृ० ६२१; तथा केट० मैन्यु० ओरि० बिब्लि० हाउन०, पृ० ५० देखिए ('कीलेर अल्गेमाइन मोनाटस्सिफ्ट' जुलाई १८५२, पृ० ५६१ में प्रकाशित स्पीगेल के एक लेख से जो इन पन्नों का संशोधन कर लेने पर मेरे पास पहुँचा है, मैंने पाया कि बेनफी ने पहले ही मेनाण्डेर को मिलिन्द माना है [देखिए बेर्लिन, यार ब्यूसेर फ्यूर विस्सेन्श क्रिटिक् १८५२, पृ० ८७ ब]) शीफनेर ने अपने 'उइबेर इन्द्राज डोन्नेरकाइल', पृथक् प्रकाशित प्रति के पृ० ४, १८४८ में यह अनुमान किया है कि बुद्ध अमिताभि, जिन्हें सर्वत्र पश्चिम देश में सुखवती का बताया गया है, अम्युन्तस् से अभिन्न रहे होंगे, जिनका नाम 'अमित' रूप में सिक्कों पर पाया जाता है। 'बसिलि' नाम में भी (स्मिट का ड्साल्गुन्, पृ० ३३१) उन्होंने 'बास्ल्यूज' (ग्री०) नाम ढूंढ़ निकाला है। [किन्तु शीफनेर ने मेरा ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि १८५२ में अपने 'एर्गेन्जुंगेन् उ० ; बेरिष्टिगुंगेन् त्सु स्मिट्' सू आउसगाब डेस् ड्संल्गुन् पृ० ५६ से २५६, तिब्बती पाठ की पंक्ति ३, में उन्होंने 'बसिलि' और 'बास्ल्यूज' (ग्री०) का तादात्म्य प्रदर्शित किया है। अमित और अम्युनतस् का जो संबन्ध उन्होंने प्रदर्शित किया है उस पर केपन ने आपत्ति उठाई है, २।२८, टिप्पणी ४, वे इसे अब सन्देहपूर्ण मानते हैं] शाक्यों की पश्चिमी उत्पत्ति की कथा को मैं पहले ही (पृ० २८३) कनिष्क की गौरववृद्धि के लिये कल्पित मान चुका हूँ।

[1] बाद में ब्राह्मणों ने भी इसे, अंगीकार किया है। [स्वयं rosary नाम संभवतः दो भारतीय शब्दों 'जपमाला' और 'जपामाला' को एक समझ लेने के कारण उत्पन्न हुआ है। मेरा लेख 'उइबेर कृष्णाज गेबुर्टस्फेस्ट' पृ० ३४०, ३४१; केप्पेन 'डी रीलिजन डेस बुद्ध' २।३१९; और इण्डियन एण्टि० ४।२५० में मेरा पत्र]।

[2] द्र० इण्डि० स्कित्स० पृ० ६४ (१८५७) और अब्बे हक़ के तिब्बत में भ्रमण के विवरण, केप्पेन १।५६१, २।११६ में। लाबोलायें (देखिए म्यूल्लेर, चिपस् ४।१८५) तथा एक लीब्रेष्ट द्वारा बरलाम और जोस्फट के विषय में की गई रोचक खोज के अनुसार, कैथोलिक चर्च का एक महात्मा स्वयं बोधिसत्व के रूप में दिखाई पड़ता है। इस खोज को राइनाऊ द्वारा यूअसफ, यूदस्फ का बुद्धसत्फ के साथ तादात्म्य प्रदर्शन करने से ही (मेम० सुर 'ल'

बौद्ध धर्मग्रंथों के तीसरे वर्ग 'अभिधर्मपिटक' में दार्शनिक और मुख्यतः आध्यात्मिक विवेचन हैं। यह कथमपि नहीं सोचा जा सकता कि स्वयं बुद्ध अपने उपदेशों के दार्शनिक आधार से स्पष्ट रूप में परिचित नहीं थे, और उन्होंने इस दार्शनिक आधार को अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों से ग्रहण किया, और इस कारण उनकी एकमात्र देन इसके सार्वजनिक विस्तार की स्फूर्ति और शक्ति थी।[1] किन्तु यह भी निश्चित प्रतीत होता है कि वे दार्शनिक सिद्धान्त के प्रचार से संबद्ध नहीं थे, अपितु उनका विशुद्ध व्यावहारिक लक्ष्य उत्तम कर्मों एवं विचारों को पुनः जाग्रत करने का था। उपर्युक्त कथन इस तथ्य के अनुकूल है कि बौद्ध 'सूत्रपिटक' और 'विनयपिटक' को स्वयं बुद्ध द्वारा उक्त कहते हैं, किन्तु 'अभिधर्म पिटक' को वे उनके शिष्यों की रचना मानते हैं। बर्नाउफ के अनुसार, अभिधर्म के सिद्धान्त वस्तुतः सूत्रों में यत्रतत्र प्रतिपादित मतों के विकास की अगली अवस्था या उन्हीं के विस्तार हैं। सच तो यह है कि ये रचनाएँ सूत्रों में अभिव्यक्त विचारों के साथ एकाध शब्दों को ही जोड़ती हैं। "किन्तु किसी भी अवस्था में इन दोनों के बीच अनेक शताब्दियों का व्यवच्छेद है और इनमें वह अन्तर पाया जाता है जो अपनी आरम्भिक अवस्था में विद्यमान सिद्धान्त को अधिक विकसित अवस्था में पहुँचे हुए दर्शन से भिन्न करता है।"[2] बादरायण के ब्रह्मसूत्र में मतों का बार-बार खण्डन किया गया है, जो शंकर के अनुसार बौद्ध धर्म के

इण्डे, पृ० ९१) दिशा मिली होगी; देखिए त्सा० डा० मो० गे० २४।४८०, किन्तु इसके विरोधी इस कल्पना को भी आसानी से निर्मूल नहीं ठहराया जा सकता कि ईसाई प्रभाव बौद्ध धर्म के पूजा एवं धार्मिक क्रियाओं पर पड़ा होगा, जैसा कि ईसाई प्रभाव बौद्ध कथाओं पर पड़ा था। वस्तुतः कृष्ण पूजा के विकास पर इन प्रभावों के महत्त्व के संबन्ध में प्रायः उठने वाले प्रश्न को छोड़ भी दिया जाय तो भी ऐसे आख्यान हैं जो शिव-पूजा से संबद्ध हैं और उनके विषय में यह मानना अतिरंजित नहीं होगा कि वे ईसाई धर्मप्रचारकों की ओर निर्देश करते हैं। देखिए: इं० स्टू० १।४२१, २।३९८; त्सा० डा० मो० गे० २७।१६६ (५।२६३)। पश्चिमी प्रभाव ने तिब्बत में भूमिका अदा की थी इस तथ्य को शीफ़नेर के पत्र से समर्थन मिला है। इनके अनुसार साजा पण्डित की एक रचना में गालेन को फारसियों का वैद्य बताया गया है और कहा गया है कि प्रथम तिब्बती राजा ने एक प्रसिद्ध भारतीय वैद्य और एक प्रसिद्ध चीनी वैद्य के साथ उससे परामर्श लिया था।

[1]इस साहस के कारण ही उन्हें क्षत्रियवर्ण में उत्पन्न बताया गया है।

[2]बर्नाउफ के इन शब्दों (वही, पृ० ५२२) के उपरान्त लास्सेन के निम्नलिखित विचार की समीचीनता मुझे सन्दिग्ध प्रतीत होती है: "यद्यपि 'अभिधर्म' नाम के संग्रह में विभिन्न समयों की रचनाएँ हैं फिर भी उन सबको तीसरी संगति के पहले के समय का मानना चाहिए (२७५ ई० पू० हुई)। इस तीसरी संगति को यहाँ कनिष्क के समय में हुई चौथी संगति से स्पष्टतः भिन्न समझना चाहिए।

दो भिन्न सम्प्रदायों के हैं, और अतएव ये ही और कदाचित् इनकी कोटि में आने वाले दूसरे दो सम्प्रदाय भी इस ब्रह्मसूत्र की रचना के पूर्ववर्ती काल के हैं। स्वयं इन मतों को भी पूर्णतः स्पष्ट रूप में नहीं पहचाना जा सकता और सांख्य दर्शन के साथ उनका संबन्ध, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, इस समय भी अस्पष्ट बना हुआ है।[1] इस विषय पर इतना तो स्पष्ट है कि यद्यपि स्वयं बुद्ध वस्तुतः कपिल के मतों के साथ, जिस रूप में वे उस समय विद्यमान थे, सहमत रहे होंगे,[2] फिर भी उनके अनुयायियों ने इनका अपने ढंग से विकास किया था, जिस प्रकार कि कपिल के अनुयायियों ने भी स्वयं अपने मार्ग का अनुसरण किया और इस प्रकार अन्त में उस दर्शन का विकास हुआ जो इस समय सांख्य नाम से विद्यमान है और बौद्ध दर्शन से मौलिक भेद रखता है।[3] जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, यह दर्शन अपेक्षतया प्राचीन काल में चार सम्प्रदायों में विभक्त था। इन चार सम्प्रदायों के साथ आगे चलकर चार और सम्प्रदाय जुड़ गये—अथवा इन चारों ने पहले के सम्प्रदायों का स्थान ले लिया—किन्तु इन परवर्ती सम्प्रदायों के मतों को अब तक निश्चित रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सका है।[4] बौद्ध विचारधाराओं ने विशेषतः वेसिलिडीज़,

---

[1]इसके लिए तुलना कीजिए इं० स्टू० ३।१३२; मैक्स डंकेर, गेशिश्ट डेर एरियर पृ० २३४ (१८६७) केप्पेन १।२१४ आदि—"व्यक्तिगत अस्तित्व का बुझ जाना या निर्वाण ही निःसन्देह वह लक्ष्य था जिसे बुद्ध ने प्राप्त किया। इस अस्तित्व के शून्य में विलयन कुछ और नहीं बल्कि उसी अविद्या या अचेतन अवस्था में प्रत्यावर्तन है जो मूल पदार्थ के विकास होने के पूर्व उसका गुण था।" लिट्० से० ब्ब० १८५७, पृ० ७७० (इं० स्ट्रा० २।१३२) चिल्डर्स का विचार भिन्न है; पालि० डिक्श० में 'निर्वाण' शब्द।

[2]यदि उन्हें मैत्रायणी उपनिषद् का शाकायन्य माना जाय तो हमें इस ग्रंथ में इस बात को पुष्ट करने वाले अनेक तथ्य उपलब्ध होंगे।

[3]ईशोपनिषद् के श्लोक ९-११ का बौद्धों से विशेष निर्देश है या नहीं मुझे अब सन्देहास्पद लगता है; यद्यपि भाष्यकार ने ऐसा माना है, और मैंने भी इं० स्टू० १।२९८, २९९ में ऐसा ही माना था। यह व्यंग्य सांख्य मतावलम्बियों पर किया गया है।

[4]उनके विषय में हमें एकमात्र होड्गसन के निबन्धों से जानकारी प्राप्त होती है (जो अब संगृहीत हैं, देखिए, पृ० २८९, टिप्पणी ४)। उनके नामों स्वाभाविक, एश्वरिक कर्मिक, यात्निक को अभी तक किसी साहित्यिक प्रमाण से समर्थन नहीं प्राप्त है। केवल सौत्रान्तिक, वैभाषिक माध्यमिक, योगाचार नामों के लिए इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, तारानाथ केवल इन्हीं अन्तिम नामों से अवगत हैं और वास्सिल जिव्‌ऊ भी तिब्बती एवं चीनी बौद्ध धर्म के विषय में अपने ग्रंथ में केवल इन्हीं से परिचित है। इस विषय पर लिट्० से० क्रु० १८७५, पृ० ५५० देखिए।

बेलेण्टिनियन और बर्डेसनीज तथा मेन्स के सिद्धविद्याविषयक या 'ग्नोस्टिक' मतों के[1] विकास में प्रत्यक्ष प्रभाव तो नहीं डाला था, इस प्रश्न का भी सम्प्रति निश्चित समाधान नहीं हो सका है।[2] यह प्रश्न इस प्रश्न के साथ अत्यन्त घनिष्ठता से संबद्ध है कि सामान्य भारतीय दर्शन ने इन मतों के विकास में किस सीमा तक प्रभाव डाला था। सिद्धविद्या-विषयक या ग्नोस्टिक मतों पर भारतीय दर्शन के प्रभाव की मुख्य धारा अलेक्जेण्ड्रिया से होकर प्रवाहित हुई थी; इसके विपरीत, संभवतः बौद्ध धर्मप्रचारक अधिकांशतः पंजाब से फारस होते हुए पहुँचे थे।

तीन पिटकों के अतिरिक्त जो संस्कृत पाण्डुलिपियाँ नेपाल में प्राप्त हुई हैं, उनमें अन्य रचनाएँ भी हैं। उनमें अंशतः पिटकों के ऊपर लिखे गये भाष्य एवं उनकी व्याख्याएँ हैं और अंशतः तथाकथित तन्त्र नाम की अत्यन्त विलक्षण रचनाएँ हैं, जिन्हें विशेष रूप से पवित्र माना जाता है और जो इसी नाम की ब्राह्मणीय रचनाओं के धरातल पर ही अवस्थित हैं। उनमें अनेक बुद्धों और बौद्धों तथा उनकी शक्तियों या स्त्रीशक्तियों के प्रति प्रार्थनाएं हैं जिनके अन्तर्गत बिना भेदभाव के शैवसिद्धान्त के देवता भी मिले हुए हैं। इनके साथ इन सभी देवताओं के प्रति उक्त अधिक लम्बी या छोटी प्रार्थनाएँ जोड़ दी गई हैं तथा इन देवताओं की कृपाप्राप्ति के लिए रहस्यमय आकृतियों एवं अभिचारकर्म के वृत्तों को खींचने की विधि बतायी गयी है।[3]

---

[1]देखिए एफ० नेवे, ले अण्टिक्विटे चेरेटिन्ने एन ओरिएण्ट, पृ० ९०, लोइवाइन, १८५२।

[2]तु० लास्सेन, इं० अल्ट० ३।३८७-४१६; मेरा 'इण्ड० स्कित्स०, पृ० ६४; रेनान, हिस्ट, डेस् लंग० सेस० द्वितीय सं० १८५८, पृ० २७४, २७५। प्रेतात्माओं के विषय में सिद्धान्त के विकास पर प्रभाव नितान्त महत्वपूर्ण था यह बात केवल इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि उनके शपथपूर्वक त्याग के मन्त्र, जो इस सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से विरोध करते थे बोड्दा और 'स्कूडिआनोज' का पृथक् पृथक् उल्लेख करते हैं (जो बाह्यतः 'बुद्ध शाक्यमुनि' का दो रूपों में विभाजन है)—लास्सेन ३।४१५—तु० कौ० बीअल, जे० रा० ए० सो० २।४२८ (१८६६)।

[3]तुलना कीजिए: एमिल स्लागिण्टवाइट का 'बुद्धिज्म इन तिबेत' (१८६३, जिसके साथ बीस चित्रों का संकलन है)। हाल ही में नेपाल से ऐसी संस्कृत पाण्डुलिपियाँ आई हैं जिनमें काव्य की रचनाएँ हैं; इस पर इनसे लिये गये चाणक्य की उक्तियों के क्लैट (Klatt) द्वारा संपादित संस्करण का प्राक्कथन देखिए।

परिशिष्ट

पूरक टिप्पणियाँ

पृ० ४, —बर्नेल ने अपने **आर्षेय ब्राह्मण** की भूमिका पृ० १६ आदि (मंगलोर, १८७६) में और आउफ्रेक्ट ने हिम्नेन डेस ऋग्वेद (बान १८७७) की उपक्रमणिका, पृ० १६-१७ में ऋक्संहिता की तुलना में सामसंहिता के अधिक प्राचीन पाठ होने पर विवाद उठाया है।

पृ० १९, टि० १—शिक्षा के विषय में इण्ड० एण्टी० ५।१४१ आदि में और १९३ आदि में कीलहार्न का लेख देखें। उसी में पृ० २५३ पर मेरी टिप्पणी भी देखें।

पृ० २५, टि० २—वाष्कल शाखा पर कुछ और प्रकाश पड़ा है। सर्वप्रथम, बर्लिन संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स की मेरी सूची में उद्धृत पृ० ३१४ की इस कारिका की तुलना से : शाकलानां समानी वा इत्यृतुऽन्त्याहुतिर्भवेत्। बाष्कलानाम् च तच्छंयोरित्यृचाऽन्त्याहुतिर्भवेत्। यह निष्कर्ष निकलता है कि अड़तालिसवें अथर्वपरिशिष्ट में (दे० इं० स्टू० ४।४३१) शंयुवाक का ऋक्संहिता के अन्तिम मन्त्र के रूप में उद्धरण वाष्कल संहिता की ओर निर्देश करती है। दूसरे, यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पाठ का शांखायन पाठ के साथ एक विशेष संबन्ध था, क्योंकि शांखायनगृह्य ४.५.९ में उसी मन्त्र का उद्धरण सामसंहिता के अन्तिम मन्त्र के रूप में दिया गया है और इसे स्पष्टतः कौषीतकि का मत ठहराया गया है। इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी है कि सम्पूर्ण खण्ड का प्रतीक, जिस खण्ड से यह मन्त्र संबद्ध है और जिस खण्ड का यह ऋक्संहिता के वुल्गेट पाठ में अन्तिम—संज्ञान—खिल है, शांखायन श्रौतसूत्र ३.६.४ में उद्धृत है किन्तु आश्वालायन के समान अंश २.११ में नहीं है। अन्ततः, हमें संभवतः वाष्कल शाखा के वे ग्यारह सूक्त भी मानने होंगे—दस आश्विनानि और एक ऐन्द्रावरुण न् सूक्त—जो, जैसा कि मेयरे ने बताया है। ऋग्विधान धान प्रीफेस, पृ० २४) बृहद्देवता २।२४ में ऋक्संहिता १.७३ और ७४ के बीच उद्धृत है। मेयर के अनुसार उनके प्रतीकों से यह सिद्ध होता है कि वे शांखायन श्रौतसूत्र ९।२०।१४ के भाष्य में दिये गये प्रतीक के समान हैं, क्योंकि "त्रिशतं सुपर्णम्" पाठ में उल्लिखित है, जो स्वयं शांखायन-ब्राह्मण में १८।४ में इस नाम से आश्विनशास्त्र का अंश बताया गया है। संभवतः अन्य अंश भी जो मेयरें के कथनानुसार (वही, पृ० २५) बृहद्देवता

और ऋग्विधान में ऋकसंहिता से संबद्ध बताया गया है, जबकि न तो वे वुल्गेट—शाकलसंहिता—में मिलते हैं और न उसके खिल अंशों में ही। इन्हें वाष्कल शाखा का मानना होगा। वस्तुतः संज्ञान खिल भी, जिससे वाष्कलसंहिता का अन्तिम मन्त्र संबद्ध है, दोनों ही पाठों में उल्लिखित है। मेयरे, (भूमिका, पृ० २२) शांखायन में उद्धृत ऋक्-मन्त्रों की एक सही तुलना संभवतः इस विषय पर पूरा प्रकाश डाल सके। काश्मीर से लिखे गये बिउह्लेर के पत्र में वो इं० स्ट० १४।४०२ में प्रकाशित है। यह रोचक सूचना दी गयी है कि बिउह्लेर को वहाँ एक उत्तम भूर्ज-पाण्डुलिपि मिली है जो कोई पाँच से छः सौ वर्ष प्राचीन है। यह पाण्डुलिपि शाकल शाखा की ऋक्संहिता की है। इसमें स्वर लगे हुए हैं जबकि काश्मीर की वैदिक पाण्डुलिपियों में सामान्यतः स्वरांकन नहीं है, किन्तु स्वर भारत में प्रचलित विधि से नितान्त भिन्न रूप से चिह्नित किया गया है, केवल उदात्त को ही सीधी लम्बी रेखा द्वारा व्यक्त किया गया है। हाग के अनुसार ठीक ऐसा ही **मैत्रायणी संहिता** की दो शाखाओं में से एक शाखा में पाया जाता है और हम भी इसी प्रकार स्वरांकन करते हैं। तुलना० येनाएर लिट० त्साइट० १८७५, पृ० ३१५ पर मेरी टिप्पणी। इस पाण्डुलिपि के विषय में जर्नल बम्बे ब्रांच रा ए सो, १८७७, अतिरिक्त अंक पृ० ३५, ३६ में बिउह्लेर की यात्रा का विवरण देखिए।

पृ० २९, टि० १—मेरिएन्थेउस का 'डी अश्विन्स' (म्यूनिश, १८७६) तथा जेम्स डारमेस्टेर का 'ओरमज्ड एत् अह्रिमन', (पेरिस, १८७७) भी देखें।

पृ० ३३, टि० १—देखिए, अल्फ्रेड हिल्लेब्राण्ट, 'वरुण उण्ड मित्र, आइन् बाइट्राग् त्सुर एक्सेगेजे डेस वेद', ब्रेसलाऊ, १८७७।

पृ० ३७, टि० माक्स म्यूल्लेर द्वारा संपादित केवल मूल का दूसरा संस्करण निकल चुका है, लन्दन, १८७७। इसमें संहितापाठ और पदपाठ आमने-सामने पृष्ठों पर छपे हैं। पद पाठ के विषय में कहा जा सकता है कि म्यूल्लेर के पहले संस्करों के समान इसमें भी गलितों का निर्देश नहीं किया गया है। पहली बार किसी अंश का जो पाठ है उसकी आवृत्ति मात्र कर दी गयी है और स्वयं पाण्डुलिपि में जो कुछ किया गया है उसका कोई संकेत नहीं दिया गया है। यह आश्चर्यजनक लगता है, क्योंकि उसके बड़े संस्करण के अन्तिम भाग की समीक्षा में (लिट० सेंट० ब्लाट्ट०, १७ अप्रिल, १८७५) मैंने इस दोष को संकेतित किया था और स्वयं माक्स म्यूल्लेर ने इसी पत्रिका में प्रकाशित एक लेख में जो डेढ़ साल बाद १६ दिसम्बर, १८७७ को प्रकाशित हुआ था, गलितों के आलोचनात्मक महत्व को पूर्णतः स्वीकारा था। आऊफ़ेष्ट का

संस्करण भी पुनः प्रकाशित हुआ है (बोन्न, १८७७) प्रीफेस में विविध आलोचनात्मक विचार दिये गये हैं। ऋक्संहिता का अल्फ्रेड लुड्विग कृत सम्पूर्ण अनुवाद (प्राग् १८७८) और हेरमन्न ग्रास्समन्न का अनुवाद (लाइपत्सिक्, १८७६-७७) भी प्रकाशित हुआ है। 'वेदार्थयत्न' शीर्षक से बम्बई से मासिक किश्तों में ऋक्संहिता का सुन्दर संस्करण निकल रहा है, जिसमें अंग्रेजी और मराठी अनुवाद हैं तथा मराठी भाष्य भी है। अन्तिम अंक में यह १।१०० तक पहुँचा है। इसके संपादक का नाम शंकर पण्डित सुविदित रहस्य है—अन्ततः एम० हाग के वेदिश रेठसेल्फ्रागेन उण्ड रेठसेल्स्प्रुश्शे। ऋक्, १।१६४, १८७६।

पृ० ४०, टि० २ —सायण के भाष्य के साथ **ऐतरेय आरण्यक** का राजेन्द्रलाल मित्र का संस्करण अब पूरा हो चुका है। काश्मीर में ब्यूह्लेर को प्राप्त एक पाण्डुलिपि में अनेक पाठभेद हैं। उनकी यात्रा का विवरण देखिए, वही, पृ० ३४।

पृ० ४२, तथा पृ० २८२, पंचालचण्ड एक पाली सूत्त में यक्खों के महासेनापतियों में एक सेनापति के रूप में आये हैं। इससे जो निष्कर्ष निकलता है उसके विषय में येनाएर लिट्० त्साइट०, ७ अप्रिल १८७७, पृ० २२१ देखिए।

पृ० ४८, शांखायनगृह्य ४।१०।३ में विश्वामित्र और वामदेव के बीच तीसरे और चौथे मण्डल के दो प्रतिनिधि आते हैं, जमदग्नि, जिन्हें शाकलसंहिता की अनुक्रमणी में तृतीय मण्डल के अन्तिम तीन मन्त्र (३.६२.१६-१८) का रचयिता बताया गया है, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्तिम तीन मण्डलों के चार समूचे सूक्तों तथा चार पृथक् मन्त्रों का भी रचयिता बताया गया है। क्या यहाँ हमें वाष्कल शाखा का भेद समझना चाहिए? शांखायन गृह्य० ४-५-८ में वुल्गेट से इस पाठभेद का कोई संकेत नहीं है, प्रत्युत् उसमें मन्त्र ३।६२।१८ तृतीय मण्डल के अन्तिम मन्त्र के रूप में आया है।

पृ० ५०, टि० २—अनुवाद और टिप्पणियों के साथ शांखायन गृह्य० का प्रकाशन हेर्म० ओल्डेनबर्ग ने किया है। देखिए, इं० स्टू० १५।१–१६६। इसका एक दूसरा पाठ भी है जिसे कौषीतकि गृह्य कहा गया है किन्तु जो ओल्डेनबेर्ग के अनुसार शम्बव्यगृह्य समझा जाना चाहिए। इसका पाठ "किसी भी प्रकार" शांखायनगृह्य० से मिलता नहीं है, "अपितु इसमें शांखायन गृह्य० से विषय और शैली का अधिकतम उधार लिया गया है"। शांखायन गृह्य० के अन्तिम दो काण्ड इसमें नहीं व्यवहृत हैं और इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ का अभाव है।

पृ० ५३, टि० १—ज्योतिष पर जी० थीबाऊत ने एक बहुत उत्तम पाण्डुलिपि प्रस्तुत की है।

पृ० ५४, **बृहद्देवता** और **ऋग्विधान** के विषय में ऋग्विधान की आर० मेयर का संस्करण देखिए (बर्लीन, १८७७)।

पृ० ५७, अड़तालिसवें अथर्वपरिशिष्ट में। देखिए इं० स्टू० ४।४३२। वही आरम्भ है, किन्तु सामसंहिता का अन्तिम मन्त्र भिन्न है। वुल्गेट प्रथम भाग में अन्त से पहले जो मन्त्र है वह अन्त में आया है। इस प्रकार इसमें द्वितीय खण्ड को संहिता से संबद्ध ही नहीं माना गया है, प्रथम खण्ड के संबन्ध में भी इसमें असंगतियाँ पायी जाती हैं।

पृ० ५७, टि० १—सायणभाष्य के साथ **आरण्यसंहिता** का सम्पादन सत्यव्रत सामाश्रमी ने किया है, यह दो रूपों में है, अर्थात् पृथक् रूप से। कलकत्ता, १८७३ और सामसंहिता के बृहद् संस्करण के दूसरे खण्ड में भी, पृ० २४४ आदि।

पृ० ५७, टि० २—बिब्ली० इं० में **सामसंहिता** का यह संस्करण अब तक पांच भाग में २।८।२।५ तक पहुँचा है।

पृ० ६४-६५—तलवकार या **जैमिनीयब्राह्मण** जिससे केनोपनिषद् संबद्ध है. बर्नेल ने ढूँढ़ निकाला है (१९ अप्रिल का पत्र) सामवेदप्रातिशाख्य भी।

पृ० ६५-६६—**आर्षेय ब्राह्मण** तथा **संहितोपनिषद् ब्राह्मण** का संपादन भी बर्नेल ने किया है (मंगलोर, १८७६, १८७७) **आर्षेय ब्राह्मण** में एक लम्बी भूमिका है जिसमें गणों के विषय में प्रश्न उठाया गया है और उनसे संहिता की परवर्ती उत्पत्ति पर सामन् के गान आदि पर विचार किया गया है। इस विषय पर तुलना कीजिए, ए० बार्थ का विस्तृत वक्तव्य, (रीवु क्रीति के २१ ज़ुलाई, १८७७ पृ० १७-२७)। अभी हाल में **आर्षेय ब्राह्मण** जैमिनीय पाठ में बर्नेल ने दूसरी बार निकाला है। इस बीच उन्हें जैमिनीय पाठ उपलब्ध हुआ है। (मंगलौर, १८७८)।

पृ० ८९-९१—एम० हाग की पाण्डुलिपियों के संकलन की सूची के अनुसार (१८७६) म्यूनिश की रायल लाइब्रेरी में जहाँ यह पाण्डुलिपि १८७७ के वसन्त में मिला दी गयी थी, मैत्रायणी संहिता की केवल दो पाण्डुलिपियाँ नहीं हैं अपितु अनेक अल्पाधिक पूर्ण पाण्डुलिपियाँ हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश अधिकांशतः आपस्तम्ब, मानव, भारद्वाज, बौधायन, वैखानस, हिरण्यकेशिन् की अर्वाचीन प्रतिलिपियाँ हैं। धर्मसूत्रों का (टिप्पणी १०८ और १०९ में) श्रौतसूत्रों के अंग के रूप में उल्लेख सही नहीं है। अपितु दोनों ही समूचे सूत्र समुदाय के अंग हैं जिनसे प्रत्येक स्थिति में गृह्य और शुल्व सूत्र संबद्ध था और जिसे हम कल्पसूत्र नाम से अभिहित कर सकते हैं। कठ शाखा की उत्तर-पश्चिमी उत्पत्ति ('कठाइआ', इं० स्टू० १३।४३९) भी कुछ सीमा तक इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि काश्मीर से लिखे गये बिउह्लेर के पत्र के अनुसार।

दिनांक सितम्बर, १८७५, इं० स्टू० १४। ४०२ आदि। काश्मीर में यह शाखा अब भी प्रधान शाखा है। इस स्थान के ब्राह्मण स्वयं को चतुर्वेदी कहते हैं किन्तु वे लौगाक्षि के काठकगृह्य सूत्रके नियमों का अनुशीलन करते हैं। इसके अतिरिक्त भट्ट लोग सभी वेदों के अंशों को, देवपाल की पद्धति और काठकगृह्य के भाष्य तथा प्रयोग को याद करते हैं। इन गृह्यों की मुझे अनेक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक प्राचीन भूर्ज पर है। काठकसूत्र के साथ एक प्रवराध्याय, एक आर्ष, चारायणीय शिक्षा और अनेक दूसरी पद्धतियाँ संबद्ध हैं—दूसरे जर्मन संस्करण का अतिरिक्त नोट। बिउह्लेर, त्सा डा मो गे, २२, ३२७ के अनुसार काठक शाखा का धर्मसूत्र विष्णुस्मृति से अभिन्न है। इस पर तथा काश्मीर की काठक शाखा के विषय में बिउह्लेर की यात्रा का विवरण, वही, पृ० २०, ३६, ३७ देखें।

पृ० ९२, टि० ५—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का भी सम्पादन बिब्लि० इण्डि० में राजेन्द्र लाल मित्र ने किया है। १८७२।

पृ० १०५-१०६—अड़तालिसवें अथर्वपरिशिष्ट में वाज० संहिता के उस पाठ का निर्देश है, जो १।१ से आरम्भ होता है किन्तु जिसका अन्त २३-३२ पर होता है। देखिए इं० स्टू० ४।४३२

पृ० १०२—**अम्बे अम्बिके अम्बालिके** मन्त्र के लिए जो सभी तीन यजुस् पाठों में भिन्न है, पाणिनि ने एक चौथा पाठ दिया है। इस संबन्ध में तथा पाणिनि एवं यजुस् पाठों की शब्दावली के संबन्धों के विषय में इं० स्टू० ४।४३२ देखिए।

पृ० १२४ —महावंश पृ० ९ के अनुसार बुद्ध की पत्नी का नाम भद्द-या सुभद्द-कच्चाना था।

पृ० १२५, टि० २—शतपथब्रा० ३.१.१-२, २ का अनुवाद ब्रूनो लिण्डनेर के प्रबन्ध इउबेर डी दीक्षा (लाइब्जिग, १८७८) अन्य अंशों का अणुवाद डेल्ब्रुइक ने अल्टिण्ड० वोर्टफोल्गे (१८७८) में किया है।

पृ० १२८, टि० ४—पारस्कर का संपादन स्टेंजलेर ने किया है। १८७६।

पृ० १३६, टि० ४—अड़तालिसवें अथर्वपरिशिष्ट में अथर्वसंहिता का आरम्भ ठीक उसी रूप में दिया गया है जैसे प्रकाशित संस्करण में, किन्तु इसमें उसका अन्त सोलहवें काण्ड पर होता है। देखिए इं० स्टू० ४।४३२।

पृ० १३७, टि० १—दोषपति के साथ नृसिंहताप० के पाप्मन आसुर की तुलना कीजिए। इं० स्टू० ९। १४९-१५०।

पृ० १३९, तुलना० पाल रेग्नाउं मेटेरिआक्स पोर सेर्विर अ'ले हिस्थाएरे डि ला फिलासोफी डि ले इण्डे, १८७६। और येनाएर लिट० त्साइट० के ९ फरवरी, १८७८ के अंक में मेरी समीक्षा।

पृ० १६७, टि० १—नेपाली पाण्डुलिपियों की तिथि स्पष्टतः ८८४ ई० तक पहुँचती है। देखिए डान० राइट, हिंट्री आफ नेपाल, १८७७, येनाएर लिट० त्साइट, १८७७, पृ० ४१२।

पृ० १७४, टि० १—पह्लव शब्द की–जो भारतीय शब्द पह्लव का आधार है—ओल्सहाउसेन की व्याख्या के विषय में जिसे उन्हें उन्होंने 'पर्थव' पाथियन से माना है, थि० नेलडेके का लेख देखें, त्सा डा मो गे, ३१ पृ० ५५७ आदि।

पृ० १७५, टि० ३—केर्न के ओवर डे ओउड वावानश्शे फेर्टालिग फोन द महाभारत (अम्सटर्डम, १८७७) के अनुसार आदि पर्व का कवि अनुवाद, जिससे उन्होंने पुष्यचरित का पाठ दिया है, ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ की तिथि का है।

पृ० १७५, टि० ४—महाभारत की आलोचना के लिए होल्टज्मन्न के अनुसन्धान इण्डिश्श जागेन (प्रीफेस, स्टट्गार्ट, १८५४) भी बहुत महत्वपूर्ण है।

पृ० १७७, टि० १—विष्णुपुराण के विल्सन के अनुवाद का हाल द्वारा संपादित संस्करण की अनुक्रमणिका १८७७ में प्रकाशित हुई। बिब्लि० इं० में अग्निपुराण का संस्करण २९४ अध्याय तक पहुँचा है।

पृ० १८२ —रघुवंश और कुमासंभव के रचयिता की नाटककार कालिदास के साथ अभिन्नता पर शंकर पण्डित ने ट्रांजेक्शन्स आफ द लण्डन कांग्रेस आफ ओरिएण्टलिस्ट्स (लण्डन, १८७६, पृ० २२७ आदि) में विवाद किया है।

पृ० १८२, टि० २—भारवि और कालिदास का एक साथ उल्लेख पुलकेशि द्वितीय के शक ५०७ (५८५-६ ई०) के शिलालेख में हुआ है। अतएव उस समय वे प्रख्यात हो चुके होंगे। देखिए भानुदाजी का लेख, जर्नल बम्बे ब्रांच रा ए सो ९। ३१५ और जे० एफ० फ्लीट का इण्ड० एण्टि० में लेख। कश्मीर के कवि पाँचवी शताब्दी के चन्द्रक और मेण्ठ, नवीं शताब्दी के रत्नाकर, ग्यारहवीं शताब्दी के क्षेमेन्द्र और बिल्हण, बारहवीं शताब्दी के सोमदेव, मङ्खख, कन्हण आदि के विषय में बिउह्लेर की यात्रा का विवरण, वही, पृ० ४२ देखें।

पृ० १८७, टि० १—इन सुत्तों के पाठ के लिए देखिए ग्रिम्ब्लोट सेप्ट सुताज़ पालीस, पेरिस, १८७६। पृ० ८९, नच्छम् गीतम् वादितं पेक्खमक्खानाम्.... इति वा इति एवरूपा विशुकदस्सना (प्रदर्शन, 'एक्जीबिशन्स', पृ० ६५, दृश्य, 'स्पेक्टेकिल्स') इससे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ विचारणीय शब्द सामान्य पद वीशूक नहीं है। विशेषतः पेक्खा (प्रेक्ष्य) एक्जीबिशन्स, स्पेक्टेकिल, जिसका अनुवाद 'थीएट्रिकल्स' किया गया है पृ०६५, १७९, रिप्रेजेण्टेटिअस ड्रामाटिकेस, पृ० २१५। तुलना० प्रेक्षणक, जो भारत में रूपक की एक विधा है (हाल, दशरूपक, पृ० ६) और दृश्य जो साहित्यदर्पण में नाटक काव्य का सामान्य नाम है।

पृ० १८७- १९४—हाल की **वासवदत्ता**, भूमिका, पृ० २७ के अनुसार भवभूति को सुबन्धु के पहले रखना होगा और यदि ऐसी बात हो तो बाण से भी पहले रखना होगा। बाण ने हर्षचरित के प्रसिद्ध भूमिका श्लोकों में, जिनमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है, भवभूति का नाम नहीं दिया है। हाल, वही, पृ० १३, १४। ट्र० इं० स्ट्रा० १।३५५।

प० १८९, टि० १—लास्सेन, इं० अल्ट० ३।८५५, ११६३ के अनुसार भोज की मृत्यु १०५३ में हुई। इण्ड० एण्टि० १८७७, पृ० ५४ में एक शिलालेख की तिथि १०२२ है।

पृ० १९१, बिउह् लेर, इं० एण्टि० ५।११२, अप्रिल, १८७६ के अनुसार राजा जयभट का एक दानपत्र ४४५ ई० से भी पहले का है और उसकी तिथि विक्रम संवत में है।

पृ० १९३ —त्सा डा मो गे ३०।३०२ में याकोबी ने एक तथ्य उद्धृत किया है जो यूनानी प्रभाव सूचित करता है।

पृ० १९५, टि० २—भारतीय नाटकों के नये प्रकाशनों में निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है: **मालतीमाधव** का भण्डारकर का संस्करण बम्बई, १८७६। कैप्पेलेर का **रत्नावली** का संस्करणं। १८७७, बेटलिंक की संस्कृत क्रिस्टोमाटी के दूसरे संस्करण में। **शाकुन्तल** का बंगाली पाठ, जिसे पिशेल ने संपादित किया है। देखिए, कैप्पेलेर येनाएर लिट्० त्साइट०, १८७७, पृ० १२१। **रत्नावली** और **शाकुन्तल** का लुड्विग फ्रिट्ज का अनुवाद, अन्त में राइनाउं का **मृच्छकटिक** का अनुवाद। पेरिस, १८७६। कालिदास की **शकुन्तला** के अनेक पाठों के विषय में जिन पर इं० स्टू० १४.१६१ में विवाद किया गया है—बिउह्लेर की यात्रा का विवरण देखिए, वही, पृ० ८५ आदि, इस स्थल पर काश्मीरी पाठ का प्रथम अंक भी प्रकाशित है।

पृ० १९९, टि० २—इसी स्थल पर श्रीवर की **सुभाषितावली** का उल्लेख किया जा सकता है, जो पन्द्रहवीं शताब्दी की है, इसमें ३५० से भी अधिक कवियों की रचनाओं के उद्धरण हैं। दे० बिउह्लेर, यात्रा का विवरण, वही, पृ० ६१ आदि। कृष्ण शास्त्री भातवडेकर का **सुभाषितरत्नाकर** भी। बम्बई, १८७२ है। इसी स्थल पर चार निबन्धों का उल्लेख कर सकते हैं—त्सुर क्रिटीक उण्ड एक्ले रूंग फेरशिडेनेर इण्डिश्शेर वेर्के, ओ० बेटलिंक द्वारा मेलागेस एसिआ-टिकेस सेंटपीटर्सबर्ग एकेडमी के भाग ७ और ८ में। १८७५-६ में प्रकाशित।

पृ० २०१, टि०—तुलना० '**कालिलाग एण्ड दम्नाग**" के बिकेल के संस्करण और अनुवाद की बेनफी की भूमिका। लाइप्जिग्, १८७६। यह सन्दिग्ध प्रतीत होता है कि प्राचीन पहलवी पाठ वस्तुतः किसी एक रचना को आधार बनाकर उस पर

आश्रित था, अथवा इसे अनेक स्वतन्त्र रचनाओं का सारांश नहीं मानना चाहिए। देखिए उपर्युक्त रचना के विषय में मेरी टिप्पणी लिट्० से व्ल०, १८७६ भाग ३१, बिउह्लेर, यात्रा का विवरण, पृ० ४७, प्रिम, येनाएर लिट्० त्ा०, १८७८, आर्टिकल, ११८।

पृ० २१२, टि० २—क्षेमेन्द्र द्वारा पुनः रचित "ऐसा पढ़ें बिउह्लेर के पत्र में जो बातें कहीं गयी हैं और जिनका निर्देश अगले वाक्य में किया गया है क्षेमेन्द्र का ही उल्लेख करते हैं। बिउह्लेर ने उसे ग्यारहवीं शताब्दी के दूसरे या तीसरे पाद में रखा है, यात्रा का विवरण, वही, पृ० ४५।

पृ० २०३, —**राजतरंगिणी** के विषय में देखिए बिउह्लेर की यात्रा का विवरण, पृ० ५२-६०। जहाँ १०१-१०७ का एक संशोधित अनुवाद दिया गया है। छठीं अथवा सातवीं शताब्दी के नीलमत के विषय देखें, वही, पृ० ३८ आदि।

पृ० २०३, टि० २—**हर्षचरित** कलकत्ता से १८७६ में प्रकाशित हुआ, जिसे जीवानन्द ने संपादित किया है। **सिंहासनद्वात्रिंशिका** के ऊपर इं० स्टू० में १५।१८ आदि में मेरा लेख देखिए।

पृ० २०५, टि० १—भारतीय अभिलेखों की व्याख्या में बिउह्लेर और फ्लीट ने विशेषतः बहुत काम किया है। विशेष रूप से इण्ड० एण्टि० भाग ५, ६।

पृ० २१२, टि० १—**मानवकल्प०** की गोल्डस्ट्यूकेर की पेसीमिल प्रति फो टोलियो नहीं है, अपितु अवश से लिथो की गयी है।

पृ० २१६, टि० ३—कीलहोर्न **महाभाष्य** के पक्ष में बहुत उत्साह से सामने आये हैं। उन्होंने इण्ड० एं० में एक लम्बा निबन्ध लिखा है। अगस्त, १८७६। और 'कात्यायन एण्ड पतंजलि' (बम्बई, दिसम्बर, १८७६)। विशेषतः इस रचना के विभिन्न भागों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है और अन्ततः इस रचना के अपने संस्करण में जिसमें पाठ को इसी सन्दर्भ में आलोचनात्मक रूप से छाटा गया है। प्रथम भाग जो बम्बई से प्रकाशित है नवाह्निकम् तक है। तुलना० भण्डारकर के दो लेख, आन द रिलेशन आफ कात्यायन टू पाणिनि एण्ड आफ पतंजलि टू कात्यायन, इं० एण्ट० ५।३४५ आदि। दिसम्बर, १८७६। और "गोल्डस्ट्यूकरर्स थिओरी अबाउट पाणिनिज़ए टेक्निकल टर्म्स"। गोल्डस्ट्यूकेर की **पाणिनि** के पहले की समीक्षा का पुन-र्मुद्रित रूप। वह, भाग ४, पृ० १०७ आदि। इसी स्थल से **महाभाष्य** के विषय में एक लेख भी संबद्ध है जो मैंने ९ अक्टूबर, १८७६ को बम्बई भेजा था, किन्तु जो इं० एण्ट० ४। ३०१ आदि में अक्टूबर १८७७ में प्रकाशित हुआ है।

पृ० २१६, टि० १—**काशिका** की प्राचीनता के संबन्ध में बिउह्लेर की यात्रा का विवरण देखिए, पृ० ७२। 'पण्डित' में इस रचना का प्रकाशन संभवतः पूरा हो चुका

है। आशा की जाती है कि यह अलग संस्करण के रूप में भी प्रकाशित होगी। **व्याडि, महाभाष्य, कातन्त्र** आदि के विषय में बिउह्लेर की सूचनाएँ विस्तार से उनकी यात्रा के विवरण में हैं। बर्नेल के निबन्ध "आन दि ऐण्ड स्कूल आफ संस्कृत ग्रामेरिअन्स"। १८७५। जिसमें काफी सामग्री है, देखिए, येनाएर लिट्० त्साइट० मार्च १८७६, पृ० २०२ पर मेरी समीक्षा। हेमचन्द्र के **प्राकृत व्याकरण** का पिशेल ने एक नया संस्करण निकाला है। हाले, १८७७, मूल और शब्दों की उत्तम अनुक्रमणिका।

पृ० २२१, टि० २—बार्थ, रिवू क्रिटीके, ३ जून, १८७६ के अनुसार इस टिप्पणी को काट देना चाहिए, क्योंकि परैत्रे का अर्थ होगा "प्रतीत होना।" शाइनेन।

पृ० २२३ —पृ० १६७ की पूरक टिप्पणी देखें।

पृ० २२३, टि० १—**साहित्यदर्पण** का अनुवाद बिब्लि० इं० में अब पूरा हो चुका है। बिउह्लेर ने अलंकार साहित्य के विषय में जो पर्याप्त सूचना दी है उसके लिए उनकी यात्रा का विवरण, पृ० ६४ आदि देखें। इसके अनुसार भट्ट उद्भट का **अलंकारशास्त्र** जयापीड के समय ७७९-८१३ का है। जिसके सभापति उद्भट थे। बिउहलेर के मतानुसार वामन भी इसी समय के हैं। आनन्दवर्धन और रत्नाकर नवीं शताब्दी के हैं, मुकुल दसवीं, अभिनवगुप्त ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ के और रुद्रट् ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त के, रुय्यक बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे, जबकि जयरथ बारहवीं शताब्दी के अन्त के समय के हैं। मम्मट को इसके बाद का मानना होगा।

पृ० २२७, टि० ५—**सर्वदर्शनसंग्रह** का कावेल और गोफ कृत अनुवाद है, पण्डित १८७५ आदि।

पृ० २२९, टि० २—**सांख्यतत्वप्रदीप** का अनुवाद गोविन्ददेवशास्त्री ने पण्डित सं० ९८ आदि में किया है।

पृ० २३०, टि० १-१०१५ ई० में अभिनवगुप्त जीवित थे। बिउह्लेर, यात्रा का विवरण, पृ० ८०–काश्मीर में शैवशास्त्र, वही, पृ० ७७-८०। दो वर्गों में है, जिनमें एक वसुगुप्त। ८५४। के स्पन्दशास्त्र से संबद्ध है और दूसरा सोमानन्द (लगभग ९००) और उत्पल (लगभग ९३०) के प्रत्यभिज्ञाशास्त्र से संबद्ध है। दूसरे वर्ग के जो शंकर पर आधारित हैं—अभिनवगुप्त प्रमुख प्रतिनिधि हैं।

पृ० २३४, टि० ४—शबरस्वामिन् के इस संस्करण का अन्तिम अंक १०.२.७० तक पहुँचा है। जैमिनीयन्यायमालाविस्तर का संस्करण कावेल ने अभी पूरा किया है। जैमिनिसूत्र बम्बई से मासिक पत्र 'षड्दर्शनचिन्तनिका" में प्रकाशित

हो रहा है, यह जनवरी, १८७७ से चालू है—इसमें मूल और भाष्य है तथा दोहरा अनुवाद अंग्रेजी और मराठी में है।

पृ० २३६, टि० ४—वाचस्पतिमिश्र की **भामती** जो शंकर के **वेदान्तसूत्र** के ऊपर टीका है, बिब्लि० इं० में प्रकाशित हो रही है, सम्पादक हैं बालशास्त्री—यह १८७६ से आरम्भ है। १८७६ के 'पण्डित' में पृ० ११३ पर श्रीनिवासदास की **यतीन्द्र-मतदीपिका** की भूमिका में राममिश्र शास्त्री ने रामानुज के ब्रह्मसूत्रभाष्य से एक अंश उद्धृत किया है जिसमें रामानुज ने भगवद्बोधायन को अपना पूर्ववर्ती बताया है और अपनेसे बहुत पीढ़ी पहलेका बताया है, 'पूर्वाचार्याः'। ऐसे पूर्वाचार्यों में राममिश्र ने द्रविड, गुहदेव, और ब्रह्मानन्दी का नाम दिया है और महर्षि तथा सुप्राचीनतम कहा है। स्वयं श्रीनिवासदास (पृ० ११५) ने आचार्यों को इस क्रम में गिनाया है:—व्यास, बोधायन, गुहदेव, भारुचि, ब्रह्मानन्दी, द्रविडाचार्य, श्रीपराङ्कुशनाथ, यामुनमुनि, यतीश्वर यहाँ 'पण्डित' में प्रकाशित बेचनमिश्र शास्त्री द्वारा सम्पादित वेदान्तसूत्र के दो भाष्यों—श्रीकण्ठ शिवा-चार्य के शैवभाष्य। द्र० त्सा० डा० मो० गे० २७।१६६ का और केशव काश्मीरभट्ट के **वेदान्तकौस्तुभप्रभा** का उल्लेख करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अपने संस्कृत क्रेस्टोमाटी (१८७७) के दूसरे संस्करण में बेटलिंक ने **वेदान्तसार** का एक नया अनुवाद दिया है और उस पर रामतीर्थ की **विद्वन्मनोरञ्जिनी** टीका मूल और अनुवाद के साथ पण्डित में गोफ और गोविन्ददेवशास्त्री ने प्रकाशित की है। उसी पत्रिका में लक्ष्मीधर के अद्वैत-मकरन्द का भी प्रकाशन हुआ है।

पृ० २३८, टि० ६—**न्यायदर्शन** का और उसकी वात्स्यायन की टीका का एक अनुवाद 'पण्डित' में प्रकाशित हो रहा है। नयी सीरीज, भाग २। गंगेश की न्याय-चिन्तामणि का चौथा अध्याय रुचिदत्त के भाष्य के साथ बालशास्त्री ने संपादित किया है, वही, अंक ६६-९३।

पृ० २४०, टि० ४—सचाऊ ने अल्बीरूनी जो नाम मुझे बताये हैं उनमें महत्वपूर्ण हैं जोग्ध और ख्वारिज़्म में मेनाशिल, जिसकी सूची थुरय्या से आरम्भ होती है, अर्थात् कृत्तिका से और पर्वी नाम से। इससे स्पष्टतः पर्वीज़ से तात्पर्य है जो बुन्देहेश में तीसरा नाम है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दूसरे में नामों की सूची अर्वाचीन है, आश्विनी से आरम्भ होती है, देखिए येनाएर लिट्० त्साइट० १८७७। ७ अप्रिल, पृ० २२१। इसमें अल्बीरूनी ने जिन नामों का उल्लेख किया है उनमें कुछ नाम स्पष्टतः भारतीय हैं, जैसे फ्रस्तबाथ अर्थात् प्रोष्ठपाद, जो प्राचीन रूप है, भद्रपाद नहीं। चीन की तरह यहाँ भी इस संचार के माध्यम थे बौद्ध मतावलम्बी।

पृ० २४४, टि० ३—याकोबी ने त्सा डा मो गे भाग ३०, पृ० ३०६ पर जो संभावना व्यक्त की है कि कोई भी भारतीय रचना जो ग्रहों को सूर्य, चन्द्रमा, मंगल के क्रम में गिनाती है तीसरी शताब्दी ई० पू० से पहले नहीं रची गयी होगी, याज्ञवल्क्य और अथर्वपरिशिष्ट के सन्दर्भ में भी लागू होती है, जिनमें वस्तुतः इस क्रम का निर्वाह किया गया है। देखिए, इं० स्ट्र० १०।३१७।

पृ० २४७, टि० १—**रामायण** में रोमकों के उल्लेख का अभाव संभवतः भौगोलिक कारणों से हो और काव्य का उद्भव संभवतः भारत के पूर्वीय प्रदेश कोशल में है जबकि **महाभारत** का युद्धखण्ड निश्चय ही यदि पश्चिमी भारत में नहीं तो मध्य में रचा गया था।

पृ० २५०, टि० १—तुलना—थिबाऊत का लेख—"आन दि शुल्वसूत्राज़" ज ए सो बेंगाल १८७५। मोर० कैण्टोर द्वारा त्साइट० फ्यूर पाथे० उण्ड फिजीक्, भाग २२ में विवेचित। बौधायन के **शुल्वसूत्र** की द्वारका नाथयज्वन के भाष्य के साथ उनका संस्करण। अनुवाद के साथ। 'पण्डित' मई १८७५-७७ में प्रकाशित हुआ है।

पृ० २५०, टि० २—संख्याओं के आरम्भिक अक्षरों से भारतीय अंकों के विकास का सिद्धान्त हाल ही में निर्मूल कर दिया गया है। देखिए, बिउह्लेर, इण्ड० एण्टि० ४।४८—प्राचीन नागरी अकों के पण्डित भगवान लाल इन्द्रजी द्वारा पढ़े जाने पर यह संभव हुआ। वही, पृ० ४२ आदि। ऐसा लगता है कि ये दूसरे अंक हैं, तथापि उनसे बाद के अंकों की व्युत्पत्ति पर सन्देह नहीं किया जा सकता। इन प्राचीन अंकों के पीछे क्या सिद्धान्त है यह रहस्यमय बना हुआ है। शून्य को अब तक उनमें स्थान नहीं मिला है। ४ से लेकर १० तक के लिए चिह्न हैं। १-३ के लिए केवल लकीरों का प्रयोग है। १० से ९० तक और १०० से १००० के लिए चिन्ह हैं।

पृ० २५४, टि० ३—यात्रा के शेष का संपादन केर्न ने इं० स्टू० १४ और १५ में किया है।

पृ० २६१, आदि—भारतीय चिकित्साशास्त्र की प्राचीनता के विषय में प्राचीन स्वप्नों के विरोध में हास ने हाल ही में त्सा डा मो गे ३०। ६१७ आदि में तथा ३१।६४७ आदि में भारतीय चिकित्साशास्त्र के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ को भी अत्यन्त अर्वाचीन रचना बताया है, जो अरबी स्रोत से उद्भूत है। स्वयं अरबों ने भारतीय चिकित्साशास्त्र को जितने आदर के साथ उल्लिखित किया है और उस प्रकार की रचनाओं के संस्कृत से अरबी में अनुवाद से जिन्हें नामतः निर्देशित किया है उन्होंने कोई महत्व नहीं दिया है। जहाँ तक अन्तिम विषय का प्रश्न है, अरब इतिहासकारों की इतनी निश्चयात्मक उक्तियों पर सन्देह करने का कोई आधार नहीं है जबकि प्राचीन रचनाओं के विषय के

विषय में उल्लेखनीय है कि सुश्रुत, चरक आदि की भाषा स्पष्टतः उन्हें इतने बाद के समय के मानने के विपरीत है। साथ ही साथ यूनानी या अरबी विचारधाराओं के इन ग्रन्थों में आने के प्रत्येक वास्तविक प्रमाण को सधन्यवाद स्वीकार करना होगा। किन्तु भारत में चिकित्सा-विषयक ज्ञान की प्राचीन काल में स्थिति पर इससे कोई विरोधी प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि उसके आरम्भ की पुष्टि भली-भाँति वैदिक काल से ही हो जाती है विशेषतः अथर्ववेद से।

पृ० २६६, टि० १—जैसा कि बिउह्लेर ने मुझे बताया है कला का भी प्रकाशन बम्बई से हो चुका है। इसका सम्पादन ग्राण्ट मेडिकल कालेज के डा० अण्णा मुरेश्वर कुण्टे ने किया है।

पृ० २६७, टि० ४—**कामन्दकीनीति** का कवि अनुवाद संभवतः अधिक से अधिक उसी समय का है जिस समय का महाभारत का अनुवाद। इसकी निरपेक्ष टीका के प्रकाशन का कार्य बिब्लि० इं० में चल रहा है।

पृ० २६९, टि० ४—आधुनिक भारतीय संगीत के विषय में सौरीन्द्र मोहन टैगोर कलकत्ता के अनेक लेख द्रष्टव्य हैं। १८७५ आदि, येनाएर लिट्० त्साइट०, १८७७ पृ० ४८७। यह संभव है कि सामवेद के गानों का अनुसन्धान यदि वे वास्तविक प्रयोग में हैं और अब भी किये जा सकें तो वे प्राचीन लौकिक संगीत के सन्दर्भ में व्यावहारिक परिणाम प्रस्तुत करेंगे।

पृ० २७०, टि० २—मगर की पूँछ पर बैठी हुई या पृष्ठभाग में मगर और क्यूपिड से युक्त वेनस की ऐसी चित्र-रचना के लिए जे० जे० बेर्नाउली का एफ्रोडाइट (लाइप्जिग, १८७३ देखिए, पृ० २४५-३७०-४०५)। इसी प्रकार की अनेक रचनाएँ 'मूजी डी स्कल्पचर पार ले कोम्ते एफ० डी क्लाराक' (पेरिस, १८३६-३७ भाग ४) प्लेट ५९३, ६०७, ६१०, ६१२, ६१५, ६२२, ६२६, ६२८, ६३४।

पृ० २७५, टि० १—बिउह्लेर ने **आपस्तम्ब** का एक अनुवाद भी प्रकाशित किया है। यह अब सेक्रेड् बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज में पुनः प्रकाशित हो रहा है जो माक्स म्यूल्लेर के निर्देशन में मुद्रित हो रहा है। गौतम का संपादन स्टेंजलेर ने किया है। लन्दन, १८७६। और यह जीवानन्द के बृहद् संकलन धर्मशास्त्र-संग्रह में भी है। कलकत्ता, १८७६। जो सभी असंगतियों के बावजूद बहुत उपादेय प्रकाशन है, क्योंकि इसमें प्रचुर सामग्री सन्निहित है। इसमें २७ छोटे-बड़े स्मृतिग्रन्थ हैं। ३ अत्रि, २ विष्णु, २ हारीत, याज्ञवल्क्य, २ उशनस्, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, २ पराशर, २ व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, २ गौतम, और २ वसिष्ठ, नारद स्मृति का अनुवाद जाली ने किया है। लन्दन, १८७६। उनका लेख भी देखें—उइबेर

डी रेसिलिश्श स्टेलुंग डेर फ्राउएन बाइ डेन इन्देर्न। म्यूनिश, १८७६। और 'उइबेर डास इण्डिश्श शूलड्रेष्ट। म्यूनिश १८७७।

पृ० २७७, टि० २—बिउह् लेर ने मुझे सूचित किया है कि **अरुणस्मृति** बहुत **बाद** के समय की रचना है, संभवतः किसी पुराण का एक खण्ड है।

पृ० २७८, —चूँकि **याज्ञवल्क्य** ने ग्रहों को यूनानी क्रम में गिनाया है। १.२९५। अतः इस रचना का प्राचीनतम समय तीसरी शताब्दी ई० माना जा सकता है। ऊपर पृ० २४४ की पूरक टिप्पणी देखिए।

पृ० २८५, —ई० सेनार्ट ने अपनी उत्तम कृति "ला लेजेण्डे टू बुद्धा"। पेरिस, १८७५। में बुद्ध के विषय में कही गयी और अंशतः कृष्ण के विषय में कही गयी कथाओं को प्राचीन सौर आख्यानों के सम्बन्ध में माना है जो बाद में बुद्ध के लिए व्यवहृत हुए थे। तुलना० येनाएर लिट्० त्साइट० में मेरी टिप्पणी और आंशिक समीक्षा, १८७६, २९ अप्रिल, पृ० २८२ आदि।

पृ० २८८, टि० २—इस अभिलेख का बुद्धघोष सुप्रसिद्ध बुद्धघोष ही है, जैसा कि स्टीवेंसन ने माना है, यह और भी सन्देहास्पद लगता है, क्योंकि इस अभिलेख के शेष भाग में जिन राजाओं का उल्लेख किया गया है वे सभी बहुत अधिक प्राचीन काल के हैं। ट्रांजेक्शन्स आफ द लण्डन कांग्रेस आफ ओरिएण्टलिस्ट्स १८७६, पृ० ३०६ आदि पर भण्डारकर का लेख देखिए।

पृ० २९०, टि० २—सेप्ट सुत्ताज़ पालीस, तिरेस टू दीघनिकाय, पाल ग्रिम्बोल्ट के लेख से उसकी विधवा ने प्रकाशित किया है, १८७६, पेरिस मूल तथा अनुवाद। फेसबेल के जातक के संस्करण का दूसरा भाग १८७७ में निकला है। महा-परिनिब्बानसुत्त का सम्पादन १८७४ में चाइल्डर्स ने किया है, ज रा ए सो भाग, ७ और ८। इसका एक पृथक् मुद्रण अभी हुआ है। उसी जर्नल में पातिमोक्ख का डिक्शन का संस्करण भी है। सम्पूर्ण विनयपिटक का ओल्डेन-बर्ग का संस्करण इस समय प्रेस में है।

पृ० २९४, टि० २—जैनों के पवित्र अंगों का एक संकलित संस्करण पिछले वर्ष, १८७७, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है, सम्पादक हैं धनपतिसिंह जी। मूल के साथ अभयदेव की टीका है तथा भगवान विजय की भाषाटीका भी है।

पृ० २९७, टि० १—इस पर तुलना कीजिए—बील, द बुद्धिस्ट त्रिपिटक ऐज़ इट इज़ नोन इन चीन एण्ड जापान। डेवनपोर्ट, १८७६।

पृ० ३०१, टि० ६—अवेस्ता और बौद्धधर्म के संबन्धों के संभावित सूत्रों के विषय में देखिए—येनाएर लिट० त्साइट०, १८७७, पृ० २२१।

पृ० ३०३, टि० ३—गौतम० में भिक्षु शब्द स्पष्टतः चार आश्रमों में तीसरे आश्रम के नाम के रूप में आता है, इसके स्थान पर मनु० में यति शब्द है।

बर्लीन, २४ मई, १८७८।
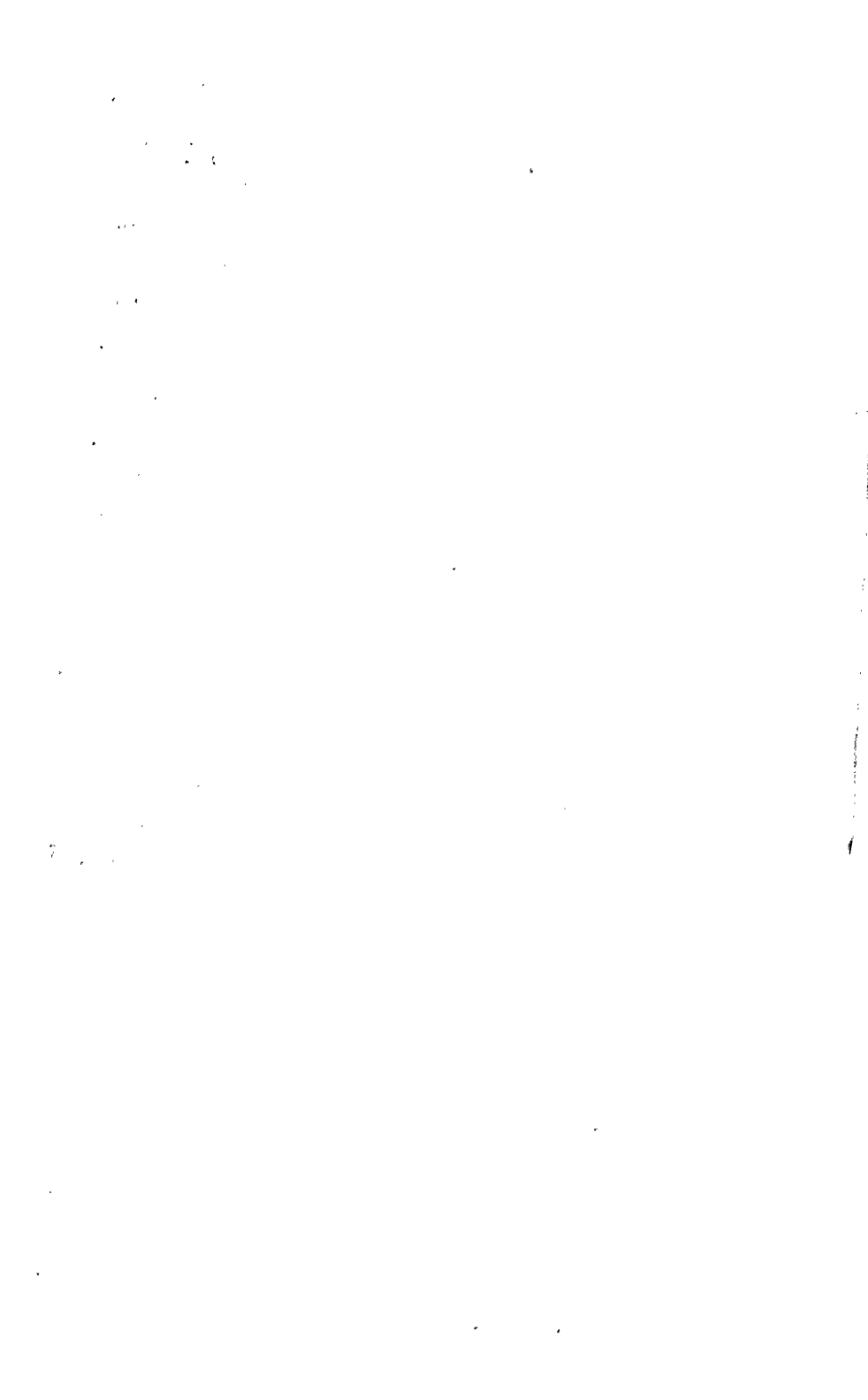
अनुक्रमणिका

१. संस्कृतनामानुक्रमणी

भू=भूमिका

२. विषयानुक्रमणी

३. लेखकानुक्रमणी

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	संशोधन
१४	५,६	म्नीम्निस
२४	१९	आठवें के बाद (५/११९-१२०, ६/१-८१) काण्व के नवें" इतना जोड़ लें।
२६	३	"एक" के बाद "शाकल्य" जोड़ लें।
२७	२	बाभ्रव्य
४९	१	––पैल-सूत्र-भाष्य
५३	२	क्रौष्टुकि
५८	३	'तथ्यों' के स्थान पर 'प्रथम'
६०	१७	षड्विंश ब्राह्मण
६६	७	इंस्टू १.४२
६८	२	राणायनीपुत्र (अन्यत्र भी 'राणायणी' के स्थान पर 'राणायनी पढ़ें)।
७९	१६	सब मिलाकर....वे
८४	१५	सामसूत्रों
८८	८	शाकायन्य
१०२	११	(१९ के स्थान पर ९)
	१३	(१९ के स्थान पर ११)
११०	२५	(१०।९५)